जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

और

उसकी समीक्षा

द्वितीय भाग

(प्रश्नोत्तर ५ की समीक्षा)

समीक्षा-लेखक

सिद्धान्ताचार्य पण्डित वंशीधर व्याकरणाचार्य

न्यायतीर्थ, जैन दर्शन-साहित्यशास्त्री

बीना (सागर), म०प्र०

सम्पादक

डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

प्रकाशक

श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री)

पारमार्थिक फण्ड

बीना (मध्य प्रदेश)

१९९१

प्रकाशक :
स्वर्गीया श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० वंशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड
बीना (मध्य प्रदेश)

लेखक :
सिद्धान्ताचार्य पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना (म० प्र०)

सम्पादक :
डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (म० प्र०)

प्राप्ति स्थान :
श्री विभव कुमार जैन,
मंत्री, श्रीमती लक्ष्मीबाई पारमार्थिक फण्ड, बीना (सागर) म० प्र०

प्रथम संस्करण : ५०० प्रति १९९१

मूल्य : सौ रुपए, कपड़ेकी सुन्दर जिल्द

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–२२१०१०

समर्पण

जो अध्यात्ममार्गमे प्रवृत्त होकर बहुत कालतक सप्तम प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी श्रावक रहे और सिद्धान्तशास्त्रोंके अलावा समस्त भारतीय दर्शनो एव न्यायोके अध्ययन हेतु मिथिला, नवद्वीप आदि स्थानोमे जाकर उनके पारङ्गत बने तथा वाराणसीमे जैन विद्याके केन्द्ररूपमे **स्याद्वाद-महाविद्यालयकी** जिन्होने स्थापना को, उसके पश्चात् श्री १०५ क्षुल्लक बने और जीवनके अन्तमे पूर्ण त्यागके मार्गपर चलकर श्री १०८ मुनि गणेशकीर्ति बनकर लोकमे अविस्मरणीय प्रसिद्धिको प्राप्त किया तथा जिनकी छत्रच्छायामे सागरसे वाराणसी पहुँचनेपर मुझे **स्याद्वाद-महाविद्यालयमे** प्रवेश मिला और उच्चतम श्रेणीसे **संस्कृत कालेज** (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) **वाराणसीसे व्याकरणाचार्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीसे जैन न्यायशास्त्री** तथा **बंगीय संस्कृत एसोशिएशन कलकत्तासे जैन न्यायतीर्थकी** परीक्षाएँ उत्तीर्ण की, उन प्रथम न्यायाचार्य, महान् आध्यात्मिक सन्त प्रवर श्री गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि श्री १०८ गणेशकीर्ति) महाराजको श्रद्धासुमनके रूपमे इस ग्रन्थका परोक्ष समर्पण करते हुए मैं अपनेको गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

—वंशीधर शास्त्री

प्रकाशकीय

स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० बंशीधर शास्त्री) परमार्थिक फण्ड बीना-इटावा से "खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" भाग–२ का प्रकाशन करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थ इस फण्डसे प्रकाशित होने वाला तीसरा ग्रन्थ है। इसके पूर्व इस फण्डसे दो ग्रन्थ क्रमश "जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार" (अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वतपरिषदसे पुरस्कृत) तथा "खानिया तत्त्वचर्चा और उसको समीक्षा" भाग–१ प्रकाशित हो चुके हैं।

"जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थके प्रकाशकोयमें यह विश्वास प्रगट किया गया था कि "फण्डसे ग्रन्थ-प्रकाशनका यह क्रम सतत जारी रहेगा और सभवत इसका दूसरा प्रकाशन 'खाविया तत्त्व-चर्चा और उसकी समीक्षा' होगा, जिसके ४-५ खण्ड हो सकते हैं, क्योकि प्रत्येक प्रश्नकी तत्त्वचर्चा सम्बन्धी सामग्रीके साथ ही उसकी समीक्षा सम्बन्धो सामग्री का उसमे प्रकाशन किया जायेगा।" इसकी क्रियात्मक परिणति स्वरूप "खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" भाग–१ के उपरान्त भाग–२ के रूपमें प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन है, जो निश्चय ही कम हर्षका विषय नही है।

"जैन शासनमें निश्चय और व्यवहार", खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षा" भाग–१ तथा "खानिया तत्त्वचर्चाकी समीक्षा" भाग–२ ये तीनो ग्रन्थ सिद्धान्ताचार्य प० बशीधरजी व्याकरणाचार्यकी कृतियाँ हैं। इनसे पूर्व पण्डितजीके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'जैन तत्त्व मीमांसा' (भाग १) व 'जैनदर्शनमें कार्यकारणभाव और कारकव्यवस्था' स्व० प० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ, मथुराने 'जैन सस्कृति सेवक समाज' से प्रकाशित कराये थे। इसके अलावा वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी द्वारा "पर्यायें क्रमवद्ध भी होती हैं एवं अक्रम-बद्ध भी" व "भाग्य और पुरुषार्थ" ये दो ग्रन्थ प्रकाशित कराये गये हैं।

उक्त सभी ग्रन्थ सोनगढ़ मान्यताओंके एकान्त मिथ्यापनको उजागर करनेके लिए लिखे गये हैं। और मेरा विश्वास है कि ये ग्रन्थ इसकी पूर्तिमें सफल सिद्ध होंगे।

सिद्धान्ताचार्य पं० बशीधरजी व्याकरणाचार्य हमारे पूज्य पिताजी हैं। इन्होने उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिए हमारी पूज्या माता स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाईकी चिरस्मृतिमें परमार्थिक फण्डकी स्थापना की थी, जिसका आधार और संरचना निम्नाकित रूपमें उनके द्वारा स्वय लेखबद्ध की गई थी।

"जबसे मैंने सोनगढ़ साहित्य और उसका अनुसरण करनेवाले साहित्यके विरुद्ध सैद्धान्तिक लेखनी चलाना प्रारम्भ किया तभीसे मेरे मस्तिष्कमें इस प्रकारका विकल्प चलता रहा कि यदि मेरे द्वारा निर्मित साहित्यके प्रकाशनकी व्यवस्था कदाचित् किसी अन्य स्थल से न हो सके तो उसके प्रकाशनके लिए एक फण्डका निर्माण किया जावे व उसका उपयोग उपर्युक्त कार्यके अतिरिक्त अन्य कल्याणकारी कार्योंमें भी आवश्यकता-नुसार यदि सुविधा हो तो किया जावे, लेकिन मुख्य कार्यको दुर्लक्षित किसी भी हालतमे न किया जावे।

मैंने ४ जुलाई सन् १९७४ में सामान्यरूपसे फण्ड निर्माणके अनुकूल अपनी प्रवृत्तियाँ आरम्भ कर दी थी। इसी बीच २५०० वें भगवान् महावीर निर्वाण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें श्री वीर-निर्वाण भारती मेरठने विद्वानोका सम्मान करनेकी योजना प्रारम्भ की, जिसके अन्तर्गत श्री १०८ उपाध्याय मुनि विद्यानन्दजी महाराजके तत्त्वावधानमें विद्वत्-सम्मान-समारोहका एक आयोजन दिल्लीके विज्ञान-भवनमें दिनाक २९

अक्टूबर, १९७४ को किया गया था। इसमें अन्य १४ विद्वानोंके साथ मुझे भी सम्मानित किया गया था। इस सम्मानमें स्वर्णपदक, प्रशक्ति पत्र व कीमती ऊनी शालके साथ २५०० दो हजार पाँच सौ रुपयोकी निधि महामहिम उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती महोदयके करकमलोसे प्रत्येक विद्वानको समर्पित की गई थी।

मैंने २५००-रुपयोकी इस निधिका उपयोग फण्ड-निर्माणमें करनेकी रूपरेखा निश्चित की थी। अत दिनाक ९ फरवरी, सन् १९७५ को मेरी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीबाईका स्वर्गवास हो जाने पर उनकी स्मृति बनाये रखनेके उद्देश्यसे अपनी तरफसे भी उसमें धनराशि मिलाकर मेरे द्वारा फण्डको मूर्तरूप दे दिया गया जिसकी सरचना और सचालन-व्यवस्था निम्न प्रकार निर्धारित की थी।

परमार्थिक फण्डकी सरचना और सचालन-व्यवस्था

१ फण्डका नाम—इस पारमार्थिक फण्डका नाम "स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी प० बशीधर शास्त्री) पारमार्थिक फण्ड, बीना-इटावा" है।

२ फण्डका उद्देश्य—इसका उद्देश्य दिगम्बर जैन संस्कृतिकी मूल-मान्यताओका संरक्षण व प्रचार करना है। इसकी पूर्ति साहित्य-प्रकाशन द्वारा की जायेगी।

३ यत' यह फण्ड वैयक्तिक है अत. इसका सचालन जब तक मैं (वंशीधर शास्त्री) जीवित हूँ तब तक मैं ही करूँगा। मेरी मृत्युके पश्चात् इसका संचालन क्रमश मेरे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि तब तक करते रहेंगे जब तक इसमें धनराशिका सद्भाव रहेगा।

४ फण्डके मूल उद्देश्यकी पूर्तिके लिए मूल धनराशिका भी उपयोग किया जा सकेगा। इतना अवश्य है कि इसके सवर्धन करनेका यथासभव प्रयत्न किया जायेगा, जिससे यह अधिक-से-अधिक स्थायित्वको प्राप्त कर सके।

५ सचालकके कर्तव्य—

(क) संचालक फण्ड—निधिका उपयोग उद्देश्यकी पूर्तिमे ही करेंगे।

(ख) फण्ड—निधिमें वृद्धि करनेका भी सचालक यथासम्भव प्रयत्न करते रहेंगे। यदि इसके लिए कहीसे आर्थिक सहायता प्राप्त होगी तो उसे भी वे सहर्ष स्वीकार करेंगे।

(ग) फण्डकी उद्देश्य पूर्तिके प्रयत्नमे संचालक सतत जागरूक रहेंगे।

(घ) फण्डके आय-व्ययका व्यवस्थित हिसाब लिखित रूपमे ही रखेगे।

(ङ) आवश्यकता और अनुकूलताके अनुसार उद्देश्यकी पूर्तिके लिए कार्य-प्रणालीको विस्तृत करनेकी ओर भी लक्ष्य रखेंगे।

(च) आवश्यकता होने पर वे इसे पजीवद्ध भी शासन द्वारा करायेंगे। और यदि आवश्यकता हुई तो इसे ट्रस्टका रूप देनेमें सकोच नही करेंगे।

फण्डकी निधिकी व्यवस्था—

(क) फण्डकी निधि वर्तमानमें फर्म प० वंशीधर सनतकुमार बीना-इटावामें जमा रखी गई है। भविष्यमें भी वही जमा रहेगी, जिसके ऊपर फर्म इस पारमार्थिक फण्डको ५० पैसे प्रतिशत माहवारी व्याज देती है। और देता रहेगा।

(नोट—वर्तमानमे, फर्म १)५० सैकडा महावारी ब्याज दे रही है)

(ख) संचालक समझें तो निधिको किसी बैंकमें भी जमा कर सकते है।

(ग) फण्डके आय-व्ययका हिसाब वार्षिक तैयार किया जायेगा। वर्षकी समाप्ति कार्तिक वदी अमावस-को मानी जायेगी।

(घ) उद्‌देश्य पूर्तिके लिए आवश्यक होने पर संचालक चाहे जितनी रकम फर्मसे एक मुस्त ले सकेंगे।

मैं घोषणा करता हूँ कि इस पारमार्थिक फण्डका निर्माण मैंने स्वेच्छासे अपने तन और मनकी पूर्ण स्वस्थ अवस्थामें विना किसी भय व दबावके लिखकर कर दिया, सो सनद रहे। दिनाक १२ नवम्बर सन् १९७७, मिति कार्तिक सुदी २, सवत् २०३४ शनिवार व कलम खुद बशीधर शास्त्री की।

द॰ बंशीधर शास्त्री

गवाह—

१ उपर्युक्त पारमार्थिक फण्डका निर्माण प० बशीधरजीने स्वय लिखकर किया और मेरे सामने स्वेच्छासे हस्ताक्षर किये—(सही) द बालचन्द शास्त्री दिनांक १२-११-७७।

२ उपर्युक्त पारमार्थिक फण्डका निर्माण पं० बशीधरजीने स्वय लिखकर किया और मेरे सामने स्वेच्छासे हस्ताक्षर किये—(सही) द. दुलीचन्द्र, दि० १२-११-७७।

फण्डकी प्रवृत्तियाँ वर्तमानमें भी इसी आधार पर हैं। शासनके परिवर्तित नियमोंके अनुसार फण्डका हिसाबी वर्ष १. अप्रेलसे शुरू होकर ३१ मार्चको समाप्त होता है! वर्ष १९९०-९१ की ३१ मार्च ९१ को समाप्ति पर फण्डका आँकडा निम्न प्रकार था—

आंकड़ा

(वर्ष १९९०-९१)

जमा	नामे
६०,४२८/९२ श्री खाता पूंजीका	१५,९५६/०६ श्री ग्रन्थ खाता
१५/५८ श्री खाता सन्मार्ग प्रचारिणी समिति, वीना	१४४/७० श्री स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, वीना
८२/६२ श्री खाता भूमिदान यज्ञ समिति बीना	३६,२१२/३० फर्म पं० बंशीधर सनतकुमार, बीना
	८,१२७/०० श्री खाता गीता प्रेस, वाराणसी
	६०,४४१/०६
	८६/०६ श्री मिलक रोकड बाकी नामे ता ३१-३-९१ को
६०,५२७/१२	६०,५२७/१२

"जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार" ग्रन्थकी केवल ५०० प्रतियाँ मुद्रित कराई गयी थी। इसमे यह हेतु बताया गया था कि समाजमें साहित्यिक रुचिका अभाव होने पर और स्वाध्यायी व्यक्तियोंके लिए उपयोगी होनेसे बिक्रीकी संभावना कम होगी। यही बात "खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" भाग-१ के मुद्रणके विषयमें थी और यही बात इस ग्रन्थके साथ भी है। अत: इसकी भी ५०० प्रतियाँ ही छपाई गई हैं। ग्रन्थका मुद्रण सुन्दर और बाइंडिंग टिकाऊ होना चाहिए, इस बातका ध्यान पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोमें भी रखा गया था, इस ग्रन्थमें भी रखा गया है। इसकी भी बाइंडिंग बढ़िया कपडेकी कराई गयी है।

इस ग्रन्थके प्रकाशित हो जानेमे अब फण्डके स्टॉकमे निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१. जैन तत्त्व मीमासाकी मीमांसा, भाग-१

२. जैनदर्शनमे कार्यकारणभाव और कारक-व्यवस्था

३. जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार

४. खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, भाग-१

५ खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा, भाग-२

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ सोनगढ़ विचारधाराकी नि:सारताको स्पष्ट कर जैन संस्कृतिके सैद्धान्तिक पहलू पर उत्तम प्रकाश डालते हैं।

आशा एवं विश्वास है कि समाजके प्रबुद्ध पाठक इसका समादर करेंगे। तथा साहित्य-प्रचारके अनुरागी इसकी अधिक प्रतियां मंगाकर विद्वानो, साधु-सन्तो और लाइब्रेरियोको वितरित करेंगे।

दिनाक २६-०४-१९९१

निवेदक—

विभव कुमार जैन

मंत्री

स्व० श्रीमती लक्ष्मीबाई (पत्नी पं० बंशीधर शास्त्री)
पारमार्थिक फण्ड, बीना-इटावा (सागर) म० प्र०

अपनी बात

जयपुर-खानियामें अक्तूबर १९६३ के समय पुरातनसिद्धान्तवादी और सोनगढ़सिद्धान्तवादी दोनों वर्गोंके मध्य तात्त्विक विवादको समाप्त करनेकी दृष्टिसे जो लिखित चर्चा हुई थी उसमें पुरातन सिद्धान्तवादीवर्गने १७ प्रश्न उपस्थित किये थे, जिनका उत्तर सोनगढ़सिद्धान्तवादी वर्गको देना था। प्रश्न उपस्थित करनेके कारण पुरातनसिद्धान्तवादी वर्गको पूर्वपक्ष और उत्तर देनेके कारण सोनगढ़सिद्धान्तवादी वर्गको उत्तरपक्ष नाम दिया गया है।

पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थित १७ प्रश्नोंमेंसे एक बारहवें प्रश्नको छोड़कर शेष १६ प्रश्न ऐसे सिद्ध हुए कि जिनके उत्तरोंके विषयमें पूर्वपक्षको आज भी सन्तोष नही है और उनको लेकर दोनों पक्षोंके मध्य आज भी विवाद बना हुआ है।

यद्यपि पूर्वपक्षने उत्तरपक्षसे सही उत्तर पानेके लिए अपने प्रश्नोंको प्रतिशंका-२ और प्रतिशंका-३ मे भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया था, तथापि उसपर उत्तरपक्षने ध्यान नही दिया, अत मैंने तत्त्वचर्चाकी समीक्षा लिखनेका निर्णय किया। और उसके अनुसार तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका निर्णय प्रथम भाग सन् १९८२ में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशित होनेपर उसका समाधान करनेके लिए उत्तरपक्षने एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका नाम "जैन तत्त्वसमीक्षाका समाधान" है और जिसको पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है।

सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचन्द्रजीकी उस पुस्तकमें आदिके चार प्रश्नोत्तरोकी समीक्षाका समाधान किया गया है, क्योंकि तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम भागमें उन्ही चार प्रश्नोत्तरोकी समीक्षा की गई है। वे प्रश्न और उनके उत्तर निम्न प्रकार हैं—

प्रथम प्रश्न था कि द्रव्यकर्मके उदयसे ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति-भ्रमण होता है या नही ? इसका जो उत्तर उत्तरपक्षने दिया है वह इस प्रकार है कि 'द्रव्यकर्मोंके उदय और ससारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति-भ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।' अपने इस उत्तरके समर्थनमें उत्तरपक्षने समयसार गाथा ८०, ८१ और ८२ को उपस्थित किया है। यद्यपि इन गाथाओंको पूर्वपक्ष भी प्रमाण मानता है परन्तु इनका जो अभिप्राय उत्तरपक्षने ग्रहण किया है उसको पूर्वपक्ष नहीं मानता है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ पूर्वपक्ष ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्यकर्मके उदयको सहायकरूपसे कारण मानता है वहाँ उत्तरपक्ष द्रव्यकर्मके उदयको ससारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणमें सहायक रूपसे कारण न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर मानता है। दोनों पक्षोंके मध्य प्रश्नोत्तर एकके विषयमें यही विवाद है और उसी विवादको तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय प्रश्न था कि "जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नही" ? इसका जो उत्तर उत्तरपक्षने दिया है कि 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीवतत्त्व में अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वय जीवका न तो धर्म भाव है और न अधर्म भाव ही है।' अपने इस उत्तरके समर्थनमें उत्तरपक्षने प० प्रवर बनारसीदासजीके नाटक समयसारमें कहे गये दोहा १२१, १२२

और १२३ को उपस्थित किया है, परन्तु ये तीनो दोहा शरीरके सहयोगसे होनेवाली जीवकी क्रियासे सम्बन्ध रखते हैं, पुद्गलद्रव्यकी क्रियासे नही। इसी तरह समयसारके कलश-पद्य २४२ और परमात्मप्रकाशके पद्य २-१९१ के विषयमे भी यही स्थिति है। इस विषयको भी तत्त्वचर्चाकी समीक्षा प्रथम भागमे स्पष्ट किया गया है।

तृतीय प्रश्न था कि "जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?" इसका उत्तर उत्तरपक्षने दिया था कि "इस प्रश्नमें यदि धर्मपदका अर्थ पुण्यभाव है तो जीवदयाको पुण्यभाव मानना मिथ्यात्व नही, क्योंकि जीवदयाकी परिगणना शुभ परिणामोंमें की गयी है और शुभ परिणामको आगममें पुण्यभाव माना है।

यदि इस प्रश्नमें धर्मपदका अर्थ वीतराग-परिणति लिया जाये तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरा तत्त्वमें अन्तर्भाव नही होता है।'

पूर्वपक्षने जीवदयाके तीन प्रकार माने हैं—एक प्रकार शुभ परिणामरूप है, दूसरा प्रकार व्यवहार-धर्मरूप है और तीसरा प्रकार निश्चयधर्मरूप है। इस विषयको तत्त्वचर्चाकी समीक्षा प्रथमभागमे विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ प्रश्न था कि "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नही" ? इसका उत्तर उत्तरपक्षने दिया है कि 'निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक नही है, क्योकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है।' अपने इस उत्तरके समर्थनमें उत्तरपक्षने नियमसार गाथा १३ और १४ को उपस्थित किया है। परन्तु नियमसारकी ये दोनो गाथाएँ उत्तरपक्षके अभिप्रायका समर्थन नही करती हैं। यही स्थिति नियमसारकी गाथा २८ का भी है। इस विषयको भी तत्त्वचर्चाकी समीक्षा प्रथम भागमें स्पष्ट किया गया है।

यद्यपि तत्त्वचर्चाकी समीक्षा प्रथमभागमें उक्त चार प्रश्नोत्तरोके विषयमें सयुक्तिक एव सप्रमाण लिखा गया है फिर भी सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचन्द्रजीने बादको प्रकाशित अपनी पुस्तक 'जैन तत्त्व-समीक्षाका समाधान' में उसके समाधान करनेकी बात कही है, परन्तु वे उक्त प्रश्नोत्तरोकी समीक्षाका समाधान करनेमें असमर्थ ही रहे है, क्योकि उस पुस्तकमें उन्होने जो कुछ भी लिखा है वह सब पाठकोको फुसलानेकी दृष्टिसे ही लिखा है, तात्त्विक समाधान उसमें नही है, इसे प्रबुद्ध पाठक स्वय समझ जावेंगे।

हमे प्रसन्नता है कि आज तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका द्वितीय भाग प्रकाशित हो रहा है। इसमें प्रश्नोत्तर पाँचकी समीक्षा की गयी है। पूर्वपक्षने जो पाँचवाँ प्रश्न उपस्थित किया था वह है कि "द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी ? इसका उत्तरपक्षने जो उत्तर दिया था वह इस प्रकार है कि 'द्रव्योमें उत्पन्न होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे हा होती हैं। इसके समर्थनमें उत्तरपक्षने एक प्रमाण यह दिया है कि केवलज्ञानमें प्रत्येक द्रव्यकी सभी पर्यायोंका प्रतिभासन नियतक्रमसे ही होता है और दूसरा प्रमाण यह दिया था कि आगममें पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान कहा गया है।

इस विषयमें पूर्वपक्षका कहना यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें पर्यायोकी जो उत्पत्ति होती है वह केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके आधारपर न होकर श्रुतज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले कार्य-कारणभावके आधारपर होती है, इसलिए उपादानको जब जैसे निमित्तोका सहयोग प्राप्त होता है उसके अनुसार पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होती है। पर्यायोकी उत्पत्तिका केवलज्ञानमें होनेवाले पदार्थोंके प्रतिभासनसे कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि केवलज्ञानमें भूतकालमें उत्पन्न हुई, वर्तमानकालमें उत्पन्न हो रही

और भविष्यकालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोका प्रतिभासन ही होता है। उनमे उत्पत्ति (कार्यकारणभाव) का प्रतिभासन नही होता। दूसरा प्रमाण भी प्रकृतविषयको साधक नही है, क्योकि अनियतपर्यायोका उपादान अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोके अधीन होनेसे पर्यायोकी उत्पत्ति अनियतक्रमसे भी होती है, यह अनेक बार स्पष्ट किया है।

तात्पर्य यह है कि अपने-अपने कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंका प्रतिभासन ही केवलज्ञानमें होता है, इसलिए यह प्रश्न ही नही उठता कि जिन पर्यायोका प्रतिभासन केवलज्ञानमें होता है वे पर्यायें ही प्रतिसमय उत्पन्न होती हैं। केवलज्ञानमें पर्यायोके प्रतिभासनकी यही व्यवस्था तर्कसगत है कि अपने-अपने कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें ही केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे प्रतिभासित हो रही हैं। दूसरी बात यह है कि केवलज्ञानी जीव सादि है और पदार्थोंका परिणमन अनादि है, क्योकि पदार्थ अनादि हैं। इसलिए उत्तरपक्षका यह स्वीकार करना कि जैसा परिणमन केवलज्ञानमें पदार्थका प्रतिभासित होता है वैसा ही उसका परिणमन होता है। उत्तरपक्षकी यह मान्यता युक्त नही है, इस विषयमें आवश्यक स्पष्टीकरण तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रस्तुत द्वितीय भागमें किया गया है।

उत्तरपक्षका जहाँ तक यह कहना कि पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्यका नाम ही उपादान है और वही कार्य-रूप परिणत होता है सो उसमें यह तो ठीक है कि पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य उपादान होता है। परन्तु स्व-पर-प्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्राप्त निमित्तोके अनुसार होनेके कारण वही होती है जिसके अनुकूल निमित्तोंका समागम पदार्थको प्राप्त होता है। इस विषयको भी इसमें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

आशा है प्रबुद्ध पाठक तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके इस दूसरे और पिछले पहले दोनो भागोको ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे और आगमानुकूल जो निष्कर्ष निकालें उनसे हमें अवगत करायें।

उत्तरपक्षसे भी निवेदन है कि वह भी आगम और तर्कसे प्रमाणित निष्कर्ष निकाले और उसे स्वीकार करे।

अन्तमें यह बात कहना चाहता हूँ कि मुझे आशा थी कि पारमार्थिक फण्डका जितना साहित्य है वह आस्थावान् समाजमें रुचिकर होगा। परन्तु उस साहित्यकी खपत न होनेसे समाजकी आस्था पर मेरी दृष्टि संशयास्पद हो रही है। यह भी सम्भव है कि साहित्य की बिक्री न होने तथा पारमार्थिक फण्डकी रकम समाप्त होने पर अपनी लेखनी बन्द करनी पडे। पर विश्वास है कि समाजका ध्यान इस ओर जावेगा।

अन्तमें डॉ० प० दरबारीलाल कोठियाके प्रति उनके द्वारा किये गये सपादन-कार्यके लिए और श्री बाबूलाल जी फागुल्लके प्रति ग्रन्थका मुद्रण सुन्दर रूपमें तत्परताके साथ करनेके लिए आभार प्रकट करता हूँ।

—वंशीधर शास्त्री

सम्पादकीय

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाका यह द्वितीय भाग है। इसमें प्रश्नोत्तर ५ की समीक्षा की गयी है। प्रश्नोत्तर ५ लम्बा और विस्तृत है। इससे समीक्षा-लेखकने इसमें उसीकी विस्तारसे समीक्षा की है। इससे पूर्व वे प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर १,२,३, और ४ की समीक्षा कर चुके हैं। शेष १२ की समीक्षा वे अगले दो भागोमे करेंगे। हमारा विश्वास है कि पाठक इन समीक्षा-ग्रन्थोके अध्ययनसे तत्त्वका सही निर्णय कर सकेंगे।

पूर्व पक्षका प्रश्न था कि पदार्थोंकी पर्यायें नियतक्रमसे उत्पन्न होती हैं अथवा अनियतक्रमसे भी होती हैं ? उत्तरपक्षने इसके उत्तरमें समाधान किया था कि चूँकि वे केवलज्ञानमें भूत-वर्तमान-भविष्यत्के क्रमसे प्रतिभासित होती हैं, अत पदार्थोंकी पर्यायें नियतक्रमसे ही उत्पन्न होती हैं। पर उत्तरपक्षका यह समाधान सही नही है, क्योकि पदार्थोंकी पर्यायोकी उत्पत्ति कार्यकारणभावके आधारपर होती है, केवलज्ञानमें उनके प्रतिभासनके आधारपर नही। पर्यायोमें रहनेवाला कार्यकारणभाव केवलज्ञानमें प्रतीत नही होता। वह तो श्रुतज्ञानमें ही निर्णीत होता है। अत उपादान और निमित्त ये दोनो कारण जब मिलते है तो स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति होती हैं, अन्यथा नही, और उपादानके लिए निमित्त नियतक्रम और अनियतक्रमसे प्राप्त होते हैं। अत पदार्थोंकी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है, यह कथन युक्त नही है। वे नियतक्रमसे भी होती हैं और निमित्त मिलने पर वे अनियतक्रमसे भी होती हैं। सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्त्तिक आदि आगमग्रन्थोमें दो प्रकारकी पर्यायें कही भी गयी हैं—१ स्वप्रत्यय और २ स्वपरप्रत्यय। जो स्वप्रत्यय पर्यायें हैं वे नियतक्रमसे होती हैं और जो स्व-परप्रत्यय पर्यायें हैं वे निमित्ताधीन होनेसे अनियतक्रमसे उत्पन्न होती हैं।

प्रकृत ५वें प्रश्नोत्तरमें हमने उत्तरपक्षको अनेक स्थानोंपर यह कहते हुए देखा है कि उपादान निमित्तको लेकर कार्य करता है, अत उपादान कार्यका कर्त्ता है, निमित्त नही, वह तो अकिंचित्कर है। पर उत्तरपक्षका यह कथन दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्रके विरुद्ध है, क्योकि दर्शनशास्त्र और न्यायशास्त्रमें स्पष्टतया कहा गया है कि **'सामग्री जनिका कार्यस्य नैक कारणम्'** (प्रमाणपरीक्षा, आ० विद्यानन्द) अर्थात् सामग्री—उपादान और निमित्त दोनोकी समग्रता कार्यकी जनक है, एक कारण नही। इसी तरह आ० समन्तभद्रने भी प्रतिपादन किया है कि **'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः'** (स्वयम्भू०) अर्थात् बाह्य (निमित्त) और इतर (अभ्यन्तर—उपादान) इन दोनोकी समग्रतासे कार्योंका होना द्रव्यका स्वभाव है। अत 'निमित्त' की उपेक्षा करना या उसे अकिंचित्कर कहना एक बहुत भारी गलती है। 'निमित्त' शब्दकी व्युत्पत्ति है कि नि—निश्चित है मित्त—मित्तता उपादानके साथ जिसकी, उसे निमित्त कहा जाता है, उसके बिना उपादान पगु है—कुछ नही कर सकता है। हाँ, अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिमें **'एकोऽहम्'** मैं एक हूँ, रहता है, उसमें बाह्यकी अपेक्षा नही है। अत. वही उपादान है और वही निमित्त है—उससे भिन्न अन्य कोई बाह्य निमित्त नही है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि **'अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तर केवलमप्यलं ते'** (स्वयम्भू०)—जो अध्यात्ममें प्रवृत्त है उसके लिए बाह्य (निमित्त) गौण है और केवल अभ्यन्तर (उपादान) मुख्य है।

परन्तु लोकव्यवहार, देव-शास्त्र-गुरुकी व्यवस्था, जिन चैत्य, जिन चैत्यालय, सस्कृति-आचार-विचार, उपदेश, वाच्य-वाचकव्यवस्था, प्रमाण-प्रेमयव्यवस्था, स्याद्वाद-अनेकान्त-सप्तभगी आदि केवल अध्यात्मपर आधारित नही हैं। वस्तुकी अभिज्ञताके लिए स्याद्वाद और अनेकान्तकी उतनी ही अपेक्षा है जितनी अध्यात्म की। यही कारण है कि जैन दर्शनमें जहाँ अध्यात्मको समझनेके लिए निश्चय और व्यवहार नयोका विवेचन है वही वस्तुको जाननेके लिए प्रमाणसे अतिरिक्त द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोका भी प्रतिपादन उपलब्ध है। अत हम नय-विमुख न हो।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित वशीधरजी व्याकरणाचार्य द्वारा इस (समीक्षाग्रन्थ) में किया गया गहरा चिन्तन नि सन्देह पाठकोंके लिए सुज्ञानवर्द्धक और निर्णायक होगा।

४, भोगावीर कालोनी, लका, वाराणसी–५
दिनाङ्क ९-५-१९९१

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१. प्रश्नोत्तर पांचकी सामान्यसमीक्षा ३११

प्राग्वृत्त ३११
पूर्वपक्षका प्रश्न ३११
उत्तरपक्षका उत्तर ३११

समीक्षा

पर्यायोका विवरण ३११
पर्यायोकी द्विरूपता ३१२
उभयपर्यायोकी आगमद्वारा पुष्टि ३१२
पर्यायोकी उत्पत्तिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमताका निर्णय ३१२
स्वपरप्रत्यय पर्यायोकी अन्य आगमवचनों द्वारा पुष्टि ३१२
उत्तरपक्षकी दृष्टिमें स्वपरप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिकी व्यवस्था ३१३
निष्कर्ष ३१४
तथ्यका निर्णय ३१५
निष्पत्ति ३२२
केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा ३२३
पुद्गलोका आवश्यक विवेचन ३२७

२. प्रश्नोत्तर ५ के प्रथम दौरकी समीक्षा ३३०

प्रश्न प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी दृष्टि ३३०
उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरका स्पष्टीकरण ३३०
समीक्षा ३३०
समीक्षा : ३३१
समीक्षा · ३३२

३. प्रश्नोत्तर ५ के द्वितीय दौर की समीक्षा ३३३

विषय — पृष्ठ

समीक्षा · ३३३
समीक्षा ३३४
समीक्षा ३३४
समीक्षा ३३८
समीक्षा : ३३९
समीक्षा · ३४०
समीक्षा ३४२
समीक्षा · ३४२
समीक्षा · ३४४
समीक्षा : ३४६
समीक्षा : ३४९
समीक्षा ३५०
समीक्षा ३५१

४. प्रश्नोत्तर ५ के तृतीय दौरकी समीक्षा ३५७

तृतीय दौरमें पूर्वपक्ष द्वारा अपनी मान्यताकी पुष्टि ३५७
उत्तरपक्षके तृतीय दौरका आद्य वक्तव्य ३५७
समीक्षा ३५७
उत्तरपक्षका आगेका वक्तव्य ३५७
समीक्षा · ३५७
समीक्षा · ३६२
इसपर विचार ३६८
समीक्षा : ३७०
समीक्षा ३७२
समीक्षा : ३७८
समीक्षा ३८७
समीक्षा · ३९१
समीक्षा ३९७
समीक्षा · ४००

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
समीक्षा	४०४	समीक्षा	४१३
समीक्षा	४०५	समीक्षा	४१९
समीक्षा	४०७	समीक्षा	४२३
समीक्षा	४०८	समीक्षा	४२५
समीक्षा	४१०	समीक्षा	४३१
समीक्षा	४११	विशेष विवेचन	४३६
समीक्षा	४१२		

जयपुर (खानिया) और तत्त्वचर्चा

प्रथम दौर • द्वितीय दौर

शंका ५ और उसका समाधान

(पृ० १५८ से ३७५)

•

प्रथम दौर

: १ :

शंका ५

द्रव्योमे होने वाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

समाधान

(१) द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो दु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेवने जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीवके जिस देशमे जिस विधिसे जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमें से कौन चलायमान कर सकता है, अर्थात् कोई भी चलायमान नही कर सकता। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है वह कुदृष्टि है ॥३२१–३२३॥

यह आगम प्रमाण है इसमें भिन्न टाईपमे दिये गये पद ध्यान देने योग्य हैं। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें जिस देश और जिस कालमें होती हैं वे उस देश और उस कालमें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे नही होती।

(२) आगममें उपादान कारणका जो लक्षण स्वीकार किया है उसका सम्यक् प्रकारसे पर्यालोचन करनेपर भी यही ज्ञात होता है कि सभी द्रव्योकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे नही होती। लक्षण इस प्रकार है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे (उपादान कारण रूपसे) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्यरूप होता है ॥२३०॥

यह उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण है। इसका स्पष्ट रूपसे विश्लेषण करनेपर उससे यही फलित होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, क्योंकि पूर्व-पूर्व क्षणवर्ती उस-उस

पर्याय युक्त द्रव्य यथार्थ उपादान कारण होनेसे उस द्वारा प्रत्येक समयमें नियत क्रमसे ही कार्य उत्पत्तिकी प्रसिद्धि होती है, अनियत क्रमसे कार्य उत्पत्तिकी प्रसिद्धि त्रिकालमे होना सम्भव नही है।

यहाँपर उपादान कारणके लक्षणका आश्रय लेकर सभी द्रव्योकी होनेवाली सभी पर्यायोका जो नियत क्रमसे होनेका समर्थन किया गया है वह कथन केवल तर्कका सहारा लेकर ही नही किया गया है। किन्तु आगममें ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो इस विषयके समर्थनके लिए पर्याप्त हैं। प्रकृतमें इस प्रमाणको पढिये—

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्य मोक्षस्य कारण अयोगिकेवलिचरम-समयवर्तिरत्नत्रयमिति ।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १–पृ० ७१

अर्थ—निश्चयनयका आश्रय लेनेपर तो जिसके अनन्तर मोक्षका उत्पाद होता है, अयोगकेवलीके अन्तिम समयमे होनेवाला वही रत्नत्रय मोक्षका मुख्य (प्रधान-साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

आचार्यवर्य विद्यानन्दि स्वामी इसके पूर्व इसी तथ्यका दृढतापूर्वक समर्थन करते हुए क्या कहते हैं यह उन्हींके आगमस्वरूप शब्दोमें पढिए—

न हि-द्वित्रयादिसिद्धक्षणै. सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-कारणभावो विचारयितुमुपक्रान्त. येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि प्रथमसिद्धक्षणेन सह। तत्र च तत् समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थं स्यात्, धूमक्षण-जनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्ते। तथा च न किंचित् कस्यचित् समर्थं कारणम्। न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति क्वेय वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता।

—श्लोकवार्तिक अ० १–पृ० ७१

अर्थ—प्रकृतमें द्वितीय आदि सिद्धक्षणोंके साथ अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारणभाव विचार करनेके लिए प्रस्तुत नही है, जिससे उसकी उत्पत्तिमें उसकी असामर्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षणके साथ ही प्रकृतमे उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्तिमे वह समर्थ उपादान कारण ही है, इसलिए पूर्वोक्त शका ठीक नही है। यदि ऐसा न माना जावे तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ कैसे हो सकती है, क्योकि ऐसी स्थितिमें धूमक्षणोंके द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीय आदि धूमक्षणोके उत्पन्न करनेमें उसके (अग्नि के) असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणके उत्पन्न करनेमें भी उसकी असामर्थ्यके प्राप्त होनेका प्रसग आता है। और ऐसा होनेपर कोई भी किसीका समर्थ कारण नही बन सकता। और असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नही, ऐसी स्थितिमें यह विचारी कार्य-कारणता कैसे ठहरेगी अर्थात् तब कार्य-कारणताका स्वीकार करना ही निष्फल हो जायगा।

इस प्रकार इस उल्लेखका सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर यही निष्पन्न होता है कि प्रत्येक समय में नियत कार्य की ही उत्पत्ति होती है और उसका उपादान कारण भी नियत ही होता है। अतएव समस्त आगमपर दृष्टिपात करनेपर विचारकोको एकमात्र यही मानना उचित है कि सभी द्रव्योकी होनेवाली सभी पर्यायें नियत-क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे त्रिकालमें नही होती।

द्वितीय दौर

:२:

शंका ५

द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें जो आपने यह लिखा है कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' आपका यह लिखना निराधार है, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थमें समस्त पर्यायोंको नियत क्रमसे ही होना नही बतलाया है। अत किसी भी ग्रन्थमें क्रमबद्धपर्यायका उल्लेख नहीं पाया जाता। यदि किसी भी ग्रन्थमें क्रमबद्धपर्यायका उल्लेख हो तो बतलानेकी कृपा करें।

आपने अपने कथनकी पुष्टिमे जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी **'जं जस्स जम्मि देसे'** आदि तीन गाथाओका उद्धरण दिया है, उनमें न तो कही क्रमबद्ध-पर्यायका उल्लेख है, न उनसे क्रमबद्ध पर्यायका समर्थन होता है।

यदि कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी-देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिए स्वामिकार्तिकेयने इन गाथाओ द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण काल को इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी टाल नही सकते। इस तरह जीवन बचानेके अभिप्रायसे कुदेव आदिकी आराधनासे बचानेके लिये ग्रन्थकारने गाथाओंको लिखा है, जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

श्री स्वामिकार्तिकेयने धर्मानुप्रेक्षामें गाथा ३११-३१८ तक 'सम्यग्दृष्टिको तत्त्व श्रद्धान् किस प्रकार होता है' उसका कथन किया है। उसमें प्रथम यह कहा है—**'जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि'** अर्थात् सम्यग्दृष्टि नियमसे तत्त्वोका अनेकान्तात्मकरूपसे श्रद्धान् करता है यानी एकान्त रूपसे श्रद्धान् नही करता। जब सम्यग्दृष्टि अनेकान्त रूपसे श्रद्धान् करता है तो उसको एकान्त नियतिवादका जिसको द्वादशाङ्गमें मिथ्यात्व कहा है, कैसे उपदेश दिया जा सकता है।

गाथा ३१९ से ३२२ तक चार गाथाओंमें कुदेवकी पूजाके निषेधके लिए इस प्रकार उपदेश दिया है—

> ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उपयारं।
> उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥३१९॥

अर्थ—न तो कोई जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है, शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार और अपकार करते हैं ॥३१९॥

> भत्तीए पुज्जमाणो वितर-देवो वि देदि जदि लच्छी।
> तो किं धम्में कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥३२०॥

अर्थ—यदि व्यन्तर देवी-देवता भक्ति-पूजा करनेसे लक्ष्मी देते हैं तो फिर धर्म क्यों किया जाये, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है।

इसी विचारको दृढ करनेके लिए यह उपदेश दिया गया है। अथवा सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि जब इन्द्र व जिनेन्द्र भी तेरे कर्मोंको नही टाल सकते तो अन्य तुच्छ देव तेरे कर्मोंको कैसे टाल सकेंगे।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥

अर्थ—जिस जीवके जिस देशमें जिस कालमे जिस विधानसे जो जन्म अथवा मरण जिन देवने नियत रूपसे जाना उस जीवको उसी देशमें उसी कालमें उसी विधानसे वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकनेमें समर्थ है ॥ ३२१-३२२ ॥

इन गाथाओका जो निष्कर्ष यहाँ बतलाया गया है उसकी पुष्टि गाथा न० ३१९ से इस तरह होती है कि उसमें एकान्त नियतिवादके विरुद्ध शुभाशुभ कर्मोंको जीवके उपकार-अपकारका निमित्त कारण स्पष्ट बतलाया है। अर्थात् जीवका उपकार या अपकार मात्र काल पर निर्भर नही है, किन्तु वाह्य कारणोंके अनुसार शुभाशुभ कर्मोदयके अधीन है।

इसी ग्रन्थ की गाथा न २१९ भी है जो हमें यह बतलाती है कि काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव, भावादि लब्धियोंसे युक्त और नाना शक्तियोंसे सयुक्त पदार्थोंके परिणमनको कोई भी वारण करनेमे समर्थ नही है। इसका भी आशय केवल यह है कि यदि निमित्तभूत और उपादानभूत परिपूर्ण सामग्री जहाँ निराबाध उपस्थित है वहाँ कार्योत्पत्ति टालनेमे कोई भी समर्थ नही है। टीकामें भी इसी प्रकार कहा है—

यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ता. इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्री प्राप्य भक्तपरिणामं लभन्ते।

अर्थ—जैसे भात शक्ति युक्त चावल ईंधन, आग, बटलोई, जल आदि सामग्रीके मिलने पर ही भातरूप हो जाते हैं।

इस तरह ये सब प्रमाण ऐकान्तिक नियतिवादका समर्थन करनेमें विल्कुल असमर्थ है। गाथा २१९ इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥

इस गाथा २१९ में पदार्थोको नाना शक्तियुक्त बतलाया गया है, किन्तु पदार्थ उत्तर समयमें उसी कार्यरूप परिणत होते है जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्यायका कार्य नियत नही।

इसकी पुष्टि इसी ग्रन्थकी गाथा २२२ की टीकाके निम्नलिखित वाक्योंसे होती है।

द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्त पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते। तदेव द्रव्यं जीवादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्त उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्य पूर्वपर्यायाविष्ट कारण-भूत मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव।

अर्थ—जो जीवादि वस्तु पूर्व पर्यायकी हालतमे उपादान कारण रूपसे रहती है वही जीवादि वस्तु यदि निर्मापक सपूर्ण निमित्तोंके साथ मणि मन्त्रादिक वाह्य सामग्री द्वारा अप्रतिवद्ध सामर्थ्यसे सम्पन्न हो तो वह उत्तर क्षणमे कार्यको निष्पन्न करती ही है। अर्थात् उसको कोई धारण करनेमें समर्थ नही है।

इतना ही अभिप्राय ग्रंथकर्ताका है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१९-३२२ में वस्तु स्वरूप नही बतलाया गया है, किन्तु कुदेव आदि की पूजाके निषेधार्थ यह उपदेश दिया गया है। जैसे बारह भावनाओमें वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए 'अनित्य भावना' का उपदेश है। किन्तु वस्तु स्वरूप मात्र अनित्य नही है, वस्तु स्वरूप तो नित्यानित्यात्मक है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन्द्र या जिनेन्द्र किसी अन्य जीवके कर्मोंको टालनेमें असमर्थ है, किन्तु वह जीव तो स्वय अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मोंके उदयादिको टाल सकता है, अन्यथा मोक्षमार्गका उपदेश निरर्थक हो जावेगा।

श्री प० फूलचन्दजी इसी ग्रन्थकी ३२३ गाथाका सम्बन्ध सिर्फ ३२१ और ३२२ से ही जोडना चाहते हैं जो गलत है, कारण कि उसका सम्बन्ध ३११ से ३२२ तककी गाथाओसे है।

यदि जीव अपने परिणामो द्वारा कर्मोंकी स्थिति-अनुभागको खण्डन करके अविपाक निर्जरा (नियत कालसे पूर्व उदयमे लाकर खिराना) नही कर सकता तो मोक्ष का अभाव हो जायगा और **'तपसा निर्जरा च'**। त० सू० ९-३ सूत्र से विरोध आजायगा।

इसके अतिरिक्त इन गाथाओंमें यह बात कही नही बतलाई कि कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे अपने पूर्वबद्ध कर्मोंको उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उदीरणा आदि रूपमें घटाना, बढाना, पलटना नियत समयसे पूर्व उदयमें लेआना, कर्मोंकी नियत स्थिति तथा अनुभागका खडन करना आदि नही कर सकता, यानी जिस कर्म पर्यायके पलटनेमें जिनेन्द्र, इन्द्र आदि भी समथ नही हैं उस पर्याय **परिवर्तन को जीव अपने पुरुषार्थसे करनेमें समर्थ है।**

इसीलिये 'जिनका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है, तब तहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ नही कर सकता' ऐसा एकान्त नियतिवादका लक्षण करके उसको अमितगति आचार्यने पचसग्रह श्लोक ३१२ तथा श्रीसिद्धान्त चक्रवर्तीने गो० क० गाथा ८८२ तथा प्राकृत पचसग्रह पृ० ५४७ में एकान्त मिथ्यात्व कहा है।

इसके सिवाय ऐसा भी एकान्त नही है पूर्वबद्ध आयुकर्मके अनुसार नियत समय पर ही जीवोकी मृत्यु अवश्य हो जाती है, क्योकि सर्वज्ञदेवने अकालमृत्युका भी विधान किया है और जिसका श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुड की २५-२६-२७ वी गाथाओमें स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री उमास्वामी आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीयाध्यायके अन्तिम सूत्रमें भी निश्चित आयुकी समाप्ति से पहले भी बाहरी निमित्त कारणों द्वारा मृत्यु (अकाल मृत्यु) हो जाना अनेक जीवोंके बतलाया है। उस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्री अकलकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें निम्नलिखित रूपसे उल्लेख किया है—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न, दृष्ठत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥

व्याख्या—यथावधारितपाककालात्प्राक् सोपायोपक्रमे सति आम्रफलादिना दृष्ट पाक तथा परिच्छिन्नमरणकालात्प्राक् उदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्त ।

अर्थ—शङ्का—अप्राप्त कालवाले जीवका मरण उपलब्ध नही होता, इसीलिये अकालमृत्यु नही है?

उत्तर—यह कथन ठीक नही है, क्योकि अप्राप्तकाल मरण भी देखा जाता है। जैसे कि आम्रफल निश्चित कालसे पहले उपाय द्वारा पका लिया जाता है वैसे ही निश्चित मरण कालसे पहले उदीरणा द्वारा आयुका व्याघात होना है।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥

अर्थ—आयुर्वेदकी सामर्थ्यसे भी अकाल मृत्युकी सिद्धि होती है ।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस वार्तिककी वृत्तिमें देखिये । इस अकाल मृत्युके विधानसे प्रमाणित होता है कि आयु समाप्तिसे पूर्व भी दुर्घटनावश आयुक्रमका भगकर साधारण जीवोका मरण हो जाता है ।

अकाल मे दिव्यध्वनि

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिका समय यद्यपि नियत होता है तथापि बाहरी प्रबल निमित्त कारण मिलने पर असमयमें भी उस नियमको भंगकर दिव्यध्वनि खिरा करती है ।

जयधवला पु० १ पृ० १२६ में लिखा है—

तिसज्झविसयछघडियासु णिरंतर पयट्टमाणिया इयरकालेसु समयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा सकरवदिगराभावादो विसदसरूवा ।

अर्थ—जो दिव्यध्वनि प्रात मध्याह्न और सायकाल इन तीन सध्याओमें छह छह घडी तक खिरती रहती है और उक्त समयको छोडकर इतर समयमें गणधरदेवके सशय विपर्यय और अनध्यवसाय भावको प्राप्त होने पर उनके प्रति प्रवृत्ति करना अर्थात् उनके सशयादिकको दूर करना जिसका स्वभाव है तथा सकर व्यतिकर दोषोंसे रहित विशद स्वभावशाली है ।

इसी प्रकार चक्रवर्तीके समवशरणमें आ जाने पर भी दिव्यध्वनि असमयमें भी खिरा करती है ।

निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय

राजवार्तिक अ० १ सूत्र ३ पृ० २४ पर लिखा है—

कालानियमाच्च निर्जराया ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंकी कर्मोंकी निर्जराका समय अनियत है ।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग अनुकूल निमित्त कारण प्राप्त कर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मुक्त होता है । अत कर्मनिर्जरा और कर्ममुक्तिका समय नियत नही है ।

अनियत गुण-पर्याय

पञ्चास्तिकायमें पर समय जीवकी पर्याय अनियत बतलाते हुए लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमयो ।
जदि कुणदि सग समय पब्भसदि कम्मबधादो ॥ १५५ ॥

अर्थ—अपने चैतन्य स्वभावमें नियत होता हुआ भी ससारी जीव अनियत गुण-पर्यायवाला होता हुआ पर समय होता है । यदि वह स्वसमय होता है तब कर्मबन्धसे छूट जाता है ।

इस तरह संसारी जीवकी नियत तथा अनियत दोनो प्रकारकी पर्यायें हुआ करती हैं । अनियत गुण-पर्यायका निमित्त कारण मोहनीय कर्मको टीकाकारने बतलाया है ।

क्रम-अक्रम परिणमन

धवल पुस्तक १३ (५-५-८२) पृष्ठ ३४९ पर लिखा है—

अण्णेसि दव्वाणं कमाकमेहि परिणमणहेदुत्त कालदव्वाणुभागो । एव दुसजोगादिणा अणुभागपरूवणा कापव्वा । जहा (मट्टिया) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुभारादीण घडुप्पायणाणुभागो ।

अर्थ—अन्य द्रव्योंके **क्रम और अक्रमसे** परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है।

इसी प्रकार द्विसयोगादिरूपसे अनुभागका कथन करना चाहिये। जैसे मृत्तिका पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग।

इस तरह श्री वीरसेनाचार्यने धवलसिद्धान्तके उक्त विधान द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि कालद्रव्यमें यह शक्ति है कि वह अन्य द्रव्योंके निमित्ति कारण वश होनेवाले क्रमिक अक्रमिक पर्याय परिणमनमें सहायक होता है। तथा यह भी उन्होंने बतलाया है कि दो द्रव्योकी सयुक्त शक्तिसे भी घट आदि बननेरूप कार्य होता है। निमित्त कारणो के अभावमें केवल उपादानसे घट आदि पर्यायका होना अटक जाता है।

द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय

कर्मबन्ध हो जानेपर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग निश्चित (नियत) हो जाने पर भी बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग निमित्तकारणोंके बलसे सचित द्रव्यकर्मोंकी प्रकृति-स्थिति-अनुभागमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणारूप परिवर्तन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि बद्ध कर्मोंकी पर्याय नियत और अनियत दोनो प्रकार की हुआ करती है। तदनुसार सातावेदनीय आदि कर्म असातावेदनीय आदि रूप भी हो जाता है। श्रेणिकने अपनी सातवें नरक की बाँधी हुई ३३ सागरकी आयुको अपने प्रयत्नसे बदलकर प्रथम नरक की ८४ हजार वर्षकी आयुरूप कर दिया। इस तरह कर्मोंकी निकाचित रूपमें नियत पर्याय और सक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा (अकाल मरणके समान) रूपमें अनियत पर्याय होती है।

इसके सिवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्म अपना फल नियत और अनियत रूपसे दिया करते हैं।

अर्हन्त भगवान्‌के असातावेदनीय कर्मका उदय सातारूपसे हुआ करता है। नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दु खदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दु खदायक नही होता।

इसी बातकी पुष्टि श्री वीरसेन आचार्यके जयधवल सिद्धान्तग्रन्थ पु० १ पृ० २८९ के निम्नलिखित कथनसे होती है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त काल-भाव (भावा) वेक्खाए जायदे। तदो ण सव्बद्ध दव्वकम्माइ सगफलं कुणंति त्ति सिद्ध।

अर्थ—प्रागभावका नाश हुए विना कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती है और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लेकर होता है, इसलिये द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नही करते हैं, यह सिद्ध होता है।

श्री वीरसेनाचार्यके उक्त कथनसे दो बातें सिद्ध होती हैं—

१—कार्य अपने निमित्त-उपादान कारणोंके अनुसार ही होता है, किसी नियतिके अनुसार या केवलज्ञानके अनुसार नही होता है।

२—द्रव्यकर्मोंका फल भी अपरिवर्तनीय—नियत नही है।

निमित्त-उपादान कारण

इसके बाद आपने जो उपादान कारणके अनुसार पर्यायको नियत—क्रमबद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है और उसके लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा श्लोकवार्तिकके वाक्यो को उद्धृत किया है वह कार्य-कारण भावका सूचक होते हुए भी नियत कालका सूचक नही है।

जो पर्याय जिस समय होती है वह उसका स्वकाल अवश्य है, किन्तु पर्यायका वह स्वकाल एकान्त-रूपसे नियत नही है। उसका कारण यह है कि कार्य केवल उपादान कारणसे ही नही होता, उसके लिये निमित्त कारणोका व्यापार अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। कोई भी स्व-परप्रत्यय पर्याय निमित्त कारणके बिना कभी नही होती।

निमित्त कारणका व्यापार कालक्रमके अनुसार ही नियत हो ऐसा एकान्त नही है, क्योंकि कार्य-सिद्धिके लिये अनुकूल कारण जब भी आगे-पीछे क्रमसे या अक्रमसे उपलब्ध होगे तब ही उन निमित्त कारणोंके व्यापारके अनुसार कार्य पहले या पीछे, क्रमसे या अक्रमसे होगा। जैसे आम या केले वृक्षपर कालक्रमसे प्राप्त सूर्य आदि अन्य पदार्थोंके निमित्त देरमें पका करते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकताके अनुसार उन फलोंको पेडसे तोडकर भुस आदिकी गर्मी द्वारा पहले भी पका लेता है।

रसोई बनानेवाला रसोइया भोजन बनानेके लिये अपनी इच्छानुसार लकडी, कोयला, बिजली या गैस की मन्द, तीव्र, तीव्रतर आदि अग्निका निमित्त मिलाकर दाल, चावल, शाक, रोटी आदि शीघ्र या देरसे बना लेता है। अपनी इच्छानुसार चावल, दाल, रोटी आदिमेंसे जिस द्रव्यकी पर्यायको पहले या पीछे करना चाहता है कर डालता है। रोटी बनाते हुए यदि वह पूडी बनाना आवश्यक समझता है तो वह आटेकी रोटी पर्यायको बन्द कर पूडी पर्यायको करने लगता है।

ऐसे अनियत अनन्त कार्योंको होते हुए हम प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि हम ऐसे अनियत कार्योंको सिद्धान्त ग्रन्थोमें देखें तो वहाँ भी कर्मोंके उत्कर्षण, सक्रमण, उदीरणा आदि अवस्थाओमें जीवके अनियत भावोके कारण अनियत कार्य होना उपलब्ध होता है।

इससे फलित होता है कि कार्यका होना कारणके व्यापारके अनुसार है। यतश्च कारण व्यापार काल-क्रमसे तथा कालके अक्रमसे उपलब्ध होता है, अत कारणभूत पूर्व पर्यायका स्वकाल नियत रूपसे क्रमिक तथा अनियत रूपसे अक्रमिक भी होता है—कारणक्रमाक्रमानुविधायित्वात्कार्यक्रमाक्रमस्य।

केवलज्ञान की अपेक्षा

उपलब्ध क्रमिक अक्रमिक निमित्त तथा उपादान कारणोंके अनुसार होनेवाली पदार्थोंको क्रमिक अक्रमिक पर्यायें केवलज्ञानमें उसी क्रम-अक्रमरूपसे झलकती हैं—

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।

जैसे कि कालमृत्यु तथा अकालमृत्यु। अत केवलज्ञान द्वारा भी पदार्थोंकी पर्यायें नियत-क्रमिक एव अनियत-अक्रमिकरूपमे सिद्ध होती हैं। इस तरह पर्याय क्रम-अक्रमके विषयमें एकान्त नही है—अनेकान्त है।

यतञ्च केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नही है और कार्य, कारकके अनुसार होता है ज्ञापकके अनुसार नही—

णाणं णेयपमाण।—प्रवचनसार गाथा २३

अत पर्याय क्रमका नियामक केवलज्ञान नही है, निमित्त-उपादान कारणरूप कारक ही पर्यायक्रमका नियामक है।

अत आपका उत्तर युक्ति तथा आगमसे गलत सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारके अन्तमें चरणानुयोग सूचक चूलिकामें नयोका वर्णन करते हुए निम्नलिखित भङ्गोंका उल्लेख किया है—

यथा कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धि ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमौष्ण्यपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि ॥३१॥

अर्थ स्पष्ट है।

इस उल्लेखसे पदार्थके क्रमिक-अक्रमिक परिणमन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

●

नमः श्री वीतरागाय

मगलं भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ५

द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती हैं या अनियत क्रमसे ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नका उत्तर व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों प्रकारसे दिया गया है। व्यवहार नयसे उत्तर देते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा से तीन गाथायें उद्धृत कर केवलज्ञानके ज्ञेयरूपसे द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती हैं यह सिद्ध किया गया था और निश्चयनयसे उत्तर देते हुए उपादानकी अपेक्षा द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती हैं यह अनेक आगम प्रमाण देकर सिद्ध किया गया था, किन्तु द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे नही होती इस अभिप्रायकी पुष्टि करते हुए पुन प्रतिशका २ उपस्थित की गई है। प्रतिशका २ में विषयोंका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथाएँ तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री।
२—अकालमें दिव्यध्वनि
३—निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय
४—अनियत गुण-पर्याय
५—क्रम-अक्रम परिणाम
६—द्रव्य कर्मकी अनियत पर्याय
७—निमित्त-उपादान कारण।

आगे इसका समाधान किया जाता है।

१

स्वामी कार्तिकेयने स्वलिखित द्वादशानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टि निश्चयनयसे कैसा निर्णय करता है यह बतलानेके लिये ज जस्स जम्मि देसे इत्यादि दो गाथाएँ देकर अन्तमें देकर यह लिखा है कि इस प्रकार सब द्रव्य और उनकी पर्यायोको जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। गाथा इस प्रकार है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वज्जाएए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुद्दिट्ठी ।।३२३।।

इस गाथामें भिन्न टाईपमें दिये गये पद ध्यानमें लेने योग्य है। **णिच्छयदो** का अर्थ निश्चयसे (यथार्थमें) है। इससे विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओमे जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह यथार्थ है। आगे **एवं जो दव्वाणि सव्वपज्जाए** पद देकर यह स्पष्ट किया गया है कि पिछली दो गाथाओमें जिस तत्त्वकी व्यवस्था की गई है वह सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोके विषयमे है। **सद्दिट्ठी सुद्धो** पद देकर यह बतलाया गया है कि निश्चयसे सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायोको जो पूर्वोक्त प्रकारसे जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है तथा आगे **कुद्दिट्ठी** पद देकर यह बतलाया गया है कि जो पूर्वोक्त प्रकारसे सब द्रव्यो और उनकी पर्यायोको निश्चयसे नही जानता वह मिथ्यादृष्टि है।

इस गाथामे **णिच्छयदो** पद देनेका एक दूसरा अभिप्राय भी है। इस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि यह कथन निश्चय (यथार्थ) नयकी (उपादानकी) प्रधानतासे किया गया है। इससे पर्यायान्तरसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगममें जहाँ भी अकाल मृत्यु आदिका निर्देश किया गया है, वहाँ वह व्यवहार नयकी (उपचरित नयकी) अपेक्षा ही किया गया है निश्चय नयकी अपेक्षासे नही।

इन गाथाओके आशयको ध्यानमें न रखकर जो यह कहा जाता है कि जो 'कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी-देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिए स्वामिकार्तिकेयने इन गाथाओ द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण कालको भी इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नही टाल सकते।' सो उन गाथाओ परसे ऐसा आशय फलित करना उचित नही है। कारण कि इन दो गाथाओके पूर्वमे जो गाथा आई है उसके अन्तमें "सद्दिट्ठी' पद स्वतन्त्र पडा है, अत इस गाथाका इन दो गाथाओके साथ सीधा सम्बन्ध नही है। दूसरे ३१९ और ३२० गाथाओ द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है वह मात्र सम्यग्दृष्टिकी भावना नही है, किन्तु उन द्वारा वस्तुस्थितिका ही प्रतिपादन किया गया है। इसके लिये समयसार की २४७ से लेकर २६१ तककी गाथाओके साथ इन दो गाथाओका मिलान कीजिए। वहाँ कहा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२५३।।

अर्थ—जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं जीवोको दु खी-सुखी करता हूँ वह मूढ है, अज्ञानी है। परन्तु जो ऐसा नही मानता वह ज्ञानी है।। २५३ ।।

अब इसके प्रकाशमे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी यह गाथा पढिए—

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयार कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ।।३१९।।

अर्थ—कोई किसीको लक्ष्मी नहीं देता और न कोई जीवका उपकार करता है। उपकार और अपकार शुभ और अशुभ कर्म करते हैं ॥ ३१९ ॥

यों तो श्री समयसार जीमें ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिन द्वारा यह बतलाया गया है कि न तो कोई किसीको मार सकता है और न जिला सकता है। कर्मके उदयसे जीव मरता और जीता है आदि। उदाहरण-स्वरूप एक गाथा और देखिए।

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव मानता है कि मैं दूसरे जीवोको जिलाता हूँ और दूसरे जीव मुझे जिलाते हैं वह मूढ़ है—अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है ॥ २५० ॥

अब इसके प्रकाशमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३१९ न० की गाथा पढिए—

भत्तीए पुज्जमाणो वितरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥३२०॥

अर्थ—भक्तिसे पूजित व्यन्तर देव यदि लक्ष्मी देता है तो धर्म क्यों किया जाता है ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता है ॥ ३२० ॥

इससे ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त ३२१ और ३२२ गाथाओ द्वारा तथा ३१९ और ३२० गाथाओं द्वारा ऐसा कोई तत्त्व नही कहा गया है जो मात्र भावनासे सम्बन्ध रखता हो। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी इन सब गाथाओं द्वारा एकमात्र इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है कि अन्य अन्यका अच्छा-बुरा कुछ भी नही कर सकता। सब अपने अपने कर्मानुसार ही होता है। यही बात श्री समयसार जीमें कही गई है। अतएव सम्यग्दृष्टिकी इस भावना को यथार्थ ही जानना चाहिये। इसी ग्रन्थ में २१९ न० की एक गाथा और आई है, जिसमें बतलाया गया है कि निश्चय से कालादि लब्धि से युक्त और नाना शक्तियो से स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थों को कोई भी वारण नही कर सकता। गाथा इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

इसमें **'परिणममाणा हि सयं'** पद ध्यान देने योग्य है। इन पदो द्वारा यह स्पष्ट शब्दोंमें ज्ञान कराया गया है कि यथार्थमें प्रत्येक यथार्थ स्वयं परिणमन करते हैं, अन्यके द्वारा नही परिणमाये जाते हैं। इसलिये इस गाथाके आधारसे यदि कोई यह फलित करे कि कार्य उत्तर समयमें उसी कार्यरूप परिणत होते हैं जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्यायका कार्य नियत नही है। सो यह लिखना पदार्थ व्यवस्थाके प्रतिकूल है। प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक समयमें जो द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति होती है जिसे कि आचार्योंने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है उसके अनुसार ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्दि स्वामी जैसे समर्थ आचार्य **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** यह कहनेमें समर्थ हुए। यदि उपादानके इस लक्षणको, जिसे कि सभी आचार्योंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नही माना जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है तब उसके अनुसार कार्य होता है तो सिद्धोको जिनमें वैभाविक शक्ति इस अवस्थामें भी विद्यमान है और लोकमें

सर्वत्र बाह्य निमित्तोकी भी विद्यमानता है तब उन्हें संसारी बनानेसे कौन रोक सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर जीवके राग-द्वेषरूपसे परिणमन करनेपर ही उसको निमित्त कर द्रव्य कर्मोंका बन्ध होता है यह सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है। इसके साथ तब यही मानना पडेगा कि कोई जीव सातवें नरकमें जाने योग्य संक्लेश परिणाम करे परन्तु बाह्य निमित्त देव-गुरु-शास्त्रका सानिध्य आदि देवगतिमे जानेके योग्य हो तो उसे नरकायुका बन्ध न होकर देवायुका ही बन्ध होगा, क्योकि जब कि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्तके अनुसार होता है। ऐसी अवस्थामें अमुक प्रकारके परिणामोके होनेपर अमुक प्रकारका बन्ध होता है यह जो आगममें व्यवस्थाकी गई है वह सबको सब छिन्न-भिन्न हो जाती है। प्रत्येक द्रव्यकी सयोग कालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है यह तो है, पर साथमें इसके प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गई है। इसलिये जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी, उसीके अनुसार ही मिलते हैं यह भी नियम है। नियममें अनेकान्त लागू नही होता। अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है, इसलिये उसे ध्यानमें रख कर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्यमे सामान्यकी अपेक्षा जो नित्यता और पर्यायअपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गई है वह अनेकान्त नही बनेगा। तब तो यह भी माननेके लिये बाध्य होना पडेगा कि—'द्रव्य (सामान्य) स्वय अपनी अपेक्षा ही कथचित् नित्य है और कथचित् अनित्य है।' अतएव ज्ञानी विद्वान् पुरुषोका कार्य है कि वे शास्त्रकी मर्यादाको ध्यानमें रखकर ही उसकी व्याख्या करें। अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२ न० की गाथाकी टीकासे, जो उसका यथार्थ तात्पर्य है, वही फलित करना चाहिये। उसमें **'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन'** के पूर्व यदि **'यदि'** अर्थको सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीकामे होता तब तो निमित्तोकी अनिश्चितता भी समझमें आती, परन्तु उसमें इस आशयको सूचित करनेवाला कोई पाठ नही है, इसलिये उसे **'तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतम्'** का विशेषण बना कर ही उसका अर्थ कराना चाहिए और ऐसा अर्थ करनेपर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसगति वैठ जाती है।

बारह भावनाओमें अनित्य भावनाका उपदेश सवेग और वैराग्य उत्पन्न करानेके अभिप्रायसे ही आया है इसमें सन्देह नही। परन्तु **अर्पितानर्पितसिद्धे** त० सू० ५-३२ सूत्रके अनुसार नित्य पक्षको गौण कर ही ऐसी भावना कराई गई है। ऐसा करनेका कारण भी है। बात यह है कि ससारमें धन, पुत्र, स्त्री आदिका सयोग होता है। जिसमें कि मिथ्यादृष्टिको निज बुद्धि बनी आ रही है, उस सयोगके प्रति अरुचि उत्पन्न कराना वहाँ प्रयोजन है। स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्य नित्यानित्य हो सकता है, पर स्त्रीपर्याय नहीं, और मिथ्यादृष्टि जीव स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्यमें निज बुद्धि नही कर रहा है, किन्तु जो जीव उस कालमे स्त्रीपर्यायविशिष्ट है उसको उस कालमें होनेवाली स्त्रीपर्यायमें निज बुद्धि कर रहा है। अतएव वहाँ उस पर्यायसम्बन्धी आसक्ति छुडानेके अभिप्रायसे ही वैसी भावनाका उपदेश दिया गया है। अतएव अनित्य भावनाको उदाहरणस्वरूप उपस्थित कर ३१९-३२२ गाथाओको उसी अर्थमें लेना उचित नही है।

३२३ न० की गाथाका सम्बन्ध ३२१-३२२ गाथाओके साथ तो है ही। और यदि इसका सम्बन्ध इसके पूर्वकी ३१९-३२० न० की गाथाओके साथ भी जोडा जाता है तो भी कोई आपत्ति नही है। जैसा कि पूर्वमे श्री समयसार जी के आधारसे सिद्ध कर आये हैं।

अकामनिर्जरा और तपद्वारा होनेवाली निर्जराका शास्त्रमें विधान है, इसमें सन्देह नही। पर कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नही है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मोकी कैसी योग्यताके होनेपर कैसी पद्धतिसे होती है। जिस कालमें जिन कर्मोंकी जितने परिमाणमें जिन परिणामोको निमित्त कर उत्कर्षित,

अपकर्षित, सक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है उस कालमें उन कर्मोंका उतने परिमाणमे उन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा होती है ऐसा नियम है। जीवके विवक्षित परिणामोंके साथ उन कर्मोंके अपकर्षणादिकी व्यवस्था की गई है यह वात कर्मशास्त्रियोको सुविदित है।

दूसरे बन्धकालमें जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है सो उस कालमें ही उन-उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आनेपर नियत परिणामो तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन-उन कर्मोंका अपकर्षणादि रूप परिणमन होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो एक तो कर्मशास्त्रमें जो उपशमकरण, निधत्तिकरण और निकाचितकरणकी व्यवस्थानुसार यह बतलाया गया है कि जो कर्म उदयमें नही दिये जा सकते उनकी उपशमकरण सज्ञा है, जो कर्म उदयमें नहीं दिए जा सकते और सक्रमणके अयोग्य होते हैं उनकी निधत्ति सज्ञा है तथा जो कर्म उदयमें नही दिये जा सकते और जो सक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षणके अयोग्य होते हैं उनकी निकाचित सज्ञा है वह पूरीकी पूरी व्यवस्था गडवडा जाती है।

दूसरे, उदीरणादिमें वह किस क्रमसे होती है और कितने कालमें होती है यह जो व्यवस्था कर्मशास्त्र-में बतलाई है वह व्यवस्था भी गडवडा जायगी। उदाहरणार्थ जो उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें आता है वह मिथ्यात्वमें रहते हुए सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वेलना पल्य-के असख्यातवें भागप्रमाण कालमें करता है। उसमें भी प्रथम समयमें अमुक परिमाणमे उद्वेलना होती है, द्वितीय समयमें अमुक परिमाणमे उद्वेलना होती है इत्यादि रूपसे जो व्यवस्था बताई गई है वह व्यवस्था भी नही बन सकती। देवादिका सम्यक् निमित्त मिलनेपर वह अन्तर्मुहूर्तमें, एक दिन में, एक पक्षमें, एक मासमें, एक वर्षमें या सैकडों वर्षोंमें उनकी उद्वेलना क्यो नही कर लेता है, क्योकि उद्वेलनाके योग्य बाह्य सामग्री है ही, फिर अमुक काल ही उसके लिये लगे ऐसा नियम नही रहना चाहिए।

तीसरे बन्धके योग्य एक प्रकारका अमुक परिणाम होनेपर जो बन्ध होता है, उस परिणामको निमित्त कर मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर स्थिति पडे और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अन्य स्थितिबन्ध हो, स्थिति-बन्धमें यह भेद कौन करता है ?

चौथे एक शुभ परिणामके होने पर विविध कर्मोंमें जो अनुभागबन्धमें या योगके अनुसार प्रदेशबन्धमें भेद होता है यह भेद भी कौन करता है ?

पाँचवें प्रत्येक आत्माके साथ विस्रसोपचय इतना अधिक होता है कि यदि नया विस्रसोपचय संचित न हो और उसीमेंसे नया-नया बन्ध होता रहे तो भी वह चिरकाल तक समाप्त नही होगा। ऐसी स्थितिके रहते हुए भी किस समयमें विस्रसोपचयमेंसे किन कर्मवर्गणाओका कितने परिमाणमें बन्ध होगा यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्धयोग्य कर्मवर्गणाओका ही बन्ध होता है, अन्यका नही ऐसा फरक क्यो पडता है ?

छठे ऐसा नियम है कि निमित्तको निमित्तता कार्यके समयमें मानी गई है। अतएव (१) जिस समय उपादान कारण कार्यरूपसे परिणमता है उस समय जो उसका निमित्त कारण है वह स्वयं अपना उपादान बन कर अपनी पर्यायको उत्पन्न करनेके लिये व्यापार करता है या जिसका वह निमित्त है उसके व्यापारमें लगता है ? यदि कहो कि उस समय वह स्वयका उपादान बनकर करता तो अपना कायरूप व्यापार ही है, किन्तु जिसका वह निमित्त है उसके कार्यरूप व्यापारको नही करता है तो फिर दोनोंने जब कि उस

समय एक साथ अपने-अपने कार्यको करनेका व्यापार किया। ऐसी अवस्थामे निमित्तके अनुसार उपादानको परिणमना पडता है यह नियम कैसे बन सकता है ?

यदि कहो कि (२) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है उस समय जो उसका निमित्त है वह स्वय का उपादान बनकर अपना व्यापार न करके मात्र जिसका वह निमित्त है उसका व्यापार करता है तो फिर दोनोका मिलकर एक व्यापार दिखलाई देना चाहिये। उदाहरणार्थ जिस समय कुम्भकार घटका निर्माण करता है उस समय उक्त प्रकारसे मिट्टीमे ही दोनोंके परिणमनकी क्रिया दिखलाई देनी चाहिये। मिट्टी मे होनेवाली परिणमनरूप क्रियाके साथ कुम्भकारके जो हाथ आदि हिलाते हुए दिखलाई देते हैं वे नही दिखलाई देने चाहिये।

यदि कहो कि (३) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है उस समय उसका जो निमित्त है वह अपना कार्य तो करता ही है पर उसके साथ-साथ जिसका वह निमित्त है उसका भी व्यापार करता है तो इस प्रकार उसे एक साथ उपादान बन कर अपनी और जिसका वह निमित्त है उसकी इस प्रकार एक साथ दो क्रियाऐं करनी पडेंगी। परन्तु ऐसा तो जिनागममें माना नही गया है, कि एक पदार्थ दो क्रियाका कर्त्ता हो।

अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादानके कार्यके प्रति दूसरे एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योकी विवक्षित पर्यायोमें निमित्त व्यवहार होता है वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसीका कार्य नही करता, परन्तु उन सब द्रव्योंके उस-उस कालमें उस-उसरूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है और उनका वैसा हो परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनोकी इस वाह्य व्याप्तिको देखकर ही उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ऐसा मानना यहाँ आगमानुकूल है।

शब्द विवक्षित वाक्योका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं, अत यदि ३२१-३२२ गाथाओ द्वारा मात्र नियति (निश्चय) के अनुसार ही कथन किया गया है तो इसका अर्थ यह नही कि उन गाथाओ द्वारा व्यवहार पक्षका भी कथन किया जाना चाहिए था और नही किया गया है तो वह कथन एकान्त हो जायगा। कथन कही प्रमाणकी अपेक्षा किया गया है। कही व्यवहार नयकी अपेक्षा कथन किया गया हैं और कही निश्चयनयकी अपेक्षा कथन किया गया हैं। इसलिये जहाँ जिस नयकी अपेक्षा कथन हो उसे उसी रूपमें घटित कर विवक्षित प्रमाणरूप अर्थको फलित कर लेना चाहिये। यही शास्त्रके अर्थ करनेकी पद्धति है जो शास्त्रकारोने सर्वत्र अपनाई है।

कथन करनेकी पद्धति तीन हैं—प्रमाणकी अपेक्षा, निश्चयनयकी अपेक्षा और व्यवहारनयकी अपेक्षा। ये तीन पद्धतियाँ आगममे यथास्थान सर्वत्र स्वीकार की गई हैं, अतएव उनकी सगति बिठलाते हुए इष्टार्थको फलित करना चाहिये।

प्रकृत मे ३२१-३२२ गाथाएँ निश्चयनयकी मुख्यतासे लिखी गई हैं, वह इसीसे स्पष्ट है कि उनसे अगली गाथा में 'एवं जो णिच्छयदो' यह पाठ दिया गया है। हम इस गाथामें पठित णिच्छयदो पदको गौण कर दें और उनका अपने विकल्पके अनुसार अर्थ करें यह उचित नही है। अथ करनेकी यह पद्धति भी नही है। इसी आशयका एक श्लोक पद्मपुराणमे भी उपलब्ध होता है सो उसका भी प्रकृतके अनुरूप अर्थ करना चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावत्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३॥

अर्थ—जिस जीवके द्वारा जहाँ पर जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमें जो प्राप्तव्य है उसे जीव के द्वारा वहाँ पर उस कालमे उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है ।

पण्डितप्रवर भैया भगवतीदास जी तत्त्वज्ञानसे भली-भाँति परिचित लोकोत्तर पुरुष थे । जिनागमका सार वीतरागता जानकर पर्याय और निमित्तोंके प्रति एकत्वबुद्धि का त्याग करानेके अभिप्रायसे उन्होने भी अपनी समर्थ वाणीके द्वारा निश्चयनयकी अपेक्षा यह वचन कहा है—

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी कवहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे ॥

भगवन् ! जीवन में वीतरागता उत्पन्न हो, क्योंकि वह संसारी आत्माका मुख्य कार्य है, इसलिये वर्तमान पर्यायमें अनासक्ति उत्पन्न होने तथा निमित्तोके प्रति इष्टानिष्ट बुद्धिका त्याग करनेके अभिप्रायसे प्रत्येक ससारी प्राणीकी निश्चयके आश्रयसे ऐसी बुद्धि सदा काल वनी रहे यह भावना है । यह सिद्धान्त जीवनका वह प्रेरणास्रोत है जो प्रत्येक प्राणीको आकुलतासे बचाकर निराकुलस्वरूप अनन्त सुखकी ओर ले जाता है । अन्यथा निमित्तोकी उठाधरीके सिवा जीवनमें आत्मीक लाभ मिलना इतना दुर्लभ है जिस प्रकार बालुका समुद्रमें गिरा हुआ मणिका मिलना दुर्लभ है ।

प्राय हम पुरुषार्थकी बात तो करते हैं, परन्तु परद्रव्यके कार्य करनेमें उसकी सफलता मानते हैं जो कर सकना असम्भव है । संसारी जीवने विकल्पके अनुसार क्रियाको ही सच्चा पुरुषार्थ मान लिया है । यदि वह इसमें और सच्चे पुरुषार्थमें वास्तविक अन्तरको जान ले तो उसके जीवनमें परके कार्य करनेका विकल्प ही न रहे । स्वामी समन्तभद्र इसी परमार्थभूत तत्त्वका स्मरण कराते हुए स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३३॥

अर्थ—आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य-शक्ति है, क्योंकि ससारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूँ' इस प्रकारके अहकारसे पीडित है, वह (भवितव्यता) के विना अनेक सहकारी कारणोको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नही होता ॥३३॥

पूर्वबद्ध आयु कर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो सम्भव नही, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है इस नियमको ध्यानमें रखकर-जिन जीवोमें यह निषेक स्थिति अपकर्षण नही होता उन जीवोका वह आयुकर्म इस नियमका अपवाद है यह दिखलानेके लिए तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सू० ५३ मे नियम वचन आया है । उस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते है कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चयकथन है । आचार्य अकलंकदेवने इस वचनके आश्रयसे जो व्यवहार पक्षका समर्थन किया है उसे ही हमारे बन्धु निश्चयपक्ष मानकर वैसी श्रद्धा किये हुए हैं और उसीको मात्र जिनागम बतलाकर जोरदार शब्दोंद्वारा उसका समर्थन करते हैं । अब यह विचार करना है कि क्या यह निश्चय कथन है या मात्र व्यवहाररूप विशेष निमित्तोंका ज्ञान करानेके लिए यह कथन किया गया है । आगे यही विचार करना है ।

यह तो आगमाभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्युको प्राप्त हुआ जीव प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें तथा अधिकसे अधिक चौथे समयमें उत्तरभवको अवश्य धारण कर लेता है । मान लो किसी जीवका

अकालमरण होता है परन्तु ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म धारण करे इसकी तो कोई नियत व्यवस्था है ही नही, क्योंकि अकालमरणके कथनको यथार्थ माननेवाले महानुभाव इस नियमका प्रतिपादन तो कर नही सकते कि उसके जन्मका नियत स्थान है और न यह ही कहने की क्षमता रखते हैं कि जन्मयोग्य गर्भादिकके आवश्यक निमित्त भी नियमसे तैयार रहते हैं। ऐसी अवस्थामें जिसका अकालमरण हुआ उसका अकाल जन्म मानना पडेगा और अकाल जन्मके स्वीकार कर लेनेपर जन्मस्थान आदिका कोई निश्चित नियम न होनेसे ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म लेगा यह निश्चित नही किया जा सकता। आनुपूर्वी कर्म, गतिकर्म आदि तो जड हैं, वे जानते नही कि ऐसी अनिश्चित व्यवस्थाके रहते हुए कहाँ इस जीवको ले जाया जाय। और फिर जब सब अनिश्चित है और अनिश्चित सिद्धान्तके आधारपर कार्य-कारण व्यवस्था बनानी है। ऐसी अवस्थामें यही मानना पडेगा कि मरणके बाद कितने समयमें कौन जीव कहाँ जन्म धारण करेगा इसका कोई नियम नही किया जा सकता है। किन्तु जब लोकमे चारो गतियोकी और गत्यागति आदिकी सब सुनिश्चित व्यवस्था है। ऐसी अवस्थामें अकालमरणके कथनको व्यवहारपक्षका कथन ही जानना चाहिये।

: २ :

तीर्थंकरकी वाणी किसी विशेष पुण्यशाली गणधर आदिको निमित्तकर अन्य समयमें भी खिरती है ऐसा जयधवला पुस्तक १ पृ० १२६ में उल्लेख है। इसपरसे यह फलित किया जाता है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि अकालमें भी खिरती है। परन्तु उक्त उल्लेखपरसे ऐसा फलित नही होता। वहाँ मूलमें तो **'इयरकालेसु'** ऐसा पाठ है। उसका अर्थ 'अन्य कालोमें' होता है। इस द्वारा दिव्यध्वनि कब-कब खिरती है यह नियम किया गया है। जिसका जो नियम हो वह उसका स्वकाल है, अकाल नही। और सयोगकी भूमिका-में होनेवाला कार्य हो तो उस समय वैसा निमित्त भी मिलता है। उसका भी वह स्वकाल है, क्योंकि जिसे उपादानरूपसे विवक्षित किया जाता है उसका प्रत्येक परिणाम जैसे अपने-अपने कालमे होता है। प्रकार जिसे निमित्त रूपसे विवक्षित किया जाता है वह स्वयं अपने कार्यके प्रति उपादान होनेसे उसका भी प्रत्येक परिणाम अपने-अपने कालमे होता है। इस प्रकार कार्य के प्रति निमित्त-उपादानकी सगति बैठती जाती है। उसमे बाधा नही आती। इस तथ्यको जयधवलामें इन्द्र द्वारा गौतमगणधरको समवशरणमें लानेके समयके प्रसंगको लेकर भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है। वहाँ यह प्रश्न किया गया है कि इन्द्र पहले ही गणधरको ले आता, ६६ दिनतक क्यो रुका रहा? उत्तरमे कहा गया है कि काललब्धिके अभावमें पहले वैसा करना सम्भव नही था। जयधवलाका वह कथन इस प्रकार है—

सोहम्मिदेण तक्खणे च्चेव गणिदो किण्ण ढोइदो? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। पृ० ७६।

शका—सौधर्म इन्द्रने केवलज्ञानके प्राप्त होनेके समय ही गणधरको क्यो नही उपस्थित किया?

समाधान—नही, क्योकि काललब्धिके बिना सौधर्म इन्द्र गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था, उसमें उस समय गणधरको उपस्थित करनेकी शक्ति नही थी।

इसमें **'काललब्धि'** पद ध्यान देने योग्य है। इसे सर्वत्र कार्य उत्पत्तिमें स्वीकार किया गया है। सब कार्य काललब्धिके प्राप्त होनेपर ही होते हैं ऐसा निश्चित नियम है। अतएव तीर्थंकरदेवकी दिव्यध्वनि इतर कालमें खिरती है इस उल्लेखको देखकर उसपरसे अकालमें खिरती है ऐसा फलित करना योग्य नही है।

३

निर्जरा और मुक्तिका काल अनियत है यदि यह सिद्धान्त माना जाता है तो जैसा कि पूर्वमे बतला आये हैं तदनुसार निमित्त-उपादानकी सम्यक् व्यवस्था ही नही बन सकती। आचार्य विद्यानन्दि श्लोकवार्तिक पृ० ७० में कहते हैं--

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुः न केवल, तथा प्रतीते.।

अर्थ—यथार्थमें कालादि सामग्रीसे युक्त मोहक्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है, अकेला नही, क्योकि उस प्रकार प्रतीत होता है।

उसी स्थलपर वे पुन कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

अर्थ--शंका क्षीणकषायके प्रथम समयमें केवलज्ञानके प्रादुर्भावकी प्रसक्ति होती है ?

समाधान—ऐसा नही कहना चाहिए, क्योंकि सहकारीरूपसे अपेक्षित कालविशेषका उस समय अभाव है।

श्लोकवार्तिकके ये दो ऐसे पुष्ट प्रमाण है जो इस तथ्यको सूचित करते हैं कि जिस कार्यका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, अन्य कालमें नही। अतएव जिस प्रकार केवलज्ञानकी उत्पत्ति निश्चित कालमें होती है उसी प्रकार विवक्षित निर्जरा और मोक्षकी प्राप्ति भी नियतकालमें होती है ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए।

: ४

पञ्चास्तिकायकी १५५वी गाथामें आये 'णियदो' और 'अणियद' पदके प्रकृत अर्थको छोडकर नियत और 'अनियत' अर्थ करके जो गुण-पर्यायोको नियत और अनियत सिद्ध किया गया है वह सगत नहीं है। वहाँ उसमे आये हुए 'सहावणियदो' पदका अर्थ 'स्वभावमें नियत--अवस्थित अर्थात् लीन' है तथा 'अणियदगुणपज्जाओ' पदका अथ-स्वभावगुण पर्यायोमे अनियत-अनवस्थित अर्थात् विभाव-गुणपर्यायोंमे अवस्थित (लीन) है,' क्योकि उस गाथामें स्वसमय और परसमयकी व्याख्या की गई है और फलितार्थ रूप मे यह बतलाया गया है कि जो स्वसमयरूप परिणमता है वह कर्मबन्धसे छूट जाता है। अत इस गाथा पर से 'ससारी जीव की नियत (क्रम नियत) तथा अनियत (क्रम अनियत) दोनो प्रकारकी पर्यायें हुआ करती हैं यह अर्थ करना सगत नही है। जिसमें सब विषय स्पष्ट हो जाय इसके लिए यहाँ उक्त गाथा और उसकी टीका दी जा रही है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जाओध परसमओ।
जीवो कुणदि सग समय पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१५५॥

अर्थ—जीव स्वभावमें अवस्थित होनेपर भी यदि विभाव गुणपर्यायोमें लीन हो तो परसमय है। यदि वह स्वसमयको प्राप्त करता है तो कर्मबन्धसे छूट जाता है ॥१५५॥

टीका—स्वसमयपरसमयोपादानव्युदासपुरस्सरकर्मक्षयद्वारेण जीवस्वभावनियतचरितस्य मोक्षमार्गत्वद्योतनमेतत्। ससारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्यापि अनादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सत. समुपात्तभाववैश्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमय परचरितमिति यावत्। तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य

सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नियतगुणपर्यायत्वं स्वसमय स्वचरितमिति यावत् । अथ खलु यदि कथञ्चनोद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिर्जीव परसमयं व्युदस्य स्वसमयमुपादत्ते तदा कर्मबन्धादवश्यं भ्रश्यति । यतो हि जीवस्वभावनियत चरितं मोक्षमार्ग इति ॥१५५॥

अर्थ—स्वसमयके ग्रहण और परसमयके त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है—ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ (इस गाथा में) 'जीव स्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है' ऐसा दर्शाया है। ससारी जीव, (द्रव्य-अपेक्षा से) ज्ञानदर्शनमें अवस्थित होनेके कारण स्वभावमें नियत (निश्चलरूपसे स्थित) होनेपर भी जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करके परिणत करनेके कारण उपरक्त उपयोगवाला (अशुद्ध उपयोगवाला) होता है तब (स्वय) भावोका विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो अनियतगुणपर्यायपना होता है वह परसमय अर्थात् परचारित्र है, वही (जीव) जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिको छोडकर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है तब (स्वय) भावका एकरूपपना ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो नियतगुणपर्यायपना होता है वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है।

अब, वास्तवमें यदि किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञानज्योति प्रकट करके जीव परसमयको छोडकर स्वसमयको ग्रहण करता है तो कर्मबन्धसे अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तवमें (ऐसा निश्चित होता है कि) जीवस्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है ॥१५५॥

: ५ :

आचार्य वीरसेनके जयधवला पु० १ पृ० २८९ के उल्लेखपरसे प्रतिशकामें यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, कालपर निर्भर है। जबतक द्रव्य, क्षेत्र, कालका योग नही मिलता तबतक प्रागभावका नाश नही होता, सब कार्योंका कोई स्वकाल न होनेसे कार्य, क्रमसे भी होते हैं और अक्रमसे भी होते हैं। अक्रमसे होते हैं अर्थात् क्रमको छोडकर होते हैं।'

अब यहाँ विचार यह करना है कि क्या जयधवलाके उक्त वाक्यपरसे यह अर्थ फलित होता है। वह वचन इस प्रकार है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे ।

अर्थ—प्रागभावका विनाश भी द्रव्य क्षेत्र, काल और भवकी अपेक्षासे होता है।

अब इस वचनपर विचार कीजिए—प्रागभाव और उपादान इन दोनोका एक ही अर्थ है और इस द्वारा मात्र इतना कथन किया गया है कि प्रागभावका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवसापेक्ष होता है। इसमें यह नही कहा गया है कि यदि द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि न मिलें तो कार्य नही होता। अत इस परसे क्रम-अक्रम परिणामका समर्थन करना तो योग्य नही है।

रही कर्मादिकके सक्रम आदिकी बात सो ऐसा मान लेनेपर कि कर्मका उदय होनेपर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोंका फल नही मिलता। यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिसपर इस समय लिखना उचित न होगा। विशेष प्रसग आनेपर अवश्य ही विचार करेंगे। सक्रमादिके विषयमें पूर्वमे विचार कर ही आये हैं। अतएव उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिए कि दोनोका मेल होनेपर कार्य होता है। सिद्धान्त यह है कि निश्चय उपादानके प्राप्त होनेपर यतः उस समय जो अन्य द्रव्यकी पर्याय उसका निमित्त है वह अपने परिणमनके लिए उसी समय निश्चय उपादान भी है इसलिए प्रत्येक समयमे निश्चय व्यवहारका

सुमेल होते जानेसे प्रत्येक कार्य अपने-अपने कालमे ही होता है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

६ .

उपादान निमित्तका विचार स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर पूर्वमें कर आये हैं। कार्य उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त इन दोका कारण रूपसे उल्लेख किया गया है। इसका तात्पर्य यह नही कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नही होगा ऐसा अर्थ करना सगत नही है। जबकि शास्त्रकारोने उपादानकी अन्तर्व्याप्ति और निमित्तकी बाह्य व्याप्तिका निर्देश किया है ऐसी अवस्थामें दोनोकी व्याप्ति एक साथ प्रत्येक समयमें मिलती रहती है और प्रत्येक समयमे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्यको उत्पन्न करता रहता है। प्रत्येक समयमें द्रव्यका परिणमन अन्यथा नही बन सकता और न ही उपादान-निमित्त की विषमव्याप्ति बनाई जा सकती है इस तथ्यको प्रमेयकमलमार्तण्ड २, २ पृ० २०१ में इन शब्दो द्वारा स्वीकार किया है—

यद्यप्यभिहितम्—शक्तादशक्ताद्वा तस्या प्रादुर्भाव इत्यादि। तत्र शक्तादेवास्या. प्रादुर्भाव। न चानवस्था दोषाय बीजाकुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य। वर्तमाना हि शक्ति प्राक्तनशक्ति-युक्तेनार्थेनापिर्भाव्यते सापि प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पूर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोत्तरावस्था-प्रादुर्भाववत्।

और जो यह कहा है कि समर्थ उपादानसे उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है या असमर्थ उपादानसे उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति को उत्पत्ति होती है इत्यादि। उसमें समर्थ उपादानसे ही द्रव्य पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है। और अनवस्था दोषके लिए नही हैं, क्योंकि बीजाकुर प्रवाहके समान उसका प्रवाह अनादि है। वर्तमान शक्ति पूर्व शक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है। वह भी उससे पूर्वको शक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है, पूर्व पूर्व अवस्थायुक्त पदार्थोंका उत्तरोत्तर अवस्था रूपसे जैसे प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये।

इस प्रकार निमित्त-उपादान को अपेक्षा विचार करनेपर सब कार्योकी उत्पत्ति नियत क्रमसे ही होती है ऐसा निर्णय करना समीचीन है। यहाँ प्रमेय कमलमार्तण्डका जो उद्धरण पूर्वमें दिया है कि उसके आधारसे प्रत्येक समयके उपादानकी सम्यग्व्यवस्था बन जाती है। उक्त उल्लेखमें उसे समर्थ उपादान प्रतिपादित किया है। इससे यह भी भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि उपादानके अनुसार तो नियत कार्य होता ही है, साथ ही कार्यके समय उसके नियत निमित्तोका योग भी होता रहता है। अत प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

. ७

उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति है इस व्यवस्थाके रहते हुए तथा उपादानका 'अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान कहते हैं, यह सुनिश्चित लक्षणके होनेपर भी यह लिखना कि कार्यके प्रति जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योकि प्रत्येक पदार्थ उपादान बनकर प्रत्येक समयमें अपना अपना कार्य कर रहा है, उसमे कही किसी प्रकारकी गडबडी नही देखी जाती। यदि निमित्ताधीन कार्यकी व्यवस्था होती तो द्रव्यको जो उत्पाद,-व्यय-ध्रौव्य. स्वभाववाला आगममें सर्वत्र स्वीकार किया है वह नही बन सकता।

क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नही किया इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तो के

अभावमे कार्य नही होता या किसी विवक्षित द्रव्यसे किसी विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे व्यापार किया गया था परन्तु बीचमें कुछ ऐसी सामग्री उपस्थित हो गई जिस कारण यह विवक्षित कार्य या तो विवक्षित समयमें नही हो सका या हो ही नही सका इसलिए यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तोके अभावमे कार्य नही होता ? इनमेंसे प्रथम पक्षके स्वीकार करनेपर तो आगम विरोध आता है, क्योकि सूक्ष्म-स्थूल, जड-चेतन, ऐसा एक भी द्रव्य नही है जो प्रत्येक समयमें परिणमन न करता हो। और प्रत्येक समय में परिणमन करना यही उसका स्वभाव है, अतएव इस आधारसे विचार करनेपर अनुकूल निमित्त न मिलनेसे कार्य नही हुआ यह तो कहा नही जा सकता। दूसरे पक्षके स्वीकार करनेपर यह तो कहा जा सकता है कि जैसी इच्छा हुई थी उसके अनुसार कार्य नही हुआ। पर किसी पदार्थने किसीकी इच्छाके अनुसार परिणमन करनेका ठेका थोडे ही लिया है। और जिन्हें प्रतिबन्धक कारण कहा जाता है सो वह कथन विवक्षित कार्यकी अपेक्षासे ही किया गया है। इसमें सन्देह नही कि प्रत्येक पदार्थ कार्य तो स्वय ही करता है, निमित्त उसका कार्य नही करता। परन्तु जिस कार्यका जो निमित्त होता है उसकी अनुकूलता होनेपर और जो जिसका अनुकूल निमित्त नही है उसके अभावमें ही कार्य होता है। पर यह नियम विवक्षित कार्यकी अपेक्षा सिद्धान्त रूपसे स्वीकार किया गया है। अविवक्षित कार्यकी अपेक्षा विचार करनेपर तो तब भी उस पदार्थने अपना कार्य किया जब उक्त स्थितिके रहते हुए भी विवक्षित कार्य नही हुआ। अतएव जैसा कि आगम प्रमाणसे सिद्ध कर आये हैं प्रत्येक कार्य स्वकालमे ही होता है यह नियम स्वीकार कर लेना चाहिये। पूरे उपचरित और अनुपचरित कारणोका विचार करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदास जी कहते हैं—

पदस्वभाव पूरव उदय निहचै उद्यम काल।
पक्षपात मिथ्यात पथ सरवगी शिवचाल॥

पदार्थका स्वभाव, पूर्वका उदय (निमित्त), निश्चय उपादान, उद्यम (पुरुषार्थ) और काल ये पाँच कारण हैं। इनके समवायमे कार्यकी उत्पत्ति होती है। इनमेंसे किसी एकका पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् ससारका मार्ग है और सबके सद्भावमें कार्यको स्वीकार करना मोक्षमार्ग है।

गोमट्टसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच एकान्तोका निर्देश किया गया है वह इसी अभिप्रायसे ही किया गया है। देखो पदार्थके स्वभावकी महिमा, कार्यरूप परिणाम यह निश्चय उपादानका ही कार्य है। पर निश्चय उपादानकी स्थिति आई और कार्य हो गया ऐसा एकान्त भी नही है। क्योकि कार्य पुरुषार्थ पूर्वक ही होता है और जब कार्य होता है तब उसके अनुकूल निमित्त भी होते हैं। साथ ही निश्चय उपादानकी स्थिति उस पदार्थके स्वभावकी कक्षाके भीतर ही बनती है। इन चारोका योग कब हो इसका अभ्यन्तर दृष्टिसे विचार करनेपर निश्चय उपादान उनके योगका नियामक है और निश्चय उपादान कभी भी उत्पन्न हो जाय यह नही है। बाह्यकी अपेक्षा विचार करनेपर वह विवक्षित कालके प्राप्त होने पर ही होता है। इस प्रकारके पाँचोके समवायमें कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा नियम बन जाता है। अतएव एकान्त नियतिका जहाँ आचार्योंने निषेध किया है वहाँ सम्यक् नियतिको स्वीकार भी किया है। अतएव प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोके समवायको अपेक्षा क्रमनियत होता है अनियत क्रमसे नही होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

हम अन्तमें श्रीस्वामीकार्तिकेयके द्वादशानुप्रेक्षाके वे तीन श्लोक श्री शुभचन्द्र सूरिरचित सस्कृत

टीकाके साथ प्रस्तुत कर रहे हैं जिन्हें यह बताया जाता है कि मात्र व्यन्तरादिसे लक्ष्मी आदि चाहनेवालोंको समझाने मात्रके लिए लिखे गये हैं। इलोकोका क्या भाव है और परम्परासे उनका क्या अर्थ प्राचीन आचार्य तथा विद्वान् करते आये हैं इसे उनके ही शब्दोंमें पढ़कर यथार्थ निर्णय कीजिये।

अथ सम्यग्दृष्टिः एव वक्ष्यमाणलक्षण विचारयतीति गाथात्रयेण आह्

ज जस्स जम्मि देसे जेण विधाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियद जम्म वा अह व मरण वा ॥३२१॥
त तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥

सस्कृत टीका—यस्य पु स जीवस्य यस्मिन् देशे अग-वग-कलिग-तिलग-मरु-मालव-मलयाट-गुर्जर-सौराष्ट्रविषये पुर-नगर-करवट-खेट-ग्राम-वनादिके वा येन विधानेन शस्त्रेण विषेण वैश्वानरेण जलेन शीतेन श्वासोच्छ्वासरुन्धनेनान्नादिविकारेण कुष्ट-भगन्दर-रक्तोदर-प्रचण्डपीडादिप्रमुखरोगेण वा यस्मिन् काले समय-मुहूर्त प्रहर-पूर्वाह्ण मध्याह्न-अपराह्णं-संध्या-दिवस-पक्ष-मास-वर्षादिके नियत निश्चित यत् जन्मअवतरण उत्पत्तिः अथवा मरण वा शब्द समुच्चयार्थं सुखं दुःख लाभालाभ मिष्टानिष्टादिक गृह्यते। तत्सर्वं कीदृश देश-विधान-कालादिकं ? जिनेन ज्ञातं केवलज्ञानिना अवगत ॥३२१॥

टीका—तस्य पुंसः जीवस्य तस्मिन् देशे अग-वंग-तिलंग-गुर्जरादिके नगर-ग्राम-वनादिप्रदेशे वा तेन विधानेन शस्त्रविषादियोगेन तस्मिन् काले समय-पल-घटिका-प्रहर-दिन-पक्षादिके तत् जन्म-मरण-सुख-दुःखादिक कः इन्द्र शक्रः अथवा जिनेन्द्रः सर्वज्ञ वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थं राजा गुर्वा पितृ-मात्रादिर्वा चालयितु निवारयितुं शक्नोति समर्थो भवति कोऽपि ? अपि तु न ॥३२२॥

अर्थ—जिस जीवके या पुरुषके जिस देशमें अर्थात् अग, वग, कलिंग, तिलग, मरु, मालव, मलयाट, गुर्जर सौराष्ट्र, देशमें अथवा पुर, नगर, करवट, खेट, ग्राम, वनादिकोंमें जिस प्रकारसे अर्थात् शस्त्रसे, विषसे, अग्निसे, जलसे, शीतसे, श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे, तथा अन्नादि विकारसे अथवा कोढ़, भगदर, रक्तोदर, प्रचड पीडाकर आदि प्रमुख रोगोंसे जिस कालमे अर्थात् समय, मुहूर्त, प्रहर, प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, सध्या, दिन, पक्ष, महिना, वर्ष आदिकमें नियत अर्थात् निश्चित जो जन्म अर्थात् उत्पत्ति, अथवा मरण, तथा 'वा' शब्दके द्वारा सूचित सुख-दुख, लाभ, अलाभ इष्ट-अनिष्ट आदि भी ग्रहण कर लेना चाहिये। वह सब देश, विधान और कालादिकके रूपसे (उसी प्रकार) जिनेन्द्रके द्वारा ज्ञात है अर्थात् केवलज्ञानियोंके द्वारा जाना जा चुका है ॥३२१॥

अर्थ—उस पुरुषके याने जीवके उस देशमे अर्थात् अग, वग, तिलग, गुजरात आदिकमें तथा नगरमें, ग्राममें या वनादिक प्रदेशोंमें उसी विधिसे अर्थात् शस्त्र, विषादि (उक्त) सयोगसे उसी कालमें अर्थात् समय, पल, घडी, प्रहर, दिन, पक्षादिकमें उन जन्म, मरण, अथवा सुख-दुखादिकोको कोई इन्द्र याने देवेन्द्र-शक्र (शक्तिशाली) अथवा जिनेन्द्र याने सर्वज्ञदेव 'वा' शब्दसे सूचित राजा, गुरु, पिता, माता आदि टालनेके लिये समर्थ हो सकता है क्या कोई ? अर्थात् नही हो सकता ॥३२२॥

अथ सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिलक्षणं लक्षयति—

एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो दु कुदिट्ठी ॥३२३॥

स० टीका—स भव्यात्मा सम्यग्दृष्टि शुद्ध निर्मल मूढत्रयादिपचविंशतिमलरहित:, स क: ? य एवं पूर्वोक्तप्रकारेण निश्चयत परमार्थतः द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशकालाख्यानि, सर्वपर्यायाश्च अर्थपर्यायान् (उत्पाद-व्यययुक्तान्) व्यजनपर्यायाश्च (नरनारकादीन्) जानाति वेत्ति श्रद्दधाति स्पृशति निश्चिनोति स सम्यग्दृष्टिर्भवति । उक्त च तथा सूत्रेण

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्क नवपदसहितं जीव – षट्कायलेश्या:
पचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदा. ।
इत्येतन् मोक्षमूल त्रिभुवनमहितै: प्रोक्तमर्हद्भिरीशै.
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य स वं शुद्धदृष्टि ॥

इति 'दु' इति स्फुटम् । सः पुमान् कुदृष्टि । स. क ? शकते य: जिनवचने दवे गुरौ धर्मे तत्त्वादिके शका सशय संदेहं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवेत् ॥३२३॥

अर्थ —वह भव्यात्मा तीन मूढता आदि २५ मल रहित निर्मल शुद्ध सम्यग्दृष्टि है जो पूर्वोक्त प्रकारसे निश्चयसे याने परमार्थसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल नामक (छ) द्रव्योको तथा उत्पाद-व्यय युक्त अर्थ पर्यायोको और नर-नारकादि व्यजनपर्यायोको इस तरह सब पर्यायोको जानता है, श्रद्धान करता है, अनुभव करता है, निश्चय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है ।—जैसा कि सूत्रसे प्रतिपादित है—

अर्थ —त्रिकाल सबधी छ द्रव्य, नव पदार्थ, छ जीवकाय, छ लेश्या, पचास्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान, चारित्र और उनके भेद त्रिभुवनपूज्य सर्वज्ञ अर्हत भगवान्ने मोक्षके मूलभूत तत्त्व कहे हैं । जो बुद्धिमान् उन्हें जानता है, श्रद्धा रखता है और अनुभव करता है वह निश्चयसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ।

गाथामे 'दु' शब्दका अर्थ स्फुट या स्पष्ट है । अब सूत्रके उक्त कथनके अनुसार जो जीव जिनेन्द्रके वचनमें तथा देव-गुरु-धर्ममें, तत्त्वोमें शका, सशय अथवा सदेह करता है वह मिथ्यादृष्टि है—यह बात स्पष्ट है ॥३२३॥

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ५

प्रश्न था—द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने लिखा है कि 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं ।' इसीको आपने दूसरे शब्दोमें ऐसा लिखा है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं ।' इसके समर्थनमें आपने आगमके निम्नलिखित प्रमाण भी उपस्थित किये हैं —

: १ :

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाद जिणेण णि यद जम्मं व अह व मरण वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदु इंदो व अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गाथाओका आपने यह अर्थ किया है—'जिनेन्द्र देवने जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीव के जिस देशमें जिस विधिसे जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेंसे कौन चलायमान कर सकता है ? अर्थात् कोई चलायमान नही कर सकता है।'

: २ :

'यत्प्राप्तव्य यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा ।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३॥'—पद्मपुराण

इस पद्यका भी आपने यह अर्थ किया है कि—'जिस जीवके द्वारा जहाँ पर जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमे जो प्राप्तव्य है उस जीवके द्वारा वहाँ पर उस कालमें उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है।'

: ३ :

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तं सहत्य कार्येष्विति साध्ववादी. ॥ १३३ ॥

—स्वयभूस्तोत्र

इस पद्यका भी अर्थ आपने यह किया है—'आपने (जिन देवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूँ' इस प्रकारके अहकारसे पीडित है वह उस (भवितव्यता) के विना अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नही होता ॥ १३३ ॥'

: ४ :

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरारे ।
अनहोनी कबहूँ न होसो काहे होत अधोरा रे ॥—पडितप्रवर भैया भगवतीदासजी

इन प्रमाणोंके आधारपर आपने अपना यह मत स्थिर कर लिया है कि चूँकि जिनेन्द्र भगवान् केवल ज्ञानी होनेके नाते त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंमें से कौन-सी पर्याय किस कालमें हुई या होगी—यह बात उन्हें मालूम है। दूसरे भवितव्यता (होनहार) अटल रहा करती है, इसलिये जिस कालमे जिसका जो कुछ होनेवाला है वह होता ही है और इस तरह आपका कहना है कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायके उत्पन्न होनेका समय निश्चित है। आपकी इस मान्यताके ऊपर ही हमें यहाँपर विचार करना है।

यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोका केवलज्ञानी जीवोको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैन सस्कृतिद्वारा स्वोकार की गयी है। इसी आधारपर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है उस कालमें वह इस आधारपर नही होती है कि उस कालमे उस कार्यकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योकि वस्तुकी जिस कालमें जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जाननामात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नही है। स्वय प० फूलचन्दजीने भी जैन तत्त्वमीमासाके केवलज्ञान स्वभावमीमासा प्रकरणमें इस बातको स्वीकार किया है। उन्होने लिखा है कि—

केवलज्ञानको सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायोको जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्यकारण परम्पराको ध्यानमे रखकर ही की जानी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उल्लिखित ३२१ और ३२२वी गाथाओमें **'जेण विहाणेण'** और **'तेण विहाणेण'** पदोका पाठ, पद्मपुराणके उल्लिखित पद्यमें **'यतो'** और **'ततो'** पदोका पाठ और स्वयंभूस्तोत्रके उल्लिखित पद्यमें **'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा'** पदका पाठ ये तीनो ही पाठ हमें कम-से-कम इस बातकी सूचना तो दे ही रहे हैं कि कार्य केवलज्ञानद्वारा ज्ञात कालमें उत्पन्न होते हुए भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। श्री प० फूलचन्दजी द्वारा जैन तत्त्वमीमासाके उल्लिखित कथनमें यह बात भी स्वीकार कर ली गई है कि **'क्रमबद्ध पर्यायोकी सिद्धि कार्यकारण परम्पराको ध्यानमें रखकर ही की जानी चाहिये।'** और ऐसी हालतमें पडितप्रवर भैया भगवतीदासजीके उल्लिखित पद्यका भी वही आशय लेना चाहिये जो श्री पं० फूलचन्दजीको स्वीकार है। अर्थात् वीतराग (केवलज्ञानी) का ज्ञान कार्यकी उत्पत्तिमें कारण नही है।

इस तरह कार्योत्पत्तिके विषयमें आपके द्वारा उपर्युक्त आगम प्रमाणोको आधार बनाकर केवल इतना स्वीकार किया जाना ही पर्याप्त नही है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं, किन्तु उक्त उन्ही आगम प्रमाणोके आधार पर स्वकालके साथ कार्योत्पत्तिके अनुकूल कारणोको भी ग्रहण कर आपके द्वारा यही स्वीकार किया जाना चाहिये कि सभी कार्य केवलज्ञान द्वारा ज्ञात कालमें होने पर भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं, क्योकि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उक्त ३२१ व ३२२वी गाथाओमें जिस प्रकार यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान्के ज्ञानमें कार्योत्पत्तिका स्वकाल प्रतिभासित होता है उसी प्रकार उन गाथाओमें यह भी बतला दिया है कि जिनेन्द्र भगवान्के ज्ञानमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके प्रतिनियत कारण भी प्रतिभासित होते हैं। इस कथनका आशय यह है कि कोई भी काय जिस कालमे उत्पन्न होता है उस कालमे वह अपने प्रतिनियत कारणोसे ही उत्पन्न होता है, अन्यथा नही।

यदि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथनसे आपका यह अभिप्राय हो कि 'यद्यपि कार्य स्वकालमे अपने प्रतिनियत कारणोके प्राप्त होने पर ही हुआ करते हैं। परन्तु चूंकि कार्यकी उत्पत्तिका काल आनेपर उसके अनुकूल कारणोंकी प्राप्ति नियमसे हो ही जाया करती है इसलिये सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथनमे स्वाभाविक रूपसे कार्योत्पत्तिके प्रतिनियत कारणोका भी समावेश हो जाता है तो फिर हमारा आपसे यह कहना है कि उल्लिखित आगम प्रमाणोके आधार पर

जिस प्रकार आप यह कहते हैं कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' उसी प्रकार उन्ही प्रमाणोंके आधार पर आपको ऐसा कहनेमें भी कोई आपत्ति नही होना चाहिए कि 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोके प्राप्त होने पर ही हुआ करते हैं' और जिस प्रकार आप 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं', इस कथनमें कार्योत्पत्तिके अनुकूल कारणोका समावेश कर लेना चाहते हैं उसी प्रकार 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोके प्राप्त होने पर ही होते हैं' ऐसा कथन करके इसमें स्वकालका समावेश करनेमें भी आपको कोई आपत्ति नही होना चाहिये।

एक यह भी बात है कि स्वामी समन्तभद्रके स्वयभूस्तोत्रके पद्य 'अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय' इत्यादिमे पठित 'अलघ्यशक्ति' पदका अर्थ आप इस आशयसे करते हैं कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग हेतुओको उसके अधीन बन जाना पडता है, परन्तु ऐसा अर्थ 'अलघ्यशक्ति' पदका नही है। अर्थात् 'अलघ्यशक्ति' पदका अर्थ 'अटल-शक्ति' यहाँपर नही है। इस पदसे स्वामी समन्तभद्र यह बतलाना चाहते हैं कि जिस कार्यके उत्पन्न होनेके अनुकूल भवितव्यता होगी कार्य वही उत्पन्न होगा, यह नही हो सकता है कि कोई भी प्राणी किसी वस्तुमें ऐसा कार्य उत्पन्न कर दे जिसकी भवितव्यता वस्तुमें स्वभावत विद्यमान नही है लेकिन ऐसी भवितव्यता कार्यरूपमे तभी परिणत होगी जब उस भवितव्यताके अनुकूल अन्तरग और बहिरग हेतु प्राप्त होते हैं और तब अन्तरग तथा बहिरग हेतुओं द्वारा उत्पन्न कार्यसे ही हम जान लेते हैं कि अमुक वस्तुमें चूँकि अमुक कार्यके अनुकूल भवितव्यता थी तभी यह कार्य हो सका। इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि जिस प्रकार वस्तुमें स्वभावत रहनेवाली भवितव्यता अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसी प्रकार तदनुकूल अन्तरग और बहिरग हेतु भी अपना स्वतन्त्र ही अस्तित्व रखते हैं और जब वे कारण वस्तुमें रहनेवाली भवितव्यताके अनुकूल अपना व्यापार करते हैं तब उस भवितव्यताके अनुकूल कार्य उत्पन्न हो जाता है। कृपया यह ख्याल कीजिये कि भवितव्यताका अर्थ वस्तुमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी आधारभूत स्वत सिद्ध योग्यता है और अन्तरङ्ग हेतुका अर्थ कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप उपादानशक्ति व बहिरङ्ग हेतुका अर्थ निमित्तकारण है।

इस तरह अब अपने सामने दो मत विचारणीय हो जाते हैं—एक तो यह कि अपने प्रतिनियत कारणोसे कार्य जिस कालमें उत्पन्न होता है उसे ही कार्यका प्रधान कारण माना जाय और दूसरा यह कि कार्य जब भी होता है अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होता है और जिस कालमें वह उत्पन्न होता है वही उसका स्वकाल कहलाता है। इसलिए कार्यके यथायोग्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो हेतुओको ही कार्यका प्रधान कारण माना जाय।

चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्तिके स्वकालको अर्थात् जिस कालमें कार्य उत्पन्न होता है उस कालको प्रधान कारण माननेका है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्तिका काल आ जानेपर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है। और हमारा सिद्धान्त कालको तो कार्योत्पत्तिमें प्रधानता नही देता है किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरङ्ग हेतु उपादान-कारणसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ अन्तरङ्ग हेतुको ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग (उपादान और निमित्त) दोनो कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ उपादान और निमित्त दोनोको ही प्रधानता देता है। अर्थात् कार्योत्पत्ति तो अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होती है लेकिन जिस कालमें वह होती है वही उसका स्वकाल कहलाने लगता है।

आपका अपने सिद्धान्तको मान्य करनेमें तर्क यह है या हो सकता है कि कालके जितने त्रैकालिक समय है उतनी ही प्रत्येक वस्तुकी पर्यायोकी उत्पत्ति निश्चित होती है, कालके त्रैकालिक समयोंसे अधिक

किसी भी वस्तुकी पर्यायोकी उत्पत्ति होना असम्भव है और चूँकि केवलज्ञानमे प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक समयवर्ती पर्याय प्रकाशित हो रही है अत यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक पर्याय अपने-अपने नियत कालमें ही उत्पन्न होगी। जिस समयमें कार्यभूत वस्तुकी एक नियत पर्याय होगी उस समयमें निमित्त कारणभूत वस्तुकी भी कार्यके अनुकूल दिखती हुई एक नियत पर्याय होगी। इस तरह एक वस्तुकी कार्यरूप पर्यायके साथ दृश्यमान अनुकूलताके आधारपर निमित्तभूत वस्तुमें कारणताका आरोप किया जाता है और चूँकि कार्यभुत वस्तुकी कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके बाद ही वह कार्यरूप पर्याय निष्पन्न होती है, अत उसे उसका वास्तविक कारण, प्रधान कारण अथवा उपादान कारण कहा जाता है। इस तरह कार्य अपने नियत कालमें ही उत्पन्न होता है यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है और प्रत्येक वस्तुकी पर्यायें नियतक्रमसे ही उत्पन्न होती हैं अनियत क्रमसे नही इस सिद्धान्तकी भी पुष्टि हो जाती है। यह आपकी मान्यता है। आगे इस विषय पर विचार किया जाता है '—

उल्लिखित जो सिद्धान्त आपका है वह यद्यपि कालके त्रैकालिक समयो तथा स्वत सिद्ध परिणमन-शील प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायो और उनका प्रत्येक क्षणमे युगपत् प्रतिभास करनेवाले केवलज्ञानके परस्पर सम्बन्धकी व्यवस्था पर आधारित है। परन्तु यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतनी मान्यतासे श्रुतज्ञानी जीवोकी समस्त समस्याएँ हल हो सकती हैं ? यदि इस प्रश्नका उत्तर आप हाँ मे देते हैं तब तो हमें कहना पडेगा कि आप अपने अनुभव, प्रत्यक्ष और तर्कका ही अपलाप कर देना चाहते हैं, क्योकि प्रत्येक ससारी प्राणीके सामने उसके जीवनकी तथा जन्म-मरण, सुख दु ख, ससार परिभ्रमण एव मुक्तिसम्बन्धी असख्य समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका समाधान केवल आपके द्वारा मान्य सिद्धान्त से नही हो सकता है।

प्रत्येक प्राणीके सामने यह प्रश्न है कि जिस पर्यायमे वह विद्यमान है, वह क्यो ? सुखी हो रहा है तो क्यो ? वह कभी दु खी होता है तो क्यो ? भिन्न-भिन्न विलक्षण पर्यायोको धारण करता है तो क्यो ? एक ही पर्यायमें कभी राजा होता है तो क्यो ? रंक होता है तो क्यो ? स्वर्गमें जाता है तो क्यो ? नरकमें जाता है तो क्यो ? भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणी जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो ये सब क्यो अच्छी और बुरी हालतो में नजर आ रहे है ? क्यो अच्छे और बुरे कृत्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं ? क्यो जीवनमे धर्म और अधर्मका विश्लेषण किया जाता है ? विविध सस्कृतियोका प्रादुर्भाव क्यो हुआ, नाना प्रकारके दार्शनिक सिद्धान्त क्यो प्रकाशमें आये ? पुद्गलोके विलक्षण विलक्षण विविध रूप देखनेको मिलते हैं तो ये सब क्यो हैं ? क्यो विविध प्रकारकी वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं ? सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक सस्थाओका निर्माण क्यो हुआ ? क्यो इनकी आचार पद्धतियाँ कायम की गयी ? क्यो आप अपने सिद्धान्त या दृष्टिकोणके प्रचारमें लगे हुए हैं ? आदि आदि।

इस तरह जो असख्य प्रश्न प्रत्येक व्यक्तिके सामने उभ[illegible] हुए दिखाई देते हैं इनका समाधान आपके पास क्या यही है ? कि केवलज्ञानमें यही झलका है कि अमुक [illegible]तुकी अमुक समयमे अमुक पर्याय ही होनी थी—यत्रवत विश्वकी समस्त प्रक्रिया चल रही है, चलती अ[illegible]ी है और चलती जायगी। यदि केवल यह समाधान आपके पास है और इसे आप युक्तियुक्त या आगम[illegible]त मानते हैं तो आप आवश्यकता या इच्छाके अनुकूल कार्य करनेकी अपनी उधेड-बुनको समाप्त कीजिये, [illegible]पने सिद्धान्त या दृष्टिकोणके प्रचारमें जोड-तोडका धधा भी समाप्त कीजिये। इतना आपके कह देनेसे का[illegible]लनेवाला नही है कि आप भी सब कुछ यत्रकी नाई ही करते जा रहे हैं, क्योकि आप सचेतन हैं, ज्ञानी[illegible] हृदय आपके पास है। उसका

आप उपयोग करते हैं। मस्तिष्क आपके पास है, उसका भी उपयोग आप करते हैं। शरीर आपके पास है, उसका भी उपयोग आप करते हैं। इन्द्रियाँ आपके पास है, उनका भी उपयोग आप करते हैं। बाह्य साधन सामग्रीकी जोड-तोड भी आप बिठलाते हैं। आपके द्वारा यह सब किया जाना आपको मान्य सिद्धान्तके बिल्कुल विपरीत है। जो सिद्धान्त आपने मान्य किया है, उसके अनुसार तो केवल ज्ञाता और दृष्टा ही आपको बने रहना चाहिये और वह भी मनसे नही, मस्तिष्कसे नही, इन्द्रियोसे नही, क्योकि आप मनसे, मस्तिष्कसे अथवा इन्द्रियोसे जितना ज्ञान करते है वह तो पराश्रित ही है। इसलिए इस ज्ञानमे जब तक पराश्रितता है तब तक आप पदार्थोंके मात्र ज्ञाता और दृष्टा नही बने रह सकते हैं और जब तक आप ज्ञाता-दृष्टा मात्र नही बन जाते तब तक निष्क्रियतामें आप रम नही सकते। इसी तरह जब तक आप निष्क्रियतामें नही रम जाते तब तक कार्यकारण पद्धतिकी उपेक्षा करके यह नही कह सकते हैं कि सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं या यह भी नही कह सकते कि 'द्रव्योंको समस्त पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं।' और यदि आप उनकी उक्त मौजूदा अवस्थाओमें भी 'सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं' या 'द्रव्योकी समस्त पर्यायें नियतक्रम-से ही होती हैं अथवा कार्यकी उत्पत्तिके कालमें निमित्त कारण हाजिर रहते हैं परन्तु कार्यमे उनका कुछ उपयोग नही होता आदि मान्यताओको स्वीकार करते हैं तो फिर इन्हें कर्मकाण्ड आदि आगम ग्रन्थोंके अनुसार नियतिवादरूप मिथ्यात्वके अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता है।

यदि आप यह कहे कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में तो 'सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं' या 'द्रव्योकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' इन सिद्धान्तोको ही फलित किया गया है और इन दोनो गाथाओके अनन्तर गाथा ३२३ द्वारा यह बतला दिया गया है कि इन सिद्धान्तोको माननेवाला ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

तो इसके उत्तरमें हमारा कहना यह है कि जैन सस्कृतिके आगम ग्रन्थोमें कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुत-ज्ञानी जीवोके लिये दो प्रकारसे विवेचना की गयी है—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धा दृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्त्तव्यदृष्टिसे। 'ज जस्स जम्मि देसे' इत्यादि आगम वाक्योमें पहली दृष्टिकी उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्यके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्यकारणभाव-पद्धतिका जो जैन सस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें विस्तारसे विवेचन पाया जाता है वह सब श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्त्तव्यकी दृष्टिसे ही किया गया है।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवोके लिये क्यो किया गया है ? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव केवलज्ञानी जीवोकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशामें विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृतकृत्य हैं वहाँ श्रुतज्ञानियोके सामने हमेशा कृत्यो (कार्यों) के करनेकी समस्या खडी ही रहती है, जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तुके और उनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाले व्यापारोंके केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर रह रहे हैं वहाँ कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानी जीवोको अपनी मौजूदा हालतोमें अनुभवमे आनेवाली जोड-तोड बिठलानेकी आवश्यकता है। अत श्रुतज्ञानियोके लिये कार्योत्पत्तिकी कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनानेके सिवाय कोई चारा ही नही रह जाता है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवल-ज्ञानमें सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय होनेके कारण यथायोग्य केवल उपादान कारणसे अथवा उपादान और निमित्तरूप दोनो कारणोसे ही उत्पन्न होते हुए अनुभवमें आ रहे हैं। चूँकि

श्रुतज्ञानी जीवको केवलज्ञानका विषय केवल आस्थाका है, अत उस पर केवल आस्था रखनेका ही उसे उपदेश दिया गया है। और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवोके लिये उपयोगी नही हो सकता है, अत उनके लिये कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनानेका भी उपदेश दिया गया है। इसलिये जिसने कार्योत्पत्तिके लिये कार्यकारणभाव पद्धतिके मार्गको समाप्त करनेका प्रयत्न किया वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायगा। अत केवलज्ञानीने जैसा देखा है वैसा ही कार्य होगा इस पर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्त्तव्य है। कारण कि इस तरहकी श्रद्धा करनेसे अपने पुरुषार्थद्वारा होनेवाले कार्यकी सफलतासे उसके अन्त करणमें अहकार पैदा नही होगा और असफलता मिलनेपर कभी दु ख पैदा नही होगा। लेकिन अपनी उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधारपर यदि वह श्रुतज्ञानी जोव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त ससारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है? इस प्रकार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें—तो नियतक्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियतक्रमसे भी होती हैं। इस तरह 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही हैं अनियतक्रमसे नही।' आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नही है और यह है तो आप कह नही सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नही है, अत आपके सिद्धान्तपर हमारे लिये विचार करना आवश्यक हो गया है।

सामान्यरूपसे सर्वत्र क्रम शब्दका प्रयोग कालिक सम्बन्धके आधारपर हुआ करता है। प्रकृतमें भी क्रम शब्दका प्रयोग पर्यायोके कालिक सम्बन्धको ही प्रकट करनेवाला है, अत उसका अर्थ यहाँपर यौगपद्यका विरोधी 'एकके बाद एक' ही ग्रहण करना चाहिये।

इस कथनका निष्कर्ष यह है कि पर्यायें एकके बाद एक रूपमे क्रमवर्ती ही हुआ करती हैं। वे न तो कभी एक साथ रहती हैं और न उनकी उत्पत्ति ही कभी एक साथ होती है। पर्याय शब्दका अर्थ भी परिणमन होता है, इसलिये पर्याय स्वभावत. एकके बाद एक रूपमें क्रमवर्ती अथवा क्रमसे उत्पन्न होनेवाली सिद्ध होती है।

प्रत्येक वस्तुमें तीन रूप देखनेको मिलते हैं—आकृति, प्रकृति और इन दोनोमें होनेवाली विकृति अर्थात् परिणमन। इनमेंसे आकृति प्रदेश रचनाके रूपमे द्रव्यात्मक हुआ करती है, प्रकृति वस्तुके स्वतःसिद्ध स्वभावके रूपमे गुणात्मक हुआ करती है और विकृति आकृति तथा प्रकृति इन दोनोमें होनेवाले परिणमनके रूपमें पर्यायात्मक हुआ करती है। यह पर्याय यदि आकृतिमें होनेवाले परिणमनसे उत्पन्न हुई हो तो द्रव्य-पर्याय कहलाती है और यदि प्रकृतिमें होनेवाले परिणमनसे उत्पन्न हुई हो तो गुणपर्याय कहलाती है। इन दोनो ही प्रकारकी पर्यायोका विभाजन यथायोग्य कालके अखण्ड एक समय और नाना समयोके उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त समूहभूत आवली, घडी, घटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके आधारपर हुआ करता है अर्थात् किन्ही-किन्ही पर्यायोका विभाजन एक-एक समयके आधारपर हुआ करता है। जैसे वस्तुकी सम्पूर्ण अर्थपर्यायें अथवा अगुरुलघुगुणकी षड्गुण-हानिवृद्धिरूप पर्यायें आदि। इसी प्रकार किन्ही-किन्ही पर्यायोका विभाजन आवली आदि नाना समयोके समूहोके आधारपर हुआ करता है। जैसे घट-निर्माणके लिये मिट्टीकी कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती पिंडपर्यायके बाद होनेवाली स्थास पर्याय तथा कमसे कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती इस स्थासपर्यायके बाद होनेवाली कोश पर्याय आदि एव जीवकी मनुष्य पर्यायके बाद होनेवाली देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक आदि कोई भी पर्याय आदि।

वस्तु द्रव्यात्मक रूपसे एक होनेपर भी उसमें नाना गुणोका पाया जाना सम्भव है। जैसे जीवमें स्थूलरूपसे ज्ञान और दर्शनरूप तथा पुद्गलमे वर्ण, रस, गध और स्पर्शरूप नाना गुणोका एक साथ सद्भाव

पाया जाता है। इस तरह एक ही वस्तुमें एक ही साथ नाना गुणोका सद्भाव पाया जानेके सबब उन गुणोकी अपनी-अपनी एक-एक पर्यायके रूपमें यद्यपि नाना पर्यायोंका भी उस वस्तुमे एक साथ सद्भाव सिद्ध होता है, परन्तु एक गुणकी नाना पर्यायोंका एक ही साथ एक वस्तुमें सद्भाव रहना असम्भव होनेके कारण उनकी वृत्ति या उत्पत्तिमें यौगपद्य सिद्ध न होकर क्रम ही सिद्ध होता है। इसी प्रकारके क्रमकी व्यवस्था वस्तुकी द्रव्यपर्यायोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

वस्तुकी उक्त द्रव्यपर्यायो और गुणपर्यायोकी वृत्ति या उत्पत्तिका जो यह एकके बाद एकरूप क्रम है उसमें श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे उन पर्यायोके नियतपने और अनियतपने रूप दोनो ही प्रकारकी अनुभवपूर्ण स्थिति यथासंभव जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी है अर्थात् वस्तुकी बहुतसी पर्यायोंमें तो अमुक पर्यायके बाद अमुक पर्याय–इस प्रकार नियतक्रम ही रहा करता है। और उसकी बहुत-सी पर्यायोमें एकके बाद एकरूप सिर्फ क्रम ही रहता करता है नियतक्रम नही। जैसे जीवकी क्रोध पर्यायके बाद क्रोध, मान, माया और लोभ रूप पर्यायोंमें से यथा-सभव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसी प्रकार मानादि पर्यायके बाद भी उक्त चारो पर्यायोमेंसे कोई भी एक पर्याय हो सकती है, नियत कोई एक पर्याय नही। इसी प्रकारकी व्यवस्था यथा-सम्भव मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्यायोके बारेमे भी समझना चाहिये। इन सब पर्यायोंमें 'एकके बाद एक' रूप क्रम तो रहता है परन्तु नियतक्रम नही रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्य पर्यायके बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देव पर्यायके बाद सिर्फ तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारक पर्यायसे सिर्फ तिर्यंच पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्यायसे केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय भी ऐसी होती है जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्यायसे केवल देव पर्याय ही सम्भव होती है, तिर्यंच पर्यायके बाद भी आगम सम्मत अपने ढगकी ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवल क्रम (अनियतक्रम) पर्यायोंमें यथायोग्य समझना चाहिये।

मिट्टीकी पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घट रूप पर्यायोमें से प्रथम तो यथासम्भव पिंड पर्यायका, इस पिंड पर्यायके बाद ही स्थास पर्यायका, इस स्थास पर्यायके बाद ही कोश पर्यायका, इस कोश पर्यायके बाद ही कुशूल पर्यायका और इस कुशूल पर्यायके बाद ही घट पर्यायका होना सम्भव है, अत इन पर्यायोंमें इस तरह नियत क्रम जानना चाहिये। वैसे मिट्टी पिंड बन तो सकती है परन्तु नहीं भी बने। इसी तरह पिंड स्थास बन तो सकता है परन्तु नही भी बने, स्थास कोश बन तो सकता है परन्तु न भी बने, कोश कुशूल बन तो सकता है परन्तु न भी बने और कुशूल घट बन तो सकता है परन्तु न भी बने।

वस्तुमें पायी जानेवाली सभी द्रव्यपर्यायें तो स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती हैं लेकिन गुणपर्यायोको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक तो स्वप्रत्यय पर्यायोका विभाग और दूसरा स्वपरप्रत्यय पर्यायोका विभाग। इसमेंसे वस्तुके सिर्फ अपने ही बलपर होनेवाली पर्यायें स्वप्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं और वस्तुके अपने बलके साथ-साथ दूसरी एक वस्तु तथा अनेक वस्तुओंका बल पाकर होनेवाली पर्यायें स्वपर प्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं।

इन स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों प्रकारकी पर्यायोंमेंसे जितनी स्वप्रत्यय पर्यायें वस्तुमें हुआ करती हैं वे सब नियत क्रमसे ही हुआ करती हैं। ऐसी पर्यायें वस्तुमें अगुरुलघुगुणके आधारपर होनेवाली षट्स्थान पतित हानि-वृद्धिके रूपमें जैन सस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं। अर्थात् वस्तुके अगुरुलघुगुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें अनन्त भागहानि, असख्यात भागहानि, सख्यात भागहानि, सख्यात गुणहानि, असख्यात गुण-

हानि और अनन्त गुणहानि, इस तरह नियत क्रमसे होनेवाली हानिकी प्रक्रिया तथा इसके समाप्त होनेपर अनन्त भागवृद्धि, असख्यात भागवृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि और अनन्त-गुणवृद्धि—इस तरह नियतक्रमसे होनेवाली वृद्धिकी प्रक्रिया—ये दोनो ही प्रकारकी प्रक्रियायें अमुकके बाद अमुकके रूपमें वस्तुमें अनादि कालसे चालू हैं और अनन्त कालतक इसी तरह चालू रहनेवाली हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तुमें होनेवाली सभी स्वप्रत्यय पर्यायें नियत क्रमसे ही हुआ करती हैं।

वस्तुमें होनेवाली स्वपरप्रत्यय पर्यायोके विषयमें यथासम्भव नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही तरहकी प्रक्रियायें यद्यपि जैन सस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं परन्तु आप इन स्वपरप्रत्यय पर्यायोके विषयमें भी स्वप्रत्यय पर्यायोकी तरह नियतक्रम ही मान लेना चाहते हैं, जिससे यह विषय विवादपूर्ण बन गया है। यद्यपि इस पत्रकमें हमें मुख्य रूपसे पर्यायोके नियतक्रम और अनियतक्रम आगमको स्थितिको प्रगट करना है, परन्तु आपने अपने द्वितीय पत्रकमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'एवं जो णिच्छयदो' इत्यादि ३२३वी गाथाकी जिस टीकाको अपने 'द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है' इस पक्षकी पुष्टिमें उद्धृत किया है उस टीकामें उद्धृत 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्क' इत्यादि पद्य प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए करनेका प्रयत्न किया है जो—मालूम पडता है—कि प्रकृत प्रश्नके महत्त्वको पाठकोकी दृष्टिमे कम करनेके उद्देश्यसे ही आपने किया है, इसलिए उक्त पद्यमें निर्दिष्ट विषयोमें हमारी आगमअनुकूल दृष्टि क्या है ? इसे सर्वप्रथम हम यहाँपर स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम स्वय 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि पद्यमे प्रतिपादित विषयको सत्य मानते हैं और उसपर आस्था रखते हैं, लेकिन इस पद्यमें प्रतिपादित विषयोकी अपने ढगको ऐकान्तिक नियतताके समर्थनसे वस्तुकी स्वपरप्रत्यय परिणमनोमें पायी जानेवाली अपने ढगकी कुत्रचित् ऐकान्तिक नियतता, और कुत्रचित् कथचित् नियतता तथा कथचित् अनियतताका निषेध करना बुद्धिगम्य नही माना जा सकता है।

बात वास्तवमें यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् ये तीन काल, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ, पाँच स्थावर और एक त्रस ये छह कायिक जीव, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्यायें, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र इन सबकी व्यवस्थाको भगवान् अरहन्त देवने मोक्ष प्राप्तिके लिए कारणरूपसे प्रतिपादित किया है जो कि असदिग्ध रूपसे सर्वमान्य व्यवस्था है, लेकिन इनसे पर्यायोके नियतक्रम या अनियतक्रमसे क्या सम्बन्ध है ? यह आप जानें। फिर भी इससे हमारे सामने नियतता और अनियतताका विशद अर्थ करनेकी समस्या अवश्य खडी हो गयी है, अत यहाँपर प्रसगवश कहाँ किस ढगकी नियतता और अनियतताको स्थान प्राप्त है इसे कुछ उदाहरणो द्वारा हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम मानते हैं कि विश्वमे विद्यमान वस्तुओके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह प्रकार नियत हैं अर्थात् निश्चित हैं। यह भी नियत है कि इन छह प्रकारोमेंसे जीवनामकी वस्तुएँ भी अनन्ता-नन्त है, पुद्गल नामकी वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म आकाश ये तीनो वस्तुएँ एक एक ही है तथा काल नामकी वस्तुएँ असख्यात हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल ये सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी आकृति (प्रदेश रचना) की अपेक्षा नियत है अर्थात् इनकी आकृतिमें कभी बदलाहट नही होती। ऐसा ही नियतपना मुक्त-जीवोकी तथा स्वतन्त्र स्थितिको प्राप्त पुद्गल परमाणुओकी आकृति (प्रदेश रचना) मे भी विद्यमान है, लेकिन

संसारी जीवो और द्वयणुकादि पुद्गल-स्कन्धोकी आकृति (प्रदेश रचना) नियत नही है अनियत है। जैसे एक द्वयणुककी आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाशके दो प्रदेशोपर अवस्थान प्राप्त करता है और एक द्वयणुककी आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाशके एक ही प्रदेशपर अवस्थान प्राप्त कर लेता है। इसी तरहकी आकृतिका भेद त्र्यणुक आदि पुद्गल स्कन्धोमें भी जान लेना चाहिये। ससारी जीवोका और स्थूल पुद्गल स्कन्धोका आकृति भेद तो स्पष्ट ही है।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल इन सभीकी अवस्थिति नियत है अर्थात् ये वस्तुयें कभी गतिमान् नही होती। लेकिन जीवो और पुद्गलोकी गति और अवस्थिति दोनो ही अनियत हैं। यहाँ पर अनियतपनेका स्पष्टीकरण यह है कि ये कभी सामने गति करते हैं तो कभी विपरीत गति करते हैं अर्थात् पीछेको लौटते है, कभी ऊपर गति करते हैं, कभी नीचे गति करते हैं, कभी तिरछी गति करते हैं, कभी तीव्र, तीव्रतर अथवा तीव्रतम गति करते हैं तो कभी मन्द, मन्दतर अथवा मन्दतम गति करते हैं—इस तरह इनकी गतिमें अनियतपना पाया जाता है। इतना ही नही, ये कभी गति करते हैं तो कभी अवस्थित भी रहते हैं। इस तरह गतिका स्थितिके साथ भी जीवो और पुद्गलोमें अनियतपना पाया जाता है।

जीवो और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके विषयमें इतनी विशेषता और समझना चाहिये कि जीवो-का स्वत सिद्ध स्वभाव ऊर्ध्वगमन करनेका है, अत उनका जब तक परपदार्थोंके साथ मिश्रण रहता है तभी तक उनमें अधोगमन, तिर्यग्गमन और उल्टा गमन आदि सम्भव हैं। इसी प्रकार मुक्त जीवोका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावत नही है, क्योकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन करनेका ही है। परन्तु गमन करनेके लिये उन्हें चूंकि धर्म द्रव्यका अवलम्बन आगे प्राप्त नही है, अत लोकके अग्र भागमें ही उनका अवस्थान हो जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नही, कि धर्म द्रव्य जीवों और पुद्गलोंको गमन करनेके लिये प्रेरित करता है, क्योकि गमन करना तो जीवो और पुद्गलोका अपने ही कारणोंसे होता है, फिर भी गमन करनेमें धर्म द्रव्यका अवलंबन उन्हें अपेक्षणीय अवश्य रहता है। जिस प्रकार कि मछलीका या रेलगाडीका गमन करना इनके अपने कारणोंसे होते हुए भी जहाँ तक जल रहता है मछली वही तक गमन करती है और जहाँ तक रेलकी पटरी रहती है वही तक रेलगाडी गमन करती है। अलावा इसके किन्ही-किन्ही पुद्गलो की अवस्थिति नियत है और किन्ही-किन्ही पुद्गलोकी गति भी नियत है। जैसे स्वर्ग लोकके विमान, अधोलोकके नरकादि, मध्यलोकके सुमेरु पर्वत, असंख्यात द्वीप और समुद्रादि एवं सिद्धशिला आदि यथास्थान नियत (स्थिर) हैं तथा ढाई द्वीपके सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि सर्वदा गतिमान् ही हैं।

गणितकी व्यवस्थायें नियत हैं अर्थात् निश्चित है। दो और दो जोडकर चार ही होते हैं, कम या अधिक त्रिकालमें कभी नही होते। कितने वेगसे गति की जावे कि एक घण्टामें अमुक स्थानसे अमुक स्थान तक पहुँचा जा सकता है यह व्यवस्था नियत होनेके कारण ही रेलगाडीकी समयसारिणी बना ली जाती है। गणितकी व्यवस्थायें नियत रहनेके कारण ही सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणकी व्यवस्थित जानकारी ज्योतिषी या गणितज्ञ लोग लोकको दिया करते हैं।

द्वयणुक दो अणुओ के मेलसे ही बनता है, एक अणु अथवा तीन आदि अणु मिलकर कभी द्वयणुकका रूप धारण नही करते। समयकी मात्रा नियत (निश्चित) कर दी गयी है। उसके आधारपर आवली, घडी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिकी मात्रा भी नियत (निश्चित परिमाणमे) मान ली गयी है। समयके निश्चित परिमाणके आधारपर ही पल्य, सागर, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि कालोकी मात्रा

आगममें नियत रूपसे बतला दी गयी है। प्रदेशो (वस्तुके सबसे छोटे अशो) की मात्रा नियत होनेसे ही धर्म, अधर्म और प्रत्येक जीवकी समान असंख्यात प्रदेशात्मकता तथा आकाशकी अनन्त प्रदेशात्मकता नियत है।

ऊपर, नीचे अथवा तिर्यक्—कैसा भी गमन क्यो न किया जावे, वह गमन नियत रूपसे आकाशके एक प्रदेशसे अव्यवहित दूसरे प्रदेशको स्पर्श करते हुए ही आगेको होता है। पुद्गल परमाणु जो एक समयमें ही चौदह राज गमन कर जाता है—भी अपने गमनके मार्गमें पडे हुए आकाशके असख्यात प्रदेशोको एक एक प्रदेशके नियमसे स्पर्श करता हुआ ही गमन करता है। प्रत्येक वस्तुका अपना अपना स्वभाव नियत ही रहता है अर्थात् एक द्रव्यका स्वभाव कभी अन्य द्रव्यका स्वभाव नही बन जाता है। ज्ञानका स्वभाव नियत होनेसे केवलज्ञानका स्वभाव भी स्व और परको जानना नियत है। इस तरह वह अपनी सामर्थ्यसे सतत विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको उनकी त्रैकालिक पर्यायो सहित युगपत् जानता है तथा समय समयके विभागपूर्वक जानता है—ऐसा भी नियत है, परन्तु वह कितने और पदार्थोंको भी जाननेकी क्षमता रखता है यह नियत नही है, क्योकि लोक और अलोकको मिलाकर जितने सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थोंको और उनकी जितनी सम्पूर्ण अनन्तानन्त पर्यायोको केवलज्ञान जानता है उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थों और उनकी अनन्तानन्त पर्यायोको जाननेकी क्षमता केवलज्ञान अपनेमें रखता है। अर्थात् केवलज्ञानके अन्दर जाननेकी शक्ति असीम है। स्वय प० फूलचन्दजीने भी अपनी जैनतत्त्वमीमासाके 'केवलज्ञानस्वभावमीमासा' प्रकरणमें यही बात लिखी है जो निम्न प्रकार है —

लोकमे ऐसा कोई पदार्थ नही है जो केवलज्ञानके विषयके बाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। लोक और अलोकके जितने पदार्थ और उनकी पर्यायें हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ और उनकी पर्यायें यदि हो तो उन्हें भी उसमे जाननेकी सामर्थ्य है।

योगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाशमें भी बतलाया है—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥४७॥

इसका अर्थ सस्कृत टीकाके आधार पर यह है कि जिस तरह वेल वही तक चढ़ती है जहाँ तक मडप-का सहारा है। इसका अर्थ यह नही है कि आगे चढनेकी योग्यता यहाँ वेलमें नही है उसी प्रकार मुक्त जीवो का ज्ञान वही तक फैलता है जहाँ तक ज्ञेय पदार्थ होते हैं। ऐसा नही समझना चाहिए कि उनके ज्ञानमे आगे जाननेकी शक्ति नही है। अर्थात् शक्ति तो केवलज्ञानकी पदार्थोंको जाननेकी असीम है, परन्तु जितने ज्ञेय पदार्थ विद्यमान है केवल उनको ही इसलिये जानता है कि विद्यमान पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थोंका विश्वमें अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार पदार्थोंको अवगाहित करना (अपने अन्दर समा लेना) आकाश स्वभाव नियत है, अत विश्वके समस्त पदार्थोंको वह अपनेमें अवगाहित कर रहा है—ऐसा भी नियत है, परन्तु कितने और पदार्थों-को अवगाहित करनेकी क्षमता आकाशमें विद्यमान है यह नियत नही है, क्योकि विश्वके जितने सम्पूर्ण पदार्थ हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ यदि हो तो आकाश उन्हें भी अपने अन्दर अवगाहित कर लेनेकी क्षमता रखता है। नियतपने और अनियतपनेकी यही व्यवस्था धर्म, अधर्म और काल-द्रव्योके अपने-अपने स्वभावके विषय में भी जान लेना चाहिये। ऐसे ही कुम्हारको मिट्टीसे घडा आदि वस्तुओंके निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेकी योग्यता प्राप्त है, परन्तु कितने और कौन-कौन घटादि पदार्थोंके निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेकी योग्यता

उसको प्राप्त है यह नियत नही है। यही बात जुलाहामें पट-निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेकी योग्यताके विषयमें भी जान लेना चाहिये। अध्यापक शिष्यको पढाता है परन्तु जिम पुस्तकको अध्यापकने शिष्यको पढाया, केवल उसके पढनेकी ही योग्यता शिष्यको प्राप्त हुई हो, सो बात नही है वह उम विषयकी अन्य अनेक पुस्तकें पढ़ सकता है। प्राणीमें आँखोसे देखनेकी योग्यता पायी जाती है, इसलिये जो दृश्य पदार्थ उसकी आँखोके सामने आते हैं उन्हें वह देखता है, लेकिन इसका यह अभिप्राय लेना गलत ही है कि जिनको वह देखता है उन्हीके देखनेकी उसे योग्यता प्राप्त है अन्यकी नही।

हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी नियत (निश्चित) योग्यताएँ हुआ करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मिट्टीसे जिस प्रकार घटादिका निर्माण हो जाता है उस प्रकार उससे पटादिका निर्माण कभी नही होता। इसका भी अभिप्राय यह है कि मिट्टीमे घटादि निर्माणकी योग्यता नियत है और पटादि निर्माण को अयोग्यता उसमें नियत है और चूँकि कुम्हारको उसमे रहनेवाली घटादि निर्माणकी योग्यताका परिज्ञान रहता है, इसलिये वह उससे घटादि निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेमें प्रवृत्त होता है। परन्तु चूँकि जुलाहेको उसमें रहनेवाली पटनिर्माणकी अयोग्यताका भी ज्ञान रहता है अत वह उससे पटनिर्माणके अनुकूल व्यापार करनेमें भी प्रवृत्त नही होता है। इस प्रकारके नियतपनेके साथ-साथ मिट्टीकी पर्यायोमें अनियतपना भी इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक ही प्रकारकी मिट्टीसे कुम्हार विना किसी भेदभावके आवश्यकतानुसार कभी तो घटनिर्माणमे बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है और कभी उस एक ही प्रकारकी मिट्टीसे सकोरा आदिके निर्माणमें भी बुद्धिपूर्वक ही प्रवृत्त होता है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्तिके लिहाजसे उतनी सख्यामें मानी जा सकती हैं जितने त्रिकालके समय निश्चित हैं। परन्तु इससे वस्तुकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेकी योग्यताएँ निश्चित नही की जा सकती हैं। हम पहले भी स्पष्ट कर आये हैं कि केवलज्ञानमें पदार्थोंको जानने-की योग्यता उतनी ही नही है जितने कि लोकमें पदार्थ विद्यमान हैं, किन्तु लोकमें विद्यमान पदार्थोंसे भी अधिक असीम पदार्थोंके जाननेकी योग्यता केवलज्ञानमें विद्यमान है। इसी प्रकार आकाश, धर्म, अधर्म और कालमें भी उनकी अपनी-अपनी असीम योग्यताका सद्भाव वहीपर बतला आये हैं। आगे भी इस विषयको स्पष्ट किया जायगा कि कारणोंके प्राप्त होनेपर वस्तुकी किसी योग्यतानुसार कार्यकी उत्पत्ति होना अलग बात है और कार्योंकी योग्यताओका वस्तुमें सद्भाव रहना अलग बात है।

कोई भी कार्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी सीमामें ही होता है, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावमें नही होता है यह सब नियत है। अर्थात् कार्यकी जो वस्तु उपादान है कार्य उसी उपादानभूत वस्तुमे होता है, उपादानभूत वस्तुसे भिन्न अन्य वस्तुमें वह कार्य कदापि नही होता है। जैसे घटकी उत्पत्ति मिट्टीमें ही होती है। कार्य उतने ही छोटे-बडे परिमाणका होगा जितना छोटा-बडा परिमाण उस कार्यकी उपादानभूत वस्तुका होगा। यह कभी नही होगा कि उपादानभूत वस्तुके परिमाणसे छोटे परिमाणका अथवा बडे परिमाणका कभी कार्य उत्पन्न हो जावे। जैसे घटनिर्माणके लिये मिट्टीका जितना परिमाण होगा घट भी उतने ही परिमाणका बनेगा। वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर ही जिस पर्यायका होना सम्भव हो वह पर्याय उस पर्यायके अनन्तर ही होगी, किसी अन्य पर्यायके अनन्तर वह पर्याय नही होती है। जैसे स्थूल रूपसे मिट्टी कुशूल पर्यायके बाद ही घटका निर्माण सम्भव है। पिंड, स्थास अथवा कोश पर्यायके बाद कुशूल पर्यायके हुए विना घट पर्यायका होना सम्भव नही है और यदि सूक्ष्म रूपसे कहा जाय तो एक क्षणवर्ती निष्पन्न घट पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके

अनन्तर ही घटका निर्माण सम्भव है व्यवहित द्वितीयादि पूर्वक्षणवर्ती किसी भी पर्यायके अनन्तर एक क्षणवर्ती उस घट पर्यायका निर्माण सम्भव नही है, असम्भव ही है। यहाँ पर 'वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर जिस पर्यायका होना सम्भव हो' इस वाक्यमें 'सम्भव हो' के स्थानमे 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिये नही किया गया है कि कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्यायके अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी—यह नियम नही बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्यायके अनन्तर उपादानगत योग्यताके आधारपर भिन्न-भिन्न निमित्तोका योग मिलनेपर विविध प्रकारकी पर्यायोमेंसे कोई एक पर्यायका होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्यायका होना ही सम्भव नही है। इसी प्रकार वस्तुमे जिस जातिकी योग्यता होगी कार्य भी उसी जातिका होगा। यह कभी नही होगा कि वस्तुमें योग्यता तो किसी जातिकी हो और कार्य किसी जातिका हो जावे। जैसे मिट्टीसे घडा, सकोरा आदिका निर्माण तो हो सकता है, क्योकि उस जातिकी योग्यता मिट्टीमे विद्यमान रहती है, परन्तु पटका निर्माण मिट्टीसे नही हो सकता है, क्योकि पट निर्माणकी योग्यता मिट्टीमें नही पायी जाती है।

यदि कार्यके स्वदेश और स्वकालका अभिप्राय जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में प्रकट किया गया है वैसा गृहीत किया जावे, तो वह भी इस प्रकारसे सही होगा कि केवलज्ञान में सभी कार्य प्रतिनियत कारणोसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं, लेकिन केवलज्ञानमें यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञानमें भी केवलज्ञानकी तरह ही कार्य झलकना चाहिये—यह अभिप्राय उन गाथाओका नही है। कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियोका ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्वमें बतलाया जा चुका है, अत स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ द्वारा श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानके विषयके प्रति मात्र श्रद्धा करनेका उपदेश देते हुए ऐसे श्रद्धावान् व्यक्तिको सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया गया है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञानके अन्तरको स्वामी समन्तभद्रने आप्त मीमासामें भी बतलाया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुत) तथा केवलज्ञान ये दोनो ही वास्तुतत्त्वके प्रकाशक है, इनमेंसे स्याद्वाद तो असाक्षात्कार अर्थात् परोक्षरूपसे वस्तुतत्त्वका प्रकाशक है और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे वस्तुतत्त्वका प्रकाशक है।

इसी प्रकार आप्तमीमासामें ही जहाँ केवलज्ञानमे सर्वसतत्त्व प्रकाशनका यौगपद्य स्वीकार किया गया है वहाँ श्रुतज्ञानमें तत्त्वप्रकाशनकी क्रमिकता बतलायी गयी है। वह कथन भी निम्न प्रकार है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

अर्थ—(हे जिनदेव) आपका युगपत् सर्व पदार्थोंका प्रतिभासन स्वरूप तत्त्वज्ञान प्रमाणभूत है तथा जितना क्रमभावि तत्त्वज्ञान है वह भी इसलिये प्रमाणभूत है कि वह स्याद्वाद तथा नयोंसे सस्कृत (परिष्कृत) हो रहा है।

इस कारिकासे जहाँ केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमे यौगपद्य तथा क्रमका भेद प्रकट किया गया है वहाँ यह बात भी बतला दी गयी है कि यदि प्रमाणताकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो दोनो ही प्रमाणभूत ही हैं। इससे यह तत्त्व फलित हो जाता है कि कार्य-कारणभावके आधारपर पर्यायोका श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात नियत क्रमवर्तित्व और अनियत-क्रमवर्तित्व प्रमाणित ही है।

फिर एक बात और है। धवल पुस्तक १३ में निम्नलिखित सूत्र पाया जाता है—

सई भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२५ (पृ० ३४६)

अर्थ—जिनके ज्ञान और दर्शन स्वय उत्पन्न हो गये हैं ऐसे भगवान् देवलोक और असुर-लोकके साथ मनुष्य लोककी आगति, गति चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अर्हकर्म, सब लोको, सब जीवो और सब भावोको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं।

इसमें अनुभागका व्याख्यान करते हुए टीकामे लिखा है—

अण्णेसिं दव्वाण कमाकमेहि परिणमणहेदुत्त कालदव्वाणुभागो। (पृ० २४९)

इस उदाहरणसे मालूम पडता है कि केवलीका ज्ञान उपर्युक्त सब बातोंके साथ-साथ द्रव्योके क्रम और अक्रमसे होनेवाले परिणमनोंको भी जानता है।

तात्पर्य यह है कि नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनो वस्तु-परिणमनके ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उनमें सम्पन्न होते हैं और चूँकि पदार्थकी जैसी स्थिति हो, वैसी ही केवलज्ञानीके ज्ञानमें झलकती है, अत' वस्तुपरिणमनमें पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप दोनो धर्म केवलज्ञानके भी विषय होते हैं। वस्तु परिणमनमें केवलज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके विषय होनेसे नियतक्रमता या अनियतक्रमता आती हो—ऐसी बात नही है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही वस्तु परिणमनोमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता आती है। यह बात पूर्वमें ही बतला चुके है कि किसी भी कार्यकी उत्पत्ति केवलज्ञान द्वारा ज्ञात होनेके कारण नही हुआ करती है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उसकी उत्पत्ति हुआ करती है और यह व्यवस्था श्री प० फूलचन्दजीको भी स्वीकार है—यह बात भी वही पर बतला आये हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञानी केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे तो यही मानता है यानी श्रद्धा और विश्वास करता है कि जिस देशमें और जिस कालमें जिस विधि-विधानसे (यथायोग्य स्वरूपकारणसे अथवा स्व और पर उभयरूप कारणोंसे) केवली भगवान्ने जैसा जाना है वैसा नियमसे होता है और वही श्रुतज्ञानी यह भी आवश्यक समझता है कि कार्यके कार्य-कारणभावको जाने बिना तथा तदनुकूल पुरुषार्थ किये बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होगी—इस तरह श्रुतज्ञानीकी मान्यता श्रद्धा और अपने कर्त्तव्यपर समानरूपसे आधारित होनी चाहिये। विवक्षावशात् दोनोमेसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण कर देना दूसरी बात है। जैसे हम पहले बतला चुके हैं कि कार्यमें सफलताकी दृष्टिसे वह अहकारी न बन जावे अथवा असफलताकी दृष्टिसे दु खी न हो जावे—इसके लिए तो वह ऐसा ही समझता है कि मेरा कर्त्तव्य तो पुरुषार्थ करनेका था या है सो किया या करूँगा, परन्तु केवलज्ञानी भगवान्ने जैसा देखा, वैसा हो हुआ या होगा। इसमें मेरा कुछ कर्त्तव्य निहित नही है, अथवा इसके लिए मेरा कुछ वश नही है। इसी प्रकार पदार्थमें जैसी भवितव्यता अर्थात् आगे होने योग्य कार्योंकी सम्भावनापूर्ण स्थिति (होनहार) विद्यमान होगी वैसा ही कार्य उस पदार्थमे हो सकता है। कोई भी प्राणी उक्त प्रकारकी भवितव्यताको लाँघकर यानी भवितव्यताके अलावा कार्य उत्पन्न नही कर सकता है या यो कहिये कि प्राणी पदार्थमें नवीन भवितव्यता नहीं पैदा कर सकता है। जैसे मिट्टीमें घटादिके

उत्पन्न होनेकी भवितव्यता पायी जाती है, इसलिए जिस प्रकार मिट्टीमें घटादिकी उत्पत्ति सम्भव है उस प्रकार पटादिके उत्पन्न होनेकी भवितव्यता मिट्टीमें नही पायी जानेके सबब, कितने ही प्रयत्न क्यो न किये जावें—कदापि पटादिकी उत्पत्ति सम्भव नही है। इस प्रकार श्रुतज्ञानी जीव श्रद्धाको प्रधान और कार्यानुकूल पुरुषार्थको गौण बना लेता है तथा इसके साथ ही कार्यको उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे वह जब अपने कर्त्तव्य मार्गकी ओर उन्मुख होता है तो उस समय उसकी दृष्टिमे श्रद्धापक्षकी गौणता व कर्त्तव्य पक्षकी प्रधानता स्वाभाविक रूपसे हो जाती है। यह तो ठीक है और इस तरह प्रवृत्ति करनेवाला श्रुतज्ञानी जीव सम्यग्दृष्टि है। लेकिन ऐसा न करके यदि कोई व्यक्ति उक्त प्रकारके नियतिवादको ही कार्योत्पत्तिके लिए आधार बना कर पुरुषार्थहीन बन जाय तो उसका कार्य कभी सम्पन्न नही होगा। आप फिर भले ही कहते जावें कि ऐसा ही भगवान्‌ने देखा था या ऐसी ही भवितव्यता थी, परन्तु कबतक ऐसा मानकर बैठा जा सकता है। कार्य निष्पन्न करना होगा तो पुरुषार्थ करना ही होगा। मुक्ति पानी होगी तो नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करनेके लिए बाध्य होना ही पडेगा। यह नही हो सकता कि इसके लिए पुरुषार्थ न करके सिर्फ ऐसी मान्यतासे ही वह प्राप्त हो जायगी कि सर्वज्ञके ज्ञानमे जब मुक्ति झलकी होगी तब वह हो ही जायगी या जब हमारी भवितव्यतामे वह होगी तब वह हो ही जायगी, हमें उसके लिए पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नही है अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करना जरूरी नही है और यदि जरूरी है भी, तो जब हमारा मुक्ति पाना सर्वज्ञके ज्ञानमे झलका होगा तब अपने आप हम नग्न दिगम्बर मुद्राके धारी बन जावेंगे या भवितव्यता ही यह सब कुछ हमसे करा लेगी। ऐसी या इसी प्रकारकी सब बाते नियतिवादरूप मिथ्यात्वके ही रूपमें हैं।

इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्यकारणभावको समझिये, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइये, लेकिन इसमें अहकारी मत बनिये, अधीरता मत दिखाइये, असफलतासे दुःखी मत हूजिये, विवेकी गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ श्रद्धाके साथ कर्त्तव्य पथपर डट जाइये, डट जावें, तो फिर डटे रहिये, उस कर्त्तव्य पथसे च्युत नही हूजिये—यही सम्यक्त्वका चिह्न है, इसीमे आस्तिक्यभाव (श्रद्धाका भाव) झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुज आपको दिखेगा और निर्वेदभाव, अनासक्तिभावकी छाया इसीमें प्राप्त होगी। निम्नलिखित पद्योसे हमें यही उपदेश प्राप्त होता है—

अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहक्रियार्तः सहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥१३३॥

—स्वयभूस्तोत्र

इस पद्यका आशय हम पूर्वमें प्रगट कर चुके हैं।

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

—पडितप्रवर भैया भगवतीदासजी

आप देखेंगे कि प्रथम पद्यके प्रथम चरण और द्वितीय चरणमें श्रद्धा और कर्त्तव्यका कितना सुन्दर समन्वय किया गया है और तीसरे चरणमें एकान्त पक्षको माननेवाले निमित्तवादियोको कहा गया है कि अनेकान्त तत्त्वको पहिचानो और निरहकारी बनो। दूसरे पद्यमें अपनी कार्यसिद्धिमें अधीरता प्रगट करनेवालोको कहा गया है कि होगा वही जो वीतराग महाप्रभुके ज्ञानमे झलका है, फिर इतनी अधीरता क्यो

दिखलाते हो ? इसमें भी पुरुषार्थ व निमित्तोको जुटानेका निषेध नही किया गया है इसी पद्यके आगेके पद्योको भी पढा जावे तो आप देखेंगे कि उनमें फिर पुरुषार्थ करनेका भी प्रेरणा की गयी है। वे पद्य निम्न प्रकार हैं—

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे। (तीसरे पद्यका उत्तरार्ध)
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभुको जो टारै भव पीरा रे। (चौथे पद्यका पूर्वार्द्ध)

आप देखेंगे कि इसमें उन्होने अपने पौरुषको सम्हालने व प्रभुका ध्यान करनेके लिये प्राणियोको प्रेरणा दी है जो नियतिवादके सर्वथा विरुद्ध है। पूर्वमें बतलाया जा चुका है तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ में 'णिच्छयदो' पद डाल कर आचार्य महाराजने हमें इस बातका उपदेश दे दिया है कि श्रद्धाकी लगाम लगा कर कर्त्तव्यरूपी घोडे पर सवार हो जाइये, आपका कार्य सफल होगा। वह गाथा निम्न प्रकार है :—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि सव्वाणि दव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ—इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) से जो जीव समस्त द्रव्यो और समस्त पर्यायोंके विषयमें आस्था रखता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि उक्त प्रकारसे श्रद्धा और कर्त्तव्यका समन्वय न किया जाय तो जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१ और ३२२ वी गाथाओंमें वर्णन किया और जिसके स्वीकार करने पर उक्त गाथा ३२३ में प्राणीको शुद्ध सम्यग्दृष्टि बतलाया है उसी प्रकारका वर्णन तो पचसंग्रह आदि आगम ग्रन्थोमें भी किया है जिसे स्वीकार करने पर वहाँ पर प्राणीको मिथ्यादृष्टि बतला दिया गया है। इन दोनो कथनोकी सगति किस प्रकार हो सकेगी ? पचसंग्रहका वह कथन निम्न प्रकार है जिसको वहाँ पर नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्व बतलाया है।

यद् भवति तद् भवति, यथा भवति तथा भवति, येन भवति तेन भवति, यदा भवति तदा भवति, यस्य भवति तस्य भवति इति नियतिवाद.।

—प्रा० प० सं० पृ० ५४७ ज्ञानपी० से प्रकाशित

अर्थ—जो होना है वह होता है, जैसे होना है वैसे होता है, जिसके द्वारा होना है उसके द्वारा होता है, जब होना है तब होता है, जिसके होना है उसके होता है यह नियतिवाद है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्वका कथन निम्न प्रकार किया है :—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णितदिवादो दु ॥८८३॥

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियमसे होना है वह उस समय उससे वैसे उसके होता है—ऐसा मानना नियतिवाद है।

श्री अमितिगति आचार्यके पचसग्रहमें प्र० अ०, पृ० ११२ में भी देखिये—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुट नियत्येह नियंत्र्यमाण परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥३१२॥

अर्थ—जब जैसे जहाँ जिस हेतुसे जिसके द्वारा जो होना है तब तैसे वहाँ उस हेतुसे उसके द्वारा वह होता है यह सब नियतिके नियत्रणमें होता है, दूसरा कोई कुछ भी नही कर सकता है।

अब आप देखेंगे कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ पद्मपुराणके '**यत्प्राप्तव्यं यदा येन**' इत्यादि पद्य और स्वयभूस्तोत्रके '**अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय**' इत्यादि पद्यके कथनोमें और प्राकृत पचसग्रह, गोमट्टसार तथा अमितिगति आचार्यकृत पचसग्रहके उक्त कथनोमे, कुछ अन्तर नही है, फिर भी स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदिके उन कथनो पर आस्था रखनेसे प्राणी सम्यग्दृष्टि माना जाता है और उसी प्रकारके पच-सग्रह आदिके कथनोको स्वीकार करनेवाला नियतिवादी मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसका आशय केवल इतना ही है कि यदि द्वादशाग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनाते हुए कर्तव्य परायण बनकर उक्त कथनोपर श्रद्धा रक्खी जावे तब तो प्राणी सम्यग्दृष्टि बनता है और यदि द्वादशाग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धतिकी सर्वथा उपेक्षा करके या उसे आरोपित, मिथ्या, कल्पित, अकिंचित्कर आदिके रूपमें मान कर कर्तव्यसे शून्य होता हुआ नियतिके ही आश्रित प्राणी हो जाता है तो उस हालतमें वह एकान्तनियतिवादी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस उपर्युक्त विवेचनसे हमने आगमानुसार यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि दिव्यध्वनिसे लेकर गणधरो द्वारा रचित द्वादशाग रूप द्रव्यश्रुतमें तथा उनके पश्चात् अन्य महर्षि-आचार्यों द्वारा रचित द्रव्य श्रुतमें श्रुत-ज्ञानियोके लिये ही वस्तुतत्त्व व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है तथा उस व्यवस्थामें श्रद्धा और कर्त्तव्य पथका समावेश कर दिया गया है। कारण कि इन दोनोका समावेश किये बिना प्राणीको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानियोके लिये वस्तुतत्त्व व्यवस्थाकी कोई उपयोगिता नही है। कारण कि केवलज्ञानी जीव तो समस्त वस्तु तत्त्वके स्वत पूर्ण ज्ञाता है अत वे वस्तुतत्त्व के व्यवस्थापक तो हैं किन्तु वस्तुतत्त्व व्यवस्था उनके लिये नही। उनके ज्ञानमें निश्चय नय और व्यवहार नयका भी भेद नही है। उनका सम्पूर्ण ज्ञान निरश रूपसे प्रमाण रूप है जब कि श्रुतज्ञानियोका श्रुतज्ञान अशो रूपसे ही प्रमाण रूप हो सकता है। इसलिये केवलज्ञानियोका जो केवलज्ञान निरशरूपसे प्रमाण रूप है उसमें निश्चय नय और व्यवहार नयका भेद कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् नही हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानी जीव वस्तु तत्त्वके सिर्फ ज्ञाता दृष्टा ही बने हुए हैं। दूसरी बात हम यह भी बतला आये हैं कि वे कृतकृत्य भी हो चुके हैं—इत्यादि बातोसे आप समझ सकते हैं कि केवलज्ञानी जीवोके लिये वस्तु तत्त्व व्यवस्थाको कोई उपयोगिता नही रह जाती है, अत सिर्फ श्रुतज्ञानी जीवोके लिये ही वस्तु तत्त्व व्यवस्थाकी उपयोगिता है।

वस्तु तत्त्व व्यवस्थाके श्रुतज्ञानी जीवोके लिये दो रूप ही हो सकते हैं—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धाका रूप और दूसरा श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यका रूप। और तत्त्व व्यवस्था के दोनो ही रूप प्रमाणभूत हैं, अतः श्रुतज्ञानी जीवोको दोनो ही रूप प्रमाण रूपसे स्वीकार करने योग्य हैं अर्थात् श्रुतज्ञानी जीव यदि केवलज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि चूँकि प्रत्येक वस्तुकी एक-एक समयमें एक-एक पर्याय ही उत्पन्न हो सकती है, इसलिये कालके जितने त्रैकालिक समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तुकी पर्यायोकी उत्पत्ति होना सम्भव है और चूँकि केवलज्ञानी जीव समस्त वस्तुओकी उनकी अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायोका सतत ज्ञान कर रहे हैं। अर्थात् भूतमे कब किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय हुई यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है, वर्तमान समयमें किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय हो रही है यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है और भविष्यत्में कब किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय होगी यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है

इसलिये यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायोमेंसे एक-एक पर्याय केवलज्ञान गम्य नियत क्रमसे ही उत्पन्न होती है और वे ही श्रुतज्ञानी जीव यदि अपने श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो यह उनके अनुभव, तर्क तथा आगमसे भी प्रसिद्ध बात होगी कि मिट्टीसे ही घट सकोरा आदि बनते हैं, सूतसे नही, मिट्टीसे घट, सकोरा आदि ही बनते हैं वस्त्रादिकी उत्पत्ति मिट्टीसे कदापि नही होती है, कुम्हारके पुरुषार्थका मिट्टीको अनुकूल सहयोग मिलनेपर ही इससे घटका निर्माण होता है अन्यथा नही और कुम्हार भी दण्ड, चक्र, वस्त्र, जल आदिकी सहायतापूर्वक ही अपने पुरुषार्थका उपयोग मिट्टीसे घटनिर्माणमें करता है—इस प्रकार प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक स्वपरप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभावसे साथ-साथ निमित्तनैमित्तिकभाव रूप कार्यकारणभावकी प्रक्रिया सतत विद्यमान रहती है। इसी प्रकार अगुरुलघुगुणके अविभागी प्रतिच्छेदोमें षड्गुण हानि-वृद्धि रूपसे होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायो (परिणमनो) की उत्पत्तिमें भी केवल उपादानोपादेयभावरू प कार्यकारणभावकी प्रक्रिया आगममे प्रतिपादित की गयी है इसलिये यह भी निश्चित है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक पर्याय अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम अथवा अनियतक्रमसे ही उत्पन्न होती है।

एक बात और है कि श्रुतज्ञानीके सामने करनेके लिये उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, ऐहिक-पारलौकिक, जीवन-सम्बन्धी—मुक्ति सम्बन्धी, वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सास्कृतिक आदि असख्य प्रकारके कार्योंका अम्बार लगा रहता है, उनकी सम्पन्नता उस उस कार्यके अनुकूल सामग्रीके जुटनेपर अथवा जुटानेपर ही होती है और उस उस कार्यके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये हमें यथायोग्य अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा श्रमशक्तिका उपयोग भी करना होता है तथा करते भी हैं। यह बात हम पहले कह चुके हैं कि हम नियतिके नियन्त्रणमें बँधकर यन्त्रवत् यह सब कुछ नही कर रहे हैं, अन्यथा हमे अपने अनुभवको अप्रमाण मानना होगा, तर्क भी अप्रमाण मानना होगा और इसी तरह कार्यकारणभाव व्यवस्थाके प्रतिपादक आगमको भी अप्रमाण मानना होगा, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा आदिकी आगम सम्मत सम्पूर्ण व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी, केवल नियतिका विश्वमें एकछत्र साम्राज्य प्रस्थापित हो जायगा जिसे आगम ग्रन्थोमें मिथ्यात्व कहा गया है। जैनी दृष्टि यह नही है। जैनी दृष्टि तो श्रद्धा और कर्त्तव्य दोनोंके समन्वय करनेसे ही सम्पन्न होती है जिसपर आपका ध्यान जाना चाहिये।

चूँकि आगममें कार्यकारण व्यवस्थाका प्रभावशाली वर्णन पाया जाता है, अत आपने कार्यकारण व्यवस्थाको स्वीकार तो किया है। परन्तु आपने उसे इस रूपमे रखनेका प्रयत्न किया है कि जिससे आपको मान्य 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते है' इस सिद्धान्तको न केवल आँच न आने पावे बल्कि इसका आपके द्वारा मानी हुई कायकारण व्यवस्थासे पोषण हो सके, साथ ही आगममें महत्त्वपूर्ण स्थानको प्राप्त निमित्त कारणको आप अकिंचित्कर भी बना सकें। आपने अपने इस मतका समर्थन करनेके लिए कार्यकारणभाव पर प्रभाव डालनेवाली स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथाको उद्धृत किया है—

पुव्वपरिणामजुत्त कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुद त च्चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥(२२२)

इसका अर्थ आपने यह किया है कि अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारण रूपसे (उपादान कारण रूपसे) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्यरूप होता है।

हम उक्त गाथाका यों अर्थ करते हैं—'द्रव्य अपने पूर्व परिणामकी अवस्थामें कारण रूपसे रहता है और जब वह उत्तर परिणामसे युक्त होता है तब वह नियमसे कार्यरूप हो जाता है।'

हमारे द्वारा कृत और आपके द्वारा कृत उक्त दोनो अर्थोंके अभिप्रायोमें अन्तर यह है कि जहाँ आप पूर्व पर्यायसे सिर्फ वस्तुकी कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको ही कारण रूपसे स्वीकार करते हैं वहाँ हम सूक्ष्म पर्यायोकी दृष्टिसे वस्तुकी कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको तो कारणरूपसे स्वीकार करते ही हैं लेकिन इसके साथ ही स्थूल पर्यायोकी दृष्टिसे मिट्टीकी घटादि सभव पर्यायोमेंसे किसी भी पर्यायसे अव्यवहित पूर्वकालमें स्थित कुशूल आदि पर्यायको भी हम कारणरूपसे स्वीकार कर लेते हैं, क्योकि जिस प्रकार आगममे क्षणिक पर्यायोके आधारपर कार्यकारणभाव प्रतिपादित किया गया है उसी प्रकार स्थूल पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि पर्यायोंके आधारपर भी उत्तरोत्तर कार्यकारणभावको स्वीकार किया गया है। फिर भी हम मानते हैं कि प्रकृतमे हमारे आपके मध्य पाये जानेवाले उक्त अन्तरसे कोई समस्या खडी नही होती है, अत हम आपके लिये मान्य विवक्षित क्षणिक पर्यायोमे पाये जानेवाले कार्यकारणभावके आधारपर ही आगेका विवेचन प्रारम्भ कर रहे हैं।

क्षणिक पर्यायोके आधारपर उल्लिखित गाथामें उपादान कारण और कार्यकी व्यवस्था इस तरह बतलायी गयी है कि वस्तुकी उत्तर क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कारण कहलाती है और उस पूर्व पर्यायसे अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कार्य कहलाती है। हमारे और आपके मध्य इस तरहकी कार्यकारणभावव्यवस्थाकी स्वीकृतिमे कोई विवाद नही हैं और इस विषयमें भी हमारे आपके मध्य कोई विवाद नही है कि वस्तुकी पूर्वक्षणिकपर्यायके बाद उत्तर क्षणिक पर्याय अवश्य होगी तथा वह एक ही होगी, कारण कि पर्यायोकी क्रमिक एक धारामे एक साथ दो आदि पर्यायें कदापि नही होगी, परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूपमें होगी ? इसकी नियामक आगमके अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चनेको खप्परमें डालकर अग्निके जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोईमें उबलते हुए पानीमे डालकर उसी चनेको उसी अग्निके द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा माननेके लिए तैयार नही है। आपकी मान्यता तो इस विषयमे मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्यायके बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यतामे पूर्व पर्यायके बाद एक नियत उत्तर पर्यायके होनेका नियामक कौन होगा ? यदि कहा जाय कि गाथामें जो **'णियमा'** पद पडा हुआ है उससे ही यह सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्यायकी नियामक हो जाती है, क्योकि वह **'णियमा'** पद उस पूर्व पर्यायके अनन्तर दो आदि पर्यायोमेसे एक पर्याय होगी—इसका विरोधक ही है, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि गाथामे पठित **'णियमा'** पद किसी एक निश्चित पर्यायकी सूचना देनेके लिए नही है, उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियमसे कार्य कहलाती है फिर भले ही वह उत्तर पर्याय किसी रूपमें क्यो न हो। इस तरह पूर्व पर्यायके बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी वह नियमसे उस पूर्व पर्यायका कार्य होगी। हमारे इस निष्कर्षकी पुष्टि इसी गाथा न० २२२ की आचार्य शुभचन्द्र कृत टीकासे भी होती है। वह टीका निम्न प्रकार है —

द्रव्य जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्त पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते तदेव द्रव्यं जीयादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्त उत्तरपर्यायाविष्ट तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव। यथा आतान-वितानात्मकास्तन्तव अप्रतिबद्धसामर्थ्याः का॰णन्तरावैकल्याश्च अन्त्यक्षण प्राप्ता पटस्य कारण, उत्तरक्षणे तु कार्यम्।

अर्थ—जीव आदि, द्रव्य अपनी पूर्व पर्याय सहित उपादान कारणरूप होता है और अपनी पूर्व पर्याय सहित वही जीव आदि द्रव्य यदि मणि, मन्त्र आदि कार्यकी प्रतिरोधक सामग्रीसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाला हो तथा कारणान्तरो (अन्य अनुकूल कारणों) की विकलता (अपूर्णता) से भी रहित हो तो उत्तर क्षणमें विवक्षित उत्तरपर्याय रूप कार्यका निष्पादन करता ही है। जिस प्रकार आतान और वितान (ताने और बाने) की अवस्थाको प्राप्त तन्तु समूह यदि प्रतिरोधक कारण सामग्रीके द्वारा होनेवाले अपनी पटोत्पादन रूप सामर्थ्यके प्रतिरोधसे रहित तथा कारणान्तरो (जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि) की विकलतासे रहित होता हुआ अन्तिम क्षण (कार्याव्यवहित पूर्व क्षण) को प्राप्त है तो वह तन्तु समूह पट रूप कार्यके प्रति कारण होता है और उसके उत्तर क्षणमें वही तन्तु समूह पट रूप कार्य होता है।

इस टीकामें आचार्य शुभचन्द्रने उपादान कारणके साथ-साथ अन्य समस्त अनुकूल कारणभूत बाह्य सामग्रीकी अपूर्णताके अभावको अर्थात् उक्त बाह्य सामग्रीकी पूर्णताको भी विवक्षित कार्यके प्रति आवश्यक कारण बतलाया है। इसी उद्देश्यसे ही उन्होने उक्त टीकामें '**कारणान्तरावैकल्य**' शब्दका पाठ किया है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्यसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोकी अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नही होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादानसे विवक्षित कायकी उत्पत्ति कदापि नही होगी, फिर तो जिस कार्यके अनुकूल अन्य कारणोकी पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा। यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञानमें झलका होगा। तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानीको क्या मालूम, कि केवलज्ञानीके ज्ञानमें क्या झलका है? इसलिये जो कुछ होता है उसको दृष्टिमे कार्यकारणभावके आधार पर ही होता है कार्योत्पत्तिके विषयमें इससे अधिक वह सोच ही तो नहीं सकता है। इस विषयको विस्तारपूर्वक पूर्वमें लिखा जा चुका है, अत और विस्तारसे लिखना हम अनावश्यक समझते है।

इस सम्पूर्ण कथनका अभिप्राय यह है कि अन्त्यक्षण अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको प्राप्त उपादानकारणभूत द्रव्यसे उत्तर क्षणमे वही पर्याय उत्पन्न होती है जिस पर्यायके अनुकूल अन्य बाह्य कारण सामग्री अपनी पूर्णताके साथ वहाँ प्राप्त रहती है। जैसे मान लो, जीवकी उत्तरक्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय क्रोध रूप हो रही है तो यह क्रोध रूप पर्याय जीवकी पर्याय ही तो है और उत्तर क्षणमें जो भी उस जीवकी पर्याय होनेवाली है वह भी जीव की ही पर्याय होगी, इसलिये यह बात तो ठीक है कि पूर्वकी क्रोध रूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे अव्यवहित उत्तर क्षणमे उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्यायका उपादान कारण है, परन्तु श्रुतज्ञानीकी दृष्टिमे यह नियम नही बन सकता है कि उत्तर क्षणमें उस पूर्वकी क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवके क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायोमेंसे अमुक पर्याय ही होना चाहिये अर्थात् चूँकि वस्तु परिणमन स्वभाववाली होती है अत क्रोधरूप पूर्व पर्याय-विशिष्ट उस जीवका उत्तर क्षणमें परिणमन तो अवश्यभावी है परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनोमेंसे कौनसा परिणमन होगा यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्री पर ही निर्भर है। याने जीवकी पूर्व पर्यायमें जो क्रोधरूपता है वह क्रोधरूपता जीवके अपने स्वत सिद्ध स्वभावरूपके नही है, अपने स्वत सिद्ध स्वभाव रूपसे तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योकि जीवका उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादि रूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव नही है, इसलिये मानना पडता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि

कर्मोके उदयके निमित्तसे ही पायी जाती है। इस तरह पूर्व पर्यायमें जो क्रोधरूपता विद्यमान है वह इसलिये है कि उस समय उस जीवके पौद्गलिक क्रोध कर्मका उदय हो रहा है और इस स्थितिमे ही जब उसी जीवके आगे अव्यवहित उत्तर क्षणकी पर्यायके विषयमें विचार करना है कि कौन-सी पर्याय उस समय होना चाहिये ? तो इस विषयमें यह तो निश्चित है कि जीवके परिणमनशील होनेके कारण उनकी कोई-न-कोई पर्याय अवश्य होगी, परन्तु यह भी निश्चित ही समझना चाहिये कि यदि उत्तर क्षणमे पौद्गलिक क्रोध कर्मका उदय होगा तो क्रोधरूप पर्याय होगी और यदि उस उत्तर क्षणमे पौद्गलिक मान, माया और लोभमेंसे किसी एक कर्मका उदय होगा तो क्रोध पर्याय विशिष्ट पूर्व क्षणसे अव्यवहित उस उत्तर क्षणमें उन मानादिक पौद्गलिक कर्मोमेंसे किसी एक कर्मके उदयानुसार मानादि पर्यायोमेंसे कोई भी एक नियत पर्याय होगी।

इस तरह उपादानकारण रूप निश्चयकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव उत्तर क्षणमे क्रोध, मान, माया और लोभ रूप पर्यायोमेसे जो भी पर्याय अपने अनुकूल अन्य कारणोकी सहायतासे होगी उसका उपादान कारण होगा। कारण कि परिणमन कैसा ही क्यो न हो, आखिर होता तो जीवका ही है, परन्तु उस पर्यायमें (परिणमनमें) उक्त क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो रूपोमेसे कौन-सा रूप आता है ? वह जीवके अपने स्वत.सिद्ध स्वभाव रूपसे न होकर पौद्गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कषायरूप कर्मोमेसे जिसका उस समय उदय होगा उसकी नियामकताके आधारपर होगा, अत निमित्तकारणरूप व्यवहारकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन पौद्गलिक क्रोधादि कषायरूप कर्मोमेसे कोई एक कर्मका उदय यथायोग्य रूपसे उसका निमित्तकारण होगा। इस विवेचनसे यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इस मान्यताके आधारपर आप जो निमित्तोको अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं वह असगत है और इसीलिये ही आचार्य अकलंकदेवको अपनी अष्टशतीमें निमित्तकरणोको अकिंचित्कर माननेका खण्डन करना पडा है। उनका वह कथन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्कर किं सहकारिकारण स्यात् ?

—अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन न करता हुआ सहकारी कारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहे तो उसे सहकारी कारण कैसे कहा जा सकता है ?

इसी तरह इस कथनसे एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवकी उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती कारणरूप पर्याय क्रोधरूप है और उसके उत्तरक्षणमें पौद्गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मोमेसे किसी भी कर्मका उदय सभव है जिसके कारण जीवकी वह पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे किसी एकके उदयानुसार क्रोध, मान, माया अथवा लोभ रूप हो सकती है तो इसका फलितार्थ यह हो जाता है कि उस कारणरूप पूर्वक्षणवर्ती क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवमे उक्त चारो प्रकारकी उपादान शक्तियोका अस्तित्व विद्यमान रहता है। इस प्रकार यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि उत्तर क्षणमें उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवकी क्रोधादि चारोमेंसे वही पर्याय उत्पन्न होगी जिसके अनुकूल पौद्गलिक क्रोधादिकके उदयरूप निमित्त सामग्री प्राप्त होगी। इसलिये कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अवसर पर भी विविध प्रकारकी नाना उपादान शक्तियोका सद्भाव मानना असगत नही है। ऐसी स्थितिमें आपकी यह मान्यता कि 'उपादानके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणमे पहुँच जानेपर नियमसे विवक्षित कार्यकी ही उत्पत्ति होती है' खण्डित हो जाती है। कारण कि पूर्वोक्त क्रोधविशिष्ट जीव

का उदाहरण हमें इस बातका स्पष्ट संकेत दे रहा है कि उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवकी पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे क्रोधादि कर्मोंके उदयानुसार कोई भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि उत्तरक्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर एक ही पर्याय होगी, दो आदि अनेक पर्यायें नही होगी—यह सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु वह एक पर्याय अमुक रूप ही होगी इसकी नियामक पूर्वोक्त रीत्या वह पूर्व पर्याय नही हो सकती है, किन्तु उसकी नियामक वहाँ पर उपस्थित अन्य अनुकूल बाह्य कारण (निमित्त कारण) सामग्री ही होती है, इसलिए उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तुमें उस समय उत्तर पर्यायसे परिणत होनेके लिए नाना उपादान शक्तियोंका सद्भाव अनायास ही सिद्ध हो जाता है और तब उनमें से उत्तर क्षणमें उस योग्यताका ही विकास उस वस्तुमें माना जा सकता है जिसके लिये अनुकूल बाह्य निमित्तरूप सामग्री प्राप्त होती है। उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तुमें नाना उपादान शक्तियोंका सद्भाव माननेमें यह तो प्रमाण है ही कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२वी गाथाकी उल्लिखित टीकामें कार्योत्पत्तिके लिये कारणभूत पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको मणि-मंत्रादि प्रतिरोधक कारणोंसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला तथा अन्य प्रतिनियत कारणोकी अविकलता (पूर्णता) वाला इस तरह दो विशेषण विशिष्ट स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही निम्नलिखित प्रमाण भी देखिये—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अपनी अनेक उपादान शक्तियोंसे युक्त पदार्थ कालादि लब्धिके प्राप्त होने पर जब स्वयं (आप) परिणमन करते हैं तब उसका वारण कोई भी नही कर सकता है।

इस गाथा मे जो 'णाणासत्तीहिं संजुदा' पद पडा हुआ है वह स्पष्टरूपसे बतला रहा है कि पूर्व पर्यायविशिष्ट वस्तुमे एक ही साथ नाना उपादान शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं और '**कालाइलद्धिजुत्ता**' पद यह बतला रहा है कि उन नाना उपादान शक्तियोंमें से एक उसी शक्तिका विकास उत्तर क्षणमे होगा जिसके अनुकूल काललब्धि आदि यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप बाह्य साधन सामग्री उस समय प्राप्त होगी। गाथाकी आचार्य शुभचन्द्र कृत टीका और भी स्पष्टताके साथ उक्त अभिप्रायको प्रगट कर रही है। टीका निम्न प्रकार है—

अर्था - जीवादिपदार्था, हीति स्फुटम्, स्वयमेव परिणममाणा परिणमन्त. पर्यायान्तर गच्छन्तः सन्त कैरपि इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिभि वारयितु न शक्यते। कीदृक्षास्ते अर्था ? नानाशक्तिभि अनेकसमर्थताभि. नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभि संयुक्ता। यथा जीवा भव्यत्वादिशक्तियुक्ता रत्नत्रयादिकाललब्धि प्राप्य निर्वान्ति, यथा तण्डुला ओदनशक्तियुक्ता इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्री प्राप्य भक्तपरिणाम लभन्ते। तत्र भक्तपर्याय तण्डुलानामुभयकारणे सति कोपि निषेद्धु न शक्नोतीति भाव·।

अर्थ—जीव आदि पदार्थ अपनी अनेक प्रकारके स्वभाववाली उपादान शक्तियोंसे युक्त हैं। वे पदार्थ जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावादिरूप विविध प्रकारकी निमित्त सामग्रीको प्राप्त होते हैं तब उनके विवक्षित परिणमनको इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि कोई भी वारण करनेमें समर्थ नही होते हैं। जिस प्रकार भव्यत्वादि उपादान शक्तियोंसे युक्त जीव रत्नत्रयादि (आदि पदसे मनुष्यभव, वज्रर्षभनाराचसंहनन, कर्मभूमिजपना, मुनिदीक्षा आदि निमित्तकारण) सामग्रीसे सहित होते हैं तब वे मुक्त होते हैं। इसी प्रकार जैसे भात

बननेकी उपादान शक्तिसे युक्त चावल, इन्धनाग्नि, बटलोई, जल आदि निमित्तकारण सामग्रीको पाकर भात-रूप परिणत होते हैं। इस प्रकार उभय कारणो (उपादान और निमित्तकारणो) के रहते हुए चावलोंके भातरूप परिणमनको कोई वारण करनेमें समर्थ नही हो सकता है।

यह सब कथन हमें यह बतला रहा है कि 'कार्यके स्वकालके सद्भावमें नियत कार्यके अनुकूल अन्य कारणोका सद्भाव नियम से पाया जाता है' यह मान्यता सही नही है, बल्कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उपर्युक्त गाथा २२२ गाथा २१९ से तथा इन दोनो गाथाओकी उल्लिखित टीकाओंसे इस मान्यताके विरुद्ध इस मान्यताकी ही पुष्टि होती है कि नाना योग्यताओसे विशिष्ट वस्तुके कार्य स्वकालमे अर्थात् जहाँ पहुँच जाने पर उस वस्तुसे कार्योत्पत्तिकी निश्चित सभावना हो जाती है वहाँ पहुँच जाने पर भी यदि विवक्षित कायके अनुकूल निमित्त सामग्री हो तो विवक्षित कार्य ही होगा और उस स्वकालमे अन्य जिस कार्यके उत्पन्न होनेकी सभावना हो सकती है यदि उसके अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित होगी तो फिर वही कार्य उत्पन्न हो जायगा याने उस समय जैसी निमित्त सामग्री उपस्थित होगी उसीके अनुसार ही उस वस्तुसे कार्य उत्पन्न होगा।

इसी तरह इस प्रकरणमें एक बात और भी ध्यानमें रखने लायक है कि कार्यके उक्त प्रकारके स्वकालमे अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायमे वस्तुके पहुँच जाने पर तथा उस कार्यके अनुकूल निमित्त सामग्रीके उपस्थित रहने पर भी यदि उस अवसर पर कार्यकी प्रतिरोधक सामग्री उपस्थित हो जावे तो ऐसी हालत में स्वकाल और अन्य अनुकूल कारणोकी पूर्णता इनका सद्भाव मिलकर भी कार्यको उत्पन्न नही कर सकता है यह बात भी स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २२२ की आचार्य शुभचन्द्रकृत पूर्वोक्त टीकामे पठित **'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं'** वाक्याश द्वारा जानी जाती है। इसका भाव यह है कि कार्यरूप उत्तर पर्यायके पूर्वकी पर्यायसे युक्त द्रव्य विवक्षित कार्यके प्रति तभी कारण होता है जब कि उसकी कार्योत्पादक सामर्थ्यका प्रतिबन्धक कारणो द्वारा प्रतिरोध न किया जा रहा हो। यदि विवक्षित कार्योत्पादक सामर्थ्यका प्रतिरोधक कारणो द्वारा प्रतिरोध किया जा रहा हो तो विवक्षित कार्यके स्वकाल और अनुकूल अन्य कारण सामग्रीके सद्भावमे वहाँ पर वह विवक्षित कार्य उत्पन्न नही होगा। जैसे किसी सस्थाके चुनावकी पूरी पूरी तैयारी हो जाने पर भी यदि यकायक स्थगन आदेश प्राप्त हो जाता है तो चुनाव रोक दिया जाता है। इस प्रकार कार्योत्पत्तिके विषयमें पूर्वोक्त आगम प्रमाणो और लौकिक व्यवहारोंके आधार पर निम्नलिखित व्यवस्था जानना चाहिये।

(क) उपादान शक्ति अर्थात् आपके मतसे क्षणिक उपादान—जिसे आपने स्वकाल नामसे पुकारा है लेकिन जो आगमानुसार स्थूल रूपसे कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप तथा सूक्ष्म रूपसे उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायमे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप होता है—विद्यमान हो लेकिन विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति के अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित न रह कर दूसरे प्रकारकी ही निमित्त सामग्री उपस्थित हो वहाँ पर वह विवक्षित कार्य न होकर वही कार्य होगा जिसके अनुकूल निमित्तसामग्री मिला दी गयी हो या अनायास मिल गयी हो व उपादानमे उसकी सामर्थ्य हो।

(ख) उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो तथा विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी वहाँ मौजूद हो, लेकिन उस अनुकूल निमित्त सामग्रीकी पूर्णता न हो तो भी विवक्षित कार्य नही होगा, किन्तु वही कार्य होगा जिसके अनुकूल उक्त सब प्रकारकी सामग्री वहाँ उपस्थित होगी।

(ग) उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो, विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णताके साथ उपस्थित हो, लेकिन साथमें प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी वहाँ पर विवक्षित कार्य नही होगा। किन्तु वही कार्य होगा जिसके अनुकूल सम्पूर्ण कारण सामग्री उपस्थित होगी और कोई भी बाधक सामग्री नही होगी।

(घ) यदि उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति ही विद्यमान न हो और विवक्षित कार्यके अनुकूल निमित्त सामग्री पूर्णरूपसे उपस्थित हो तथा बाधक सामग्रीका अभाव भी हो तो भी विवक्षित कार्य नही होगा, किन्तु वह ही कार्य होगा जिसके अनुकूल उपादान शक्ति और अनुकूल बाह्य कारण सामग्री विना किसी बाधक कारण सामग्रीके उपस्थित रहेगी।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिए कि विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो, उसके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णताके साथ उपस्थित हो और कार्यरूप परिणतिकी प्रतिरोधक सामग्रीका अभाव भी सुनिश्चित हो, लेकिन यकायक विस्रसा या प्रायोगिकरूपसे विनाशकी सामग्री उपस्थित हो जावे तो कार्यकी उत्पत्तिकी शृंखला वही पर समाप्त होकर आगे विनाशकी प्रक्रिया चालू हो जायगी।

ऐसा नही है कि इन सब बातोंसे आप अनभिज्ञ हैं और ऐसा भी नही है कि कार्यकी उत्पत्तिके लिये इन सब बातो पर आप लक्ष्य नही रखते हैं। जब तक प्राणी सर्वज्ञ नही हो जाता अथवा इसके पूर्वमें भी निर्विकल्प समाधिमें स्थिर नही हो जाता तब तक उसका कार्यकारण पद्धतिमें इन सब बातो पर लक्ष्य नही जाना असम्भव भी है, परन्तु व्यवहार और निश्चयके सत्य स्वरूपको न समझ सकनेके कारण निमित्तोको व्यवहाराश्रित कारणताके आधार पर कार्यके प्रति अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए ही आपने इस मान्यताको जन्म दिया है कि सभी कार्य केवल स्वकाल के प्राप्त हो जाने पर ही हो जाया करते हैं, लेकिन इसके पहले कि आप आगम स्वीकृत निमित्तकारणोंको अकिंचित्कर मानें, इस बात पर भी आपको ख्याल करना चाहिये कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१, ३२२, २१९ और २३० वी गाथाओंमें व पद्मपुराणके उल्लिखित (२९-८३) पद्यमें तथा स्वयम्भूस्तोत्र के उल्लिखित १३३ वें पद्य में भी निमित्तकारणको उपादानकारणके साथ स्वरूप और कार्यकर्तृत्वका भेद रहने पर भी समान दर्जा स्वीकार किया गया है। इस विषयकी पुष्टिके लिए आगममें दूसरे भी अनेक प्रमाण भरे पडे हैं। उनमेंसे कुछ प्रमाण तो यहाँ पर भी दिये गये हैं, कुछ आपको इस तत्व-चर्चाके अन्तर्गत दूसरे प्रश्नोंमें भी देखनेको मिलेंगे, परन्तु या तो इन सब आगम प्रमाणोको आप दुर्लक्षित कर रहे हैं अथवा गलत अभिप्राय समझकर उनका अपने पक्षकी पुष्टिमें उपयोग कर रहे हैं। जैसे स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३२१ और ३२२ वी गाथाओं, पद्मपुराणके पद्य (२९-८३) तथा स्वयम्भूस्तोत्रके पद्य १३३ एव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ और २३० वी गाथाओकी टीकाके अभिप्रायको अपने पक्षकी पुष्टिका ध्यान रखते हुए दुर्लक्षित कर दिया है और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ तथा २३० वी गाथाओंके अभिप्रायको अपने पक्षकी पुष्टिमें उपयोग भी किया है। यह प्रक्रिया आपने प्राय सर्वत्र अपनायी है। परन्तु जहाँ जहाँ आवश्यक जान पडा—हमने स्थितिको स्पष्ट करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। क्या हम आशा रक्खें कि यह सब कुछ आपने मतिभ्रम होनेसे किया है और यह सब आपने यदि मतिभ्रमसे ही किया है तो हमें विश्वास है कि हमारे स्पष्टीकरणसे आपका मतिभ्रम अवश्य दूर हो जायगा। लेकिन यदि अपने सकल्पित अभिप्रायको पुष्ट करनेकी गरजसे यह सब कुछ आपने किया है तो हम समझते हैं कि

हमारे इस प्रयत्नका लाभ सम्भवत आप नही लेंगे। कुछ भी हो, हमारा दृष्टिकोण तो तत्त्वसम्बन्धी स्थिति-को साफ करनेमात्रका है। यदि इसमे आप लाभ ले सकें तो उत्तम बात होगी।

आपने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० का अभिप्राय गलत लिया है और इस तरह आप उससे अपनी संकल्पित जिस गलत मान्यताका पोषण करना चाहते हैं, आपकी वह सकल्पित गलत मान्यता यह है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती एक निश्चित पर्यायको ही जन्म देनेवाली है। परन्तु हम पूर्वमें अत्यन्त स्पष्टताके साथ विवेचन कर चुके हैं कि वस्तुका स्वभाव परिणामी होनेके कारण वस्तुकी अव्यवहित पूर्व पर्यायके अनन्तर उत्तरपर्याय अवश्य होगी। इसके विषयमे आपका कहना यह है कि जो पर्याय उस कालमें नियत होगी वही होगी और हमारा कहना यह है कि जिस पर्यायकी उत्पत्तिके योग्य उपादान शक्तिके साथ साथ अन्य अनुकूल बाह्य सामग्रीकी पूर्णता और प्रतिबन्धक सामग्रीका अभाव—यह सब सामग्री उपस्थित होगी वह पर्याय होगी। हम अपनी इस मान्यताकी पुष्टि पूर्वमे आगम प्रमाणोंसे कर चुके है तथा इसके लिये और भी नीचे लिखे प्रमाण देखिये—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीते।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृ० ७०।

अर्थ—प्रतिबन्धक कारणके अभावसे युक्त कारण ही अपने कार्यका जनक होता है।

स्वसामग्र्या बिना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते ॥८८॥—तत्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृ० ७०।

अर्थ—कोई भी कार्य जब तक उसकी पूर्ण सामग्री उपस्थित न हो तब तक नही उत्पन्न होता है।

इस तरहके आगम प्रमाणोके आधार पर ही हम आपकी उक्त सकल्पित मान्यताको गलत कहते हैं। और चूँकि अपनी उक्त सकल्पित मान्यताकी पुष्टि आप स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० के द्वारा करना चाहते है, इसलिये इस गाथाका अभिप्राय भी आपने अपने ढगसे लेनेका प्रयत्न किया है अर्थात् गाथा में पठित **'णियमा'** पदको आप उस कालमें नियत पर्यायके साथ जोड देना चाहते है जब कि उल्लिखित आगम प्रमाणो-के आधार पर **'णियमा'** पदका केवल इतना आशय उस २३० वी गाथा में ग्रहण करना है कि 'उत्तर पर्याय नियमसे पूर्व पर्यायकी कार्यरूप ही होगी, फिर भले ही वह पर्याय अपनी कारण सामग्रीके आधार पर होने-वाली कोई भी पर्याय क्यो न हो ?'

इसी प्रकार अपनी सकल्पित उक्त मान्यताकी ही पुष्टि के लिये इस गाथाके दूसरे न० २२२ की टीकामें पठित **'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणन्तरावैकल्येन'** इस वाक्याशको भी आप बिल्कुल उपेक्षित कर देना चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपकी मान्यताके अनुसार वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमे पहुँच जाने पर उसके अनन्तर क्षणमें एक निश्चित कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम है, क्योकि आपकी मान्यताके ही अनुसार वस्तुमें एक समयमें एक ही कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल एक ही योग्यता पायी जाती है, नाना कार्योंकी उत्पत्तिके अनुकूल नाना योग्यताएँ एक साथ नही पायी जाती हैं, इसलिये आपका कहना है कि 'प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गई है, इसलिये जब कार्य-क्षम निश्चय उपादान (क्षणिक उपादान) उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार ही मिलते हैं।' इसके आगे आपने यह भी लिखा है कि 'अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की २२२ न० की गाथाकी टीकामे जो उसका यथार्थ तात्पर्य है वही फलित करना चाहिये। उसमें **'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरा-वैकल्येन'** से पूर्व यदि 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीकामे होता तब तो निमित्तोंकी अनिश्चितता भी समझमें आती, परन्तु उसमें इस आशयको सूचित करनेवाला कोई पाठ नहो है, इसलिए

उसे 'तदेव, द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत' का विशेषण बनाकर ही उसका अर्थ करना चाहिये और ऐसा अर्थ करने पर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसगति बैठ जाती है।'

आपके इस कथन पर हमें आपसे इतना ही कहना है कि आपके कथनानुसार **'मणि-मंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणन्तरावैकल्येन'** वाक्याश वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमे पहुँच जाने पर तभी निमित्तकारणोकी अनिश्चितता बतला सकता था जब कि उक्त टीकामे **'मणिमत्रादिना अप्रतिबद्ध-सामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन'** इस वाक्याशके पूर्व 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाला कोई पद विद्यमान होता, परन्तु इसके विषयमें हम आपसे कहते हैं कि जब आपकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रव्य उतनी ही उपादानरूप योग्यताओवाला है जितनी कालके त्रैकालिक समयोके आधार पर उसकी पर्यायें सम्भव हैं और जब आपकी मान्यताके अनुसार ही वस्तुकी प्रत्येक क्षणवर्ती पर्यायसे उसके उत्तर क्षणमें एक निश्चित उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है तो ऐसी हालतमे आपकी दृष्टिसे फिर उक्त टीकामें **'मणिमत्रादिना अप्रतिबद्ध-सामर्थ्य कारणान्तरावैकल्येन'** वाक्याश की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती है। लेकिन चूँकि टीकामें उक्त वाक्याशका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाले पदका उक्त टीकामें अभाव होने पर भी 'मणिमत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन' वाक्याश वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षण-वर्ती पर्यायमें पहुँच जाने पर भी वहाँ निमित्तकारणोकी अनिश्चितताको बतलानेसे ही सार्थक हो सकता है। कारण कि निमित्तकारणोकी अनिश्चितता बतलानेके अतिरिक्त और दूसरा कोई प्रयोजन उस वाक्याशका वहाँ पर नही हो सकता है और न आप ही ने बतलाया है। हम आपसे पूछ सकते हैं कि **'मणिमत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन'** वाक्याशको आपके कथनानुसार यदि 'तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्ट कारण-भूतं' का भी विशेषण मान लिया जाय तो फिर उक्त टीकामें आपके मतानुसार **'मणिमत्रादिना अप्रतिबद्ध-सामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन'** वाक्याशकी क्या सार्थकता है? हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि आपने हमारे इस कथन पर गम्भीरताके साथ ध्यान दिया तो निश्चित ही आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाने पर भी इसमें उस पूर्व पर्यायके उत्तरक्षणमें कार्यरूप परिणत होनेके लिये अनेक उपादान शक्तियाँ लालायित हो रही हैं और उनमेंसे वही उपादान शक्ति कार्यरूप परिणत होती है जिसके अनुकूल उस समय निमित्त सामग्री अनायास या पुरुषकृत प्रयोगसे प्राप्त हो जाती है। इसलिये आपका यह लिखना सर्वथा गलत है कि 'जब कार्यक्षम उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त सामग्री उसीके अनुसार मिल ही जाती है।' और इसलिए आपको यह मान्यता भी गलत है कि 'कार्याव्यव-हित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी जो नियत होगी।' इससे भिन्न हमारा यही कहना सही है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायसे अनन्तर क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी जिसकी उत्पत्तिके अनुकूल निमित्त सामग्री उस समय वहाँ उपस्थित होगी।

आपने अपनी उक्त संकल्पित मान्यताकी पुष्टिके लिये निम्नलिखित और भी प्रमाण उपस्थित किये हैं —

(१) निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तर मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्य मोक्षस्य कारणं आयोगिकेवलि-चरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृष्ठ १०१

(२) न हि द्व्यादिसिद्धक्षणै सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचा-रयितुमुपक्रान्त- येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्य-

सच्चोद्यमेतत् । कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थ स्यात् ? धूमक्षणजनित-द्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेप्यसामर्थ्यप्रसक्ते । तथा च न किंचित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात् कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता ?

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृष्ठ ७१ ।

आपने उक्त दोनो कथनोका निम्नलिखित अर्थ दिया है—

(१) निश्चयनयका आश्रय लेनेपर तो जिसके अनन्तर मोक्षका उत्पाद होता है, अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें होनेवाला वही रत्नत्रय मोक्षका मुख्य (प्रधान-साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

(२) प्रकृतमें द्वितीयादि सिद्धक्षणोके साथ अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारण-भाव विचारके लिए प्रस्तुत नही है, जिससे उसकी उत्पत्तिमे उसकी असामर्थ्य प्राप्त होवे । तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षणके साथ ही प्रकृतमे उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्तिमे वह समर्थ (उपादान) कारण ही है इसलिये पूर्वक्त शका ठीक नही है ।

यदि ऐसा न माना जाय तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्तिमे वह समर्थ कैसे हो सकती है ? क्योकि ऐसी स्थितिमें धूमक्षणोंके द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीयादि धूमक्षणोके उत्पन्न करनेमें उसके (अग्निके) असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणके उत्पन्न करनेमें भी उसकी असामर्थ्यके प्राप्त होनेका प्रसग आता है । और ऐसा होनेपर कोई भी किसीका समर्थकारण नही बन सकता । और असमर्थकारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नही, ऐसी स्थितिमें यह विचारी कार्यकारणता कैसे ठहरेगी । अर्थात् तब कार्यकारणताका स्वीकार करना ही निष्फल हो जायेगा ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इन दोनो उद्धरणोंसे आप एक ही बात सिद्ध करना चाहते हैं कि 'सभी द्रव्यो-की सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं ।' अब देखना यह है कि क्या ये दोनो उद्धरण आपकी उक्त बातको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं ? तो हमें कहना पडता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उल्लिखित दोनो ही कथन आपकी 'सभी द्रव्योकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' इस बातको सिद्ध नही करते हैं, क्योंकि जिस प्रसगसे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें उक्त दोनो कथन किये गये हैं' वह प्रसग एक तो इस बातका है कि समर्थ कारण ही कार्यकी उत्पत्तिका कारण होता है, असमर्थ कारण कार्योत्पत्तिका कारण नही होता है । दूसरे इस बातका प्रसग है कि एक कार्यकी उत्पत्तिमें कोई कारण यदि असमर्थ है तो इतने मात्रसे वह दूसरे कार्यकी उत्पत्ति में कदापि असमर्थ नही होता है अर्थात् प्रत्येक कारणकी एक कार्यके प्रति असामर्थ्य रहना एक बात है और उसकी (प्रत्येक कारणकी) दूसरे कार्यके प्रति सामर्थ्य रहना दूसरी बात है । एक ही कारणमें उक्त भिन्न-भिन्न प्रकारसे असामर्थ्य और सामर्थ्य दोनो ही बातें एक साथ रह सकती हैं, उनका एक साथ रहनेमें कोई विरोध नही है ।

इस तरह बतलाया गया है कि अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें रहनेवाला रत्नत्रय चूंकि मुक्तिके लिए समर्थ कारण है, इसलिए उसके अनन्तर मुक्ति होती ही है । इसी प्रकार अग्नि भी प्रथम धूमक्षणकी उत्पत्तिके लिए समर्थ कारण है, इसलिए वह भी प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न कर देती है । परन्तु मुक्तिके लिये अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमे विद्यमान रत्नत्रय समर्थ क्यो है ? और प्रथम धूमक्षणकी उत्पत्तिके लिए अग्नि समर्थ क्यो है ? यदि ये प्रश्न उपस्थित हो जावें तो इनका समाधान यही होगा, कि वहाँपर कारणान्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणोकी पूर्णता तथा प्रतिबन्धक कारणोका अभाव दोनो ही बातें पायी जाती हैं । अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयके रत्नत्रयमे अघाती कर्मोका क्षय हो जानेसे

कारणान्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणोकी पूर्णता वहाँपर हो जाती है तथा प्रतिबन्धक कारणोका अभाव उस समय प्रथम मोक्षक्षणकी उत्पत्तिके लिये मोक्षके कारणभूत क्षायिकरूप रत्नत्रयको मिला हुआ है। इस प्रकार अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयका रत्नत्रय प्रथम मोक्षक्षणकी उत्पत्तिके लिये समर्थ कारण हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १, पृ० ७० में लिखा है—

केवलात्तत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणकमिति न शंकनीय, तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्ते। विवक्षितस्वकार्यकारणेंत्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं, तच्च न केवलात् प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। न च यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैव बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। न हि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यंतिक तदभिष्टूयते। कथं पुनस्तदसम्पूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्तस्योत्पत्ते। पूर्णं ततएव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनन्तरमभावात्। किं तद् विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायम्।

अर्थ—ज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न होनेवाला क्षायिक यथाख्यात चारित्र केवलज्ञानसे पहले ही सम्पूर्ण (समर्थ) बन जाता है ऐसी शका नही करना चाहिये, क्योंकि वह चारित्र मुक्तिके उत्पन्न करनेमें सहकारी कारणोकी अपेक्षा रखता है, इसलिए वह पूर्णत्वको प्राप्त नही है। विवक्षित कार्य करनेमें अन्तिम क्षणको प्राप्त हो जाना ही पूर्णत्व कहलाता है, ऐसा पूर्णत्व केवलज्ञानसे पहले चारित्रमे नही है। केवलज्ञानके ऊर्ध्व (केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेके बाद) अघाती कर्मोंका ध्वंस हो जानेपर ही उसमें (चारित्रमे) सम्पूर्णता मानी गयी है।

शका—यदि कहा जाय कि आगममें जो यह कथन पाया जाता है कि 'यथाख्यातचारित्र पूर्ण चारित्र कहलाता है' तो पूर्वोक्त कथनसे इसका विरोध आता है ?

उत्तर—शंका ठीक नही है, क्योकि यथाख्यातचारित्रमें जो पूर्णत्वका प्रतिपादन किया गया है वह प्रतिपादन उसके (यथाख्यात चारित्र के) क्षायिक (मोहनीय कर्मके क्षयसे प्राप्त) होनेके कारणसे ही किया गया है। कारण यह है कि सकल मोहक्षयसे उत्पन्न होता हुआ वह चारित्र अंशमात्रसे भी सदोष नही है यही कारण है कि उसकी हमेशा सर्वोत्कृष्ट रूपसे स्तुति की जाती है।

शका—उक्त प्रकार के चारित्रकी उत्पत्ति अपरिपूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञानसे होनेपर भी सम्पूर्ण कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यह शका भी ठीक नही है, क्योकि द्वादशागश्रुतके विषयभूत समस्त तत्त्वार्थका ज्ञान करानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानसे ही उसकी उत्पत्ति होती है।

शंका—उक्त प्रकारसे वह क्षायिक यथाख्यात चारित्र जब पूर्णताको प्राप्त है तो उससे फिर मुक्ति हो जानी चाहिये ?

उत्तर—यह शका भी ठीक नही है, क्योकि उस समय इस क्षायिक यथाख्यात चारित्रमें विशेषरूपता का अभाव रहता है।

शंका—कौन-सा ऐसा चारित्रका वह विशेष रूप है जिसके अभावमें वह चारित्र जीवको मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकता है ?

उत्तर—नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा करनेमें समर्थ समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपातिध्यान ही उस चारित्रका वह विशेष रूप है।

यह उद्धरण हमने यहाँपर इसलिए दिया है ताकि क्षायिकरूप यथाख्यात चारित्रकी मोक्षोत्पादनमें पूर्णता (सामर्थ्य) है उसका ज्ञान लौकिक जनोको हो जावे। वह पूर्णत्व या सामर्थ्य सहकारी कारणोकी सापेक्षताके अतिरिक्त क्षायिक यथाख्यातचारित्रमे कुछ और नही है यही ग्रन्थकर्ता आचार्य विद्यानन्दीका अभिप्राय है।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः।

—तत्वा० श्लोकवार्तिक पृष्ठ ७०

अर्थ—मोहक्षय कालादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) सामग्री सहित होकर ही आत्माकी उस मुक्तिरूपताकी उत्पत्तिका कारण होता है, केवल मोहक्षयसे मुक्ति प्राप्त नही होती हैं।

इस कथनसे भी यह सिद्ध होता है कि मोहक्षय अर्थात् क्षायिक यथाख्यात चारित्रको जबतक बाह्य कारण सामग्री प्राप्त नही हो जाती है तबतक उससे जीवको मुक्ति प्राप्त नही होती है। लेकिन जब जीव समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानमे पहुँच जाता है तब भी इतर सहायक कारणोके अभावमें मुक्ति प्राप्त नही होती है। जीव जब उस समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यानसे नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थितिका आयुकर्म की स्थितिके साथ समीकरण कर देता है तब उक्त चारो कर्मोंकी उदयानुसार समय समय प्रति प्रत्येक अघाति कर्मके एक एक निषेककी सविपाक निर्जरा करता हुआ जब उक्त चारो अघातिया कर्मोंके क्षयका अन्त समय आ जाता है तब वह यथाख्यात क्षायिक चारित्र मुक्तिके लिए समर्थ कारण होता है और उसके अव्यवहित उत्तर क्षणमें जीव मुक्त हो जाता है।

यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिये कि अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें सम्पूर्ण अघाती कर्मोंका क्षय हो जानेसे रत्नत्रयमें कारणन्तरावैकल्य और प्रतिबन्धकाभाव निश्चित हो जाता है, इसलिए वह रत्नत्रयकी मुक्तिका नियत कारण है, परन्तु सब प्रकारकी अग्नि धूमकी उत्पत्तिकी नियत कारण नही बन सकती है। केवल वही अग्नि धूमोत्पत्तिके लिए कारण बनती है जो अन्य कारण सामग्रीकी पूर्णता तथा प्रतिबन्धकाभावसे विशिष्ट होती है।

अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयवर्ती रत्नत्रयके विषयमें एक बात और विचारणीय है कि सयोग केवली गुणस्थानके रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रयके स्वरूपमें कोई अन्तर नही है इस बातको हमने ऊपर बतलाया है और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उसी प्रकरणमें और भी विस्तारसे बतलाया गया है तथा यह भी वहाँपर विस्तारसे बतलाया गया है कि केवल सामग्रीकी पूर्णता न होनेसे ही सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव मुक्ति पानेमे सदा असमर्थ रहते है। हमारा आपसे निवेदन है कि इस विषयको ठीक-ठीक समझनेके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृष्ठ ७० और ७१ को अवश्य पढ़िये, उसके अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न कीजिये, केवल अपने सस्कारोंके आधारपर उसमें जोड-तोड बिठलानेका प्रयत्न मत कीजिये।

'प्रत्येक समयमें नियत कार्यकी ही उत्पत्ति होती है और उसका उपादान कारण भी नियत ही होता है तथा आवश्यकतानुसार निमित्तकारण भी स्वयमेव मिल जाते है' यह जो आपकी मान्यता है इसके समर्थनमें एक कारण आप यह भी बतलाते हैं कि स्वयभूस्तोत्रके पद्य १३३ में भवितव्यताको अलघ्यशक्ति बतलाया

गया है और जिसका अभिप्राय है कि कार्योत्पत्ति तो भवितव्यताके आधारपर ही हुआ करती है, निमित्तोंका कार्योत्पत्तिमें कुछ उपयोग नही होता, वे तो कार्योत्पत्तिके अवसरपर हाजिरी ही दिया करते हैं।

इस विषयमें बात तो दरअसल हम यह कहना चाहते हैं कि 'अलघ्यशक्ति' पदका जो अर्थ आप करना चाहते हैं वह उसका अर्थ नही है यानी अलघ्यशक्तिका अर्थ वहाँ पर अटलशक्ति नही है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भवितव्यताकी शक्तिको लाघकर अर्थात् भवितव्यताकी शक्ति बाहर कोई कार्य उसमें नही उत्पन्न हो सकता है। इसे हमने पूर्वमें स्पष्ट कर दिया है। और फिर आपके मन्तव्यको मानकर भी हम यह कहना चाहते हैं कि उसी पद्य १३३ में 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा' पद कार्योत्पत्तिमें निमित्तोकी उपयोगिताको भी बतला रहा है, यद्यपि इसपर आप यह कहते हैं कि वे निमित्त उसी भवितव्यताकी अधीनता में ही प्राप्त हो जाया करते हैं तथा इसके समर्थनमें आप निम्नलिखित पद्यको भी उपस्थित करते हैं—

तादृशी जायते वुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश·।
सहायास्तादृश सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

अर्थ—जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि होती है, व्यवसाय (पुरुषार्थ) भी उसी तरहका होता है और सहायक भी उसी प्रकारके मिलते हैं।

लेकिन इस विषयमें हमारा कहना यह है कि जब भवितव्यता कार्यको जनक है और वे निमित्त भी आपकी मान्यताके अनुसार भवितव्यताको अधीनतामें ही प्राप्त किये जा सकते हैं जिनकी आवश्यकता कार्योत्पत्तिके अवसरपर रहा करती है, तो इस तरह कार्योत्पत्तिके लिये अपेक्षित निमित्तोकी प्राप्तिको भवितव्यताके ही आधार पर स्वीकार करनेसे यहाँ पर अनवस्था दोषका प्रसग उपस्थित हो जायगा, क्योंकि जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये भवितव्यताको निमित्तोका सहयोग अपेक्षित है उसी प्रकार उन निमित्तोंकी प्राप्तिरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिए भी अन्य निमित्तोके सहयोगकी अपेक्षा उसे (भवितव्यताको) नियमसे होगी और फिर उन निमित्तोंकी प्राप्ति भी भवितव्यताको अन्य निमित्तोंके सहयोगसे ही हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थाकी जनक होनेके कारण कार्योत्पत्तिके विषयमे स्वीकार करनेके अयोग्य है।

इसलिए यदि कहा जाय कि उक्त अनावस्था दोषके भयसे ही तो आप निमित्तोको अकिंचित्कर मान रहे हैं, तो इस पर भी हमारा कहना यह होगा कि 'अलघ्यशक्ति' इत्यादि पद्यमें पठित हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिंगा' पद 'ज जस्स जम्मि देसे' इत्यादि गाथाओंमें पठित 'जेण विहाणेण' और 'तेण विहाणेण' ये दोनों पद तथा 'यत्प्राप्तव्य' इत्यादि पद्यमें पठित 'यत' और 'तत' पद निरर्थक ही सिद्ध हो जावेंगे। इनके अलावा आगममें कार्यके प्रति निमित्तोंकी सार्थकता बतलानेवाले जितने भी कथन पाये जाते हैं और जिनमें से बहुत कुछ हमारी १, ६, १०, ११, १७ आदि संख्याक शंकाओ और प्रतिशकाओंमे भी देखनेके लिये मिलेंगे, वे सब अप्रमाणभूत ठहर जावेंगे तथा उन कथनोके अप्रमाणभूत हो जाने पर जैन संस्कृतिका सम्पूर्ण आगम ही अप्रमाणभूत ठहर जावेगा। इसलिए अब यह बात आप ही को सोचना है कि निमित्तोकी सार्थकता के समर्थक शास्त्रीय कथनोको अनुभव और तक गम्य एव आस्थाके विषय होनेके कारण अप्रमाणभूत कैसे कहा जा सकता है? अत यही मानना श्रेयस्कर है कि भवितव्यताकी तरह कार्योत्पत्तिमें निमित्त कारण भी अकिंचित्कर न होकर सार्थक ही हुआ करते हैं।

यदि आप कहें, जैसा कि पूर्वमें भी इस पक्षको रक्खा गया है कि प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी नियत पर्यायोमें परिणमन करती हुई यन्त्रवत् चल रही है, एक वस्तुके परिणमनमें अन्य वस्तु न तो सहयोग देती है

और न परिणमन करनेवाली वस्तुके लिए ही उस वस्तुके सहयोगकी अपेक्षा रहती है, सब अपनी अपनी चालसे चले जा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि छद्मस्थ प्राणियोंके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञान इन सभी ज्ञानजन्य अनुभवोको अप्रमाणभूत माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। और फिर दिव्य-ध्वनिसे लेकर द्वादशाग द्रव्यश्रुत तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रुत सभी अप्रमाणभूत ठहर जायगा, वस्तुव्यवस्था आधार सिर्फ केवलज्ञान ही रह जायगा, इस प्रकार समस्त वस्तुतत्त्व अनिर्वचनीयताको ही प्राप्त हो जायगा।

यदि फिर आप कहें कि व्यवहारनयसे समस्त वस्तुजात प्रतिपादनीय है, दृश्य है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका भी वह ज्ञेय है, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि व्यवहारको और व्यवहारके प्रतिपादक द्रव्यश्रुतरूप व्यवहारनयको तथा ज्ञापक ज्ञानश्रुतरूप व्यवहारनयको तो आप स्वय आरोपित, कल्पित, उपचरित, मिथ्या, असत्य, असद्भूत एव अभावात्मक मान लेना चाहते हैं तो इससे अनिर्वचनीयताके प्रसगकी समस्या हल होनेवाली नही है। इतना ही नही, जब व्यवहार या व्यवहारनय असद्भूत हैं तो केवलज्ञानी भी तो समस्त वस्तुजातको व्यवहाररूपसे ही जानता है इसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानसे भी वस्तुतत्त्वका ज्ञान करना असभव ही होगा। इस तरह समस्त जगत् वस्तुतत्त्व व्यवस्थासे ही शून्य हो जायगा। सिर्फ केवलज्ञानी जीव ही विश्वमें रह जायगा और फिर जब जैन सस्कृतिमें अनादि-निधन केवलज्ञानी नामका जीवतत्त्व स्वीकार ही नही किया गया है, हमी-आप जैसे ससारी प्राणी ही पुरुषार्थ करके आगे चल कर केवलज्ञानी बनते हैं तो जब ससारी प्राणियोका अस्तित्व ऊपर समाप्त किया जा चुका है तो फिर केवलज्ञानीका भी अस्तित्व समाप्त हो जायगा, इस तरह सर्व प्रकारसे शून्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। धवल पुस्तक १४ पृष्ठ २३४ का कथन भी इस बातका समर्थन कर रहा है जो निम्न प्रकार है—

ससारिणामभावे संते कथमसंसारिणामभावो? वुच्चदे, तं जहा—ससारिणामभावे संते असंसारिणो वि णत्थि, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलभणण्हाणुववत्तीदो।

अर्थ—संसारी जीवोका अभाव होनेपर असंसारी जीवोका अभाव कैसे सभव है? इसका उत्तर यह है कि संसारी जीवोका अभाव होने पर अससारी जीव भी नही हो सकते हैं, क्योकि सब पदार्थ अपने सत्प्रतिपक्ष पदार्थोंकी उपलब्धिमें ही उपलब्ध होते हैं, अन्यथा नही।

हमारा विश्वास है कि यह सब हमारी तरह आपको भी अभीष्ट नही होगा, अत व्यवहार और व्यवहारके प्रतिपादक एवं ज्ञापक नयोको आरोपित, कल्पित, उपचरित, 'मिथ्या, असत्य, असद्भूत एव अभावात्मक न मानकर हमारी तरह आपको भी वास्तविक, सत्य, सद्भूत, सद्भावात्मक ही मानना होगा। ऐसी स्थितिमें कार्यकारण भावमें अन्तर्भूत निमित्त नैमित्तिकभाव और उसका प्रतिपादक आगम तथा उसका ज्ञापक ज्ञान ये सभी वास्तविक हो जावेंगे और जब आप इस बातको स्वीकार कर लेंगे तब आपको स्वय सोचनेका अवसर प्राप्त होगा कि 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' आपकी ये मान्यतायें कहाँ तक अपनी स्थिति कायम रख सकेंगी। 'तादृशी जायते बुद्धि' इत्यादि पद्यके विषयमें सर्वांगीण विवेचन आपको प्रश्न नं० ६ मे देखनेको मिलेगा। कृपया वहाँ पर देखनेका कष्ट कीजियेगा।

यद्यपि हम पहले बतला चुके हैं कि प्रत्येक वस्तुकी स्वप्रत्यय पर्यायें नियतक्रमसे ही हुआ करती हैं,

परन्तु वस्तुकी स्वपरप्रत्यय पर्यायें भी नियतक्रमसे ही हुआ करती हैं यह आज्ञा जैन आगमकी नही है। हाँय स्वपरप्रत्यय परिणमनके विषयमें थोडा विचार लेना उचित प्रतीत होता है, अत' विचार किया जाता है।

ऊपर गिनायी गयी सभी वस्तुयें यथासम्भव एक दूसरी वस्तुके साथ स्पृष्ट होकर रह रही हैं और चूँकि प्रत्येक वस्तु सतत परिणमन करती रहती है, अत परिणमनके आधार पर स्पर्शमें भी भेद होनेके कारण स्पृष्ट वस्तुमें भी परिणमनको स्वीकार करना स्वाभाविक है। और चूँकि एक वस्तुमें इस प्रकारका परिणमन अन्य परिणमन करती हुई वस्तुके स्पर्शके कारण होता है, अत ऐसे परिणमनको स्वपरप्रत्यय कहना गलत नही है। जीवो और पुद्गलोमें तो यथासम्भव बद्धता (एक दूसरेके साथ मिश्रण) की स्थिति पायी जाती है और दोनोंके इस मिश्रणसे जीवोमें तथा पुद्गलोंमें परिणमन होना जैन सस्कृतिमें स्पष्ट माना गया है।

जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

—समयसार

अर्थ—जीवके परिणमनका सहयोग पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्मका सहयोग पाकर जीव भी परिणमनको प्राप्त होते हैं।

अत जीवो और पुद्गलोंके ऐसे परिणमन भी स्वपरप्रत्यय ही माने गये हैं।

धर्मद्रव्य जीवो और पुद्गलोंके गमनमें अवलम्बन होता है, अधर्म द्रव्य जीवो और पुद्गलोकी अवस्थिति (ठहरने) में अवलम्बन होता है, आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है, सभी काल द्रव्य अपनेसे सम्बद्ध वस्तुओकी सत्ताको और उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणो द्वारा होनेवाले परिणमनोको समय, आवली, घडी, घण्टा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिमें बद्ध करके विभाजित करते रहते हैं, सभी जीव अपने-अपने स्वभावानुसार स्व और पर वस्तुओंके दृष्टा और ज्ञाता बने हुए हैं और पुद्गल द्रव्य परस्पर एक-दूसरे पुद्गल या पुद्गलोंके साथ तथा यथायोग्य जीवोंके साथ मिलते और बिछुडते रहते हैं और इस तरह एक दूसरेके परिणमनमें सहायक होते रहते हैं। इस तरह उपकार्योपकारकभावकी अपेक्षासे भी उक्त समस्त वस्तुओमें सतत परिणमन होता रहता है। और चूँकि यह परिणमन एक वस्तुमें उक्त प्रकारसे अन्य वस्तुके सहयोग पर ही हुआ करता है, अत जैन सस्कृतिमें ऐसे परिणमनको भी स्वपरप्रत्यय परिणमन नाम दिया गया है।

इन सब तथा इनसे अतिरिक्त भी दूसरे सभी परके सहयोगसे होनेवाले वस्तु परिणमनोंमेंसे बहुतसे परिणमन तो ऐसे होते हैं जिनके होनेमें अन्य वस्तुका सहयोग प्राकृतिक ढगसे प्राप्त रहता है। जैसे सभी वस्तुयें आकाशमें प्रति समय अवगाहित हो रही हैं—यहाँ पर वस्तुओंको अपने अवगाहमें आकाशका सहयोग प्राकृतिक ढङ्गसे ही प्राप्त है। अत समस्त वस्तुओका प्रतिसमय अवगाहनरूप यह परिणमन सामान्य रूपसे नियतक्रमको लेकर ही हो रहा है। जीवो और पुद्गलोंको गमन करनेमें धर्म द्रव्यका सहयोग और ठहरनेमें अधर्म द्रव्यका सहयोग यद्यपि प्राकृतिक ढङ्गसे प्राप्त रहता है परन्तु वे जब तक गमन करते रहते हैं तब तक गमनमें सामान्य नियतक्रम चलता है और जब वे ठहरते हैं तो गमनका नियतक्रम समाप्त होकर अवस्थितिका नियतक्रम चालू हो जाता है। विशेषापेक्षया गति और स्थितिमें अपना-अपना अनियतक्रम भी चलता रहता है। इसी तरह आकाशके आधारपर जीवो और पुद्गलोंके अवगाहनमें विशेषापेक्षया अनियत

क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार जीवो और पुद्गलोकी गति या अवस्थितिमें एक दूसरेकी अपेक्षा भी क्रमभंग सम्भव है और इसी प्रकार सभी वस्तुओकी सत्ताको तथा उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणो द्वारा होनेवाले परिणमनोको समय आदिकी वृत्तिके रूपमें विभाजित करनेमे कालका सहयोग प्राकृतिक ढगसे ही प्राप्त रहता है। इसके अलावा भी खानमें मिट्टी पडी हुई है और उसमे अनायास मिलनेवाले निमित्तोंके आधार पर प्रतिसमय समान और असमान परिणमन होता रहता है और इनके भी अलावा उसी मिट्टीको कुम्हार अपने घर ले आता है और वह कुम्हार उसे घट निर्माणके योग्य तैयार कर उससे दण्ड, चक्र, चीवर आदिके सहयोगसे घटका निर्माण कर देता है। इस तरह जो पर्यायोका निर्माण होता है उसमें नियतक्रमपना और अनियतक्रमपना दोनो प्रकारकी स्थिति यथायोग्य प्रकारसे जैन सस्कृतिमें मान्य की गयी है। जैसे वस्तुओकी सत्ता अनादि कालसे अनन्त काल तक रहनेवाली है, इसलिये यदि कालके त्रैकालिक समयोके आधार पर प्रत्येक वस्तुकी सत्ताको विभाजित किया जाय तो जैसे कालके समय नियत हैं वैसे ही प्रत्येक वस्तुको त्रैकालिक सत्ता भी नियत है। प्रत्येक वस्तुमें जहाँ तक समान रूपसे होनेवाले परिणमनोका सम्बन्ध है तो उन सब परिणमनोको भी नियत माननेमें कोई आपत्ति नही आती है। असमान परिणमनोमे भी कही कही नियतक्रम मानना आवश्यक है। एक परमाणु एक ही समयमें चौदह राजू गमन कर जाता है, फिर भी वह लोकाकाशके क्रमवर्ती एक-एक प्रदेशको नियतक्रमसे स्पर्श करता हुआ ही जाता है। गमनरूप क्रिया करनेमे यही हाल प्रत्येक जीवका और प्रत्येक पुद्गलका है। परन्तु यह नियम नही बनाया जा सकता है कि गमनरूप पर्यायसे बदल कर स्थितिरूप पर्याय वस्तुकी नही हो सकती है, क्योकि देखनेमे आता है कि गमन करते-करते वस्तु अवस्थित भी हो जाती है अथवा सीधा गमन करते-करते वस्तु उलटा गमन भी करने लगती है। इसलिये गमनके चालू रहनेमें जो क्रम नियत था वह क्रम वस्तुके अवस्थित होनेमें अथवा उलटा गमन करनेमें अनियत हो जाता है। प्राणीकी आयुमें वृद्धि एक-एक समयके आधार पर क्रमसे ही हुआ करती है, प्राणीके शरीरका उत्सेध भी क्रमसे बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार जितनी भी स्वपरप्रत्यय पर्यायें प्रत्येक वस्तुमें सम्भव हैं उनमें यथासम्भव नियतक्रम और अनियतक्रम मानना असगत नही है।

आपने अपने द्वितीय दौरके पत्रकमें हमारी प्रतिशंकाके निम्नलिखित विषयोपर विचार किया है—

१—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाको तीन गाथायें तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री।

२—अकालमें दिव्यध्वनि।

३—निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय।

४—अनियत गुण पर्याय।

५—क्रम-अक्रम पर्याय।

६—द्रव्य कर्मकी अनियत पर्याय।

७—निमित्त-उपादान कारण।

इन विषयोपर आपने जो विचार प्रकट किये हैं उन पर सामान्यरूपसे तो हमने विचार कर ही लिया है। अब जो विशेष बातें विचारके लिये रह गयी हैं उन पर विचार किया जाता है।

विषय नं० १ पर विचार करते हुए आपने 'एवं जो णिच्छयदो' गाथाके विषयमे लिखा है कि—'इस गाथामें भिन्न टाइपमें दिये गये पद ध्यान देने योग्य है। 'णिच्छयदो' का अर्थ निश्चयसे (यथार्थमें) है।

इससे विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह यथार्थ है। आगे आपने स्पष्ट किया है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि कौन है ? और क्यों है ? तथा मिथ्यादृष्टि कौन है ? और क्यो है ?

इस विषयमें हमारा कहना है कि श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा उस तत्त्वको यथार्थ मानता है जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओमें प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कार्य-कारण भाव पद्धतिको भी यथार्थ मानता है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा तो वह आस्थावान् होता है और श्रुतज्ञानके विषयके अनुसार अपनी प्रवृत्ति बनाता है। इसका विस्तृत विवेचन हम पूर्वमें कर चुके हैं तथा केवलज्ञानविषयक और श्रुतज्ञानविषयक उपर्युक्त दोनो मान्यताओमें परस्पर समन्वय भी पूर्वमें विस्तारसे कर चुके हैं।

उसी 'णिच्छयवो' पदका एक दूसरा अभिप्राय भी आपने निकाला है कि 'यह कथन निश्चय (यथार्थ) नयकी (उपादानकी) प्रधानतासे किया गया है। इससे पर्यायान्तरसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगममें जहाँ भी अकालमृत्यु आदिका निर्देश किया गया है, वहाँ वह व्यवहार नयकी (उपचरित नयकी) अपेक्षा ही किया गया है, निश्चय नयकी अपेक्षा नही।'

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि वास्तवमें देखा जाय तो जितना मरण है चाहे वह अकाल मरण हो अथवा चाहे कालमरण हो, दोनो ही व्यवहाररूप हैं, अत दोनो ही व्यवहारनयके विषय हैं। कारण कि आत्मा तो स्वभावत अमर ही जैन सस्कृतिमें माना गया है, इसलिये कालमरणको आप जो निश्चय नयका विषय मान लेना चाहते हैं वह गलत है। साथ ही व्यवहार नयको जो आपने उपचरित नय मान लिया है वह भी गलत है, क्योंकि आप उपचरित शब्दका अर्थ कल्पित, असद्भूत, मिथ्या या अभावात्मक स्वीकार करते हैं जब कि आगमके अनुसार व्यवहार भी अपने ढगसे वास्तविक, सद्भूत, सत्य और सद्भावात्मक होता है। इसका स्पष्ट विवरण आप प्रश्न न० १७ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें देखियेगा। इसी प्रकार प्रश्न स० ११ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें भी देखनेको मिलेगा।

सक्षेपमें निश्चयनय और व्यवहारनयके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

वस्तुके अश या धर्मभूत निश्चयरूप अर्थका प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान निश्चय नय कहलाता है और वस्तुके अश या धर्मभूत व्यवहाररूप अर्थका प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार यथास्थान नाना प्रकारके परस्पर विरोधी द्वयात्मक वस्तुके धर्म या वस्त्वश ही माने गये हैं और व्यवहारनय तथा निश्चयनय उन युगल धर्मोंमेंसे एक एक धर्मके प्रतिपादक शब्द रूप या ज्ञापक ज्ञान रूप हैं।

आगे आपने लिखा है कि—'इन गाथाओंके आशयको ध्यानमे न रखकर जो यह कहा जाता है कि जो कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिए स्वामी कार्तिकेयने इन गाथाओ द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण कालको इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नही टाल सकते। सो उन गाथाओपरसे ऐसा आशय फलित करना उचित नहीं है।' आदि।

इस विषयमें भी हमारा कहना यह है कि प्रकरणके अनुसार तो हमने अपनी प्रथम प्रतिशकामें जो कुछ लिखा है वह ठीक है, फिर भी आप इसे नही मानना चाहते हैं तो न मानें, लेकिन आप जो इससे एकान्त रूपसे 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने

पर ही होते है' यह तत्त्व फलित करना चाहते हैं वह तो कदापि फलित नही होता है। यही कारण है कि आगममें लोकको कार्यसिद्धिके लिए कर्तव्य करनेका उपदेश दिया गया और मुक्ति पानेके लिये धर्म पथपर चलनेका उपदेश दिया गया है।

समयसारकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें आगमकी एक गाथा उद्धृत की गयी है जो निम्न प्रकार है—

> जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुअह।
> एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।
>
> —समयसार गाथा १२ की टीका

अर्थ—यदि जिस मतका प्रवर्तन करना हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयोको छोडो मत, क्योकि निश्चयके त्यागसे वस्तुका स्वत सिद्ध स्वरूप नष्ट हो जायगा तथा व्यवहारके त्यागसे मोक्षमार्ग समाप्त हो जायगा।

लोकमे देखा भी जाता है कि कोई भी व्यक्ति कार्यसिद्धिके लिये कार्यकारणभावपद्धतिको ही अपनाता है। आप वस्तुके परिणमनको नियतक्रमसे मान रहे हैं, फिर भी कार्यसिद्धिके लिये कार्यकारणपद्धतिका ही अवलंबन लेकर चलते हैं तो इसे क्या कहा जाय ? हम तो यही कह सकते हैं कि आप भी हमारी ही तरह वस्तुपरिणमनके एकान्त नियतक्रमके पक्षमें नही हैं। यदि आप कहें कि निश्चयसे नियतक्रम है व्यवहारसे तो अनियत क्रम ही है, तो व्यवहारको तो आप कल्पित, असद्भूत, मिथ्या आदि शब्दोका वाच्य मानते हैं, लेकिन कार्यसिद्धिके लिये आप जो कार्यकारणपद्धतिका अवलबन लेकर चलते हैं वह तो कल्पित नही, असद्भूत नही, मिथ्या नही। इतने पर भी कार्यकारणपद्धतिके अवलम्बनपर होनेवाली अपनी प्रवृत्तिको यदि व्यवहारनयका विषय माननेको तैयार हैं तो फिर व्यवहार भी कल्पित, असद्भूत या मिथ्या नही रह जाता है। इसपर आपको गम्भीरताके साथ विचार करना होगा। विस्तारसे विवेचन हम पूर्वमें कर ही चुके हैं। उसपर भी आप विचार करनेका कष्ट करें।

यहाँपर विशेष बात यह भी विचारणीय है कि आपने अपने मतके समर्थनमे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३१९ का भी प्रमाण उद्धृत किया है। इससे मालूम पडता है कि आप उपकार और अपकारकी मर्यादाको मानते हैं और उसका कारण भी आप क्रमश. शुभ और अशुभ कर्मको स्वीकार करते हैं, लेकिन इससे तो आपके नियतक्रमरूप सिद्धान्तका ही विघात हो जाता है। इसको भी आप समझनेका प्रयत्न करे।

आपने अपने नियतक्रमरूप सिद्धान्तके समर्थनमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'कालाविलद्धिजुत्ता' इत्यादि २१९ वी गाथाको भी प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है, परन्तु वह भी नियतक्रमके विरुद्ध कार्यकारणभावपद्धतिका ही समर्थन करती है। कारण कि उस गाथामे जो 'कालाविलद्धिजुत्ता' पद पड़ा हुआ है वह भी कार्यसिद्धिके लिये निमित्तसामग्रीके साथ कार्यकारणभावपद्धतिका ही समर्थक है। इसका विस्तारसे विवेचन टीकाके आधारपर पूर्वमें किया है।

यद्यपि आपका कहना उस गाथाके आधारपर यह है कि गाथामें जो 'परिणममाणा हि सय' पद आया है वह आपके पक्ष—नियतक्रमका समर्थक है, लेकिन इसमें भी आप भूल कर रहे हैं। कारण कि 'सय' पदका जो अर्थ आप कर रहे है उस अर्थका 'कालाविलद्धिजुत्ता' पदके अर्थके साथ विरोध आता है। आप 'सय' शब्दका यही तो अर्थ करते है कि 'पदार्थ स्वयं अर्थात् अपने आप परिणमन करते हैं' परन्तु जब पदार्थ अपने

आप परिणमन करते हैं तो फिर **'कालाविलद्धिजुत्ता'** पदकी स्थिति गाथामें सयुक्तिक नही रह जाती है, क्योकि वह पद तो परिणमनमें कारणभूत निमित्त सामग्रीका ही स्थापन करता है। इस तरह हमारा कहना यह है कि गाथामें पठित 'सयं' पदका 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके' ऐसा अर्थ न करके ऐसा अर्थ करना चाहिए कि निमित्त सामग्रीसापेक्ष जो भी पदार्थमें परिणमन होता है उसे उसका (पदार्थका) अपना ही परिणमन जानना चाहिये याने खुद पदार्थ ही परिणमन करता है, परिणमनमें सहायक निमित्त सामग्री का कोई गुण-धर्म उसमें आ जाता हो सो बात नही है। लेकिन निमित्तसामग्री उस पदार्थको उसका अपना परिणमन करनेमें सहायक तो होती ही है। इस बातको बतलानेवाला ही गाथामें **'कालाविलद्धिजुत्ता'** पद है। पदार्थके परिणमनके सिलसिलेमें 'सय' पदका व्याख्यान हमने प्रश्न नं० १ के तृतीय दौरके पत्रकमें विस्तारसे किया है, अत वहाँ देखनेका कष्ट करें।

भो विद्वास ! हम लोगोमेंसे कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति नही होती है। तो फिर क्यो गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं ? आपने जो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामीके **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** की मिसाल दी है उसे हम भी शिरोधार्य किये हुए हैं, परन्तु हमारा आपसे निवेदन यह है कि दूसरोंके ऊपर गलत आरोप करके पाठकोको भ्रममें डालनेका प्रयत्न न कीजिये। अपनी स्थितिके विषयमें सोचिये कि आप कहाँ क्या गलती कर रहे हैं ?

हमारा पक्ष तो यह है कि और जैसा कि हम पूर्वमें स्पष्ट भी कर चुके हैं कि आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव परिणमन करना है तो प्रतिक्षण वह परिणमन करे—उसका निषेध यदि हमने कही किया हो तो बताइये, इसमें बुराई नही है, यदि हमने ऐसी गलती की हो तो उसे हम स्वीकार करनेके लिए तैयार हैं। परन्तु हम आपसे पूछते हैं कि आत्माका क्रोधरूप परिणमन करना, मानरूप परिणमन करना, मायारूप परिणमन करना या लोभरूप परिणमन करना भी क्या स्वत-सिद्ध स्वभाव है ? हमारा ख्याल है कि न तो आगममें कही ऐसा लिखा है और न आप भी इसे स्वीकार करेंगे कि 'क्रोधादिरूप परिणमन करना आत्माका स्वत स्वभाव है।' आत्माका स्वत'सिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमन करना है। अब जो परिणमनमें क्रोधादि रूपता आती है वह क्रोधादि कर्मोंके उदयसे ही आती है। जैसे ज्ञानका स्वत सिद्ध स्वभाव पदार्थोंको जाननेका है, लेकिन ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है ? यह व्यवस्था तो उस पदार्थके ही अधीन है। इसी तरह दर्पणका स्वत सिद्ध स्वभाव अपनेमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब लानेका है, लेकिन किसका प्रतिबिम्ब उसमें पड रहा है यह व्यवस्था तो उस उस पदार्थके अधीन ही है। तो, महानुभावो ! हमारा कहना यही है कि स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाली आत्माके परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता आती है उसका निमित्तकारण क्रोधादिरूप कर्म ही है। देखिये जिन अकलकदेव और विद्यानन्द स्वामीने **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वाक्य लिखा है और जिसके प्रति आपकी तीव्र आस्था जान पडती है इस वाक्यके साथ उन्ही आचार्योंके निम्न वाक्योंको भी पढ़ जाइये—

(१) तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारण स्यात्।

—अकलंकदेवकी अष्टशती-अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

इसका अर्थ यह है कि सहकारीकारण यदि उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन नही करता है तो वह अकिंचित्कर सिद्ध होता है, ऐसी हालतमें फिर क्या उसे सहकारीकारण कहा जा सकता है ?

(२) क्रमभुवो पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविध कार्यकारण-भाव सिद्धान्तविरुद्ध-। सहकारिकारणे कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् काल-

प्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः । यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्''' 'तदेव व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्टः सम्बन्ध संयोगसमवायादि-वत्प्रतीतिसिद्धत्वाद् परिमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपित. सर्वथात्यनवद्यत्वात् ।

—आचार्य विद्यानन्दस्वामीका तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१

अर्थ—क्रमसे होनेवाली पर्यायोके मध्य एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभावका कथन किया गया है। और इस प्रकारका कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध नही है। सहकारी कारणके साथ कार्यका वह कार्यकारणभाव कैसे होगा ? कारण कि सहकारिकारणकी कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव पाया जाता है। यदि ऐसा प्रदान किया जाय तो इसका उत्तर यह है कि कालप्रत्यासत्तिविशेषके आधार पर सहकारी कारणके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है।' ' '''इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रयण करने पर दोमे विद्यमान सबन्ध रूप कार्यकारणभाव सयोग सम्बन्धकी तरह प्रतीतसिद्ध होनेसे पारमार्थिक ही है कल्पनारोपित नही है, कारण कि उक्त प्रकारसे वह सर्वथा निर्दोष है।

श्रीमदकलकदेव और आचार्य विद्यमानन्दके और भी प्रमाण देखिये—

यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात् बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोध स्यात् ॥ १।३ ॥

—तत्वार्थराजवार्तिक

अर्थ—यदि सब कार्योंका कारण कालको माना जाय तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध बाह्य और आभ्यन्तर कारणोका जो कार्योंके साथ नियम पाया जाता है उसका इसके साथ विरोध होगा।

प्रधानं हि कारण मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपांत्यान्त्यसमय सह-कारिण मन्तरेण तामुपजनयितुमल सत्यपि केवले तत· प्राक् तदनुपते ।

—तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१

अर्थ—नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्मकी निर्जरण शक्तिका प्रधान कारण मोहका क्षय ही है, लेकिन वह (मोहक्षय) अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयरूप सहकारी कारणके बिना उस नामादि कर्म निर्जरण शक्तिको उत्पन्न करनेमें समर्थ नही है। कारण कि केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर भी उक्त अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयकी प्राप्तिके पूर्व उसकी उत्पत्ति नही होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त अयोगकेवली गुणस्थानमे नियत क्रमसे नामादि चारो अघातिकर्मोके क्रमस्थितिको प्राप्त निषेकोकी प्रतिसमय उदयानुसार सविपाक निर्जरा होती हुई उस उपान्त्य और अन्त्य समयमे पूर्णक्षय होता है, इसलिये यहाँ पर उपान्त्य और अन्त्य समयको नामादि कर्मोके उस क्षयका सहकारी कारण माना गया है।

अत· जब आप एकान्तत नियतिवादको ही महत्त्व देते हैं तो अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामीके सहकारी कारणोके समर्थक वचनोका उक्त दोनो आचार्योंके उक्त **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वचनके साथ कैसे समन्वय करेंगे ? यह जाननेके लिये हम आशान्वित रहेंगे। उपादानप्रधानपरक और निमित्तप्रधानपरक दोनो तरह के कार्यकारणभावका समन्वय हम तो पूर्वमें कर ही चुके हैं जिसे आप देखेंगे ही।

हमें विश्वास है कि यदि आप हमारे प्रकृत प्रश्न पर अब तक हुए विवेचन पर ध्यान देंगे तो निश्चित ही आप अपने 'यदि उपादानके इस लक्षणको जिसे किसी भी आचार्यने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नही माना जाता है' यहाँसे लेकर 'क्योकि जब कि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्तोंके अनुसार होता है ऐसी अवस्थामें अमुक प्रकारके परिणामोंके होने पर अमुक प्रकारका बन्ध होता है यह जो आगममे व्यवस्था की गई है वह सबकी सब छिन्न-भिन्न हो जाती है।' यहाँ तकके वक्तव्यको आप न केवल सहर्ष लौटा लेंगे बल्कि आपकी अपनी एकान्त नियतवादकी मान्यताको त्याग कर सत्य मार्गको भी आप अपना लेवेंगे।

सिद्धोंके कर्मबन्ध क्यो नहीं

फिर आपने जो अपने लेखमें यह बात लिखी है—

'सिद्धोंको जिनमे वैभाविक शक्ति इस अवस्थामे विद्यमान है और लोकमे सर्वत्र बाह्य निमित्तकी भी विद्यमानता है, तब उन्हें ससारी बनानेसे कौन रोक सकता है?'

आपकी इस शकाका समाधान यह है कि जीवको ससारी बनानेवाला निमित्त कारण द्रव्य कर्म है जो सिद्धोमें नही है। लोकमें यद्यपि कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं तथापि वे वर्गणायें, द्रव्यकर्म न होनेसे, जीवको ससारी बनानेकी निमित्त नही हो सकती।

इस पर यदि ऐसी आशका की जावे कि सिद्धोंके द्रव्य कर्म क्यो नही है? तो उसका समाधान यह है कि द्रव्य कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होनेसे ही सिद्ध होते हैं और नवीन द्रव्यकर्म-बन्धके कारण रागादिका अभाव होनेसे नवीन द्रव्यकर्मका बन्ध भी नही होता, इसलिये सिद्धोंके द्रव्यकर्म नही है। कहा भी है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।

—त० सू० १०।२

अर्थ—बन्ध-हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

अध्यात्म-वेत्ता यह बात भली प्रकार जानते हैं कि सिद्धोको विकारी करनेवाला द्रव्यकर्मरूपी निमित्त लोकमें नही है, फिर भी यह कहना कि लोकमें निमित्त कारण भरे हुए हैं, असगत है। प्रत्युत उपादानमात्रसे ही कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले आपके माने हुए सिद्ध जब वैभाविक शक्तियुक्त हैं तब उनको अपने उपादान द्वारा ही संसारी बन जानेका कौन निराकरण कर सकेगा! तथा आप भी अपनी उपादान शक्तिके द्वारा अभी सिद्ध क्यो नही बन जाते।

इस सम्बन्धमें श्री अमृतचन्द्रके निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

सक्रिया बहिरगसाधनेन सहभूता जीवा। जीवाना सक्रियत्वस्य बहिरगसाधने कर्मनोकर्मोपचयरूपा पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्नि क्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलाना सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तक काल इति ते कालकरणा। न च कर्मादीनामिव कालस्याभाव। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्व पुद्गलानामिति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा ९८ टीका

अर्थ—बहिरग साधनके साथ रहनेवाला जीव सक्रिय है। जीवोंके सक्रियपनेका बहिरग साधन कर्म-नोकर्म सचयरूप पुद्गल है, इसलिये जीव पुद्गलकरण माने हैं। उस (पुद्गल करण) के अभावके

कारण सिद्धोंके निष्क्रियपना है। पुद्गलोके सक्रियपनेका बहिरग साधन परिणामनिष्पादक काल है, इसलिये पुद्गल कालकरणवाले है। जिस प्रकार कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोका अभाव होता है उस प्रकार कालका अभाव नही होता। इसलिये जिस प्रकार सिद्धोंके निष्क्रियपना होता है उस प्रकार पुद्गलोंके निष्क्रयपना नही होता।

इसी प्रकार निमित्त कारणको बाह्य कारण कहते हैं। अंतरग कारणको उपादान कारण कहते हैं। अंतरग और बहिरग दोनो ही कारणोंसे कार्य होता है। पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओके द्रव्य कर्म बन्धरूप अवस्था होनेमें अतरंग (उपादान) कारण तो पुद्गल वर्गणा है और बहिरग (निमित्त) कारण जीवके रागादि परिणाम हैं। अर्थात् शुभ या अशुभरूप जैसे जीवके भाव होगे वैसे ही कार्मणवर्गणा शुभ या अशुभ द्रव्यकर्मरूप बन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जावेगी। इस प्रकार निमित्तके अनुसार कार्य होना आपने भी स्वीकार किया है। यही बात हमारे द्वारा कही गई थी, किन्तु उस पर आपत्ति उठाई जाकर यह लिखना कि 'नरकायुके बन्ध योग्य जीव सक्लेश परिणाम करे, किन्तु बाह्य निमित्त देव, गुरु, शास्त्रका सानिध्य आदि देवगतिमें जाने योग्य हो तो उसे नरकायुका बन्ध न होकर देवायुका ही बन्ध होगा' युक्तिसगत नही है, क्योकि कार्मणवर्गणाओंके देवायुरूप बन्ध होनेमें या नारकायुरूप बन्ध होनेमें जीवके विशुद्ध या सक्लेशरूप परिणाम बाह्य (निमित्त) कारण हैं, देव, गुरु, शास्त्रका सानिध्य कारण नही है। यह बात कर्मसिद्धान्तके विशेषज्ञोंसे ओझल नही है। देव-गुरु-शास्त्रका सानिध्य आदि बाह्य नो-कर्म तो भाव-कर्मके लिये आश्रयभूत है, नो-कर्मका भाव-कर्मके साथ अविनाभावी सम्बन्ध नही है। भावकमका द्रव्यकर्मके बन्धके साथ तथा द्रव्यकर्मके उदयका भावकर्मके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

आगे आपने लिखा है कि—'प्रत्येक द्रव्यकी सयोगकालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है यह तो है, पर साथमें इसके प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गयी है। इसलिए जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं यह भी नियम हैं।'

इसपर हमारा कहना यह है कि चूँकि वस्तुको जैन संस्कृतिमे स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाली स्वीकार किया गया है, इसलिए परिणमन होनेमें तो उपादानकी नियामकता रहा करती है, किन्तु उस परिणमनमें जो विशेषता या विलक्षणता आती हैं उसका नियामक तो निमित्त ही होता है। जैसे हमने पूर्वमे बतलाया है कि आत्माकी क्रोध पर्यायके अनन्तर क्षणमें जो मान, माया या लोभरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न होती हैं इसमें परिणमनका उपादान कारण तो आत्मा स्वयं है। कारण कि वह स्वत सिद्ध परिणमनशील है, परन्तु उसमें जो क्रोधरूपताके बजाय विलक्षण मानरूपता, मायारूपता या लोभरूपता उत्पन्न हुई उसका निमित्त कारण मानादि उस उस कषायरूप द्रव्यकर्मके उदयको माना गया है। इसके अलावा यह भी सोचनेकी बात है कि स्वपर-प्रत्यय परिणमनमें उपादान जो कार्यक्षम निश्चयउपादानका रूप धारण करता है तो वह भी निमित्त कारणकी सहायतासे हो करता है। जैसे आत्माके परिणमनमे कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायमें जो क्रोधरूपता पायी जाती है वह भी क्रोध कषायरूप द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्त कारणसे ही उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार निष्पन्न क्षणवर्ती घटरूप पर्यायके अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर क्षणमें जो घटरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न हुई उसका निमित्तकारण कुम्हारका तदनुकूल व्यापार ही तो है तथा उस निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती घट पर्यायके अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती मिट्टीकी पर्यायमें जो विलक्षणता पायी जाती है वह कुम्हारके तदनुकूल व्यापारके निमित्तसे ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमे जितने भी क्रमसे प्रवर्तमान स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं वे चाहे कार्यक्षम निश्चय उपादानरूप हो अथवा चाहे उसके उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप हो उनमें जिस विल-

क्षणताके दर्शन होते हैं वह तदनुकूल निमित्तकारणके सहयोगकी वजहसे ही उत्पन्न हुई मानना चाहिये। आपने लिखा 'निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं', तो इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्तिके लिये अनुकूल निमित्तोंका समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है, लेकिन इस विषयमें हम कह सकते हैं कि जब वह निश्चय उपादान स्वय कार्य-क्षम है तो उसे फिर निमित्तोंके सहयोगकी आवश्यकता ही क्यो होती है ? और यदि आवश्यकता है तो फिर उन निमित्तोकी प्राप्ति वह कार्यक्षम उपादान स्वयं कर लेता है—यह असभव बात है, इसलिये यदि यह माना जाय कि प्रत्येक वस्तुके जब अनादि कालसे लेकर अनन्तकाल तकके परिणमन निश्चित हैं तो कार्यके प्रति उपादानभूत वस्तुका जब जैसा परिणमन होगा तब निमित्तभूत वस्तुकी अपनी अनादि क्रमसे प्रवर्तमान परिणति भी तदनुकूल ही होगी अन्यथा नही होगी, तो ऐसा माननेपर आपके प्रति हम कई बार कह चुके हैं कि फिर क्यो आप कार्य करनेका सकल्प मनमें करते हैं ? क्यो मस्तिष्कके सहारेपर कार्यकारणभावकी निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओके साथ सगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यो अपनी श्रम शक्तिके आधारपर तदनुकूल व्यापार करते हैं। यदि कहा जाय कि यह सब कुछ अनादि कालीन नियतक्रमसे प्रवर्तमान परिणमन धाराके अनुसार ही हो रहा है तो फिर इसे यदि एकान्त नियतिवाद न कहा जाय तो एकान्त नियतिवाद अन्य क्या होगा ? जिसे जैन सस्कृतिके आगम ग्रन्थोमें मिथ्यात्व कहा गया है।

हमें प्रसन्नता है कि आपने प्रत्येक द्रव्यकी सयोग कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंको बाह्य निमित्त सापेक्ष उपादानसे उत्पन्न होनेवाली मान लिया है, परन्तु दु ख भी इस बातका है कि उस बाह्य निमित्तका उस पर्यायोत्पत्तिमें क्या उपयोग है ? इसे आप स्पष्ट नही कर सके हैं।

आपने लिखा है कि 'नियममें अनेकान्त लागू नही होता। अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है, उसे ध्यानमें रखकर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्यमें (सामान्यकी अपेक्षा) जो नित्यता और पर्यायकी अपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गयी है वह अनेकान्त नही बनेगा। तब तो यह भी माननेके लिये बाध्य होना पडेगा कि द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथचित् नित्य है और कथचित् अनित्य है।'

इस विषयमें हमारा निवेदन यह है कि भो मनीषिण ! प्रकृतमें जिसको आपने नियम कहा है उसे आप स्थापित तो कर लीजिये फिर उसके बारेमे एकान्त-अनेकान्तकी संभावना और असंभावनाका विचार कीजिये। सो 'जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार ही मिलते हैं' इसकी स्थापना ही हमारे पूर्व विवेचनके अनुसार जब नही हो सकती है तब उसके बारेमें एकान्त-अनेकान्तकी चर्चा ही व्यर्थ है।

आपने लिखा कि 'अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है', परन्तु क्या मर्यादा अनेकान्तकी है ? यह तो आपने स्पष्ट ही नही किया है। हमारी समझसे तो अनेकान्तकी मर्यादा •यही है तो आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी समयसार टीका आत्मख्यातिके स्याद्वादाधिकारमें उसका (अनेकान्तका) स्वरूप कथनके आधारपर बतलाई है। वह स्वरूप कथन निम्न प्रकार है—

एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशन अनेकान्त ।

अर्थ—एक वस्तुके वस्तुत्वकी स्थापना करनेवाली परस्पर विरोधी दो शक्तियोका प्रकाशन ही अनेकान्त है। ऐसा अनेकान्त द्रव्यमे सामान्यकी अपेक्षा नित्यता और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यताकी मान्यतामें घटित होता ही है तथा उसमें यह दूषण भी प्रसक्त नही होता कि 'द्रव्य (सामान्य) स्वय अपनी अपेक्षा ही कथचित् नित्य है और कथचित् अनित्य है।'

आपने लिखा है 'अकाम निर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जराका शास्त्रमें विधान है—इसमें सन्देह नही। पर कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नही है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मोंकी कैसी योग्यताके होने पर कैसी पद्धतिसे होती है ? इसके आगे अपनी इच्छानुसार कर्मोंके आगमविरुद्ध कुछ नियम बनाकर आपने लिखे है। उनमें पाया जानेवाला आगमका वह विरोध आगम प्रमाणसहित आगे दिखलाया जायगा। सर्व-प्रथम तो यह बात है कि जीवके सम्यग्दर्शन, सयम, तप, श्रेणी, मोक्ष आदिका कोई नियत काल नही है। जीवके इन परिणामो द्वारा होनेवाले कर्मोंका अपकर्षण, उत्कर्षण, स्थितिघात, अनुभागघात, सक्रमण और अविपाकनिर्जराका काल कैसे नियत हो सकता है ?

राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३ मे निम्न प्रकार कहा है—

भव्यस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते· अधिगमसम्यक्त्वाभाव ॥७॥ यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम् । न चादोऽस्ति। अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति।

कालानियमाच्च निर्जराया· ॥९॥ यतो न भव्याना कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः सख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनंतेन, अपरे अनन्तानंतेनापि न सेत्स्यन्तीति। ततश्च न युक्तम् 'भव्यस्य कालेन नि·श्रेयसोपपत्ते·' इति।

चोदनानुपपत्तेश्च ॥१०॥ सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते। ज्ञानाद् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम्—'भव्यस्य कालेन मोक्ष·' इति। यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोध स्यात्।

अर्थ—प्रश्न—भव्यके कालके नियमकरि ही मोक्षकी प्राप्ति होय है याते अधिगमज सम्यग्दर्शनका अभाव है।

टीकार्थ—प्रश्न—जो मोक्षका काल नियमरूप है। ताते पहिले अधिगमसम्यक्त्वके बलते मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति होय तो अधिगम सम्यग्दर्शनके फलपना प्राप्त होय सो है नही। या कारणते जाकी जिस काल नियम करि मोक्ष है सो निसर्गज सम्यग्दर्शनके कारणते ही सिद्ध है। याते अधिगम सम्यग्दर्शनका मानना युक्त नही है।

समाधान— भव्यके नियमित काल करि ही मोक्षकी प्राप्ति है' ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है। जाते कर्मकी निर्जराको काल नियमरूप नाही है याते भव्यनिके समस्त कर्मनिकी निर्जरापूर्वक मोक्षकी प्राप्तिमें कालका नियम नाही सम्भवे है। कोई भव्य है ते सख्यात काल करि मोक्ष प्राप्त होयगे। अर केई असख्यात काल करि अर केई अनन्तकाल करि सिद्ध होयेंगे। बहुरि कोई अनन्तानन्त काल करिके भी सिद्ध नही होयेगे। ताते 'नियमित काल ही करि भव्यके मोक्षकी उत्पत्ति है' ऐसा कहना युक्त नही ऐसा जानना। आगे याही अर्थका समर्थन करे है—

वार्तिकार्थ—बहुरि नियमित काल मात्र ही करि मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति होय तो सर्व स्याद्वादीनिके ज्ञान यम नियमादिक उपदेशकी प्रवृत्तिका अभाव आवेगा। याते मोक्ष कार्यके प्रति केवल काल ही को असाधारण कारण मानना युक्त नाही है।

टीकार्थ—कोई स्याद्वादी हैं तो ज्ञान ते मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति माने हैं, केई क्रियाते ही मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति माने हैं, केई ज्ञान क्रिया दोऊनि ते मोक्ष कहे हैं। केई यम नियम धारणा तीन ते मोक्ष कहे है। या

प्रकार सर्व स्याद्वादीनिके या उपदेशकी प्रवृत्तिका अभाव आवे। तातैं नियमित काल करि मोक्ष है यह कहना युक्त नाही। निश्चयकरि जो सर्व कार्य प्रति काल दृष्ट होय तो प्रत्यक्षके विषयस्वरूप अथवा अनुमानके विषय-स्वरूप बाह्य आभ्यन्तर कारणके विरोध आवे। कार्य मात्रका आत्मलाभ है सो बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणके निकट होते होय है यह नियम प्रत्यक्ष विषय करि बहुरि अनुमान विषय करि श्रद्धहै ताका विरोध होयगा। तातै मोक्ष कार्य प्रति काल ही को कारण कहना यह नियम नाही सम्भवै है।

—श्री प० पन्नालालजी न्यायदिवाकरकृत तत्त्वार्थराजवार्तिककी हिन्दी टीका

अकामनिर्जरा या तपके द्वारा अकालमें भी निर्जरा होती है। इस तथ्यको नियतिके ढाँचेमें ढालनेके लिए आपके द्वारा स्वइच्छानुसार आगम विरुद्ध ये दो नियम बनाये गये है—१ जिस कालमें जिन कर्मोंको जितने परिमाणमे जिन परिणामोको निमित्तकर उत्कर्षित अपकर्षित संक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है, उस कालमें उन कर्मोंका उतने परिमाणमे उन परिणामोंको निमित्तकर उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमण और उदीरणा होती है ऐसा नियम है।—२ बधके कालमे जो स्थितिबध और अनुभागबध होता है, सो उस कालमें ही उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियतकाल आने पर नियत परिणामो तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन उन कर्मोंका अपकर्षणादिरूप परिणमन होता है।

किसी भी आगममे ऐसे नियमोका उल्लेख नही है। इसी कारण इनके समर्थनमें कोई भी आगम प्रमाण नही दिया गया है। इस वातको छिपानेके लिये भ्रमोत्पादक निम्न शब्द लिखे गये हैं 'कर्म-शास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नही है' तथा 'यह बात कर्मशास्त्रियोको सुविदित है' किन्तु यह सुविदित है कि आपके द्वारा बनाये गये उपरोक्त दोनो नियम आगमविरुद्ध हैं।

आपके उपर्युक्त नियमोंका खण्डन श्री धवल जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थोसे भले प्रकार हो रहा है। बन्ध कालके समय या उसके पश्चात् ऐसा कोई एकान्त नियम नही बनता कि अमुक कालमें अमुक कर्म-प्रदेशोका ही उत्कर्षण होगा, अमुक प्रदेशोका अपकर्षण होगा, अमुक प्रदेशोकी उदीरणा होगी। अमुक प्रदेशोंका सक्रमण होगा, अमुक समयमें अमुक प्रकृतिका उदय होगा, अमुक समयमें अमुक प्रकृतिका बंध होगा। कुछ कर्म ध्रुव उदयी हैं, कुछ कर्म अध्रुव उदयी है, कुछ कर्मोका ध्रुवबन्ध होता है, कुछ कर्मोंका अध्रुव बन्ध होता है।

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ।
सत्तेत्तालधुवाण चदुधा सेसाणय तु दुधा ॥१२४॥
अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊण।
समयो छावट्ठोण बन्धो तम्हा दुधा सेसा ॥१२६॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड

अर्थात् ४७ प्रकृतियोका ध्रुव बन्ध होता है। शेष ७३ प्रकृतियोमेसे तीर्थकर, आहारकद्विक, चार आयु इन सात प्रकृतियोका जघन्य बन्ध काल अन्तर्मुहूर्त है और ६६ प्रकृतियोका एक समय है।

जयधवल पु० ९ पृ ४-६ के निम्न प्रकरणसे अपकर्षण आदि सम्बन्धी आपकी मान्यताका खण्डन हो रहा है।

सूत्र—पढमफद्दयं ण ओकड्डिज्जदि। टीका—कुदो ? तत्थाइच्छावणा-णिक्खेवाणमदसणादो।

अर्थ—प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नही होता, क्योकि वहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप नही देखे जाते।

सूत्र—विदियफड्ढयं ण ओकड्डिज्जदि। टीका—तत्थ वि अइच्छावणा-णिक्खेवाभावस्स समाणत्तादो।

अर्थ—द्वितीय स्पर्धक अपकर्षित नही होता, क्योकि वहाँ पर भी अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव पहलेके समान पाया जाता है।

सूत्र—एवमणताणि फड्ढयाणि जहण्णिया अइच्छवणा, तत्तिययाणि फड्ढयाणिण ओकड्डिज्जंति।

अर्थ—इस प्रकार अनन्त स्पर्धक जो कि जघन्य अतिस्थापनाप्रमाण है उतने स्पर्धक अपकर्षित नही होते।

सूत्र—अण्णाणि अणताणि फड्ढयाणि जहण्णणिक्खेवमेत्ताणि च ण ओकड्डिज्जति। टीका—आदीदो प्पहुडि जहण्णाइच्छावणामेत्तफड्ढयाणमुवरिमफड्डय ताव ण ओकड्डिज्जदि, तस्साइच्छावण-समवे णिक्खेवस्स विसायादसणादो। कि कारण ? णिक्खेवविसयासभवादो। एत्तो उवरि ओकड्डुणाए पडिसेहो णत्थि त्ति पदुप्पायणट्ठमिदमाह—

अर्थ—जघन्य निक्षेप प्रमाण अन्य अनन्त स्पर्धक भी अपकर्षित नही होते। प्रारम्भसे लेकर जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धकोसे आगेका स्पर्धक अपकर्षित नही होता, क्योकि उसकी अतिस्थापना सम्भव होनेपर भी निक्षेपविषयक स्पर्धक नही देखे जाते। उससे अनन्तर उपरिम स्पर्धक भी अपकर्षित नही होता। इस प्रकार जघन्य निक्षेपप्रमाण अनन्त स्पर्धक अपकर्षित नही होता। इसका क्या कारण ? क्योकि निक्षेपविषयक स्पर्धकोका अभाव है। अब इससे ऊपर अपकर्षणका निषेध नही है, इस बातका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जहण्णओ णिक्खेवो जहण्णिया अइच्छावणा च तेत्तियमेत्ताणि फड्ढयाणि आदीदो अधिच्छिदूण तदित्थफड्ढयमोकड्डिज्जइ। टीका—अइच्छावणणिक्खेवाणमेत्थ सपुण्णत्तदसणादो।

अर्थ—प्रारम्भसे लेकर जघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापना प्रमाण जितने स्पर्धक है उतने स्पर्धको-को उल्लघकर वहाँ जो स्पर्धक है वह अपकर्षित होता है, क्योकि यहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप पूरे देखे जाते हैं।

सूत्र—तेण परं सव्वाणि फड्ढयाणि ओकड्डिज्जति।

अर्थ—उससे आगे सब स्पर्धक अकर्षित हो सकते हैं।

ऊपरके प्रमाणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धकमें अपकर्षित होनेकी योग्यता है। किन्तु स्वगतयोग्यता होते हुए भी अतिस्थापना और निक्षेपके अथवा अकेले निक्षेपके अभावके कारण पहले अनन्ते स्पर्धकोकी अपकर्षणरूपसे प्रवृत्ति नही हो सकती है। अत आपके इस सिद्धान्तका स्पष्टता खण्डन हो जाता है कि 'उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यताको लिये हुए उपादान होता है तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नही हो सकता कि उस योग्यताको लिये हुये उपादान हो किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होनेसे रुक जाय।' क्योकि यहाँ उपादानमें अपकर्षण होनेकी योग्यता विद्यमान है, किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकता है, यदि योग्यता न होती तो आचार्य यही कहते कि इतने स्पर्धकोंमे योग्यता नही है। अत वह अपकर्षित नही हो सकते हैं। किन्तु आचार्योंने अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यताका अभाव कारण नही बतलाया है।

इसी तरह आपके इस दूसरे नियमका भी खण्डन हो जाता है कि 'बन्धके समय जिस कर्ममे जिस समय जितने प्रमाणमे जिन भावोको निमित्त करके अपकर्षण आदि होनेकी योग्यता पड गई है वह उस समय उतने ही प्रमाणमें उन्ही भावोको निमित्त करके अपकर्षण आदि रूप परिणमन करेगा ही।' क्योकि यहाँ आचार्य सब ही स्पर्धकोमे समान योग्यता बतला रहे हैं। इसी कारण कहा है कि आगेके सब स्पर्धक अपकर्षित हो सकते हैं। यह नही कहा है कि सब स्पर्धक अपकर्षित होगे ही, और वास्तवमें सर्व स्पर्धक अपकर्षित होते भी नही हैं, किन्तु यही कहा कि हो सकते हैं अर्थात् उनमें अपकर्षित होनेमें कोई बाधा नही है। आगे इसी पुस्तकके पत्र ९ पर कहा है कि अन्तिम स्पर्धकसे अनन्त स्पर्धक नीचे आकर जो स्पर्धक स्थित हैं उन सबका उत्कर्षण हो सकता है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि बीचके अनन्त स्पर्धक ऐसे भी है जिनके अपकर्षण तथा उत्कर्षण दोनों रूपसे प्रवृत्ति होनेकी योग्यता भी है और कोई बाधा (निषेध) भी नही है। जब दोनोकी योग्यता है और दोनोकी बाधाका अभाव है तो आपके नियमानुसार यह निश्चय ही नही हो सकता है कि अपकर्षण हो या उत्कर्षण हो। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिसे इसका स्पष्ट निर्णय हो सकता है कि जब जैसा निमित्त मिलेगा तब वैसा परिणमन हो जायगा। इस प्रकार आपके दोनो नियम आगम विरुद्ध ही सिद्ध होते हैं।

उदीरणादिसम्बन्धी नियमोंके लिये आपने एक यह हेतु दिया है कि 'उपरोक्त नियम बगैर उपशम, निधत्ति, निकाचितकरण नही बन सकते हैं, इनमें गडबडी आ जायगी।'

यह बात सत्य है कि बन्धके समय कुछ प्रदेशोका उपशम, निधत्ति, निकाचितरूप बन्ध होना सम्भव है। किन्तु कारणकलाप पाकर यह उपशम, निधत्ति, निकाचितबन्ध टूट भी जाता है। जैसा कि धवल पु० ६ पृ० ४२७-२८ पर कहा है—

कध जिणबिंबदसण पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारण ? जिणबिंबदसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो।

अर्थ—इस प्रकार है—

शका—जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस प्रकार होता है ?

समाधान—जिनबिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचितका स्वमुख ही उदय होता है ऐसा भी नियम नही है, क्योकि उनकी स्थिति पूर्ण होने पर यदि उनके उदयके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल न हो, तो जाते जाते वे भी अपने रूपसे फल न देकर अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे फल देनेको बाध्य हो सकते हैं। इसी तथ्य को प० फूलचन्दजी ने स्वय तत्त्वार्थसूत्र पृ० १५७ (वर्णीग्रन्थमालासे प्रकाशित) पर स्वीकार किया है।

इस प्रकार उपशम, निधत्त और निकाचितरूप बध प्रदेशोके विषयमे भी कोई एकान्त नियम नही बन सकता, क्योकि कारण कलापोंके मिलने पर निधत्त, निकाचितबध टूट जाता है और उन कर्मप्रदेशोका भी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण आदि होने लगता है।

जिन कर्मप्रदेशोंमें उपशम, निधत्त या निकाचित बन्ध नही होता है उनके लिये मात्र इतना ही नियम है कि वे कर्मप्रदेश अपने बन्ध-समयसे एक आवली तक अर्थात् बधावली या अचलावली कालमें उदीरणा आदिके योग्य नही होते हैं। उसके पश्चात् अपकर्षण आदिके योग्य हो जाते हैं।

श्री जयधवल पु० ८ पृ० २५६ पर बधावलीके पश्चात् अपकर्षण तथा उत्कर्षणका विधान कहा है। श्री धवल पु० १५ पृ० १०४ पर बधावली पश्चात् कर्मोंकी उदीरणा कही है। श्री जयधवल पु० ६ पृ० २९९ पर बधावलीके पश्चात् सक्रमण होना कहा है। इस प्रकार बध कालसे एक आवली पश्चात् ही कर्मोंमें उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, सक्रमण आदि होने लगते हैं। कालकृत नियम कोई नही रहता। अमुक घटी, मुहूर्त, दिवस आदिमें ही निश्चितरूपसे अपकर्षण आदि होगे, अन्य घटी, मूहूर्त आदिमें नही होगे अथवा इतने काल पश्चात् अपकर्षण आदि होंगे उससे पूर्व नही ऐसा कालकृत कोई नियम नही रहता।

अमुक समयमें अमुक कर्मका अपकर्षण, उत्कर्षण, सक्रमण अवश्य होगा यदि ऐसा कोई नियम होता तो बजाय बधावलीमें अपकर्षणादिको अयोग्यता बतलानेके यह ही कहा जाता कि बधकालमे जिन कर्मप्रदेशोमे जिस कालमें उदीरणा आदि होनेका नियम बच गया है, उन प्रदेशोमें उसी कालमे अवश्य उदीरणा आदि होगी, उस कालसे पूर्व या पश्चात् वे कर्मप्रदेश उदीरणा आदिके अयोग्य हैं। किन्तु ऐसा किसी भी आगममें नही कहा है, धवल व जयधवल आदिमें तो बधावलीका नियम दिया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २७८ में भी यह कहा है कि जिस समय जिस प्रकृतिका उदय होता है उस समय उसकी उदीरणा भी होती है, किन्तु कही पर कुछ अपवाद भी है।

श्री जयधवल पु० ८ पृ० २५६ पर बतलाया गया है कि बंधावलीके अनन्तर ही कोई जीव अपकर्षण द्वारा अबाधाकालमें भी निषेक रचना करके उसके अनन्तर समयमें उत्कर्षण कर सकता है।

इससे सिद्ध है कि बधकालमें कर्मप्रदेशोंके उत्कर्षणादि सम्बन्धी कोई नियम नही बनता है, किन्तु बाह्य और अतरग निमित्तोंके अनुसार उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण, उदीरणादि होते रहते हैं। उदीरणादिका कोई नियत काल नही है।

उद्वेलनाका उदाहरण देते हुए आपके द्वारा दूसरा हेतु यह दिया गया है कि 'उदीरणादि किस क्रमसे होती है और कितने कालमें होती है, कर्मशास्त्रकी यह सब व्यवस्था विगड जायेगी।'

यह भी ठीक नही है, क्योकि सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वका उद्वेलना-सक्रमण मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें सबसे जघन्य काल रहकर जिसने सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है उसके उद्वेलना-सक्रमण नही होता है। यदि अधिक कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमें ठहर जाय और उद्वेलना-सक्रमण प्रारम्भ भी हो जाय, किन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर उद्वेलना-सक्रमण रुक जाता है और मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिके कर्मप्रदेशोका सम्यक्त्व प्रकृतिरूप सक्रमण होने लगता है। सम्यग्दर्शन व मिथ्यात्वकी प्राप्तिका कोई नियत काल नही है, फिर उद्वेलना-संक्रमणका काल नियत कैसे हो सकता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमे मिथ्यात्व प्रकृतिकी उदीरणा होती है और क्षयोपशम सम्यक्त्व होनेपर मिथ्यात्व प्रकृतिकी उदीरणा रुक जाती है और सम्यक्त्व प्रकृतिकी उदीरणा होने लगती है। इस प्रकार सम्यक्त्व व मिथ्यात्व प्रकृतियोकी उदीरणाका भी कोई नियत काल नही है।

गुणसक्रमण व सर्वसक्रमणका भी किसी जीवके लिये कालका कोई नियम नही है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके पश्चात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसक्रमण व सर्वसक्रमण नही होता है।

उपशमश्रेणी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानपर दो जीवोने एक साथ आरोहण किया, अनिवृत्तिकरणमें एक कालवर्ती सब जीवोंके परिणाम समान होते हैं, अत इन दोनो जीवोंके परिणाम भी समान चल रहे थे, किन्तु

अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें एककी मृत्यु हो जाने पर चौथे गुणस्थानमें चला जाता है और दूसरा जीव सूक्ष्म-सापराय दसवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है इस प्रकार पूर्व क्षणवर्ती एक ही परिणामसे उत्तर क्षणमें दो प्रकारकी उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाती है।

जयधवल पुस्तक ९ धवल पु० ४ आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंके आधारपर यह लिखा गया है। कर्मनिर्जरा सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकारकी है। सविपाक निर्जरा तो सभी ससारी जीवोंके होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा प्रयत्नपूर्वक सम्यक् तपके द्वारा होती है।

सयमेव कम्मगलण इच्छारहियाण होइ सत्ताण।
सविपाकणिज्जरा सा अविपक्कउवायखवणादो ॥१५८॥

—नयचक्रसग्रह पृ० ६३, माणिकचन्द्र ग्रथमाला

अर्थात्—जीवोंके बिना इच्छाके जो कर्म गलन होता है वह सविपाक निर्जरा है। उपायपूर्वक जो कर्मोंका क्षय होता है वह अविपाक निर्जरा है।

तपके लिये कोई काल नियत नही है, अत अविपाक निर्जराके लिये भी कोई काल नियत नही है।

करणानुयोगसम्बन्धी विषयोका विचार

इसके आगे जो हेतु दिये गये हैं उनका उपरोक्त दोनों नियम अथवा नियति अपर नाम क्रमबद्ध पर्यायके सिद्ध करनेसे कोई सम्बन्ध ही नही है अर्थात् प्रकृत विषयसे उनका कोई सम्बन्ध ही नही है। न मालूम वे यहाँ इस प्रकरणमें क्यो लिखे गये हैं? इनसे तो कुछ ऐसा सिद्ध करनेका आशय प्रतीत होता है कि सर्व कार्य मात्र उपादानसे ही होते हैं, निमित्त तो अकिंचित्कर है। यदि ऐसा है तो यह हेतु निमित्त सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें लिखे जाने चाहिये थे। अप्रासगिक होते हुये भी उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

हेतु न० ३ व ४ —एक ही परिणाम या योग निमित्तभूत होते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंमें भिन्न स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबन्धका भेद कौन करता है। इस प्रकार प्रश्न करके छोड दिये गये हैं। ये किस प्रकार हेतु हैं, स्पष्ट नही किया गया है।

इन दोनो प्रश्नोंसे यह आशय प्रतीत होता है कि एक ही निमित्त कारण होनेमे एक ही कार्य होना चाहिये था, भिन्न-भिन्न नही। किन्तु ऐसा कोई नियम नही है कि एक कारणसे एक ही कार्य हो सकता है, भिन्न नही। एक ही कारणसे भिन्न भी कार्य हो सकते हैं। जैसे एक घडेपर एक लाठी मारी। लाठी लगने रूप एक ही कारण होने पर भी भिन्न-भिन्न आकारके तथा भिन्न-भिन्न प्रमाण (पैमायश)के कपालोका उपपाद हो जाता है। एक ही अग्निके निमित्तसे ईंधनके जलनेका, भात आदि पचने तथा प्रकाश होने रूप भिन्न कार्य होते हैं।

कज्जणाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहुकोडिकवालोवलभा।—धवल पु० १ पृ० २१९।

अर्थ—इस प्रकार है—

शका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है?

समाधान—यह कहना भी नही बनता है, क्योकि एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि अन्य सहकारी कारणोसे भी जीवके एक ही परिणाम व योगसे भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग बधमे भेद हो जाता है। इसके लिये आगम प्रमाण निम्न प्रकार है—

कधमेकर्मकिलेसादो असखेज्जलोगमेत्तअणुभागछट्ठाणाण बधो जुज्जदे ? ण एस दोसो, एक्क-सकिलेसादो असंखेज्जलोगमेत्तअणुभागवधज्झवसाणट्ठाणसहकारिकारणाणं भेदेण सहकारिकारण-मेत्तअणुभागट्ठाणाण बंधाविरोहादो।

—धवल पु० १२ पृ० ३८०

अर्थ इस प्रकार है—

शका—सक्लेशसे असख्यात लोकप्रमाण अनुभागसम्बन्धी छह स्थानोका वन्ध कैसे बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि एक संक्लेशसे असख्यात लोकप्रमाण छह स्थानोंसे सहित अनुभागबन्धाध्यवसानोके सहकारी कारणोंके भेदसे सहकारी कारणोंके बराबर अनुभागबधस्थान होनेमें कोई विरोध नही आता।

णाणावरणीएण सह जदि सेसछक्कम्मेहि उक्कस्सट्ठिदी पबद्धा तो णाणवरणीएण सह सेसछ-कम्माणि वि ट्ठिदिं पडुच्च उक्कस्साणि चेव होंति। जदि पुण विसेसपच्चएहि सेसकम्माणि विगलाणि होंति तो णाणावरणट्ठिदीए उक्कस्सीए सतीए सेसकम्मट्ठिदी अणुक्क सा होदि।

—धवल पु० १२ पृ० ४५१

अर्थ—ज्ञानावरणीयके साथ यदि शेष छह कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधी गई है तो ज्ञानावरणीयके साथ शेष छह कर्म भी स्थितिकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही होते हैं। परन्तु यदि विशेष प्रत्ययोंसे शेष कर्म विकल होते हैं तो ज्ञानावरणीयकी स्थितिके उत्कृष्ट होनेपर भी शेष कर्मोंकी स्थिति अनुत्कृष्ट होती है।

तीसरी बात यह है कि कर्म-प्रकृति विशेषके कारण भी बन्धमें विभिन्नता हो जाती है।

हेतु नं० ५ भी प्रश्न रूपमें ही है। यह नही बतलाया कि उससे क्या सिद्ध करना अभिप्रेत है ? प्रश्न है —'किस समयमें विस्रसोपचयमेसे किन कर्मवर्गणाओका कितने परिमाणमें बंध होगा, यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्ध योग्य कर्मवर्गणाओका ही बन्ध होता है, अन्यका नही, ऐसा फर्क क्यो पडता है ?'

यह कहना कि विस्रसोपचयमेंसे कुछ कर्मवर्गणायें बन्ध योग्य होती है तथा कुछ नही—युक्त नही है। क्योकि कर्मवर्गणाका लक्षण ही यह है कि वह द्रव्य कर्मरूप परिणमन करनेके योग्य है। द्रव्यकर्मरूप परिण-मन करनेका नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये है श्री वीरसेन स्वामीने श्री धवल पु० १२ पृ० २७६-७७ पर यह भी उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धोमें समान शक्ति होते हुए भी, जीवमें इतनी शक्ति नही है जो सर्वकर्मवर्गणाओंको एक समयमें कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नही दिया कि जिन कर्मवर्गणाओंमें योग्यता है वही कर्मरूप परिणमती हैं, शेष योग्यता नही होनेके कारण नही परिणमती है। प्रत्युत सबमें समान शक्ति (योग्यता) मानी गई है।

श्री धवल पु० १२ पृ० २७६-२७७ पर दिये गये निम्न शका-समाधानसे विषय स्पष्ट हो जाता है—

पाणादिवादो जदि णाणावरणीयबंधस्स पच्चओ होज्ज तो तिहुवणे ठिदकम्मइयखधा णाणा-वरणीयपच्चएण अक्कमेण किण्ण परिणमते, कम्मजोगत्तं पडि विसेसाभावादो ? ण, तिहुवणब्भंतर कम्मइखधेहि देसविसयपच्चासत्तीए अभावादो।

अर्थ—शका यदि प्राणातिपात ज्ञानावरणीयके वन्धका कारण है, तो तीनों लोकोमें स्थित कार्मणस्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्याय स्वरूपसे एक साथ क्यो नही परिणत होते है ? क्योकि उनमें कर्मयोग्यताकी अपेक्षा समानता है ?

समाधान—नही। क्योकि, तीनो लोकोके भीतर स्थित कार्मणस्कन्धोमें देशविषयक प्रत्यासत्तिका अभाव है।

नोट—यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्व कार्मणस्कन्धोंमे कर्मयोग्यताकी अपेक्षा समानता कही गई है। समाधानमें इसको अस्वीकार नही किया गया, क्योकि यह उत्तर नही दिया गया है कि जिनमे योग्यता है वही बँध गई और शेष नही बँधी है।

जदि एयक्खेत्तोगाढा कम्मइयखधा पाणादिवादादो कम्मपज्जाएण परिणमति तो सव्वलोग-गयजीवाण पाणादिवादपच्चएण सव्वे कम्मइयखधा अक्कमेण णाणावरणीयपज्जाएण परिणदा होंति। ण च एव, विदियादिसमएसु कम्मइयखधाभावेण सव्वजीवाणं णाणावरणीयवंधस्स अभाव-प्पसंगादो। ण च एव, सव्वजीवाण णिव्वाणगमणप्पसगादो ? एत्थ परिहारो वुच्चदे-पच्चासत्तीए एगोगाहणविसयाए संतीए वि ण सव्वे कम्मइयक्खधा णाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमति, पत्त दज्झ दहमाणदहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसतीए अभावादो।

अर्थ—शका—यदि एक क्षेत्रावगाहरूप हुये कार्मणस्कध प्राणातिपातके निमित्तसे कर्म पर्यायरूप परिण-मते हैं तो समस्त लोकमें स्थित जीवोके प्राणातिपात प्रत्ययके द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीय रूप पर्यायसे परिणत हो जाने चाहिये। परन्तु ऐसा हो नही सकता, क्योकि वैसा होनेपर द्वितीयादि—समयो-में कार्मणस्कन्धोका अभाव हो जानेसे सब जीवोंके ज्ञानावरणीयका वन्ध न हो सकनेका प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा सम्भव नही है, क्योंकि इस प्रकारसे समस्त जीवोके मुक्तिका प्रसंग अनिवार्य है।

समाधान—उपर्युक्त शकाका परिहार किया जाता है—एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके होनेपर भी कार्मण स्कंध एक समयमें ज्ञानावरणीय स्वरूपसे नही परिणमते हैं, क्योकि प्राप्त ईन्धन आदि दाह्य वस्तुको जलानेवाली अग्निके समान जीवोंमें उस प्रकारकी शक्ति नहीं है।

जीवमे एक समयमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंसे अनन्तवें भागप्रमाण परमाणु वाँधनेकी शक्ति है। उसमें योगके निमित्तसे यह भेद आता है कि कितने परिमाणमें कर्मवर्गणायें किसी एक समयमे बँधेगी, जिस समय जिन वर्गणाओसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, उस समय वही वर्गणायें बँध जाती हैं। जैसे आहारवर्गणा, वचनवर्गणा एव मनोवर्गणा तीनो वर्गणायें प्रत्येक समयमें आती हैं, किन्तु जीवके प्रदेशोके परिस्पन्दका जिस समय इन तीनोंमेसे जिस वगणासे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है उस समय वह ही योग कहलाता है।

उपरोक्त करणानुयोगका सर्व विषय छद्मस्थके ज्ञानगम्य नही है। इसका आधार मात्र आगम प्रमाण है जो युक्तियो व तकका विषय नही है। श्री धवल पु० १४ पृ० १५१ पर कहा है कि आगम तर्कका विषय नही है तथा पृ० ३५९ पर लिखा है कि युक्तिके द्वारा सूत्र बाधित नहीं किया जा सकता है। जो प्रश्न यहाँ उठाये गये हैं उन सबका समाधान श्री धवल, जयधवल आदि कर्म-ग्रन्थोमें उपस्थित है। निमित्त कारणकी मुख्यतासे ही यह सर्व व्यवस्था, विशेषता या भेद बतलाये हैं। आश्चर्य इस बातका है कि फिर भी उन्ही ग्रन्थोंके टीकाकार ही उक्त प्रश्नोको उठाकर उन प्रमाणोंके विरुद्ध यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सब

व्यवस्था, विशेषता या भेद एकान्तत मात्र उपादानकी योग्यताके कारण ही होते हैं। इस एकान्त मिथ्यावाद-को सिद्ध करनेके लिये यह भी मान लिया गया है कि ऐसी भी कर्मवर्गणायें हैं जो बध योग्य नही हैं अर्थात् द्रव्य कर्म रूप परिणमन करने योग्य नही है। जो किसी भी प्रकार आगम सम्मत नही हो सकता है।

छठेका उत्तर आगे दिया गया है।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्तकी निमित्तता कार्यके समयमे मानी गयी है।' इतना लिखनेके बाद आपने उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तमे होनेवाले व्यापारके विषयमें तीन आपत्तियाँ उपस्थित की है। वे निम्न प्रकार हैं—

पहली आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तका व्यापार यदि उसकी अपनी परिणतिके लिये होता है तो फिर उसने उक्त उपादानकी कार्य परिणतिमें क्या किया ?'

दूसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तका व्यापार यदि उपादानकी परिणतिके लिये होता है तो फिर उपादानमें उपादानके व्यापारकी तरह निमित्तका भी व्यापार दिखना चाहिये, साथ ही निमित्तका व्यापार निमित्तमें नही दिखना चाहिये।'

तीसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानकी कार्यरूप परिणति होते समय निमित्तका व्यापार यदि उसकी अपनी परिणति तथा उपादानकी परिणति दोनोके लिये होता है तो फिर इस तरह निमित्तमें एक साथ दो तरहके व्यापार मानना अनिवार्य हो जायगा जो कि जिनागमके विरुद्ध है।'

इन आपत्तियोका निराकरण आपने जो किया है वह निम्न प्रकार है —

'अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादानके कार्यके प्रति दूसरे एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोमें निमित्त-व्यवहार होता है वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसी का कार्य नही करता, परन्तु उन सब द्रव्योके उस उस कालमें उस उसरूप परिणमनकी द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनोकी इस बाह्य व्याप्तिको देखकर ही उनमें निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध स्वीकार किया गया है ऐसा मानना आगमानुकूल है।'

इस विषयमे आगमकी दृष्टि यह है कि उपादानकी कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत हुआ करता है। लेकिन जिसे लोकमें या आगममें निमित्त कहा गया है वह यद्यपि उस उपादानभूत अन्य वस्तुके कार्यरूप परिणत नही होता, फिर भी जब तक निमित्त अपना तदनुकूल व्यापार नही करता है तब तक उस उपादानकी वह विवक्षित कार्यरूप परिणति नही होती है ऐसा लोकमें देखा भी जाता है और आगममें प्रतिपादित भी किया गया है, अत इस प्रकार अन्वयव्यतिरिकके आधार पर उस उपादानभूत वस्तुकी कार्यपरिणतिके साथ उस निमित्तभूत वस्तुकी कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जिस क्षणमें निमित्तका उपादानभूत वस्तुकी कार्य-परिणतिके अनुकूल व्यापार होता है उस क्षणमें ही उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है और उस निमित्तभूत वस्तुका उस उपादानभूत वस्तुके विवक्षित कार्यके अनुकूल जब तक व्यापार नही होता है या व्यापार बीच ही मे रुक जाता है तो उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणति या तो होती नही, अथवा या फिर बीचमे बन्द हो जाती है।

काल प्रत्यासत्तिका अर्थ यह है कि जिस कालमें निमित्त अपना व्यापार करता है उसी कालमें उपादान अपने कार्यरूप परिणत होता है और निमित्तकी उस कार्यके साथ अन्वय व्यतिरेकव्याप्ति इस तरह सिद्ध होती है कि निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्य होता है तथा निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार न होने पर कार्य नही होता है। इसी तरह निमित्तकी कार्योत्पत्तिके साथ बहिर्व्याप्ति पायी जाती है—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि निमित्तके कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है, परन्तु निमित्त स्वयं कार्यरूप परिणत नही होता है अथवा निमित्तके गुण-धर्म कार्यमे नहीं प्रविष्ट होते हैं।

इसमें सदेह नही कि निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल जो भी व्यापार होता है उसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार उसके साथ उस समय निमित्तका नही होता है अर्थात् एक समयमें एक ही व्यापार उसका होता है, परन्तु वही एक व्यापार स्वय अपनेमें होनेवाले परिणमनका उपादान होता है और अन्य वस्तुके उसके साथ प्रतिनियत परिणमनमें वही निमित्त (सहायक) होता है। इस तरह निमित्तमें अपना और परका कार्य करनेके लिये दो व्यापार एक साथ होते हैं ऐसी मान्यता हमारी नही है। हमारी मान्यता तो यह है कि वही एक व्यापार अपने कार्यका उपादान होता है और परके कार्यका वही निमित्त होता है। इसी तरह कार्य एक होकर भी अपने उपादान कारणकी अपेक्षा उपादेय होता है और अपने निमित्त कारणकी अपेक्षा वही नैमित्तिक भी होता है। इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट है कि आपने जो तीन आपत्तियाँ निमित्तोको कार्यमें प्रयोजनभूत (सार्थक या उपयोगी) माननेमें उपस्थित की हैं वे नही आती है। जिनागममें यही तत्त्व प्रतिफलित किया गया है। हमारा विश्वास है कि आपका वह भय इस स्पष्टीकरणसे दूर हो जायगा जिसके कारण आप निमित्तोंको अकिंचित्कर माननेके लिये तैयार हुए हैं।

आपने लिखा है कि 'सब द्रव्योंके उस कालमें उस उस रूप परिणमनेकी द्रव्यपर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है आदि।'

आपके ऐसा लिखनेसे ऐसा मालूम पडता है कि सभी प्रकारके निमित्तोको आप एक ही आसन पर बिठला देना चाहते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि आप इस तरह प्रत्यक्ष, तर्क और आगमका अपलाप कर रहे हैं, क्योकि आगममें प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके निमित्त बतलाये गये हैं। जो वस्तुको उसकी अपनी कार्यपरिणतिमें प्रेरणा दें वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। जैसे स्वर्णका आभूषण बननेमें स्वर्णकार और हथौडी आदि प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं तथा जो वस्तुको उसकी अपनी कार्य परिणतिमें प्रेरणा न देते हुए भी निमित्त हों वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। जैसे आकाश, धर्म, अधर्म और काल ये तो सामान्य उदासीन निमित्त हैं तथा जल मछलीके लिए विशेष उदासीन निमित्त है, रेलकी पटरी रेलगाडीके लिए विशेष उदासीन निमित्त है, छाया पथिकके लिए विशेष उदासीन निमित्त है—आदि। रेलगाडीके गमनमें ऐंजन व ड्राइवर भी प्रेरक निमित्त ही होते हैं।

आगे आपने लिखा है—'शब्द विवक्षित वाक्योका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं आदि।' और फिर इसके अन्तमें आपने लिखा है कि 'प्रकृतमें ३२१-३२२ गाथायें निश्चयनयकी मुख्यतासे लिखी गयी हैं। वह इसीसे स्पष्ट है कि उससे अगली गाथासे **'एव जो णिच्छयदो'** यह पाठ दिया गया है, हम इस गाथामें पठित **'णिच्छयदो'** पदको गौण कर दें और उनका अपने विकल्पके अनुसार अर्थ करें यह उचित नही है।'

इसपर हमारा कहना यह है कि अर्थ करनेकी यह पद्धति है कि जहाँपर निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन हो वहाँपर व्यवहारनयका कथन उसके प्रतिपक्षीपनेके रूपमें स्वीकार होता है। लेकिन आपके कथनानुसार यदि यह निश्चयनयका कथन है तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहारनयका कथन तो स्वीकार करना ही चाहिये, परन्तु जब आप व्यवहारनयके विषयको उपचरित, कल्पनारोपित, सद्भूत, मिथ्या आदि रूप मानते हैं तो फिर कैसे माना जाय कि आप व्यवहारनयके कथनको स्वीकार करते हैं।

हम कई जगह कह चुके हैं कि निश्चय और व्यवहार ये दोनो वस्तुयें विद्यमान सदात्मक अंश या धर्म ही हैं, उपचरित, कल्पित या असदात्मक नही हैं। इनमेसे व्यवहार धर्मसापेक्ष निश्चय धर्मका प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान निश्चयनय है और निश्चय धर्मसापेक्ष व्यवहार धर्मका प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय है।

इस तरह आप वस्तुके वास्तविक वस्त्वंशरूप व्यवहाररूप धर्मको और उसके प्रतिपादक व ज्ञापक वास्तविक व्यवहारनयोको स्वीकार तो कर लीजिए ताकि यह समझमे आ जाय कि आप निश्चय धर्म और निश्चयनयके साथ-साथ व्यवहार धर्म और व्यवहारनयको भी वास्तविक स्वीकार करते हैं। तभी तो निश्चयनयमें अंशरूप नयात्मकता और उसमें व्यवहारनय सापेक्षता सिद्ध होगी, अन्यथा उसमें नयात्मकता तो आनेसे रही और उसमें प्रमाणात्मकता इसलिए नही आ सकती है कि वस्तु निश्चय मात्र ही नही है, क्योकि वह व्यवहारात्मक भी है, अत आपकी मान्यता प्रमाणाभासमें ही गर्भित हो जायगी।

एक बात और है आप स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१ व ३२२ वी गाथाओंसे प्रतिपादित विषयको निश्चयनयका विषय मानते हैं, क्योकि आप कहते हैं कि ३२३ वी गाथामे **'णिच्छयदो'** पदका पाठ है, लेकिन यह ख्याल कीजिए कि यह **'णिच्छयदो'** पद निश्चयनयका वाचक नही है, किन्तु असंशयित भाव या आस्तिक्यभाव अथवा ज्ञानकी निर्णयात्मक स्थितिका ही बोधक है। इस पर आपको विचार करना चाहिये।

आगे आपने अपने अभीष्ट अर्थको सपुष्ट करनेके लिये पद्म-पुराणका **'यत्प्राप्तव्यं'** इत्यादि पद्य, प० भैया भगवतीदासजीका **जो जो देखी वीतराग ने'** इत्यादि पद्य और **स्वयंभूस्तोत्रका 'अलंघ्यशक्ति'** इत्यादि पद्य इन सबका उद्धरण दिया है। चूँकि इनके विषयमें पहले हम विस्तारसे प्रकाश डाल चुके है, अत यहाँ इनके विषयमें कुछ नही लिखा जा रहा है। इतना ध्यान अवश्य ही आपको दिला देना चाहते हैं कि **'अलघ्यशक्ति'** पदसे भवितव्यताको अटल शक्ति (जिसकी शक्तिको कभी टाला नही जा सकता है) मानकर आप उससे जो अपनी अभिलषित पुष्टि करना चाहते है वह इस तरह हो नही सकती है। कारण **'अलघ्यशक्तिः'** पदका शक्तिको लांघकर यानी शक्तिका अतिक्रमण करके-ऐसा अर्थ करके स्वामी समन्तभद्र उस पद्यसे इतना ही भाव प्रदर्शित करना चाहते है कि प्राणी अशक्त है, असमर्थ है, इसलिये वह कोई कार्य भवितव्यता (होनहार) की शक्तिका अतिक्रमण करके कदापि नही कर सकता है। **'अलंघ्यशक्ति'** पदका अटलशक्ति अर्थ जैन सस्कृतिकी मान्यताके बिल्कुल विपरीत है, इसलिये स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक-शिरोमणि द्वारा जैन सस्कृतिके विरुद्ध भी कथन किया जा सकता है यह असभव बात है।

आगे आपने लिखा है कि—'पूर्वबद्ध आयुकर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो सभव नही, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है। इस नियमको ध्यानमें रखकर जिन जीवोमें यह निषेक स्थिति आकर्षण नही होता उन जीवोका वह आयु कर्म इस नियमका अपवाद है—यह दिखलानेके

लिये तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय २, सूत्र ५३ मे नियम वचन आया है। उस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है आदि'

आपके इस कथनसे हमें ऐसा मालूम पडता है कि आप कालमरण और जिसे अकलंक आदि आचार्यों के प्रमाणोंके आधारपर हम अकालमरण कहते हैं उसे भी निश्चयनयका विषय मानते हैं और इसके आधार पर आप हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं कि 'तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सूत्र ५३ में जो नियम वचन आया है इस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है।'

वास्तवमें कालमरण और अकालमरणका जितना भी कथन आगममें पाया जाता है वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योंकि निश्चयनयसे आत्मा अपने आपमें अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप कालमरणको और अकालमरणको भी कालमरणकी ही संज्ञा देकर इसे भी निश्चयनयका ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिये यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के ५३ वें सूत्रका कथन तथा अकलंकदेव आदि आचार्योंका इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनयका कथन है।

आपके इस विवेचनसे हम यह समझे हैं कि आप उसे निश्चयनयका कथन मानते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और उसे व्यवहारनयका कथन मानते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो। परन्तु निश्चयनय और व्यवहारनयकी ये परिभाषायें आगमकी परिभाषायें नही हैं। आगमकी परिभाषामें तो ये हैं कि जिस कथन या ज्ञानका विषय वस्तुका निश्चयांश या निश्चयरूप धर्म होता है वह तो निश्चयनय कहलाता है और जिस कथन या ज्ञानका विषय वस्तुका व्यवहरांश या व्यवहार रूप धर्म होता है वह व्यवहार-नय कहलाता है।

तात्पर्य यह है और जैसा कि इस तत्त्वचर्चाके प्रसगमें कई स्थानोपर आपको देखनेके लिये मिलेगा कि प्रत्येक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो अंश या धर्म-युगलके रूपमें अनन्त अंश या धर्मयुगल पाये जाते हैं। इनमेंसे प्रश्न नं० १७ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें कतिपय वैसे अंश या धर्मयुगलोका कथन आपको देखनेके लिये मिलेगा। प्रत्येक वस्तुके इन अंश या धर्म-युगलोमेंसे प्रत्येक अंश या धर्म-युगलका एक भाग निश्चय रूप अंश या धर्मका है और दूसरा भाग व्यवहार रूप अंश या धर्मका है। इस तरह वस्तु परस्पर विरोधी दो अंशो या धर्मोका समुदाय या आधार सिद्ध होती है। जैसे वस्तु सद्रूप है और असद्रूप भी है, वस्तु नित्यरूप है और अनित्यरूप भी है, वस्तु अभेदरूप है और भेदरूप भी है, वस्तु एकरूप है और अनेकरूप भी है, वस्तु तद्रूप है और अतद्रूप भी है वस्तु द्रव्यरूप है और पर्यायरूप भी है, वस्तु गुणरूप है और पर्यायरूप भी है, वस्तु कार्यरूप है और कारणरूप भी है, वस्तु उपादानरूप है और निमित्तरूप भी है इत्यादि परस्परविरोधी वस्तुके दो अंश या धर्मोको पकडकर उनके युगल बनाते जाइये तथा इन अंश या धर्म-युगलोमेंसे प्रत्येक अंश या धर्मयुगलके पूर्व पूर्वके भागको शब्दरूप निश्चयनयका प्रतिपाद्य और ज्ञानरूप निश्चयनयका ज्ञाप्य तथा उन्ही अंश या धर्मयुगलोमेंसे प्रत्येक अंश या धर्म-युगलके उत्तरके भागको शब्दरूप व्यवहारनयका प्रतिपाद्य और ज्ञानरूप व्यवहारनयका ज्ञाप्य समझते जाइये।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि निश्चयनयकी तरह व्यवहारनयका भी वाच्य या ज्ञेय वस्तुमें अपने अपने रूपमें विद्यमान अंश या धर्म ही होता है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कह सकते हैं कि निश्चयनय उसे कहते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और व्यवहारनय उसे कहते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो।

जहाँ तक हम आपकी दृष्टिको समझ सके हैं—यह है कि आपने जो निश्चयनय और व्यवहार-नयकी परिभाषायें निश्चित की है उनके आधारपर ही आप व्यवहारनयको असत्यार्थ, असद्‌भूत, अवास्तविक, उपचरित, आरोपित, कल्पित, मिथ्या आदि रूप मान लेते है, क्योकि आपकी दृष्टिसे व्यवहारनयका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य कोई विषय सत्यार्थ नही रहता है और इससे विपरीत निश्चयनयको सत्यार्थ, सद्‌भूत, वास्तविक, अनुपचरित, अनारोपित, अकल्पित, सत्य आदि रूप मान लेते हैं, क्योकि आपकी दृष्टिसे निश्चयनयका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य विषय सत्यार्थ रहता है। परन्तु हम आपसे पूछ सकते हैं कि यदि द्रव्य वास्तविक है तो क्या पर्याय वास्तविक नही है। ध्रौव्य वास्तविक है तो क्या उत्पाद और व्यय वास्तविक नही हैं ? गुण वास्तविक है तो क्या उसकी पर्याय वास्तविक नही है, नित्यता वास्तविक है तो क्या अनित्यता वास्तविक नही है, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि ये सभी वास्तविक हैं, लेकिन एक निश्चयरूप है और दूसरा व्यवहाररूप। चूँकि दोनो ही अश या धर्म एक ही वस्तुके अश या धर्म जैन संस्कृतिमे माने गये हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुको वहाँ पर (जैन सस्कृतिमे) अनेकान्तात्मक माना गया है।

अब प्रश्न उठता है कि उक्त प्रकारके एक एक अश या धर्म युगलमें विद्यमान दोनो अश या धर्म वास्तविक होते हुए परस्पर विरोधी हैं तो एक वस्तुमें उनका रहना कैसे संभव है ? तो इसका उत्तर जैन सस्कृतिमें स्याद्वादके सिद्धान्तको अपनाकर दिया गया है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें परस्पर विरोधी दोनो वास्तविक अंशो या धर्मोकी स्थितिकी भिन्न-भिन्न अपेक्षायें हैं। यानी यद्यपि दोनो धर्म परस्पर विरोधी हैं फिर भी इस आधारपर वे एक ही वस्तुमे एक साथ रहते है कि उनके रहनेमे अपेक्षा भेद पाया जाता है अर्थात् जिस अपेक्षासे वस्तु नित्य है उस अपेक्षासे वस्तु अनित्य नही है, किन्तु द्रव्यरूपमे वस्तु नित्य है तो पर्यायरूपमें वही वस्तु अनित्य है। अब यदि द्रव्य भी वास्तविक है और उसकी पर्याय भी वास्तविक है तो फिर वस्तुमे पायी जानेवाली नित्यताकी तरह उसमें पायी जानेवाली अनित्यता भी वास्तविक ही सिद्ध होती है—उपचरित, कल्पित, आरोपित, मिथ्या, असद्‌भूत आदि रूपमें उसे नही माना जा सकता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था उपादान और निमित्त कारणोके विषयमे भी जानना चाहिये अर्थात् उपादान कार्यका निश्चय कारण है याने कार्यका आश्रय वही है और निमित्त व्यवहार कारण है याने उपादानकी कार्यरूप परिणतिमे उपादानका वह सहायकमात्र है, आश्रय कारण नही है। क्योकि जब एक वस्तुके गुण-धर्म दूसरी वस्तुमें प्रविष्ट नही होते तो वह आश्रय कारण कैसे हो सकता है ? लेकिन यदि निमित्त कार्यका आश्रय नही है तो इसका अर्थ यह भी नही कि वह कार्यमें उपादानका सहयोगी या सहायक भी नही है, क्योकि कार्यरूप परिणतिमें उपादानको उसकी (निमित्तकी) सहायता तो अपेक्षित रहती ही है यह बात अनुभव सिद्ध है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगमप्रसिद्ध भी है। अब आप ही बतलाइये कि इस स्थितिमें निमित्तको अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह वस्तु अपने कार्यकी उपादान होते हुए भी अन्य वस्तुके कार्यकी निमित्त भी अन्वयव्यतिरेक आधारपर हुआ करती है, परन्तु यहाँ पर यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि वह वस्तु अपने जिस व्यापारसे अपने कार्यकी उपादान है उसी व्यापारसे अन्य वस्तुके कार्यकी वह निमित्त (सहायक) है। इसलिये वस्तुमें द्विक्रियाओके एक साथ रहनेकी जो आपत्ति दी जाती है वह नही जाती है।

हमारी आपसे प्रार्थना है कि उपर्युक्त तथ्यको पहिचानिये और अब आगमका सही अर्थ करने लग जाइये। इससे न केवल हमारा-आपका विवाद समाप्त हो जायगा बल्कि हम और आप मिलकर भोले ससारी प्राणियोको ऐसा प्रकाश-पुंज दे सकेंगे जिससे उनका कल्याणमार्ग प्रशस्त होगा।

आगे आपने लिखा है कि 'यह तो आगमके अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्युको प्राप्त हुआ जीव

प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें तथा अधिक-से-अधिक चौथे समयमें उत्तरभवको अवश्य धारण कर लेता है' आदि ।

इस विषयमें हमारा कहना है कि आगमाभ्यासी व्यक्ति तो यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि बद्धायुष्क जीवका अकाल मरण नही होता, क्योकि उसका आबाधा काल निश्चित हो चुका है ।

परभवियाउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि ।

—धवल पु० १० पृ० २३७

अर्थ—परभवसंबधी आयुके बँधनेके पश्चात् भुज्यमान आयुका कदलीघात नही होता ।

तथा च जैसे नियत समयपर मरनेवाला अबद्धायुष्क जीव मरणसे अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयुका बन्ध करता है और तदनुसार वह १–२–३–४ समयमें आयुके उदयानुसार यथास्थानमें जन्म ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार अकाल मरण यानी उदीरणा मरण करनेवाला जीव भी उदीरणाके पश्चात् मरनेसे अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयुका बन्ध करके उसके अनुसार वह भी १–२ ३–४ समयमें आयुके उदयानुसार यथास्थान जन्म ग्रहण किया करता है । यह आगमानुसार जमी हुई व्यवस्था है ।

आपने आगे इसमें लिखा है कि 'अकालमरण स्वीकार करनेमे अकालजन्म भी स्वीकार करना होगा ।' सो आपकी यह बात भी गलत है, कारण कि आगममें अकालमरण तो बतलाया गया है, परन्तु अकाल जन्मका विवेचन कही पर भी आगममे नही पाया जाता है । इसका कारण भी यह है कि भुज्यमान आयुकी उदीरणा हो सकती है, अत आगममें अकाल मरणका कथन किया गया है, परन्तु बध हुए बिना मरण होता नही और पूर्वबद्ध आयुके अनुसार ही जन्म होता है, अत अकाल जन्मका प्रश्न ही पैदा नहीं होता और यही कारण है कि आगममें अकाल जन्मका कथन नही किया गया है ।

आगे यह भी आपने लिखा है कि 'आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि तो जड हैं ये जानते नही कि ऐसी अनिश्चित अवस्थाके रहते हुए कहाँ इस जीवको ले जाया जाय ? आदि ।'

इसका उत्तर यह है कि काल मरण और अकाल मरणवाले जीवके आगामी आयुका उदय एक समान होता है तो किस प्रकार काल मरण करनेवाले जीव आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि जड कर्मके सहारेसे यथास्थान पहुँच जाते हैं उसी प्रकारकी व्यवस्था अकाल मरण करनेवाले जीवोंके विषयमें भी जानना चाहिये। कृपया आगमका निम्न वचन देखिये—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ।। १–६६ ।।

—परमात्मप्रकाश

अर्थ—यह आत्मा पगु के समान है, अपने आप न कही जाता है और न आता है । तीनो लोकमे इस जीवको कर्म ही ले आता है और कर्म ही ले जाता है ।

वास्तविक बात यह है कि अकालमरणके प्रकरणमें आपके प्रपत्रमें विचारणीय बातें निम्नलिखित हैं—

१—आप नियतिवादी हैं, इसलिये आपकी दृष्टिमे कालमरण और अकालमरणमें कोई अन्तर नही है अर्थात् अकालमरण का भी कालमरणके समान समय नियत है ।

२—यद्यपि आगममें अकालमरणका विवेचन पाया जाता है, परन्तु वह विवेचन व्यवहारनयसे ही किया गया है।

३—आपकी दृष्टिमें हम अकालमरणको निश्चय पक्ष स्वीकार करते हैं।

इन तीन बातोंमेंसे तीसरी बातके विषयमें तो हम पहले ही कह चुके हैं कि हम न तो कालमरणको निश्चय पक्ष मानते हैं और न अकालमरणको ही निश्चय पक्ष मानते है, किन्तु हमारी दृष्टिमें कालमरण और अकालमरण दोनों ही व्यवहार पक्ष हैं।

दूसरी बातके विषयमें हम इस ढगसे विचार करेंगे कि आप भी अकालमरणको व्यवहार पक्ष स्वीकार करते हैं और हम भी अकालमरणको व्यवहार पक्ष मानते हैं तब हमारे आपके मध्य अन्तर किस बातका है ?

जहाँ तक हमने इस विषयके आपके अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न किया है तो ऐसा मालूम पडता है कि आप व्यवहारनयके पक्षको असत्यार्थ मानते है जो कि उचित नही है, क्योकि आगमकी दृष्टिमें व्यवहार पक्ष अपने ढंगसे उतना ही सत्यार्थ है जितना कि अपने ढंगसे निश्चय पक्ष सत्यार्थ है। आगमके निश्चय पक्ष और व्यवहार पक्षके सत्यार्थपनेकी स्वीकृतिरूप अभिप्रायको ध्यानमें रख कर हो हमने कालमरण और अकालमरण दोनोको व्यवहार पक्ष स्वीकार किया है। आप स्पष्ट नही कर सके कि आप अकालमरणको भी कालमरण मान कर कालमरण और अकालमरण दोनोको किस आधार पर निश्चय पक्ष मान लेते हैं। कारण कि आत्मा जब अमर है तो आत्माकी अमरता हो निश्चय पक्ष मानने योग्य है। इस तरह अकालमरणके समान कालमरणको भी व्यवहार पक्ष ही मानना चाहिये।

एक बात और विचारणीय है कि व्यवहारनयके प्रतिपाद्य विषयको आप अयथार्थ मानते हैं क्योकि आपके मतसे व्यवहारनय वही है जिसका प्रतिपाद्य विषय सत्यार्थ नही होता—मिथ्या या कल्पित ही होता है तो इस विषयमें हमारा कहना यह है कि फिर आगममें व्यवहारनयके कथनकी आवश्यकता ही क्यो समझी गयी ? कारण कि जिसका प्रतिपाद्य विषय ही कल्पित हो वह नय कैसा ?

दूसरी भी बात यह विचारणीय है कि निश्चयनय भी तो कालमरणको व्यवहार रूपसे प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार कि केवलज्ञान पदार्थोंको व्यवहाररूपसे जानता है अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञान द्वारा पदार्थोंको जानना व्यवहार है उसी प्रकार निश्चयनय द्वारा अकालमरणको प्रतिपादित करना भी तो व्यवहार ही माना जायगा। ऐसी स्थितिमें निश्चयनय और निश्चयनयका विषय ये दोनो भी अयथार्थ ही सिद्ध होगे। इस तरह सम्पूर्ण तत्त्व ही अनिर्वचनीय हो जायगा और इसका अन्तिम परिणाम सर्वशून्यतापत्ति ही होगा, जिसे सम्भव है आप भी स्वीकार करनेके लिये तैयार नही होगे। इसलिये जब निश्चयनयके विषयको आप सत्यार्थ मान लेते हैं तो फिर व्यवहारनयके विषयको भी आपके लिये सत्यार्थ ही मानना होगा। इस प्रकार व्यवहारनय अथवा व्यवहारनयके विषयको आपका मिथ्या या कल्पित आदि कहना असगत ही है।

कुछ भी हो, हम तो आगमके प्रति श्रद्धावान् हैं, अत इस प्रेरणासे अकालमरणके सम्बन्धमें निर्णयके लिये उपयोगी होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के सूत्र ५३ की तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका और उसका श्री पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर द्वारा किया गया हिन्दी अर्थ दोनो ही यहाँ दिये जा रहे हैं—

वार्तिक—'अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्तनाभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत्'॥१०॥

अर्थ—प्रश्न—आयुबन्धमें जितनी स्थिति पड़ी है ताका अन्तिम समय आये बिना मरणकी अनुपलब्धि है। जातें काल आये बिना तो मृत्यु होय नाँही, तातें आयुके अपवर्तनका करना नाँही सम्भवे है।

समाधान —ऐसा कहना ठीक नाँही है। जातें आम्रफलादिकको ज्यों अप्राप्त काल वस्तुका उदीरणा करि परिणमन देखिये है। जैसे आमका फल पालमें दियें शीघ्र पके हैं, तैसे कारणके वशतें जैसी स्थितिको लिये आयु बाध्या था ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय पहिले ही मरण हो जाय है।

टीका—यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीना दृष्ट पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्त-।

उत्तर—जैसे आम्रके पकनेका नियमरूप काल है, तातें पहले उपाय ज्ञानकरि क्रियाका आरम्भ होते सते आम्रफलादिककें पकना देखिये, तैसें ही आयुबन्धके अनुसार नियमित मरणकालतें पहले उदीरणाके बलतें आयुकर्मका अपवर्तन कहिये घटना होय है ऐसा जानना।

वार्तिक—आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥११॥

अर्थ—बहुरि आयुर्वेद कहिये अष्टाग चिकित्सा कहिये रोगके दूर करनेमें उपयोगी क्रिया ताका प्ररूपक वैद्यक शास्त्र ताकी सामर्थ्यतें अर्थात् कथनतें तथा अनुभवतें आयुका अपवर्तन सिद्ध होय है।

टीका—यथाष्टागायुर्वेदविद् भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमन-विरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायन चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्यु-।

अर्थ—जैसे अष्टाग आयुर्वेद कहिये वैद्यशास्त्र ताके जाननेमे चतुर वैद्य चिकित्सामें अतिनिपुण वायु आदि रोगका काल आये बिना ही पहिले वमन विरेचन आदि प्रयोग करि, नही उदीरणाको प्राप्त भये जे श्लेष्मादिक, तिनका निराकरण करै है। बहुरि अकालमरणके अभावके अर्थ रसायनके सेवनका उपदेश करे है, प्रयोग करे है। ऐसा न होय तो वैद्यक शास्त्रके व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या है नाँही यातें वैद्यक शास्त्रके उपदेशकी सामर्थ्यतें अकालमृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है।

वार्तिक—दुःखप्रतीकारार्थ इति चेत् न, उभयथा दर्शनात् ॥१२॥

अर्थ—प्रश्न—शिष्य बहुरि कहे है जो रोगतें दु ख होय ता दु खके दूर करनेके अर्थ वैद्यक शास्त्रका प्रयोग है, अकाल मृत्युके अर्थ नाँही।

समाधान—ताको कहिये ऐसा कहना भी ठीक नाँही, जातें वैद्यकशास्त्रका प्रयोग दोऊ प्रकार कर देखिये है। तातें दु ख होय ताका भी प्रतीकार करैं हैं। बहुरि दु ख नाँही होय, तहाँ अकालमरण न होनेके अर्थ भी प्रयोग करे हैं।

टीका—स्यान्मतम्—दुःखप्रतीकारोऽर्थ आयुर्वेदस्येति ? तन्न, किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात्। उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि चिकित्सादर्शनात्।

अर्थ—प्रश्न—दु खके दूर करनेके अर्थ वैद्यकका प्रयोग है ?

समाधान—ताकों कहिये ऐसा नाँही, क्योंकि जातें दोय प्रकार करि प्रयोग देखिये है। तहाँ वेदना जनित दु ख होय ताके दूर करने अर्थ भी चिकित्सा देखिये। अर वेदना के अनुदयमें भी अकालमृत्यु के दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है। तातें अपमृत्यु सिद्ध होय है।

वार्तिक—कृतप्रणाशप्रसंग इति चेत्, न, दत्त्वैव फल निवृत्तेः ॥१३॥

अर्थ—प्रश्न—बहुरि शिष्य कहे हैं जो आयु होते ही मरण होय तो तहाँ कर्मका फल दिये बिना ही नाशका प्रसग आवे है। ऐसे, क्रिया जो कर्म ताका फल दिये बिना ही नाशका प्रसंग होय है। तहाँ कृतप्रणाश अर अकृताम्यागम दोष आवे है ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नाँही है, आयु कर्म भी जीवन्मात्र फल देकर ही उदीरणा करि निवृत्ति होय है।

टीका—स्यान्मतम्—यद्यकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाश प्रसज्येत इति, तन्न, किं कारणम् ? दत्त्वैव फल निवृत्ते :, नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाश:, अनिर्मोक्षप्रसगात्; दानादिक्रियारम्भाभावप्रसगाच्च। किन्तु कृत कर्मफल दत्त्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकाल-निर्वृत्तः पाक इत्यय विशेषः।

अर्थ—प्रश्न—शिष्य कहे हैं जो मरणका काल बिना आये मृत्यु होय तो किये कर्मका फल दिये बिना ही कर्मके नाशका प्रसग प्राप्त होय है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नाँही है, जातें कर्म है सो फल देकरि के ही निर्जरे हैं। तातें बिना किये कर्मका तो फल नाँही भोगवे है। यातें तो अकृताम्यागम दोष नाँही होय है। बहुरि किये कर्मका फल दिये बिना नाश नाँही होय है। यातें कृतप्रणाश नामा दोष नाँही आवे है। भावार्थ—यहाँ कोई कहे जो आयुकर्मकी उदीरणारूप क्षय है कारण जाको ऐसे अकालमरणको प्रतीकार कैसे सभवे ? ताको कहिये जो असाता वेदनीय कर्मके उदय करि उत्पन्न भया जो दु ख ताका प्रतीकार कैसे होय है। तहाँ असाता वेदनीय कर्मका उदयरूप अतरग कारण होते अर बाह्य वातादिक विकारके कारणतें प्रतिकूल वेदनारूप दु ख होय है ताके दूर करनेके अर्थ औषधादिकका प्रयोग कीजिये, तब दु ख मिट जाय है। तैसें ही आयु कर्मका उदय अतरगका कारण होतें, बाह्य जीवितव्यके कारण शुद्ध पथ्य आहारादिक तिनका विच्छेद होतें तथा दिनमें सोवना, विषयमे अधिक प्रवर्तना, मादक वस्तुका सेवन करना, प्रकृति विरुद्ध भोजनका करना, विशेष व्यायाम करना आदि कारणतें आयु की उदीरणा हो जाय, तब मरण हो जाय है। अर पथ्य आहारादिक बाह्य सामग्रीका अनुकूल मर्यादारूप संयोगकी प्राप्ति होते उदीरणा न होय है, जीवतव्य रहे है, तब अकालमरण न होय है ऐसा जाना। बहुरि अकृत कर्मके फलको यह आत्मा भोगे तो या जीवके मोक्षके अभावका प्रसग आवे। जातें बिना किये कर्मके फलका उपभोगपणा मोक्ष आत्माके ठहरे तहाँ मोक्षका अभाव होय। बहुरि किये कर्म फल दिये बिना ही नाश होय तो दान, व्रत, सयम, पूजन, भजन, अध्ययन, आचरण आदि क्रियाका आरम्भ मिथ्या ठहरे। तातें क्रिया कर्म कतकि अर्थ फल जो है ताहि देकर ही निर्जरे है। जैसे जलकरि आला वस्त्र चौडा करि तापमें सुखावे तो शीघ्र सूखे, तैसें आयु कर्म निमित्तके बलतें उदीरणा होय निर्जर जाय। ऐसे फलका विशेष है ऐसा जानना।

उपरोक्त आगम प्रमाणसे करतलरेखावत् यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्यायोका कोई नियत काल नही होता है। पर्यायोका होना या न होना कारणो पर निर्भर करता है। जैसे यदि कुपथ्यादि या अतिविषय सेवन आदि कारण मिलते हैं तो आयुकी उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। यदि उन कारणोको हटा दिया जाय और पथ्य आदि कारण मिलाये जायें तो आयुकी उदीरणा तथा अकाल मरण रुक जाय है।

स्व-काल

आपने क्रमबद्धपर्यायके समर्थनमें अनेक बार 'स्वकाल' शब्दका प्रयोग किया है। वह 'स्वकाल' क्या वस्तु है, इस विषय पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

'स्व काल' शब्द दो प्रकारसे विचारणीय हैं—१—स्वचतुष्टयकी अपेक्षा स्वकाल, २—द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त कारणभूत काल द्रव्य। इनमेसे जब स्वचतुष्टयरूप स्वकालका विचार किया जाता है तब द्रव्यके प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणमनोका क्रम ही स्वकाल शब्दका वाच्य है। परिणमन रूप कार्य भी बिना कारणोंके नही हो सकता, क्योकि 'नैक स्वस्मात् प्रजायते' यानो कोई भी कार्य बिना कारणके (स्वय) उत्पन्न नही होता। इस नियमके अनुसार वह परिणमन भी कारण व्यापारपर निभर (अधीन) है। चूँकि कारण व्यापार यथायोग्य नियत क्रमसे भी होता है और अनियतक्रमसे भी होता है तब स्वकालके बल पर क्रमबद्ध पर्यायका सिद्धान्त बनाना निराधार है।

२—यदि परिणमनमें निमित्तभूत काल द्रव्यको स्वकाल माना जावे तो वह कालद्रव्य उदासीन कारण होनेसे द्रव्योंके अपने-अपने अक्रमिक या क्रमिक निमित्त कारणोके अनुसार होनेवाले क्रमिक तथा अक्रमिक दोनो प्रकारके परिणमनमें समान रूपसे सहायक होता है। अत वह काल भी नियतक्रमका नियामक नही है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमे श्री अमृतचन्द्र सूरिने ४७ नय भंगो द्वारा वस्तुका विवेचन किया है। उसमेंसे ३०वें तथा ३१वें नयभगका विवेचन यो है—

कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धि ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि ॥३१॥

अर्थ—काल नयकी अपेक्षा यथासमय परिणमन होता है। जैसे आमका फल ग्रीष्म ऋतुके दिनोंके अनुसार पेडपर यथासमय पक जाता है ॥३०॥ अकाल नयकी अपेक्षा असमयमें परिणमन होता है। जैसे कृत्रिम भुस आदिकी गर्मी देकर कच्चे आमको समयसे पहले पका लिया जाता है।

इन दोनो काल तथा अकाल नयोंका विधान करके श्री अमृतचन्दसूरि पर्यायके एकान्त क्रमनियत् कालका स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्दसूरिने २६-२७ वें नय भंगमे नियति तथा अनियति नयका भी विधान किया है—

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ॥२६॥
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ॥२७॥

इसका तात्पर्य है जो कारणनिरपेक्ष है वह नियति है। जैसे अग्निमें उष्णता और जो कारणसापेक्ष है वह अनियति है। जैसे जलमे उष्णता।

इसी प्रकार एकान्तवादका खण्डन करते हुए सूरिजीने इस प्रकरणमें स्वभाव-अस्वभाव, पुरुषार्थ-दैव आदि नयोका भी विधान किया है। इसपर यदि गम्भीर विचार किया जाय तो एकान्तवादका परित्याग हो जायगा।

स्वकाल शब्दके समान आपने काललब्धि शब्दका प्रयोग भी क्रमबद्ध पर्यायका एकान्त सिद्ध करनेके लिए अनेक बार किया है। वह काललब्धि क्या वस्तु है इस विषयको श्री प० टोडरमलजीके शब्दो द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशकमे अवलोकन कीजिये—

कालल्ब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाही, जिस कालविषै कार्य बने सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। —पृ० ४५६ सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'कालाइलद्धिजुत्ता' इत्यादि गाथा २१९ की आचार्य शुभचन्द्रकृत टीकामे 'रत्नत्रयादिकाललब्धि' पदसे काललब्धि शब्दका अर्थ रत्नत्रय आदि रूप ही ग्रहण किया गया है, अत कालकी मुख्यतासे कार्यकी उत्पत्तिका कथन करना अयुक्त है।

श्री प० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने भी तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें ८वें पृष्ठपर इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हुए लिखा है—

एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्यका काल नियत है उसी समय वह कार्य होता है, अन्य कालमे नही। ऐसा जो मानते है वे कालके सिवा अन्य निमित्तोको नही मानते। पर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि उनका मानना युक्तियुक्त नही है, क्योकि कार्यकी उत्पत्तिमे जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त हैं। अतः कार्यकी उत्पत्तिमे केवल कालको प्रधान कारण मानना उचित नही है।

इसी पुस्तकमें पृष्ठ ४०० पर श्री प० फूलचन्द्रजी शास्त्री लिखते हैं—

कभी नियतकालके पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है।

इस तरह काललब्धिका आश्रय लेकर भी क्रमबद्धपर्यायका एकान्त सिद्धान्त प्रमाणित नही होता।

दिव्यध्वनिका अनियत समय

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि खिरनेका नियत काल प्रात, मध्याह्न, सन्ध्या तथा अर्द्धरात्रि है। किन्तु गणधरको किसी अन्य समयमें कोई शका होनेपर तथा चक्रवर्तीके आ जानेपर अनियत कालमें भी दिव्यध्वनि खिरने लगती है। इसके प्रमाणमें हमने जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ १२६ के वाक्य उल्लिखित किये थे, जिसमें 'इयरकालेसु' (नियत समयके अतिरिक्त अनियत कालोमें) स्पष्ट शब्द आया है।

इसके उत्तरमें आपने दिव्यध्वनिके उस अनियत कालको 'नियत काल' बनानेकी चेष्टा की है, किन्तु वह युक्ति-युक्त नही है, क्योकि न तो गणधरको शका उत्पन्न होनेका कोई समय नियत है और न समवशरणमें चक्रवर्तीके यथेच्छ आनेका ही समय निश्चित है। इस प्रकार जब इतर कालमें दिव्यध्वनि खिरनेके ये दोनो निमित्त कारण अनियत हैं तो उनके निमित्तसे खिरनेवाली दिव्यध्वनिका समय नियत कैसे बन सकता है? यदि आप इसको काललब्धि या स्वकाल मानते हैं तो यह अनियत कालरूप ही होगी। इसका अभिप्राय यही होता है कि दिव्यध्वनिका काल नियत भी है और अनियत भी है। आपको भ्रामक शब्दो द्वारा अनियत कालको नियतकाल नही सिद्ध करना चाहिये।

इसी प्रसगमें भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनि ६६ दिन तक गणधरके अभावमें न खिरनेका जो आपने उल्लेख किया है उससे केवलज्ञान सम्पन्न उपादान कारणसे गणधर रूप निमित्तके अभावमें दिव्यध्वनि कार्यका न होना प्रमाणित होता है। तथा च—इस घटनासे आपकी इस मान्यताका भी खण्डन होता है कि 'उपादान' कारणके होनेपर निमित्त कारण उपस्थित हो ही जाता है।'

क्षयोपशमज्ञानी इन्द्रको जब परिस्थिति समझमें आई—भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि गणधररूप निमित्तके बिना नही हो रही—तब इन्द्रको प्रयत्न करके निमित्त (इन्द्रभूति गौतम) समवशरणमे लाना पड़ा

और कारण सामग्रीके पूर्ण हो जानेपर दिव्यध्वनिरूप कार्य हुआ, यही काललब्धि है। इस काललब्धिके विषयमें हम पीछे अनेक प्रमाण देकर स्पष्ट कह चुके हैं कि कार्यकी उत्पत्तिमें सामग्रीकी पूर्णता ही काललब्धि है। इसके लिये हमने पूर्वमे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी आचार्य शुभचन्द्रकी टीकाका प्रमाण दिया ही है और काललब्धिके विषयमें श्री प० फूलचन्द्र जीकी भी क्या दृष्टि है ? इस बातको भी वहीपर बतलाया है।

कर्मनिर्जरा और मुक्तिका अनियत काल

'पर्याय अक्रमिक भी होती है।' इस बातको सिद्ध करनेके लिये हमने श्री अकलक देव विरचित तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३ पृष्ठ २४ पर लिखित वार्तिक **'कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥३॥** का प्रमाण दिया था। आपने उसका कुछ भी उत्तर न देकर श्लोकवार्तिक पृष्ठ ७० पर लिखे एक अन्य विषयकी चर्चा लिख डाली है जिसका कि उक्त राजवार्तिकके उल्लिखित वार्तिकसे कुछ भी सम्बन्ध नही है।

तथाच—आपके द्वारा उपस्थित किये गये श्लोकवार्तिकके उल्लेखमें भी सामग्री द्वारा कार्य-उत्पत्तिका समर्थन मिलता है जिसमें प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव तथा सहकारी कारणोंके सद्भाव होनेपर उपादान कारणका कार्यरूप परिणत होना प्रमाणित होता है, क्योकि मोहनीय कर्मके क्षय हो जाने पर भी अन्तर्मुहूर्तमें जब तक ज्ञानके प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्मका क्षय नही हो जाता तथा उसके सहायक कारण अनन्तवीर्यके प्रतिबन्धक अन्तरायका क्षय नही हो जाता तब तक केवलज्ञान और अनन्त बलका आविर्भाव नही होता।

एव मोक्षमार्गका प्रारम्भ करनेवाले सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका समय भी अनिश्चित है जो व्यक्ति जब प्रयत्न करता है और जब उसके योग्य कारणसामग्री मिल जाती है तब अनियत समयमें सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह निर्जरा तथा मुक्तिका समय अनियत है।

तात्पर्य यह है कि—

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रू पाविर्भावहेतु न केवल, तथा प्रतीते।

तथा—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेपस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ७१ के ये वचन हैं। इन्हें ही आपने कार्यके स्वकालकी पुष्टिमें पुष्ट प्रमाण माने हैं।

इनके विषयमें पूर्वमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है अर्थात् स्वकाल या काललब्धि केवल वह काल नही, जिसमें कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु वह कारणसामग्री है जिससे कार्य उत्पन्न होता है। अत यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ये सब कथन कर्मक्षपणप्रक्रियाकी ही सूचना देनेवाला है। कारण कि काल स्वय तो उदासीन कारण है तथा आत्माका जो उत्तरोत्तर क्रमिक विकास होता है वह तत्तत्कर्म क्षपणपूर्वक ही होता है। **'कालादिसामग्रीक'** और **'कालविशेषस्य सहकारिण'** इन दोनो वचनो पर आपको तर्कके आधार पर विचार करना चाहिये, संस्कारवशात् अर्थ कर देनेसे तत्त्व फलित नही हो सकता है। यहाँ पर अदालतका केस जीतनेका प्रश्न नही है, तत्त्वार्थको फलित करनेका ही प्रश्न है। फिर सहकारी शब्द स्व से अतिरिक्त परका ही बोध करानेवाला है, इसलिये इससे तो निमित्त कारणकी सार्थकता ही सिद्ध होती है।

कर्मका अनियत परिपाक

अनियत पर्याय सिद्ध करने के लिये हमने अपने पत्रकमें कर्म-परिपाकके अनियत होनेका प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नही दिया और यह लिखकर उसे टाल दिया कि 'यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।' प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्यकी पोषक न होनेसे आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अत हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्यायका समर्थन करता है।

श्री प० फूलचन्द्रजी शास्त्री तत्वार्थसूत्र टीकाके पृष्ठ १५७ पर लिखते हैं—

नरकमे तेतीस सागरकी आयु भोगते हुए वहाँके अशुभ निमित्तोकी प्रबलताके कारण सत्तामे स्थित समस्त शुभकर्म अशुभरूपसे परिणमन करते रहते है। और देवगतिमे इसके विपरीत अशुभ कर्म शुभ रूपसे परिणमन करते रहते हैं।

निधत्ति और निकाचित रूप कर्मोंकी स्थिति पूरी हो जानेपर यदि उनके उदयके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और काल न हो तो जाते-जाते वे भी अपने रूपसे फल न देकर अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे फल देनेके लिए बाध्य हो जाते हैं।

इस तरह कर्मोंका परिपाक (फल देना) नियत नही है, अनियत है। तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकामें १२९वें पृष्ठपर भी श्री प० फूलचन्द्रजीने लिखा है—

किसी मनुष्यने तिर्यञ्चायुका पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध किया। अब यदि उसे स्थिति-घातके अनुकूल सामग्री जिस पर्यायमे आयुका वन्ध किया है उसी पर्यायमे ही मिल जाती है तो उसी पर्यायमे वह आयु कर्मका स्थितिघात कर सकता है और यदि जिस पर्यायमे आयुको भोग रहा है उसमे स्थितिघातके अनुकूल सामग्री मिलती है तो उस पर्यायमे आयु-कर्मका स्थितिघात कर सकता है। स्थितिघात करनेसे आयु कम हो जाती है।

इस प्रकार आपके कथनके अनुसार भी बाँधे हुए निश्चित स्थितिवाले कर्मकी दशा अनियत पर्याय-वाली हो जाती है। इस तरह आयुकी उदीरणावाले मरणको आगममें अकालमरण या उदीरणा मरण कहा गया है।

हमने अपने द्वितीय प्रपत्रमे जयधवला प्रथम पुस्तक पृष्ठ २८९ के **'पागभावस्स विणासो वि दव्वकाल-भवावेक्खाए जायदे'** देकर यह वतलाया था कि प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा रखता है। इसका अर्थ यह है कि जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभावके विनाशके अनुकूल होगा वैसा ही उसका विनाश होगा। जैसे मिट्टीमे घट, सकोरा आदिका प्रागभाव मौजूद है, अब यदि घटोत्पत्तिके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभावका विनाश एक प्रकारका होगा और यदि सकोराकी उत्पत्तिके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभावका विनाश उससे भिन्न प्रकारका होगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न मिले यह तो मौका कभी नही आयगा। कारण कि खानमें पडी हुई मिट्टीमें भी विस्रसा मिलते हुए कारणोंके सहयोगसे परिणमन प्रतिसमय होता ही रहता है। परन्तु कभी किसी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्राप्त हो और कभी किसी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त हो, कभी विस्रसा (अनायास) मिले तो कभी प्रायोगिक यानी पुरुषकृत प्रयत्नसे प्राप्त हो जैसा कि मिट्टीके दृष्टान्तसे स्पष्ट है, तो यह असगत भी नही है। इसलिए उक्त जयधवलाका उक्त वचन हमारे पक्षका समर्थन ही करता है।

इसी प्रसगमें आप लिखते हैं कि 'ऐसा मान लेनेपर कि कर्मका उदय होनेपर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोंका फल नही मिलता' तो इसपर हमारा कहना है कि यह आशय आपने हमारे कौनसे वाक्यका ले लिया है यह हमारी समझमें नही आया और फिर उसे आपने गम्भीर प्रश्न बना दिया, फिर अन्तमें यह भी सकेत कर दिया कि 'विशेष प्रसङ्ग आनेपर अवश्य ही विचार करेंगे' आदि आपकी ये सब बातें हमें व्यर्थ दिखाई देती हैं ।

आगे आप लिखते हैं कि 'अतएव उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिये कि दोनोका मेल होनेपर कार्य होता है ।'

यह तो ठीक है कि आपने उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्ष इन दोनोके मेलसे कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार कर ली । हम भी तो यही कहते हैं, परन्तु फिर आप निमित्तको अकिंचित्कर किसलिये कहते हैं ? क्योंकि आपके उक्त कथनसे निमित्तकी सार्थकता ही सिद्ध होती है । यदि आप कहें निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे ही अकिंचित्कर रहता है तो फिर आपका यह लिखना असगत है कि 'निमित्त और उपादान दोनोके मेलसे कार्य उत्पन्न होता है ।'

आप कहते हैं 'निश्चय उपादानके प्राप्त होनेपर यत उस समय जो अन्य द्रव्यकी पर्याय उसका निमित्त है वह अपने परिणमनके लिये उसी समय निश्चय उपादान भी है' आदि । इस विषयमें तथा निश्चय और व्यवहारके विषयमे हम पूर्वमें बहुत कुछ लिख चुके हैं वहाँ आप देखने का कष्ट करें ।

आपने लिखा है कि 'कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त इन दोका कारण रूपसे उल्लेख किया गया है इसका तात्पर्य यह नही कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नही होता—ऐसा अर्थ करना सगत नही है' आदि । .

आपने कार्यकी उत्पत्तिमें आवश्यकतानुसार उपादान और निमित्त दोनोको कारण मान लिया इससे हमारे आपके मध्य अभीतक आपकी 'कार्य तो केवल अपने उपादानसे ही होता है निमित्त वहाँपर अकिंचित्कर ही रहा करते हैं' इस मान्यताको लेकर जो विवाद था वह समाप्त हो जाता है । आप इसके पहले भी यह बात कह चुके हैं कि 'उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिये कि दोनोका मेल होनेपर कार्य होता है ।' परन्तु आपका यह लिखना कि 'इसका तात्पर्य यह नही कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नही होगा ऐसा अर्थ करना सगत नही है' आगमके अभिप्रायके अनुसार सही नही है ।

आगमका अभिप्राय यह है कि कोई भी स्वपरप्रत्यय काय उपादान और निमित्त दोनो प्रकारके कारणोंके मेलसे होता है । इसका अर्थ यह है कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें उसको (उपादानकी) सहायता करता है । आगमका अभिप्राय यह भी है कि उपादानमें स्वप्रत्यय कार्यकी तरह स्वपरप्रत्यय कार्य भी प्रति समय होता रहता है । कारण कि उपादानका तो परिणमन करनेका स्वभाव स्वत सिद्ध है और निमित्तोंका योग उसे (उपादानको) प्रतिसमय मिलनेमें कोई बाधा आगममें नही बतलायी गयी है तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी आगमकी इसी बातका समर्थन होता है । यहाँ तक तो हमारे ख्यालसे हमारे और आपके मध्य कोई विवाद नही, परन्तु उपादानकी उसकी अपनी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तका क्या सहयोग मिलता है ? इस प्रश्नके समाधानकी खोज यदि आगममें की जाय तो मालूम होगा कि उपादानकी कार्य परिणतिमें लोकको जो विलक्षणता दिखाई देने लगती है वह

विलक्षणता उपादानमें निमित्तके सहयोगसे ही आती है। जैसे पूर्वमें हम कह आये हैं कि परिणमन करना मात्र आत्माका स्वत सिद्ध स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूपसे परिणमन करना आत्माका स्वत सिद्ध स्वभाव नही है, अत आत्माके परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता देखी जाती है वह यद्यपि आत्माकी परिणतिमे ही उत्पन्न होती है, परन्तु यदि क्रोधकर्म निमित्त उपस्थित होगा तो आत्माके उस परिणमनमें क्रोधरूपता आयगी और यदि मानादि कर्मोमेंसे किसी एकका निमित्त उपस्थित होगा तो आत्माके उस परिणमनमें मानादि कर्मोके अनुसार ही मानरूपता, मायारूपता या लोभरूपता आयगी। इसी प्रकारकी व्यवस्था प्रत्येक वस्तुके सभी स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें समझना चाहिये।

इस तरह यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन करनेका स्व त सिद्ध स्वभाव तो वस्तुका अपना ही स्वभाव है और जिस वस्तुका जो प्रतिनियत स्वभाव होता है उसका परिणमन भी उसके अपने उस प्रतिनियत स्वभावके दायरेमें ही होता है, किसी भी वस्तुका कोई भी परिणमन उस वस्तुके अपने प्रति-नियत स्वभावके बाहर कभी भी नही होता है। किन्तु प्रत्येक वस्तुका कोई भी परिणमन या तो स्वप्रत्यय होगा या फिर स्वपरप्रत्यय होगा। यदि वह परिणमन स्वप्रत्यय है तब तो वह नियतक्रमसे ही प्रतिसमय होगा। इसे आपका पक्ष और हमारा पक्ष दोनो ही स्वीकार करते हैं। विवाद हमारे आपके मध्य केवल स्वपरप्रत्यय परिणमनके नियतक्रमके विषयमे है। यानी आपका कहना है कि वस्तुका स्वपरप्रत्यय परिणमन भी नियतक्रमसे ही होता है जब कि आगमका कहना है कि वस्तुका स्वपरप्रत्यय परिणमन नियतक्रमसे भी होता है और अनियतक्रमसे भी होता है। और इसका कारण आगममें यह स्वीकार किया गया है कि निमित्तोका समागम नियत नही है। निमित्तोका समागम दो प्रकारसे प्राप्त होता है। एक तो विस्रसा (अनायास या प्राकृतिक तरीकेसे) और दूसरा प्रायोगिक अर्थात् पुरुषकृत प्रयत्नसे। दोनो ही प्रकारसे निमित्तोका समागम नियतक्रमसे और अनियतक्रमसे देखनेमें आता है, आगम भी इसका विरोधी नही है। इस प्रकारसे कार्य भी नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारके हुआ करते हैं। इस विषय पर काफी लिखा जा चुका है तथा छठवें आदि प्रश्नोमे आगे भी लिखा जायगा, अत विस्तारसे यहाँ पर लिखना हम जरूरी नही समझते हैं।

निमित्तका अभाव होने पर कार्य रुक भी जाता है। प्रत्यक्ष देखा जाता है—मोटर चली जा रही है, पेट्रोल समाप्त हो गया, मोटर रुक जाती है। कार्यकारणभावका ज्ञाता पेट्रोल डालकर मोटरको पुन. चालू कर अभीष्ट स्थानको पहुँच जाता है। यह विचार करनेवाला कि मोटर अपने उपादानसे चल रही थी, अपने उपादानसे रुकी है। जब चलनेका नियत काल आयगा, पेट्रोल अपने आप हाजिर हो जावेगा। इस प्रकार विचार कर पेट्रोल नही डालता वह अपने अभीष्ट स्थान तक नही पहुँच सकता। आगममें भी कहा है कि उपादानमें शक्ति होते हुए भी निमित्तके अभावमें कार्य रुक जाता है।

मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वगत्युपरमोऽनुपपन्न इति ? उच्यते, लोकान्तान्नो-र्ध्वगतिर्मुक्तस्य। कुतः ? धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥ गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्ती-त्यलोके गमनाभावः।

—रा० वा० पृ० ६४६ ज्ञानपीठ

समाधान—लोकाकाशसे आगे गति-उपग्रहमे कारणभूत धर्मास्तिकायका अभाव है, इसलिये मुक्त जीवो-की ऊर्ध्वगति लोकसे आगे नही होती। अर्थात् मुक्त जीवोकी ऊर्ध्वगमनकी शक्ति होते हुए भी निमित्तके अभावके कारण लोकके अन्तमें पहुँचकर आगे गति रुक जाती है।

अनुभव तथा प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान भी यह बतलाता है कि यदि कार्यके अनुकूल प्रयत्न किया जायगा तो कार्य सम्पन्न अवश्य होगा। इस तरह कार्योंकी सम्पन्नता देखी भी जाती है। इसलिये जब जीवोंका पुरुषार्थ भी कार्योत्पत्तिका साधक होता है तो उन्हें अपने जीवनोपयोगी इहलोक और परलोक-सम्बन्धी तथा मोक्षसम्बन्धी कार्योंकी सम्पन्नताको ध्यानमे रखते हुए उनके अनुकूल यथायोग्य अन्तरग और बहिरग प्रतिनियत कारणोको जुटानेके लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश आगममें दिया गया है। इसका अर्थ यह नही कि जो कार्योत्पत्तिको लक्ष्यमें रखकर तदनुकूल निमित्तोकी उठाधरी करता है वह सर्वज्ञताका विरोधी है, लेकिन इतनी बात अवश्य है कि यदि सर्वज्ञताके लोपके भयसे अथवा सर्वज्ञताकी आड लेकर कोई कार्योत्पत्तिके अनुकूल साधनोंके जुटानेमें पुरुषार्थहीन बननेकी चेष्टा करता है, वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सर्वज्ञके प्रति आस्था रखिये, उसके ज्ञान पर तथा वाणी पर भी आस्था रखिये, परन्तु उससे अपने कार्योंको सम्पन्न करनेकी प्रेरणा लीजिये, अपने इहलोक और परलोकको सुधारनेका प्रयत्न कीजिये, मोक्षप्राप्तिके लिये पुरुषार्थ कीजिये।

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्तिका प्रतिसमय सकल्प और प्रवृत्तियोंके आधार पर पुरुषार्थ होता ही रहता है, वह तो तब तक नही रुक सकता जब तक केवल दृष्टा और ज्ञाताकी अवस्थाको व्यक्ति नहीं प्राप्त हो जायगा। अत तब तक उसे अपने अनुकूल कार्योंकी सम्पन्नताके लिये अन्तरंग और बहिरग साधनो-को जुटाना चाहिये। ऐसे साधन नही जुटायगा तो ऐसे साधन जुटेंगे जिनसे उसके इहलोक और परलोकमें बिगाड पैदा होगा। जैन सस्कृतिकी यह मान्यता गलत नही है कि 'जैसा करोगे वैसा भरोगे।' प्रसन्नता की बात है कि आप भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि जीवको अपनी सम्हाल करनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु अपनी सम्हाल करनेका क्या यही पुरुषार्थ है ? कि प्रत्येक प्राणी अपनेको ज्ञाता और दृष्टा मानने लग जाय और क्या इतने मानने मात्रसे वह ज्ञाता दृष्टा बन जायगा ? यह ठीक है कि जानना और देखना मात्र ही आत्माका स्वभाव है, परन्तु इसको कौन नही मानता है ? प्रश्न तो ज्ञातादृष्टा मात्र बन जानेका है। इसके लिये प्राणियोंको पुरुषार्थका उपदेश दिया गया है, जिससे वे ज्ञाता-दृष्टामात्र स्थितिको प्राप्त हो सकें। लेकिन इसका सही उपाय यही है कि इसके अनुकूल जो भी अन्तरग और बहिरग कारण हैं या हो सकते हैं उन्हें समझा जाय, उन्हें अपनाया जाय और उनका ही उपदेश प्राणियोंको दिया जाय। बहुत लिखा गया है, सम्पूर्ण प्रश्नोमें हमारा यही लक्ष्य रहा है और यही प्रयत्न रहा है।

आपने उपादान और निमित्तकी जो व्याप्ति बतलायी है वह गलत है। उपादान और निमित्तकी जो व्याप्ति आगममें बतलायी है वह इस प्रकार नही है कि जिस समय जो कार्य होना होगा उस समय उसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे ही, किन्तु निमित्त और उपादानकी व्याप्ति जो आगममें बतलायी है वह इस प्रकार है कि निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा। आप यह भी कहते है कि उपादानकी तैयारी होगी तो निमित्त अवश्य मिलेंगे, परन्तु यह भी तो ख्याल कीजिये कि उपादानकी तैयारी भी तो आवश्यकतानुसार तदनुकूल निमित्तोंके सहयोग पर ही होती है। इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट किया जा चुका है और आगे दूसरे प्रश्नोमें भी स्पष्ट किया जायगा।

आपने अपने पक्षकी पुष्टिके लिए जो 'यदप्यभिहित—शक्तादशक्ताद् वा तस्या प्रादुर्भाव' इत्यादि। 'तत्र शक्तोदेवास्या प्रादुर्भाव ।' इत्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डका उद्धरण दिया है, उसमें आपने स्वय शक्तका अर्थ समर्थ तथा अशक्तका अर्थ असमर्थ किया है। उसके विषयमे आगमके आधार पर हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि उपादानमें जो सामर्थ्य आती है वह केवल इतनी नही हैं कि वह कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जावे। किन्तु इसके साथ कारण सामग्रीकी पूर्णता व प्रतिबन्धकाभाव भी उसमें सम्मिलित है। इसका अर्थ यह है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणमे वस्तुके पहुँच जाने पर उसके उत्तर क्षणमें जो कार्य होगा वह कार्य पूर्व पर्यायमें पडी हुई अनेक सामर्थ्योंमे से किसी एक रूपका होगा, जिसके अनुकूल समर्थ कारण सामग्री होगी। अर्थात् हम जो चाहें सो हो जायगी यह तो कोई नही मानता है, परन्तु उस कार्यकी नियामक केवल वह पूर्व पर्याय ही नही है, किन्तु उसके साथ उस समय जो निमित्त सामग्री ही उपस्थित होगी वह भी उसकी नियामक होगी। इसके साथ ही प्रतिबन्धक कारणोका अभाव भी उसका नियामक होगा। इस तरह कार्यजनक सम्पूर्ण सामग्रीकी प्राप्ति हो जाना व प्रतिबन्धक कारणोका अभाव हो जाना ही उसकी समर्थता है। इस विषयमें भी हम पूर्वमे बहुत विस्तारसे लिख चुके हैं।

आपने अपने द्वितीय दौरके प्रपत्रमें ७ न० पर लिखा है कि 'उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति है, इस व्यवस्थाके रहते हुए तथा उपादानका अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको उपादान कहते हैं यह सुनिश्चित लक्षणके होने पर भी यह लिखना कि कार्यके प्रति जब-जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है युक्तियुक्त प्रतीत नही होता आदि।'

हमारी तरफसे इन सब बातोंके विषयमें बहुत कुछ विस्तारके साथ लिखा जा चुका है। दूसरे प्रश्नोमें भी लिखा जायगा, अत अब तो हमारा आपसे कुछ और लिखनेके बजाय इतना निवेदन करना ही पर्याप्त होगा कि आप उसे ध्यानसे पढिये, गम्भीरताके साथ मनन कीजिये और निष्कषायभावसे निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न कीजिये।

हम इतना अवश्य पुन. स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमें सिर्फ एक नियत योग्यता ही नही पायी जाती है, किन्तु उस वस्तुमें उस समय भी नाना योग्यताएँ अनन्तर उत्तर क्षणमे कार्यरूपसे परिणत होनेके लिये तैयार बैठी रहती है इस बातको ध्यानमें रखकर ही आगममें यह बतलाया गया है कि वह योग्यता ही कार्यरूपसे विकसित होगी जिसके अनुकूल कारण सामग्रीकी पूर्णता विद्यमान होगी व प्रतिबन्धक कारणोका अभाव भी विद्यमान होगा। कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमे अनन्तर उत्तर क्षणमें कौनसा कार्य उत्पन्न होगा ? यह प्रश्न तभी उठ सकता है जब कि उक्त प्रकारकी वस्तुमें उत्तर क्षणकी कार्योत्पत्तिके अनुकूल नाना योग्यताएँ रह रही हो और आगममे इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये कारण सामग्रीकी पूर्णता व प्रतिबन्धककारणोके अभावको जो कार्योत्पत्तिका नियामक बतलाया गया है इसीसे यह बात सिद्ध होती है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमें अनन्तर उत्तरक्षणमें नाना कार्योंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है ऐसी सम्भावना उसी हालतमें हो सकती है जब कि उस वस्तुमें उस समय नाना योग्यताएँ विद्यमान हो।

यह बात हम पूर्वमे ही लिख चुके हैं कि वस्तु स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाली होनेके कारण उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय होता रहता है, परन्तु वस्तुमे ऊपर लिखे प्रकार नाना योग्यताओमेसे किस

योग्यताके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति हो केवल इसकी नियामक निमित्त सामग्री हुआ करती है, कार्योत्पत्तिका सर्वथा निषेध तो हमने किया नही है और न कार्योत्पत्तिका सर्वथा निषेध हो ही सकता है, क्योकि कोई न कोई निमित्त सामग्रीकी प्रत्येक समय प्राप्ति रहती ही है। इसलिये आपका यह लिखना ठीक नही है कि 'यदि निमित्ताधीन कार्यकी व्यवस्था होती तो द्रव्यको जो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है वह नही बन सकता।' और इसीलिये आपका 'क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले इसलिये उस समय उसने अपना कार्य नही किया' इत्यादि यह लिखना भी ठीक नही है।

निमित्त तथा उपादानके निरुक्त्यर्थ पर ध्यान देनेसे भी निमित्तोंकी सार्थकता ही सिद्ध होती है। जैसे 'उप उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक 'अं' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे 'उपादीयते अनेन' इस विग्रहके आधार पर कर्ताके अर्थमे ल्युट् प्रत्यय होकर उपादान शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो वस्तु परिणमनको स्वीकार करे या ग्रहण करे अथवा जिसमें परिणमन हो वह उपादान कहलाता है। इसी प्रकार 'नि' उपसग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्त्ताके अर्थमें ही 'निमेद्यति' इस विग्रहके आधार पर 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमन करनेवाली वस्तुको उसके उस परिणमनमें मित्र या तेलके समान स्नेहन करे, अर्थात् सहायता करे वह निमित्त कहलाता है।

यहाँ पर हमने मित्र और तेलकी समानता निमित्तमें प्रदर्शित की है, उसका कारण यह है कि स्नेह अर्थ तेलका होता है, 'मिद्' धातु भी स्नेहार्थक है। तेलसे जिस प्रकार शरीर आदिमें चिक्कणता आ जाती है उसी प्रकार निमित्तसे उपादानमे बलाधानरूप चिक्कणता आ जाती है। इस प्रकार 'मिद्' धातुसे ही मित्र शब्द भी बनता है, तो जिस प्रकार मित्र किसीका हर एक अवस्थामें मददगार रहता है उसी प्रकार निमित्त भी उपादानका कार्योत्पत्तिमें मददगार ही रहा करता है। उपादान और निमित्तका यहाँ पर जो निरुक्त्यर्थ किया है उस पर छठवें आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए भी ध्यान रखनेकी कृपा करें।

हमने यह जो निमित्त और उपादानका लक्षण बतलाया है इससे भी निमित्तकी कार्यके प्रति सार्थकता ही सिद्ध होती है और चूँकि निमित्तोकी नियतक्रमता तथा अनियतक्रमता प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगमसे प्रसिद्ध भी है, अत वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनो बातें आगममें स्वीकार की गयी हैं। ऐसी स्थितिमें आपका यह लिखना कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' गलत ही है।

आपने उपचरित और अनुपचरित कारणो पर विचार करते हुए प० प्रवर बनारसीदासजी का एक पद्य उद्धृत किया है—

पदस्वभाव पूरब उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवगी शिवचाल ॥४२॥

इसका अर्थ आपने यह किया है कि 'पदार्थ का स्वभाव, पूर्वका उदय (निमित्त), निश्चय (उपादान), उद्यम (पुरुषार्थ) और काल ये पाँच कारण हैं। इनके समवायमें कार्यकी उत्पत्ति होती है। इनमें से किसी एकका पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् संसारका मार्ग है और सबके सद्भावमें कार्यको स्वीकार करना मोक्षमार्ग है।'

आगे आप लिखते हैं—'गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच एकान्तोका निर्देश किया गया है वह इसी अभिप्रायसे किया गया है।'

अब देखना यह है कि श्री प० बनारसीदास जी के कथनानुसार आपकी दृष्टिमे पदार्थका स्वभाव, पूर्वका उदय, निश्चय, उद्यम और काल ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं और गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनानुसार आपकी दृष्टिमे काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं।

श्री प० बनारसीदासजीके पद्यमें आपने पूर्वके उदयका अर्थ निमित्त किया है, निश्चयका अर्थ उपादान किया है और उद्यमका अर्थ पुरुषार्थ किया है। इसी प्रकार गोम्मटसारमें ईश्वरका अर्थ निमित्त किया है। इस तरह यदि दोनोका समन्वय किया जाय तो आपकी दृष्टिसे वह निम्न प्रकार होगा—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड		श्री प० बनारसीदासजीका पद्य
	काल	काल
(ईश्वर)	निमित्त	निमित्त (पूर्वका उदय)
	आत्मा	पुरुषार्थ (उद्यम)
	नियति	उपादान (निश्चय)
	स्वभाव	स्वभाव

इस तरह आपका आशय यदि आत्मासे पुरुषार्थका और नियतिसे उपादानका हो तो दोनोका समन्वय समानरूपसे हो सकता है।

परन्तु जब आप 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इन सिद्धान्तोके माननेवाले हैं तो कार्योत्पत्तिमें फिर इन पाँचके समवायकी आपकी दृष्टिमें क्या आवश्यकता है ? और उक्त पाँचोका समवाय कार्योत्पत्तिमे आपकी दृष्टिमें यदि उपयोगी है 'यानी कार्योत्पत्तिके लिए अनिवार्यरूपसे आवश्यक है तो फिर 'सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं आपकी इन मान्यताओकी क्या स्थिति रह जाती है ? इन विकल्पोंके आधारपर पूर्वमें हम काफी विस्तारके साथ विवेचन कर चुके हैं, कृपया उसपर गहराईके साथ विचार करें। आपने उपर्युक्त पाँच कारणोंका जो विवेचन किया है उसमें आपने यह स्पष्ट नही किया कि इन सबको आप उपचरित कारण मानते हैं या सभीको अनुपचरित कारण मानते हैं ? अथवा कुछको उपचरित और कुछको अनुपचरित स्वीकार करते हैं—ये सभी बातें आपको स्पष्ट करनी थी, परन्तु नही की। इनके विषयमें जितना कुछ विवेचन आपने किया उससे यह स्पष्ट नही होता है कि आप क्या कहना चाहते हैं ? क्या कह रहे हैं ? और क्यो कह रहे हैं ? यदि आगे इन बातो पर आप विवेचन करें तो कृपया इन सब मुद्दोको स्पष्ट करते हुए विवेचन करें ताकि गोरखधन्धा जैसी स्थिति समाप्त हो और आपका पक्ष हमें ठीक ठीक तरहसे उपर्युक्त पाँच कारणोके विषयमें समझमें आवे। कृपया इनके बारेमें निश्चयनय और व्यवहार-नय तथा इन नयोंके विषयभूत निश्चय और व्यवहारके विषयमें आपकी दृष्टि क्या है ? यह भी स्पष्ट करें।

इन्ही पाँच कारणोंके विवेचनके सिलसिलेमे आपने लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रम नियत होता है, अनियतक्रमसे नही होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।'

आपके इस कथनको पढकर हमें आश्चर्य तो हुआ ही, साथमें दु ख भी हुआ कि अनेकान्तकी जो परिभाषा इसमें आपने बतलायी है उसके बतलानेमें थोडा भी संकोच आपको नही हुआ। जैन संस्कृतिके योग्यतम विद्वान् होते हुए भी क्या वास्तवमें अनेकान्तका ऐसा ही स्वरूप आपने समझ रक्खा है? या फिर केवल अपनी मतपुष्टिके लिये जानबूझकर ऐसा लिख गये हैं। कृपया इसे भी स्पष्ट कीजिये कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोके समवायकी अपेक्षा नियतक्रमसे होता है, अनियतक्रमसे नही होता' इसमें अनेकान्त कैसे हो गया ? कारण कि अनेकान्तकी जो परिभाषा समयसारकी आत्मख्याति टीकाके आधार पर हम पूर्वमें बतला आये है उससे इसका मेल नही बैठता है। समयसारकी टीका आत्मख्यातिके अनुसार एक ही वस्तुमें उसके वस्तुत्वका प्रतिपादन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्ति द्वयका प्रकाशन ही अनेकान्त माना गया है तो जिस प्रकारका अनेकान्त यहाँ पर प्रतिपादित किया है उसमे अनेकान्तका समयसारकी आत्मख्याति टीकावाला लक्षण घटित कैसे होता है ? कृपया विचार तो कीजिये।

तात्पर्य यह है कि जैन सस्कृतिमे विधिरूप और निषेधरूप दो परस्पर विरोधी धर्म वस्तुके स्वीकार किये गये हैं। अब आप ही बतलाइये कि उपर्युक्त पाँच समवायोमें तथा नियतक्रमसे होता है और अनियतक्रमसे नही होता इसमें कौनसे परस्पर विरोधी दो धर्मोंका वस्तुमें सद्भाव सिद्ध होता है। यहाँ तो प्रकारान्तरसे एक ही धर्मका अस्तित्व वस्तुमें सिद्ध होता है तो इसमें अनेकान्तता कैसे आ गयी ? यह बात आपको सोचना है। आपके लिखे अनुसार तो अनेकान्त बोगस सिद्धान्त मालूम देने लगता है जब कि वह अपने ढग का महत्त्वपूर्ण अद्वितीय सिद्धान्त है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावके विवेचनमें ईश्वरका अर्थ निमित्त कौन आधार पर आपने किया, इसी प्रकार श्री प० बनारसीदासजीके पद्यमें **'पूरब उदय'** इसका अर्थ निमित्त किस आधार पर आपने किया यह विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि 'पूरब उदय' शब्दको, जब कि यह कथन आत्माके विषयमें ही किया गया मालूम होता है तो आपने वस्तु सामान्यके कार्यकारणभावका अंग कैसे मान लिया ? स्वयं बनारसीदासजीने नंबर ४५ के पद्यमें इसका संकेत दिया है। वह पद्य निम्न प्रकार है—

> निहचै अभेद अंग, उदै गुणकी तरंग, उद्यमकी रीति लिये उद्धता सकती है।
> परजाई रूपको प्रवान सूच्छम सुभाव, कालकी सी डाल परिणाम चक्रगति है॥
> याही भाँति आत्मद्रव्यके अनेक अंग, एक माने एकको न माने सो कुमति है।
> टेक डारि एकमे अनेक खोजे सो सुबुद्धि खोजी जीवैं वादी मरै साची कहवति है॥४५॥

उक्त ४२वें पद्यमें बतलायी गयी पाँचों बातोका क्या अर्थ है और उनका सबध किससे किस रूपमें है यह बात इस पद्यसे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। उक्त ४२वाँ पद्य कार्यकारणभावका प्रतिपादक नही है यह बात भी इस ४५वें पद्यसे ज्ञात होती है।

इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्डमें क्रियावादी मिथ्यादृष्टियोकी गणना करते हुए आचार्य श्री नेमिचन्द्रने काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इनमेंसे एक एक आधारसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टियोका कथन किया है इस पर आपके द्वारा वह सिद्धान्त स्थिर किया मालूम देता है कि यदि ईश्वर आदि पाँचमेसे एक एकसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं तो इनके समवायसे कार्योत्पत्ति माननेका सिद्धान्त सही है। यही कारण है कि आप स्वभाव आदि पाँचके समवायको कार्योत्पत्तिमें कारण

मान लेते हैं। और चूँकि जैन सस्कृतिमें ईश्वरको कर्ता नही माना गया है, अत ईश्वरका अर्थ आप निमित्त कर लेते हैं और जब आप श्री प० बनारसीदासजीके पद्यके साथ गोम्मटसारमें कहे गये स्वभाव आदि पाँचका समन्वय करते हैं तो और भी परिवर्तन इनके अर्थमे आपको करना अनिवार्य हो जाता है। फिर एक बात और विचारणीय हो जाती है कि कर्मकाण्डमें तो काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावके आगे अलगसे पौरुषवाद, दैववाद, सयोगवाद तथा लोकवाद आदिका कथन करते हुए नेमिचन्द्राचार्यने अन्तमें—

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होति परसमया ॥८९४॥

अर्थ—जितने वचनके मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

आपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें आये हुए काल ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावका जो अर्थ किया है उनके विरुद्ध ही कालादिका अर्थ गोम्मटसार कर्मकाण्डमे किया गया है। कृपया गोम्मटसारके अर्थोंको आचार्य श्री नेमिचन्द्रके शब्दोमें ही पढिये—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वचिदुं कालो ॥८७९॥

अर्थ—काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका विनाश करता है। सोते हुयेको काल ही जगाता है इस तरह कालको ठगनेमें कौन समर्थ है?

अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुह च दुक्ख च।
सग्ग णिरय गमण सव्व ईसरकय होदि ॥८८०॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान रहित है, अनाथ है अर्थात् कुछ भी करनेमें असमर्थ है, उस आत्माके सुख-दु ख, स्वर्ग तथा नरकमें गमन इत्यादि सब ईश्वर द्वारा किया हुआ ही होता है।

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवा य सव्ववावी य।
सव्वगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥

अर्थ—ससारमें एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, वही सर्वव्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ—जो भी जब जिससे जैसे और जिसके नियमसे होता है वह तब उससे उसी प्रकार उसके होता है—इस तरह की मान्यताको नियतिवाद कहा जाता है।

को करइ कटयाण तिक्खत्तं मियविहगमादीण।
विविहत्त तु सहावो इदि सव्वेवि य सहाओ त्ति ॥८८३॥

अर्थ—कॉटोको तीक्ष्ण कौन करता है, मृगादि पशुओ और पक्षी आदिके विविध भेदोको कौन निर्मित करता है, इसका उत्तर एक ही है कि यह सब स्वभावसे ही होता है।

अब आप देखेंगे कि आपके अभिप्रायका समर्थन इन गाथाओंसे कदापि नही होता है। कृपया गभीरता पूर्वक विचार करें।

'जावदिया वयणवहा' इत्यादि गाथा द्वारा परसमयोकी जो गणना कर दी है इससे तो यह सिद्ध होता है कि आपके द्वारा केवल स्वभाव आदि पाँचके समवायमें कार्योत्पत्तिके प्रति कारणताको सीमित किया जाना युक्तिसगत नही है।

इस विवेचनका सार यह है कि गोम्मटसार कमकाण्डके कथनमें आचार्य श्री नेमिचन्दकी दृष्टि यह नही रही है कि ईश्वर आदि एक एकके आश्रमसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और इनके समवायसे कार्योत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। उनकी दृष्टि तो इस कथनमें सिर्फ इतनी है कि कौन पर समयवादी किस आधार पर कार्योत्पत्ति मानता है ? और उसकी वह मान्यता सही है या गलत है। एक बात और है कि यदि आचार्य श्री नेमिचन्दकी दृष्टि ईश्वर आदि पाँचके समवायसे कार्योत्पत्ति स्वीकार करनेकी होती तो वे अपने उक्त कथनमे ईश्वरवाद या आत्मवादको किसी भी प्रकार स्थान नही दे सकते थे, क्योकि जैन संस्कृतिमें न तो ईश्वरको कार्योत्पत्तिमें कर्ता स्वीकार किया गया है और न समस्त कार्योंमें आत्माको ही कारण माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वभाव आदि पाँचको कार्योत्पत्तिमें स्थान देने और उसका समर्थन आगमसे करनेमें आपको कितनी खीचातानी करनी पडी है और फिर भी आप अपने उद्देश्यमें असफल ही रहे हैं।

यदि कार्यकारण व्यवस्थामें स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और निमित्तका अर्थ भिन्न प्रकार करें तो इनकी भी उपयोगिता हो सकती है, किन्तु प० बनारसीदास जी के दोहेसे अथवा गोम्मटसार कर्मकाण्डसे इनका सबध जोडना उचित नही है। इनमें से स्वभावका अर्थ वस्तुकी स्वत सिद्ध परिणमन शक्ति लेना चाहिये, क्योकि यदि वस्तुको स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाली नही माना जायगा तो फिर कोई भी अन्य वस्तु उसमें परिणमन करानेमें सर्वदा असमर्थ ही रहेगी। इसी प्रकार नियतिके विषयमें यह निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुका परिणमन इस रूपसे नियत होता है कि प्रत्येक वस्तुसे सभी वस्तुओंमे होनेवाले सभी परिणमन उत्पन्न नही होते हैं, प्रत्येक वस्तुके परिणमनोकी मर्यादा नियत है अर्थात् अमुक वस्तुमें अमुक-अमुक प्रकारका ही परिणमन होगा और अमुक प्रकारका परिणमन कदापि नही होगा। कालके विषयमें यह है कि जब भी कार्योत्पत्ति होगी तो वह क्रमसे ही होगी। कारण कि एक ही वस्तुमें एक ही आधार पर एक साथ दो पर्यायें कभी उत्पन्न नही होती हैं। पुरुषार्थ शब्द कार्योत्पत्तिमे आत्माके प्रयत्न करनेका सूचक है और निमित्तसे उस-उस कार्यके अपने अपने उपादानसे अतिरिक्त सहयोगियोका अर्थ बोध होता है। इस तरह कार्योत्पत्तिमें इन पाँचकी आवश्यकताका मूल्य है, लेकिन जितने स्वप्रत्यय परिणमन होते हैं उनकी उत्पत्तिमें तो स्वभाव, नियति और काल (क्रम) इन तीनकी ही आवश्यकता रहती है और स्वपरप्रत्यय परिणमनोमेंसे किन्ही-किन्ही स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें तो स्वभाव, नियति, काल, (क्रम) और निमित्त (सहयोगी) इन चारकी तथा किन्ही-किन्ही स्वपर प्रत्यय परिणमनोमें स्वभाव, नियति, काल (क्रम), निमित्त (सहयोगी) और पुरुषार्थ (आत्मप्रयत्न) इन पाँचोंकी भी आवश्यकता रहती है। आशा है आप कार्यकारणभावके इस सम्पूर्ण विवेचन पर गम्भीरताके साथ विचार करेंगे।

इस प्रकार आपके द्वितीय दौरके प्रपत्र पर हमने विस्तारसे सर्वांगीण विचार किया है। यद्यपि इससे लेखका कलेवर अवश्य बढ़ गया है, परन्तु जब दोनो पक्षोंके सामने सत्यार्थ तत्त्वको फलित करनेका ही लक्ष्य है तो लेखका कलेवर बढ़ जाना अखरनेवाली बात नही है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मगलं गौतमो गणी।
मगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ५

मूल प्रश्न ५—द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

प्रथम उत्तरमें इस प्रश्नका समाधान हमने दो प्रकारसे किया है—एक तो केवलज्ञानकी अपेक्षा और दूसरे आगममें स्वीकृत उपादानके सुनिश्चित लक्षणकी अपेक्षा। इन दोनो अपेक्षाओंसे समाधान करते हुए यह सिद्ध कर आये है कि द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है। साथ ही इसे आलम्बन बनाकर प्रतिशका २ में विरोधस्वरूप जो प्रमाण और तर्क उपस्थित किये गये हैं उनका भी सागोपाग विचार उसके उत्तरमें कर आये हैं। तत्काल प्रतिशका ३ के आधारसे विचार करते हैं—

१. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्यका स्वकालमे होना स्वीकार

इसका प्रारम्भ करते हुए अपर पक्षने सर्व प्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें उल्लिखित जिन पाँच आगमप्रमाणोके आधारसे यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है' इसकी हमें प्रसन्नता है। हमें विश्वास है कि समग्र जैन परम्परा इसमे प्रसन्नताका अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है' यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्थाका प्राण है। इसे अस्वीकार करनेपर न तो केवलज्ञानकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्थाके अनुरूप कार्य-कारणपरम्परा ही सुघटित हो सकती है। अपर पक्षने प्रतिशका ३ में जिन शब्दो द्वारा स्वकालमें कार्यका होना स्वीकार किया है वे शब्द इस प्रकार है—

'यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञानमे विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोका केवलज्ञानी जीवोको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैनसस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमे होती है जिस कालमे उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमे प्रतिभासित हो रहा है।

२ केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्यकी स्वीकृतिके बाद अपर पक्षकी ओरसे जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि—

'परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है उस कालमें वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस कालमें उस कार्यकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योकि वस्तुकी जिस कालमें जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जानना मात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नही है।'

सो यह कथन भी आगम परम्पराके अनुरूप होनेसे स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्षके इस कथनमें इतना हम और जोड देना चाहेंगे कि—'जिस प्रकार जिस कालमे जो कार्य होता है उसे

केवलज्ञान यथावत् जानता है उसी प्रकार उसकी कारक सामग्रीको भी वह जानता है।' केवलज्ञान किसी कार्यका कारक न होकर ज्ञापकमात्र है इसमें किसीको विवाद नही। अपर पक्षने केवलज्ञान ज्ञापक है इस अभिप्रायकी पुष्टिमें 'जैनतत्त्वमीमासा' के केवलज्ञान स्वभाव मीमासा प्रकरणका उल्लेख उपस्थित किया है सो उस उल्लेखसे भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है। अस्तु,

३ कारकसाकल्यमे पाँचका समवाय स्वीकृत है

आगे प्रतिशका ३ में हमारे पिछले उत्तरोके आधारपर जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि हम केवल स्वकालके प्राप्त होनेपर ही सभी कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं सो हमारे उन उत्तरोंसे ऐसा निष्कर्ष फलित करना ठीक नही है, क्योकि मूल प्रश्नमें 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है या अनियतक्रमसे भी ?' यह पृच्छा की गई थी और उसीके उत्तरस्वरूप पिछले उत्तरो द्वारा असंदिग्धरूपसे यह सिद्ध किया गया है कि 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत (निश्चित) क्रमसे ही होती हैं, अनियत (अनिश्चित) क्रमसे त्रिकालमें नही होती।' अतएव प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अपने अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर होती हुई भी कारकसाकल्यसे ही होती है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। हमने कार्योत्पत्तिका कारण केवल स्वकालको न तो कही लिखा है और न है भी। जिस प्रकार अन्य उपादान-निमित्त सामग्री कार्योत्पत्तिमे स्वीकार की गई है उसी प्रकार उसमे स्वकालको भी उस (सामग्री) का अभिन्न अंग होनेसे स्थान मिला हुआ है, इतना ही हमारा कहना है। जैनतत्त्वमीमासा पृ० ६५-६६ में इसका स्पष्ट रूपसे विवेचन किया गया है जो प्रकृतमें उपयोगी होनेसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमे ये पाँच कारण नियमसे होते हैं— स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (परपदार्थकी अवस्था)। यहाँ पर स्वभावसे द्रव्यकी स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है, पुरुषार्थसे उसका बल-वीर्य लिया गया है, कालसे स्वकालका ग्रहण किया है, नियतिसे समर्थ उपादान या निश्चयकी मुख्यता दिखलाई गई है और कर्मसे निमित्तका ग्रहण किया है। इन्ही पाँच कारणोको सूचित करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदास जी नाटकसमयसार सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकारमे कहते हैं—

> पदसुभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
> पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥

गोम्मटसार कर्मकाण्डमे पाँच प्रकारके एकान्तवादियोका कथन आता है। उसका आशय इतना ही है कि जो उनमेंसे किसी एकसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्यकी उत्पत्तिमे इन पाँचोके समवायको स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर बनारसीदास-जीने उक्त पद द्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृ० २५७ मे भट्टाकलंकदेवने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है।

श्लोक इस प्रकार है—

> तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
> सहायास्तादृशा सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसके सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोकमें भवितव्यताको मुख्यता दी गई है। भवितव्यता क्या है? जीवकी समर्थ उपादान शक्तिका नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यताकी व्युत्पत्ति है—**भवितुं योग्यं भवितव्यं तस्य भाव भवितव्यता।** जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है इसलिये समर्थ उपादन शक्ति, भवितव्यता और योग्यता के तीनो एक ही अर्थको सूचित करते हैं। कही-कही अनादि या नित्य उपादानको भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरणके अनुसार उसका उक्त अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नही है, क्योकि भवितव्यतासे उक्त दोनो अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोकमें भवितव्यताको प्रमुखता दी गई है और साथमें व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्रीका भी सूचन किया है सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचो कारणो का समवाय होने पर कार्यकी सिद्धि होती है यही सूचित होता है, क्योकि स्वकाल उपादानकी विशेषता होनेसे भवितव्यतामें गर्भित है ही।'

कारकसाकल्यके होने पर कार्य होता है इस तथ्यकी पुष्टि करनेवाला यह जैनतत्त्वमीमासाका उल्लेख है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हम यह कभी भी स्वीकार नही करते कि केवल स्वकालसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। हाँ, स्वकालको कारण रूपसे स्वीकार करनेमें अपर पक्ष अवश्य ही हीला-हवाला करता आ रहा है, जैसा कि उसका यह अभिप्राय प्रतिशका २ से स्पष्ट ज्ञात होता है। अब उसकी ओरसे स्वकालको भी एक कारणके रूपमें प्रतिशका ३में स्वीकार कर लिया गया है जो इष्ट है।

यहाँ पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते है कि अपर पक्षने प्रतिशका ३ मे स्वामिकार्तिकेयके **'जं जस्स'** इत्यादि कारिकाओका तथा भैया भगवतीदासके **'जो जो देखी'** इत्यादि दोहेका जो आशय व्यक्त किया है वह हमारे उक्त कथनके अनुरूप होनेसे हमें मान्य है। इससे हमें आशा है कि उसकी ओरसे प्रतिशका २ में **'ज जस्स'** इत्यादि कारिकाओका जो विपरीत आशय व्यक्त किया गया है उससे वह विरत हो जायगा।

४ अलंघ्यशक्ति पदका वास्तविक अर्थ

इसी प्रसगमे यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि अपर पक्षने **'अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय'** इत्यादि श्लोकमें पठित **'अलघ्यशक्ति'** पदका अर्थ करते हुए जो कुछ भी लिखा है वह पढनेमें सुहावना लगते हुए भी विचारणीय है। बात यह है कि—प्रत्येक कार्यके प्रति प्रति समय कारकसाकल्यका सहज योग जैनदर्शनमें स्वीकार किया गया है, इसलिये यह तो प्रश्न ही नही उठता कि अन्तरंग-बहिरग सामग्री किसीके आधीन होकर कार्यके प्रति कारण होती है। जिसे भवितव्यता कहते हैं वह उस सामग्रीसे सर्वथा भिन्न हो ऐसा नही है। अपर पक्ष वस्तुमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी आधारभूत स्वत सिद्ध योग्यतारूपसे जिस भवितव्यताका उल्लेख करता है वह सामान्यरूपसे द्रव्यशक्तिके सिवाय और क्या हो सकती है अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ भी नही हो सकती। किन्तु ऐसी द्रव्यशक्ति जब भिन्न-भिन्न पर्यायशक्तिसे युक्त होकर पृथक्-पृथक् समर्थ या निश्चय उपादान सज्ञाको प्राप्त होती है तब बहिरंग सामग्रीको निमित्तकर नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है। कार्यकारणपरंपराका प्रवाह प्रत्येक समयमें अनादिकालसे इसी क्रमसे चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। यहाँ न तो कारण कार्यके आधीन है और न कार्य कारणके आधीन है। वह वस्तु स्वभाव है कि 'ऐसा होने पर ऐसा होता है।' इसीको जैनदर्शनमें कारण-कार्य परम्पराके रूपमें स्वीकार

किया गया है, क्योंकि किसीको किसीके आधीन माननेपर वस्तुका स्वत सिद्ध स्वरूप विघटित हो जाता है, जो युक्त नही है, अतएव 'अलघ्यशक्ति' पदको लक्ष्यमें रखकर भट्टाकलंकदेवके उल्लेखानुसार जो यह अर्थ किया जाता है कि जैसी भवितव्यता होती है अर्थात् जब जैसी पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति होती है उस कालमें उसीके अनुरूप कार्य करनेका विकल्प होता है, व्यवसाय भी उसीके अनुरूप होता है और निमित्त भी वैसे ही मिलते हैं। सो जहाँ ऐसा अर्थ करना सगत है वहाँ उक्त पदको ध्यानमें रखकर 'अलंघ्यशक्ति' इत्यादि पदके अनुसार यह अर्थ करना भी सगत है कि हेतुद्वयसे जो कार्य उत्पन्न होता है वह इस बात का सूचक है कि वह कार्य द्रव्यस्वभावको लांघकर कभी भी नही हो सकता। कार्यमें उसकी मर्यादाका उल्लघन होना त्रिकालमें अशक्य है यह अटल सिद्धान्त है। दोनो अर्थ अपनेमें स्पष्ट हैं और अपनी अपनी जगह ठीक है।

अपर पक्षने जहाँ 'भवितव्यता' पदके अर्थका स्पष्टीकरण किया है वहाँ वह यदि इसके साथ यह स्पष्ट कर देता कि इस पद द्वारा वह किसको ग्रहण कर रहा है—द्रव्यशक्तिको या पर्यायशक्तिको या दोनोको तो बहुत सभव था कि उसे भाषा प्रयोगकी जटिलतामें प्रवेश किये बिना 'अलघ्यशक्ति' इत्यादि पदके अर्थको स्पष्ट करनेमें सुगमता जाती। अस्तु, इससे प्रकृतमे उक्त पदका अर्थ जो अभिप्रेत है उसका सहज ज्ञान हो जाएगा।

५ प्रत्येक कार्यमे अन्तरंग-बहिरंग सामग्रीकी स्वीकृति

प्रत्येक समयमें जो भी कार्य होता है उसमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रताका होना अनिवार्य है। इसमें स्वकाल, भवितव्यता आदि सबका परिग्रह हो जाता है। किसी कारणकी प्रधानता और अप्रधानता विवक्षामे होती है, कार्यमे नही। कार्यके प्रति तो जिसकी जिस रूपमे (उपचरित या अनुपचरित रूपमे) कारणता है उसका वहाँ उस रूपमे होना अनिवार्य है। तभी कार्यके प्रति अन्तरंग-बहिरग कारणोकी समग्रता मानी जा सकती है। अतएव हमारा सिद्धान्त बतलाकर अपर पक्षने जो यह लिखा है कि—

'चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्तिके स्वकालको अर्थात् जिस कालमें उत्पन्न होता है उस कालको प्रधान कारण माननेका है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्तिका काल आ जाने पर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है।' सो अपर पक्षका यह कहना ठीक प्रतीत नही होता, क्योंकि कथनके समय प्रयोजन विशेषको ध्यानमे रखकर किसी कार्यमे भले ही किसी एक कारणको मुख्यता और दूसरे कारणोको गौणता प्रदान की जाय, परन्तु कार्यके प्रति जितने भी कारण हैं उन सबका अपने-अपने रूपमे होना आवश्यक है। वस्तुत अपर पक्षकी ओरसे मूल प्रश्न जिस प्रकारका उपस्थित किया गया था उसीको ध्यानमें रखकर पूर्वमें उस प्रश्नका उत्तर दिया गया और इस कारण स्वकालके विवेचनकी मुख्यता हो गई यह बात दूसरी है। अतएव अपर पक्षके द्वारा हमारा सिद्धान्त बतलाकर न तो कार्यके प्रति स्वकालकी मुख्यताका लिखा जाना ही ठीक है और न ही अपना सिद्धान्त बतलाकर यह लिखना ही ठीक है कि—

'और हमारा सिद्धान्त कालको तो कार्योत्पत्तिमे प्रधानता नही देता है, किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरग हेतु-उपादान कारणसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ अन्तरग हेतुको ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरग और बहिरंग (उपादान और निमित्त) दोनो कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ

भूतार्थरूपसे—भूत जो अर्थ भूतार्थ, उस रूपसे। यद्यपि यह 'भूत' शब्द पिशाच, जीव, सत्य और पृथ्वी आदि अनेक अर्थोमें विद्यमान है तथापि यहाँ पर 'सत्यवाची' भूत शब्दका ग्रहण किया है। तथा 'अर्थ' शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन, और स्वरूप आदि अनेक अर्थोमें विद्यमान है तथापि 'स्वरूप' अर्थमें लिया गया है, क्योकि अन्य अर्थके वाचक उक्त शब्दोका प्रकृतमें योजन नही है। भूतार्थसे अर्थात् सत्यस्वरूपसे अर्थात् यथार्थरूपसे।

इस प्रकार मूलाचारके उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि निश्चयनयसे की गई कर्ता-कर्मकी प्ररूपणा सत्यस्वरूप अर्थात् यथार्थ है। इसी प्रकार निश्चयनयसे की गई करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणकी प्ररूपणाको भी यथार्थ ही जानना चाहिए।

ऐसी प्ररूपणामें जब अभेदकी विवक्षा रहती है तब वह द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनयकी प्ररूपणा कहलाती है और जब कर्ता कर्मरूपसे भेदकी विवक्षा होती है तब उसीको पर्यायार्थिक निश्चयनयकी प्ररूपणा कहते हैं। यत यह प्ररूपणा एक द्रव्यके आश्रयसे होनेवाली परमार्थरूप प्ररूपणा है अत भेद विवक्षामें कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म ऐसा व्यवहार करने पर यही सद्भूतव्यवहारकी प्ररूपणा कहलाती है।

भगवान् कुन्दकुन्दने समयसारमें एक द्रव्यके आश्रयसे कर्ता-कर्मकी सिद्धि करते हुए लिखा है—

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण सो होइ ॥३१०॥
कम्म पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

इन दोनो गाथाओकी अर्थप्ररूपणा करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्दजी लिखते हैं—

जिस कारण वह आत्मा किसीसे भी नही उत्पन्न हुआ है इससे किसीका किया हुआ कार्य नही है और किसी अन्यको भी उत्पन्न नही करता इसलिए वह किसीका कारण भी नही है, क्योकि कर्मको आश्रय कर तो कर्ता होता है और कर्ताको आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है, अन्य तरह कर्ता-कर्मकी सिद्धि नही देखी जाती ॥३१०-३११॥

इन गाथाओंके भावार्थमें वे लिखते हैं—

सब द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने-अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। वे उनके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयकर किसीका किसीसे भी कर्ता-कर्मसम्बन्ध नही है। इस कारण जीव अपने परिणामोका कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसी तरह अजीव अपने परिणामोका कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इस तरह जीव अन्यके परिणामोका अकर्ता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें जो निश्चयसे परमार्थभूत कर्ता, कर्म आदिकी व्यवस्था है वह अपने-अपने स्वरूपको लिये हुए स्वत सिद्ध है, क्योकि किसी एक धर्मी या धर्म, कर्ता या कर्म आदिका स्वरूप परस्परकी अपेक्षासे हो ऐसा नही है। यदि वह स्वत सिद्ध न माना जाय तो उनमें धर्मकी अपेक्षा धर्मी और धर्मीकी अपेक्षा धर्म या कर्ताकी अपेक्षा कर्म या कर्मकी अपेक्षा कर्ता आदि रूप व्यवहार नही बन सकता है। अत इनके स्वरूपको स्वत सिद्ध स्वीकार करके ही इनके व्यवहारको परस्पर सापेक्ष जानना चाहिए। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृ० २३३ में लिखते हैं—

न हि कर्तृस्वरूप कर्मापेक्ष कर्मस्वरूप वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसंगात् नापि कर्तृत्व-व्यवहार कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्ष्य, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात् ।

कर्त्ताका स्वरूप कर्मसापेक्ष नही हैं। इसी प्रकार कर्मका स्वरूप कर्तासापेक्ष नही है, क्योकि ऐसा होनेपर दोनोके अभावका प्रसग आता है। परन्तु कर्तृत्वव्यवहार और कर्मत्वव्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं हैं, क्योकि कर्मके निश्चयपूर्वक कर्तृत्वका ज्ञान होता है और कर्त्ताके ज्ञानपूर्वक कर्मत्वका ज्ञान होता है।

इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० १६ में यह वचन लिखा है—

कथमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः ।

कैसे भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको स्वीकार करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा सभी द्रव्योमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विस्रसा अवस्थिति है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ८६ की टीकामें कर्त्ता, कर्म और क्रियाके यथार्थ स्वरूपपर जो प्रकाश डाला है वह इसी दृष्टिसे ही। वे लिखते हैं—

य परिणमति स कर्त्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

जो परिणमता है वह कर्त्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है। ये तीनो ही वस्तुपनेसे भिन्न नही है ॥५१॥

यह निश्चयसे कर्त्ता कर्मकी व्यवस्था है।

७. दो प्रश्न और उनका समाधान

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जानेपर कि कर्त्ता और कर्म ये स्वरूपसे स्वत सिद्ध होने पर भी इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, प्रकृतमें यह विचार करना है कि दो द्रव्योके आश्रयसे जो कर्त्ता और कर्मकी प्ररूपणा आगममें की गई है वह भी क्या उक्त प्रकारसे निश्चय और सद्भूतव्यवहार सज्ञाको प्राप्त होती है या उसे स्वीकार करनेका कोई अन्य प्रयोजन है। साथ ही दो द्रव्योंके आश्रयसे उक्त प्रकारकी प्ररूपणा जो आगममें उपलब्ध होती है वह किन-किन द्रव्योपर किस-किस प्रकार लागू होती है इसका भी प्रकृतमें विचार करना है, क्योकि अपर पक्ष सब द्रव्योके षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि कार्यमें दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्त्ता, कर्मकी व्यवस्थाको स्वीकार न कर मात्र एक द्रव्यके आश्रयसे ही उसे स्वीकार करता है। ये दो प्रश्न हैं जिनपर यहाँ क्रमश सागोपाग विचार किया जाता है—

१ जैसा कि हम पूर्वमें कई प्रमाण देकर स्पष्ट कर आये हैं उनसे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें कर्त्ता-कर्म आदि धर्म स्वरूपसे स्वत सिद्ध है। जिस प्रकार जीव द्रव्यमें ये स्वरूपसे स्वत सिद्ध हैं उसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्योमें भी जानना चाहिए। दो द्रव्योकी तो बात छोडिये, एक ही द्रव्यमें इन धर्मोका स्वरूप एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है इसे आगम स्वीकार नही करता। इसी कारण इन धर्मोका आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुपनेसे अभिन्न कहा है।

२ फिर भी एक ही वस्तुमे कर्त्ताधर्मके स्वीकार करने पर किसका कर्त्ता यह जिज्ञासा होती है और इसी प्रकार उसी वस्तुमें कर्मधर्म को स्वीकार करने पर किसका कर्म यह जिज्ञासा होती है, इसलिये आगममें इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष बतलाया गया है ।

३ वस्तुस्थिति यह है कि ये कर्त्ता आदि धर्म प्रत्येक वस्तुमें एकाश्रयवृत्ति होनेके कारण तथा धर्मी और धर्मकी एक सत्ता होनेके कारण पृथक्-पृथक् उपलब्ध नही होते, इसलिये तो अभेद है और सज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद है । यहाँ अभेद विवक्षामें 'य करोति स कर्त्ता' इस प्रकार जीवादि-द्रव्य अपने कार्योके स्वय कर्त्तारूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं और भेद विवक्षामे 'येन क्रियते तत्करणम्' इस प्रकार अपने-अपने सब कार्योंका करणधर्म भेदरूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त होता है । इसी प्रकार अन्य धर्मोंके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उनका स्वरूप घटित कर लेना चाहिए ।

४ यह सब कथन परकी अपेक्षा लगाये बिना वस्तु स्वरूपका उद्घाटन करनेवाला होनेसे अभेद विवक्षामें द्रव्यार्थिक निश्चयसज्ञाको और भेद विवक्षामें उस-उस धर्मकी अपेक्षा पर्यायार्थिक निश्चयसंज्ञाको प्राप्त होता है । यत द्रव्यार्थिक निश्चयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक निश्चय भी व्यवहार है, इसलिए यह व्यवहार सद्भूत होनेसे सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त होता है ।

५ यह वस्तुस्थिति है । इसके प्रकाशमें अब दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्त्ता आदिकी व्यवस्था आगममें उपलब्ध होती है उसका विचार करते है । यह तो सुविदित सत्य है कि **'आत्माश्रितो निश्चयनय'** (समय० गा० २७२ टी०) निश्चयनय आत्माके (स्वके) आश्रित है इस नियमके अनुसार आगममें जो दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्ता आदिकी व्यवस्थाका विधान उपलब्ध होता है वह न तो द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनयकी अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है और न ही पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है । इस प्रकार जब कि दो द्रव्योंके आश्रयसे आगममे प्रतिपादित कर्त्ता आदिकी व्यवस्था उक्त दोनो प्रकारसे निश्चय या भूतार्थ सज्ञाको प्राप्त न होनेके कारण अपरमार्थभूत सिद्ध होती है ऐसी अवस्थामें आगममें उसकी स्वीकृतिका प्रयोजन कोई दूसरा होना चाहिए ।

६ बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य विस्रसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव होनेपर भी उसके प्रत्येक समयके परिणमनमें अपनी-अपनी मर्यादाके भीतर जो भेद परिलक्षित होता है वह अपने-अपने निश्चय उपा-दानगत योग्यताके अनुरूप स्वयंकृत होकर भी व्यवहारसे अन्य द्रव्यकी जो पर्याय उस परिणामके अनुकूल होती है उसके सद्भावमें उत्पन्न होता है, इसलिए व्यवहारसे अन्य द्रव्यके जिस परिणामके सद्भावमें वह परिणाम उत्पन्न होता है उसमें कर्त्ता आदि रूपसे निमित्त व्यवहार किया जाता है । इसके लिए एक शास्त्रीय उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा । यथा—एक द्वयणुक है, जिसमें ऐसे दो परमाणु लीजिये जिनमें एक परमाणु दो स्निग्ध या दो रूक्षगुणवाला है और दूसरा परमाणु चार स्निग्ध या चार रूक्ष गुणवाला है । यत दो गुणवाले परमाणुके लिए उक्त ४ गुणवाला परमाणु व्यवहारसे परिणमनके अनुकूल है, इसलिए उसका सम्पर्क करके उक्त दो गुणवाला परमाणु परिणमनके अनुरूप अपनी उपादानगत योग्यताके कारण उक्त दूसरे परमाणुके अनुरूप परिणमनकर बन्धको प्राप्त हो जाता है । यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणुका उक्त चार गुणवाले परमाणुके अनुरूप परिणमन स्वयकृत है । उसे उक्त चार गुणवाले परमाणुने उत्पन्न नही किया है । फिर भी उसके सद्भावमे अपने बन्धरूप परिणामवश इस कार्यको उसने किया है, इसलिये उस परिणामका निश्चयकर्त्ता वह दो गुणवाला परमाणु होनेपर भी उस परिणामका व्यवहारकर्त्ता चार गुणवाला परमाणु कहा

जाता है। इसी तथ्यको आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ के **'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च'** ॥३७॥ इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया है।

यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणुकी उक्त चार गुणवाले परमाणुके साथ कालप्रत्यासत्ति है, इसलिए इस सूत्रमे उक्त बातको ध्यानमें रखकर चार गुणवालेको दो गुणवाले परमाणुको परिणमानेवाला कहा गया है। वस्तुत देखा जाय तो जिस प्रकार दो गुणवाले परमाणुने उस समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है उसी प्रकार चार गुणवाले परमाणुने भी उसी समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है, उस समय दोनो अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। यद्यपि चार गुणवाला परमाणु उस समय दो गुणवाले परमाणुको नही परिणमा रहा है अर्थात् चार गुणवाला परमाणु उस समय अपने व्यापारको छोडकर दो गुणवाले परमाणुके व्यापारमें क्रियाशील नही हुआ है, फिर भी लोकमें उक्त प्रकारका व्यवहार होता अवश्य है सो ऐसे व्यवहारका कारण जिसकी काल प्रत्यासत्ति होनेपर यह परिणाम हुआ है उसका ज्ञान कराना मात्र है। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके बन्धाधिकारमे **'जह फलहमणी सुद्धो'** इत्यादि रूपसे २७८ व २७९ सख्याक गाथायें लिखकर इसी तथ्यका ज्ञान कराया है और आचार्य अमृतचन्द्रने भी उन दोनो गाथाओकी टीकामे **'न जातु रागादि–'** इत्यादि कलश लिखकर इसी तथ्यको स्पष्ट किया है। यह एक शास्त्रीय उदाहरण है। लोकमें इस प्रकारके जितने भी कार्य होते हैं उन सबके विषयमे यह नियम जान लेना चाहिए।

७ अन्य एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योका उससे भिन्न दूसरे द्रव्यके जिस कार्यके अनुकूल व्यापार होता है वह व्यवहार हेतु कहा जाता है। इस तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रने श्री समयसार गाथा ८४ की टीकामे **'बहिर्व्याप्य-व्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाण'** इन शब्दो द्वारा स्वीकार किया है। इस वाक्यमें आया हुआ **'अनुकूलम्'** शब्द उक्त आशयकी सूचना स्पष्ट रूपसे कर रहा है। इससे तीन बातोका स्पष्ट ज्ञान होता है—

एक तो इस बातका ज्ञान होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक कार्यकी अपने समर्थ (निश्चय) उपादान-रूप कर्ताके साथ नियमसे अन्तर्व्याप्ति होती है उसी प्रकार उसकी जिनमें व्यवहारी जन कर्ता आदि व्यवहार करते हैं ऐसे दूसरे एक या एकसे अधिक द्रव्योकी पर्यायोके साथ नियमसे बाह्य व्याप्ति होती है। इन दोनोका एक कालमें होनेका नियम होनेसे इनमें कालप्रत्यासत्ति होती है और इसलिए ऐसा योग इनमें विस्रसा या प्रयोगसे सहज ही बनता रहता है।

दूसरे इस बातका भी ज्ञान होता है कि जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है ऐसे दूसरे एक या एकसे अधिक द्रव्योका वह व्यापार प्रत्येक समयके विवक्षित कार्यसे पृथक् ही होता है। निमित्त सज्ञाको प्राप्त होनेवाले वे पदार्थ प्रत्येक समयके उस विवक्षित कार्यमें व्यापार नही करते यह उक्त कथनका आशय है।

तीसरे इस बातका भी ज्ञान होता है कि उपादान कर्ताके अपने कार्यके प्रति व्यापारवान् होनेपर जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है ऐसे एक या एकसे अधिक द्रव्योका उस-उस समय होनेवाला वह व्यापार व्यवहारमे अनुकूल ही होता है। दूसरे शब्दोमे यदि इसी बातको प्रकट किया जाय तो इससे यह अनुमान होता है कि इस समय इस कार्यका यही समर्थ उपादानकर्ता है।

८ इस प्रकार सब द्रव्योके प्रत्येक समयके कार्यके अनुकूल प्रत्येक समयमे उपादान और निमित्तका सहज योग बनता रहता है और सब द्रव्योका प्रत्येक समयमें यथासम्भव विभाव या स्वभावरूप कार्य भी होता रहता है। अर्थात् ससार दशामे जीवका और बद्ध दशामें पुद्गलका विभावरूप कार्य होता है और

स्वभाव दशामें जीवका, परमाणुदशामें पुद्गलका तथा धर्म, अधर्म, आकाश और कालका सर्वदा स्वभावरूप कार्य होता रहता है। आगममे अनेक स्थलो पर कही उपादानकी अपेक्षा और कही निमित्तोकी अपेक्षा जो यह वचन दृष्टिगोचर होता है कि 'सर्वत्र कारणानुविधायि कार्यं भवति' सो उसका कारण यही है कि जिस समय जो भी काय होता है उसमें निश्चयसे उपादानकी और व्यवहारसे निमित्तोकी अनुकूलता दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि अन्य द्रव्यकी जो पर्याय व्यवहारसे कार्यके अनुकूल होती है उसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसमे निमित्त व्यवहार किया जाता है वह व्यवहारसे कार्यके अनुकूल होता है और कार्य व्यवहारसे उसके अनुरूप होता है।

९ अब प्रश्न यह है कि जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उनका प्राय व्यवहारसे कार्योंके अनुकूल और कार्योंका व्यवहारसे उनके अनुरूप होना आवश्यक है तो निष्क्रिय धर्मादि द्रव्य तथा क्रियावान् जलादि पदार्थ जीव-पुद्गलोंके गमनादिमें निमित्त कैसे हो सकेंगे ? यह प्रश्न आचार्योंके समक्ष था। उन्होंने द्वादशाग वाणीको लक्ष्यमें रखकर इस प्रश्नका जो समाधान किया है उसके प्रकाशमे सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ के इस वचनको हृदयगम कीजिए—

ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीव-पुद्गलाना गत्यादिहेतुत्व नोपपद्यते। जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीना गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति। नैष दोष, बलाधाननिमित्तत्वाच्चक्षुर्वत्। यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्तमिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति।

शका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो इनकी जीव-पुद्गलोकी गति आदिमें हेतुता नही बनती, क्योकि जलादिक क्रियावान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे गये हैं ?

समाधान—यह दोष नही है, क्योकि चक्षुके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे रूपके जाननेमें चक्षु निमित्त है, फिर भी व्याक्षिप्त मनवालेके रूपके जाननेमें वह निमित्त नही होता वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए।

यह आगम वचन है। इससे और पूर्वोक्त कथनसे हमे जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उनकी कार्योंके प्रति व्यवहारहेतुता दो प्रकारसे ज्ञात होती है—एक तो बलाधानमें हेतु होनेरूपसे और दूसरे कार्योंके अनुकूल परिणमनरूपसे। लोकमे जिन्हे उदासीन निमित्त कहते है उनकी प्रथम प्रकारमें परिगणना होती है और जिन्हें प्रेरक, निर्वर्तक या प्रयोजक निमित्त कहते हैं उनकी दूसरे प्रकारमें परिगणना होती है।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि पर वस्तु स्वभावसे निमित्त नही है। किन्तु जिस कार्यमें जो जिस प्रकारसे व्यवहारहेतु होता है उस अपेक्षा उसमे उस प्रकारसे निमित्तव्यवहार किया जाता है। आगममें इसका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २२ में परिणाम क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोग-विस्रसालक्षण विकार परिणाम ।१०। द्रव्यस्य चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यजातिमजहत पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्य बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भाव पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकार प्रयोग-विस्रसालक्षण परिणाम इति प्रतिपत्तव्य । तत्र प्रयोगः पुद्गलविकार, तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा। तत्र परिणामो द्विविध -अनादिरादिमाश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादि। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भाव कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुष-

प्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज. । अचेतनमृदादेः घटसंस्थानादिपरिणाम कुलालादिपुरुषप्रयोग-निमित्तत्वात् प्रयोगज. । इन्द्र धनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिक । तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्य. ।

द्रव्यका अपनी जातिका परित्याग किये बिना प्रयोग और विस्रसालक्षण विकार परिणाम है ॥१०॥ द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा न होनेसे तिर्यग्भूत अपनी द्रव्यजातिको न छोडते हुए चेतन-अचेतन द्रव्यका पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे प्रधानताको प्राप्त किसी एक पर्यायरूपसे उत्पन्न होना अर्थात् पूर्व पर्यायकी निवृत्तिपूर्वक प्रयोग-विस्रसालक्षण विकारका होना परिणाम है ऐसा जानना चाहिए। वहाँ प्रयोगका अर्थ पुद्‌गलविकार है। उसकी अपेक्षा किये बिना विक्रिया विस्रसा है। प्रकृतमें परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और सादि। लोकसंस्थान और मन्दराकारादि अनादि परिणाम है। सादि परिणाम प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेसे चेतनके कर्मोंके उपशमादि सापेक्ष होनेवाले औपशमकादिक भाव अपौरुपेय होनेसे वैस्रसिक कहे जाते है। ज्ञान, शील, भावनादि आचार्यादि पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होनेके कारण प्रयोगज हैं। अचेतन मिट्टी आदिका घटसंस्थान आदि परिणाम कुम्हार आदि पुरुषप्रयोगके निमित्तसे होनेके कारण प्रयोगज है। इन्द्रधनुष आदि नाना परिणाम वैस्रसिक हैं। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योका परिणाम भी जान लेना चाहिए।

यह तत्त्वार्थवार्तिकका वचन है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इसी सूत्रमें भी परिणामके इन्ही सब भेद-प्रभेदोका विशेष व्याख्यान किया है। उक्त उल्लेखमे यद्यपि 'प्रयोग' का अर्थ 'पुद्‌गल विकार' किया है। किन्तु इसका दूसरा अर्थ पुरुषका प्रयत्न भी है, जैसा कि उसी उल्लेखमें की गई आगेकी व्याख्यासे ज्ञात होता है। इस अभिप्रायको भट्टाकलंकदेवने इसी अध्यायके २४ वें सूत्रकी व्याख्यामें और भी स्पष्ट कर दिया है। इन उल्लेखोमें सब प्रकारके परिणामो (कार्यों) का विचार किया गया है। उनमेंसे जीवो और पुद्‌गलोंके सादि परिणामोका विचार करते हुए जो कुछ लिखा है उससे ये तथ्य फलित होते हैं—

(अ) जीवके औपशमिक आदि भाव सादि वैस्रसिक परिणाम हैं।

(आ) दान, शील, व्रतग्रहण और भावना आदि जीवके प्रयोगज परिणाम हैं।

(इ) कर्मोंके उपशम आदि, द्वयणुक स्कन्ध आदि तथा मेघगर्जन, उल्कापात, इन्द्रधनुष आदि पुद्‌गलके सादि वैस्रसिक परिणाम हैं।

(ई) घटनिर्माण आदि, यन्त्रादिकी गति आदि, भूखनन, जतु-काष्ठबन्ध आदि पुद्‌गलके सादि प्रयोगज परिणाम हैं।

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं उनके होनेमें व्यवहारसे कही पुरुषका प्रयत्न और कही अन्य सामग्री निमित्त अवश्य होती है। आगममें आकाशकी अवगाहना और कालद्रव्यका प्रति समयका समयपरिणाम ये दो कार्य ऐसे अवश्य बतलाये हैं जिनके होनेमें व्यवहारसे अन्य किसीको निमित्तरूपसे नही स्वीकार किया गया है। 'देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १२, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० २२। इनके सिवाय आगममें ऐसा अन्य एक भी कार्य नही स्वीकार किया गया है जिसके होनेमें व्यवहारसे बहिरंग हेतु न स्वीकार किया गया हो। अपर पक्ष उक्त दो कार्योंमे केवल अन्तरंग हेतुओका निर्देश करता तब तो कोई बात नही थी। परन्तु उसकी ओरसे इनका उक्त प्रकारसे होनेका तो कही उल्लेख तक नही किया गया, मात्र वह अनन्त अगुरुलघुगुणो (अविभागप्रतिच्छेदो) की षट्‌गुणी हानि-वृद्धिको अवश्य ही केवल स्वप्रत्यय माननेका आग्रह स्थान-स्थान पर करता है जो सर्वथा आगमके विपरीत है।

इसका विशेष विचार तो हम ११ वें प्रश्नका अन्तिम उत्तर लिखते समय ही करेंगे। यहाँ मात्र इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि जिन्हें अपर पक्ष अगुरुलघु नामक अनन्त गुण मान रहा है वे वास्तवमे गुण न होकर अविभागप्रतिच्छेद ही हैं। तभी तो आगममे उनकी हानि-वृद्धि स्वीकार की गई है। कोई भी गुण त्रैकालिक यावत् द्रव्यभावी होता है, इसलिए उसकी हानि-वृद्धि सम्भव नही। हानि और वृद्धि पर्यायोंमें ही होती है, गुणोकी अपेक्षासे नही, क्योकि गुणोकी वृद्धि मानने पर नये गुणोकी उत्पत्ति और उनकी हानि मानने पर उनके नाशका प्रसग उपस्थित होता है। यदि अपर पक्ष कहे कि कुछ पुराने गुणोका नाश होता है और कुछ नये गुण उत्पन्न होते हैं सो यह कहना बनता नही, क्योकि उत्पाद-व्यय पर्यायका होता है गुणोका या द्रव्य (सामान्य) का नही। अतएव आगममें जहाँ भी सामान्यसे अनन्त अगुरुलघुगुणोकी हानि-वृद्धि स्वप्रत्यय बतलाई है वहाँ मात्र स्वभावपर्यायके कथनकी मुख्यता होनेसे ही वैसा प्रतिपादन किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार इस प्रकरणके प्रारम्भमें हमने जिन दो प्रश्नोका उल्लेख किया था उनका यह सम्यक् समाधान है। इस समाधानसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्ता-कर्मकी प्ररूपणा आगममे उपलब्ध होती है वह असद्भूत व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही की गई है। वह प्ररूपणा उपचरित होनेसे निश्चय तथा सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त नही हो सकती। साथ ही इस समाधानसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्योंके आश्रयसे की गई वह प्ररूपणा किन किन द्रव्योपर किस किस प्रकार लागू होती है। इसके सिवाय इस समाधानसे हम यह भी जान लेते हैं कि आगममें जहाँ भी अनन्त अगुरुलघु गुणोंकी षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायका निर्देश किया है वहाँ वह स्वभावपर्यायका स्वरूपनिर्देश करनेकी दृष्टिसे ही किया है। इसका यह अर्थ नही कि उसके होनेमें व्यवहारसे कालद्रव्यकी भी निमित्तता नही है।

८ समस्याओका मुख्य हेतु अज्ञान भाव, श्रुतज्ञान नहीं

इतने विवेचनके बाद अब हम मुख्यरूपसे इस बातपर आते हैं कि अपर पक्ष यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा सब कार्योंका स्वकालमें होना नियत मानता है और श्रुतज्ञानी जीवोको वैसा श्रद्धा करनेकी सूचना भी करता है। फिर भी वह श्रुतज्ञानी जीवोंकी समस्त समस्याओका हल उसमे न देखकर कार्य-कारणपरम्पराको उससे भिन्न मानना चाहता है सो उस पक्षकी ऐसी मान्यता कहाँ तक ठीक है यही यहाँ पर विचार करना है। विचार करने पर तो यद्यपि उस पक्षका यह कथन परस्पर विरुद्धताको लिए हुए ही प्रतीत होता है, क्योकि इसमें प्रथम विसंगति तो यह है कि अपर पक्ष केवलज्ञानके विषयको भिन्न मानता है और कार्य-कारणकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके विषयको उससे सर्वथा भिन्न मानता है। तथा दूसरी विसगति यह आती है कि अपर पक्ष सम्यक् श्रद्धा तो केवलज्ञानके विषयके अनुसार करनेको कहता है और सम्यक् श्रद्धा विहीन श्रुतज्ञानके द्वारा कार्य-कारणकी स्थापना करके उसे फिर भी प्रामाणिक मानता है और साथ ही केवलज्ञानके अनुसार प्रवृत्त हुई द्वादशाग वाणीस्वरूप आगमसे उसका समर्थन करनेका उपक्रम भी करता है। है तो यह सब कल्पित विचारसरणी, फिर भी उस पक्षकी ओरसे जो कुछ लिखा गया है उस पर सागोपाग विचार तो करना ही है। अपने पक्षके समर्थनमें उस पक्षका कहना है—

'जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोमें कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुतज्ञानी जीवोके लिये दो प्रकारसे विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञानकी अपेक्षा श्रद्धा दृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यदृष्टिसे। **'जं जस्स जम्मि देसे'** इत्यादि आगम वाक्योमें पहली दृष्टिकी उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्यके

स्वप्रत्यय स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्य-कारणभाव पद्धतिका जो जैन सस्कृतिके आगम ग्रन्थोमें विस्तारसे विवेचन पाया जाता है वह सब श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यकी दृष्टिसे ही किया गया है ।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए क्यो किया गया है ? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव केवलज्ञानी जीवोकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशामें विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृत्यकृत्य हैं वहाँ श्रुतज्ञानियोके सामने हमेशा कृत्यो (कार्यों) के करनेकी समस्या खडी ही रहती है, जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तुके और उनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाले व्यापारोके केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर रह रहे हैं वहाँ कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानी जीवोको अपनी मौजूदा हालतोमें अनुभवमें आनेवाली जोड-तोड विठलानेकी आवश्यकता है । अत श्रुतज्ञानियोके लिये कार्योत्पत्तिकी कार्य-कारणभाव पद्धतिको अपनानेके सिवाय कोई चारा ही नही रह जाता है ।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवलज्ञानमें सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमे होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय होनेके कारण यथा-योग्य केवल उपादान कारणसे अथवा उपादान-निमित्तरूप दोनो कारणोंसे ही उत्पन्न होते हुए अनुभवमें आरहे हैं । चूँकि श्रुतज्ञानी जीवको केवलज्ञानका विषय केवल आस्थाका है, अत उस पर केवल आस्था रखनेका ही उसे आदेश दिया गया है और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवोके लिए उपयोगी नही हो सकती है । अत उनके लिए कार्य-कारणभाव पद्धतिको अपनानेका भी उपदेश दिया गया है । इसलिये जिसने कार्योत्पत्तिके लिये कार्य-कारणभाव पद्धतिके मार्गको समाप्त करनेका प्रयत्न किया वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायेगा अत' केवलज्ञानीने जैसा देखा है वैसा ही कार्य होगा उसपर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्तव्य है, कारण कि इस तरहकी श्रद्धा करनेसे अपने पुरुषार्थ द्वारा होनेवाली कार्यकी सफलतासे उसके अन्त करणमे अहकार पैदा नही होगा और असफलता मिलनेपर कभी दुख पैदा नही होगा । अपनी उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त ससारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है ? इस प्रकार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें तो नियतक्रमसे ही होती है और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियत क्रमसे भी होती हैं । इस तरह द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही हैं, अनियतक्रमसे नही । आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नही है । आप यह तो कह नही सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नही है, अत आपके सिद्धान्त पर हमारे लिये विचार करना आवश्यक हो गया ।'

यह अपर पक्षके प्रकृत प्रतिशका सम्बन्धी कथनका कुछ अश है । इसमें उस पक्षके पूरे वक्तव्यका सार आ जाता है । किन्तु यह सब कथन स्वयमें कितना भ्रामक है इसे समझनेके लिये हमे 'केवलज्ञानके अनुरूप ही श्रुतज्ञानका विषय होता है या अन्य प्रकारका' यह सर्वप्रथम जानना होगा । केवलज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निर्देश करते हुए स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमासामें लिखते है—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान सव तत्त्वोका प्रकाशन करनेवाले हैं । उनमें साक्षात् और असाक्षात्का ही भेद है । जो इन दोनोका विषय नही है वह अवस्तु है ॥१०५॥

पूर्वोक्त कारिका द्वारा प्रतिपादित तत्त्वको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि उक्त कारिकाकी व्याख्याके प्रसगसे अष्टसहस्रीमे लिखते हैं—

यथैव हि आगम परस्मै जोवादितत्त्वमशेष प्रतिपादयति तथा केवल्यपि, न विशेष , साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य।

जिस प्रकार आगम दूसरेके लिये अशेप जोवादि तत्त्वका प्रतिपादन करता हैं उसी प्रकार केवली भी, इस दृष्टिसे इन दोनोमें कोई भेद नही हैं। यदि भेद है तो साक्षात् जानने और असाक्षात् जाननेका भेद हैं, क्योंकि यह भेद तत्त्वपरिच्छित्तिहेतुक हैं।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखते हैं—

सुद-केवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसणि होति बोहादो।
सुदणाण तु परोक्ख पच्चक्ख केवलं णाण ॥३६९॥

ज्ञानकी अपेक्षा अर्थात् जाननेकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही सदृश हैं। परन्तु दोनोमें अन्तर यही हैं कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है ॥३६९॥

श्रुतज्ञान संशय आदि दोषोसे रहित होकर अनेकान्त स्वरूप सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षामें लिखते हैं—

सव्व पि अणेयंत परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
त सुयणाण भण्णदि संसयपहुदीहिं परिचत्तं ॥२६२॥

इस प्रकार आगमके उक्त उल्लेखोंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो केवलज्ञानका विषय हैं वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। विषयकी अपेक्षा इन दोनो ज्ञानोंमें कोई भेद नही है। यदि भेद है भी तो प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेकी अपेक्षा ही इन दोनों में भेद है अर्थात् कार्यकारणभाव पद्धतिके जो नियम केवलज्ञानमे झलके हैं उन्ही नियमोको श्रुतज्ञानी उसी प्रकारसे अपने ज्ञानद्वारा जानता है। इसी प्रकार सभी कार्य केवलज्ञानमें नियत क्रमसे होते हुए हो झलके हैं। अत श्रुतज्ञानी भी सभी कार्योंको नियत क्रमसे होता हुआ ही आगमके बलसे जानता है। कारण यह है कि केवली भगवान्के ज्ञानमें छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, उनके गुण-पर्याय, जीवादि नौ पदार्थ और कार्य-कारणभाव जिस रूपमें प्रतिभासित हुए, दिव्यध्वनिद्वारा उनका उसी रूपमें कथन हुआ, जिस रूपमें कथन हुआ, उनको गणधर देवोंने अपने सम्यक् श्रुतज्ञानके बलसे उसी रूपमें ग्रहण किया, जिसरूपमें गणधरदेवोने उनको ग्रहण किया, उनको उसी रूपमे द्वादशाग श्रुतमें निबद्ध किया और जिस रूपमें वे द्वादशाग श्रुतमें निबद्ध हुये, आरातीय आचार्योंने उनका उसी रूपमें प्ररूपण किया। जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमें भर लिया जाता है, अतएव वह क्षीरसागरका ही जल ठहरता है उसी प्रकार आरातीय आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए वे केवलज्ञान और उनकी दिव्यध्वनिके समान ही प्रमाण हैं।

—सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र २० के आधार से

अब विचार कीजिए कि जब केवलज्ञानमें यह भाषित हुआ है कि सब द्रव्य अनादिकालसे प्रत्येक समयमें अपने प्रतिनियत उपादानसे अन्य द्रव्योकी प्रतिनियत पर्यायोंको निमित्तकर प्रतिनियत कार्योंको ही

जन्म देते है तो क्या श्रुतज्ञान केवलज्ञानके इस विषयसे विपरीत निर्णय करेगा और यदि विपरीत निर्णय करेगा तो क्या उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कहा जा सकेगा ? अर्थात् नही कहा जा सकेगा। अपर पक्षने जब यह स्वीकार कर लिया है कि 'केवलज्ञानमे सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोसे स्वकालमे उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं' और वह पक्ष उसके अनुसार दूसरोको ऐसी श्रद्धा करनेकी प्रेरणा भी करता है। ऐसी अवस्थामें सम्यक् श्रुतज्ञानमें उक्त प्रकारका ही निर्णय होना चाहिए कि दूसरे रूपमे इसका अपर पक्ष स्वय विचार करे। अपर पक्ष केवलज्ञानके अनुसार पदार्थ व्यवस्था और कार्य-कारण परपराको स्वीकार करके भी श्रुतज्ञानके विषयको उससे अन्य प्रकारसे मानना चाहता है इसका हमें आश्चर्य है। स्वामी कार्तिकेयने **'ज जस्स जम्मि देसे'** इत्यादि (३२१–३२२) दो गाथायें लिखकर जो **'एव जो णिच्छयदो'** (३२३) गाथा लिखी है उसमें पठित **'जाणदि'** पद ध्यान देने योग्य है। इस पद द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि केवली जिनने सब जीवोका जिस कालमें जिस विधिसे जैसा जन्म अथवा मरण जाना है वह उसी प्रकार होगा, अन्य प्रकार नही होगा ऐसा जो श्रुतज्ञानी जीव अपने श्रुतज्ञानसे निश्चय पूर्वक जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। तथा जो इससे विपरीत कल्पना करता है वह सम्यग्दृष्टि नही है। अब विचार कीजिए कि स्वामी कार्तिकेयका यह लिखना क्या केवल श्रद्धाके लिये है या जाननेके लिए भी है। एक ओर तो सभी आचार्य यह लिखते हैं कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें विषयकी अपेक्षा कोई भेद नही है और दूसरी ओर अपर पक्ष कहता है कि विषयकी अपेक्षा इन दोनो ज्ञानोमें बडा भेद है तो बतलाइये कि आगम वचनोका श्रद्धान किया जाय या आप सब अपर पक्षके वचनोका। हमारी नम्र रायमें आगमकी ऐसी उपेक्षा कर उससे अपने अभिमतकी पुष्टि करना उचित नही है।

अपर पक्ष समारी जीवोके सामने उपस्थित अनेक समस्याओका उल्लेख करता है सो इस बातको हम भी अच्छी तरह जानते है कि ससारी जीवोके सामने अनेक समस्यायें हैं। उनके सामने जीवन मरणकी समस्या है, ससारिक सुख-दु खकी समस्या है, कुटुम्बकी और अपनी आजीविकाकी समस्या है, किस कालमें किस उपादानसे किसको निमित्तकर क्या कार्य होगा इसकी अजानकारी या मिथ्या जानकारी वश जोड-तोड बिठलाते रहनेकी भी समस्या है, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक और भी अनेक प्रकारकी समस्याएँ हैं इसमें सन्देह नही। पर उन सबका कारण क्या है इस ओर भी अपर पक्षका सम्यक् प्रकारसे क्या कभी ध्यान गया ? वास्तवमें देखा जाय तो इसका कारण केवल राग, द्वेष और मोह ही तो है, श्रुतज्ञान नही। श्रुतज्ञानको पराधीन बतलाकर व्यर्थमे लाछित मत कीजिए। जब तक यह जीव रागी, द्वेषी और मोही होकर प्रवर्त्तता है तब तक इस ससारी जीवके लिए ये समस्याएँ वस्तुत समस्याएँ बनी रहेंगी। चाहे हम हो या अन्य कोई, समस्याएँ व्यक्तिका पीछा नही करती, क्योकि उनकी जननी राग, द्वेष और मोह भाव ही तो हैं। जब तक राग, द्वेष और मोहके कारण यह प्राणी आकुलित बना रहेगा तब तक वह मृग-मरीचिकाके समान उनमें भटकता ही रहेगा इसमें सन्देह नहो। आचार्य अमृतचन्द्र समयसारकलशमें कहते हैं—

आससारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकैर्दुर्वार ननु मोहिनामिह महाहंकाररूप तम ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलय यद्येकवार व्रजेत्तत्कि ज्ञानघनस्य वन्धनमहो भूयो भवेदात्मन. ॥५५॥

इस जगतमें 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसा अत्यन्त दुर्निवारके परद्रव्य कर्तृत्वका महा अहकाररूप अज्ञानान्धकार मोही जीवोके अनादि ससारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो! भूतार्थ नयको ग्रहण करनेसे यदि वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुन बन्धन कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ॥५५॥

यह आगम वचन है। इसमे ससारी जीवोके समक्ष जो भी समस्याएँ खडी रहती हैं उन सबका मूल निदान करके उनका परमार्थरूप सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है। अतएव श्रुतज्ञानके आधार पर केवलज्ञानके विषयसे भिन्न यह निष्कर्ष निकालना तो ठीक नही है कि 'श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें तो नियत क्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियत क्रमसे भी होती हैं। और इस आधार पर हमारे 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे नही' इस सिद्धान्तको आगम विरुद्ध ठहराना भी ठीक नही है। वस्तुत किसी भी द्रव्यमें यदि कोई कार्य हमें अनियत क्रमसे होता हुआ प्रतिभासित होता है तो ऐसे प्रतिभासको मोहका ही साम्राज्य समझना चाहिए। मोही जीव ही अतरंग प्रतिनियत उपादानका विचार किये विना और प्रतिनियत वाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें लिये बिना केवल अपनी कल्पनाओवश बाह्य साधनोके आधार पर किसी भी कार्यके कभी भी होनेकी सोचता है और अतरग-बहिरग प्रतिनियत सामग्रीके अभावमें सोची गई तरकीबके अनुसार उस कार्यके न होने पर जो वास्तवमें उस कार्यके हेतु नही थे ऐसे दूसरे केवल बाह्य साधनोको ही दोषी ठहराता है, ज्ञानी जीव नही। स्पष्ट है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। अतएव केवली जिन अपने समस्त विषयोको जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूपसे जानते हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी जीव भी आगमके बलसे उक्त प्रकार निर्णयकर उनको उसी रूपमें जानते है। यदि कोई श्रुतज्ञान इससे भिन्न प्रकारसे जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नही कहा जा सकता। उसकी मिथ्या श्रुतज्ञानमें ही परिगणना होगी।

९ सर्वज्ञवचनका श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नहीं होता

अब रहा अपर पक्षका यह कथन कि 'उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त ससारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है?' सो पता नही कि अपर पक्षने ऐसा मिथ्या विधान करनेका साहस कैसे किया? यदि अपर पक्ष यह लिखता कि 'जो जीव सर्वज्ञके उक्त प्रकारके कथनकी श्रद्धा छोडकर पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है वह मिथ्यात्वके कारण अनन्त ससारका भागी होता है' तब तो बात दूसरी होती। किन्तु यहाँ तो अपर पक्ष उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर ही इस जीवको पुरुषार्थहीन और कृतघ्नी बनाकर मिथ्यादृष्टि और अनन्तससारी घोषित कर रहा है सो उसकी ऐसी घोषणाको विपरीत मान्यताका फल ही कहना चाहिए।

वस्तुत मूल प्रश्नके अनुसार तो प्रकृतमे विचार इस बातका होना था कि 'द्रव्योकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी', चूँकि अपर पक्ष शकाकार पक्ष है, इसलिये उसकी ओरसे हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें 'सभी कार्य नियत क्रमसे ही होते हैं' इसके समर्थनमें जो कुछ तर्क और आगम प्रमाण उपस्थित किये गये थे वे कैसे ठीक नही हैं यह शकारूपमें प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। परन्तु अपनी प्रतिशंकाके प्रारम्भमें यह सब कुछ न कर उसकी ओरसे यहाँ कुछ ऐसी बातोंका विधान किया गया है जिनका आगम और आगमानुसार तर्कोंसे कोई सम्बन्ध नही। क्या कोई वीतराग मार्गका सच्चा श्रद्धानी यह मान सकता है कि जो कोई सर्वज्ञदेवके वचनो पर श्रद्धा करता है वह पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है। यदि विचारकर देखा जाय तो ऐसा जीव जो कि सर्वज्ञदेवके वचनो पर श्रद्धान करता है अनन्त-पुरुषार्थी होगा, क्योंकि अनन्त-पुरुषार्थको प्रकट किये बिना किसी भी जीवको सर्वज्ञदेवके वचनो पर श्रद्धा हो ही नही सकती। हाँ, जो जीव उक्त प्रकारकी श्रद्धाका त्याग कर देगा वह अवश्य ही पुरुषार्थहीन

और कृतज्ञ हो जायगा। सर्वज्ञदेवके वचनोपर श्रद्धा करनेवाला जीव कार्यकारणभावमे स्वीकृत उपादान और बाह्य निमित्तके लक्षण जाने या न जाने पर वह यह अवश्य जानता है कि 'जिस कालमें जिस विधिसे जिस वस्तुका जो होना होगा वही होगा' उसमे फेर-फार इन्द्र और चक्रवर्तीकी बात तो छोडिये स्वय तीर्थंकर भी नही कर सकते। वस्तुत देखा जाय तो इस कथनमें कार्य-कारणभावके सभी सिद्धान्त निहित हो जाते हैं। यह दृष्टिकी बात है कि श्रुतज्ञानी जीव कब किस कार्यको किस रूपमें देखता-परखता है। अनन्त आकुलताओसे बचनेका तो यह मार्ग है ही, सम्यक् आत्मपुरुषार्थको जागृत कर अपने स्वरूपमे स्थित होनेका भी यही मार्ग है, क्योकि आकुलता ही दु ख की खान है और निराकुलता सुखकी जननी है। इसलिए प्रकृतमें ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिसने सर्वज्ञके वचनोमें यथार्थ श्रद्धा की उसने उनके स्वरूपको जान लिया और जिसने उनके स्वरूपको जान लिया उसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया और जिसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया उसे अपने यथार्थ कर्तव्यका भान हो गया। (देखो प्रवचनसार गाथा ८०)।

वीतराग सर्वज्ञने सम्यक् श्रद्धानुसारी चारित्र (कर्तव्य) को ही सच्चा चारित्र कहा है, इसलिए जैन-धर्मके आगम ग्रन्थोकी प्ररूपणामें अपर पक्षके द्वारा ऐसा भेदका किया जाना उचित नही है कि 'कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुतज्ञानी जीवोके लिए दो प्रकारकी विवेचना की गई है—'एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धादृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यदृष्टिसे।' मालूम पडता है कि आगमग्रन्थोकी प्ररूपणामें ऐसे विभागकी दृष्टि बनानेसे ही अपर पक्षके सामने जटिलता उपस्थित हुई है और इसलिए वह उपादानके स्वरूपको ओर ध्यान दिये बिना केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कार्य-कारणभावकी स्थापना करना चाहता है। एक ओर तो वह कार्य-कारणभावकी प्ररूपणाको केवलज्ञानके विषयसे बहिर्भूत करता है और दूसरी ओर वह अनन्त अगुरुलघु गुणोकी षड्गुणी हानि-वृद्धिमे बाह्य द्रव्यकी निमित्तताका निषेध कर इसे अनुभवगम्य बतलाता है, जब कि आचार्योंने अनन्त अगुरुलघु गुणोकी स्वीकृति ही आगमप्रमाणसे मानी है। यदि अपर पक्ष केवलज्ञानके विषयसे भिन्न श्रुतज्ञानका विषय क्या है ? क्या जो मात्र पांच इन्द्रियो द्वारा दृष्टिगोचर होता है वह श्रुतज्ञानका विषय है या और कुछ इसका स्पष्टीकरण करनेके बाद अपने पक्षको उपस्थित करता तो अधिक उपयुक्त होता। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है कि श्रुतज्ञानी जीवोके सामने जो भी सासारिक समस्याएँ हैं उनका एकमात्र हल केवल-ज्ञानके विषयके अनुसार श्रद्धा कर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही है, अन्य दूसरे सब उपाय झूठे हैं। कार्य-कारणभावकी समस्याका सम्यक् समाधान प्राप्त करनेका भी यही उपाय है, क्योकि जिनागममे वस्तुस्वरूपके विवेचनके प्रसगसे कार्य-कारणभावका स्पष्ट निर्देश किया ही है।

१० क्रमबद्ध या नियतक्रम पदका अर्थ

अब उक्त प्रतिशकाके उस भाग पर विचार करते है जिसमें 'क्रमबद्ध' पदका अर्थ करके अपर पक्ष द्वारा श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे वस्तुकी द्रव्यपर्यायो और गुणपर्यायोंके नियतपने और अनियतपनेकी स्थापना की गई है। 'क्रमबद्ध' पदका अर्थ करते हुए अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'सामान्यत क्रम शब्दका प्रयोग कालिकसम्बन्धके आधार पर हुआ करता है।' सो इस सम्बन्धमें इतना ही लिखना है कि 'क्रम' शब्दका प्रयोग दैशिक क्रम, कालिक क्रम और गणनाक्रम आदि अनेक अर्थोमें होता है। इतना अवश्य है कि प्रकृतमें एक द्रव्य या एक गुणसम्बन्धी पर्यायें विवक्षित होनेसे यहाँ कालिक क्रम ही लिया गया है। किन्तु पर्यायें

एकके बाद एक होती हुई वे अपने-अपने स्वकालके अनुसार नियत क्रमसे ही होती हैं या उनका अपना-अपना कोई स्वकाल न होनेसे वे अनियत क्रमसे भी होती हैं इस बातका यहाँ विचार करना है। अपर पक्ष केवलज्ञानकी अपेक्षा तो उनका अपने-अपने स्वकालमें नियतक्रमसे होना मानकर भी श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उनका नियत और अनियत दोनो प्रकारसे होना मानना चाहता है। इस तरह वह केवलज्ञानके विषयसे श्रुतज्ञानके विषयमें भेद करके अपने अभिमतकी सिद्धि करना चाहता है। यहाँ अपर पक्षने कुछ पर्यायोमें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनियत क्रम और नियत क्रमकी कल्पना कर उनके कुछ उदाहरण देकर लिखा है—

'जैसे जीवकी क्रोध पर्यायके बाद क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायोमेंसे यथासम्भव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसीप्रकार मानादि पर्यायके बाद भी उक्त चारो पर्यायोमेसे कोई भी एक पर्याय हो सकती है नियत कोई एक पर्याय नही। इसी प्रकारकी व्यवस्था यथासम्भव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक पर्यायोंके बारेमें भी समझना चाहिए। इन सब पर्यायोमें एकके बाद एकरूप क्रम तो रहता है परन्तु नियत क्रम नही रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्य पर्यायके बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देवपर्यायके बाद सिर्फ तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारक पर्यायसे सिर्फ तिर्यञ्च पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्यायसे केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय भी ऐसी होती है जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्यायसे केवल देवपर्याय ही सम्भव होती है। तिर्यञ्च पर्यायके बाद भी आगम समस्त अपने ढगकी ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवल क्रम (अनियत-क्रम) पर्यायोमें यथायोग्य समझना चाहिए।' इत्यादि।

श्रुतज्ञानकी अपेक्षा पर्यायोमें नियतक्रम और अनियतक्रम किस प्रकार है इस बातसे सम्बन्ध रखनेवाला यह अपर पक्षका कथन है। अपर पक्षने इस कथनमें एक स्थल पर 'आगम सम्मत अपने ढगकी ऐसी ही व्यवस्था है।' यह उल्लेख भी किया है। इससे इतना तो सुनिश्चित ज्ञात होता है कि अपर पक्ष आगमसम्मत व्यवस्थाके अनुसार ही यह सब लिख रहा है और आगमकी रचना सर्वज्ञ वीतरागकी दिव्यध्वनिके अनुसार ही हुई है। ऐसी अवस्थामें पर्यायोसम्बन्धी इस व्यवस्थाको केवलज्ञानके विषयके अनुसार मानना ही उचित होगा। और इस तथ्यको तो अपर पक्षने ही स्वीकार किया है कि केवलज्ञानमें सब पर्यायें नियत-क्रमसे होती हुई ही झलकती हैं, अनियतक्रमसे होती हुई नही। ऐसी अवस्थामे आगमके अनुसार प्रवृत्त हुए श्रुतज्ञानमे भी उन सब पर्यायोका एकमात्र नियतक्रमसे होना अपर पक्षको निश्छल भावसे स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रुतज्ञानमे यदि नियतक्रमसे कब कौन पर्यायें उत्पन्न होगी यह पर्यायोंके परोक्ष होनेके कारण ज्ञात नही हो पाता तो इतने मात्रसे उनका अनियत क्रमसे होना स्वीकार नही किया जा सकता।

वस्तुतः अपर पक्षने जिस ढगसे पर्यायोके नियतक्रम और अनियतक्रमसे होनेके विषयमें अपनी प्रतिज्ञका प्रस्तुत की है वह ढग मूल प्रश्नको स्पर्श नही करता, क्योंकि क्रोध, मान, माया या लोभ या नारकादि चारो पर्यायें किस क्रमसे हो तो नियतक्रम समझा जाय और उस क्रमसे न हों तो अनियतक्रम समझा जाय ऐसी व्यवस्था आगममें नही की गई है। अतएव अपर पक्षने पर्यायोंके नियतक्रम और अनियतक्रमके विषयमें जो भाष्य किया है वह प्रकृतमें लागू नही होता। प्रकृतमें प्रश्न ही दूसरा है जिसे दृष्टिसे ओझल करके अपर पक्ष जिस किसी प्रकार श्रुतज्ञानके नाम पर अपने कथित अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है। क्रोधके बाद दूसरे क्षणमें अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्तकर क्रोधादि

चारोंमेसे एक कोई भी हो इसमें बाधा नही है। यहां देखना तो यह है कि जब क्रोधके बाद अपने प्रति नियत उपादानके अनुसार जो पुन क्रोध होता है तब उसके स्थानमें क्रोध न होकर बाह्य सामग्रीके बल पर मानादि तीनमेंसे क्या अन्य कोई हो सकता है ? इस सम्बन्धमें आगमके अनुसार हमारा कहना तो यह है कि क्रोधके बाद पुन क्रोध होता है तब वह अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार स्वकालमें ही होता है, बाह्य सामग्रीके बलसे उसमें फेर-बदल नही हो सकता। अतीत कालकी सभी पर्यायें प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होती आई है और भविष्यमें भी प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होती रहेंगी। प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पर्यायें प्रत्येक समयमें अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अपने अपने कालमें पाँच समवाययुक्त कारक साकल्यके साथ नियतक्रमसे ही हुई हैं, होगी और होती है। प्रत्येक द्रव्य तीनो कालोकी पर्यायोका पिण्ड है यह वचन आगममे इसी आधार पर कहा गया है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखा है—

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥५८२॥

एक द्रव्यमें त्रिकालसम्बन्धी जितनी अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय हैं उतना ही द्रव्य है ॥५८२॥

द्रव्यका यह लक्षण तभी बनता है जब जितने कालके समय हैं पर्याय दृष्टिसे तत्प्रमाण प्रत्येक द्रव्यके स्वरूपको स्वत सिद्ध स्वीकार कर लिया जाय और इस आधार पर जिस प्रकार लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर आधार-आधेयभाव (निमित्त-नैमित्तिकभाव) से एक-एक कालाणु अवस्थित है उसी प्रकार कालके एक-एक विवक्षित समयके साथ पर्यायदृष्टिसे प्रत्येक द्रव्यका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार करना उचित ही है। केवलज्ञान तो ऐसे नियतक्रमको प्रत्यक्षरूपसे जानता ही है, श्रुतज्ञानी भी आगमके बलसे ऐसा ही निश्चय करता है। यही कारण है कि कार्य-कारणभावमें कालको भी स्थान मिला हुआ है। प्रत्येक कार्यके प्रति प्रति-नियत कारणरूपसे जिन पाँचका समवाय निश्चित है उसका निर्देश इसी प्रत्युत्तरमें हम पहले कर ही आये हैं। अणुरूपसे काल द्रव्यको पृथक्-पृथक् क्यो माना गया है इसका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ३९९ का यह कथन दृष्टव्य है—

नानाद्रव्य कालः, प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद् व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्ते । तत्र दिवसादिभेदत पुन क्रियाविशेषभेदान्नैमित्तिकाना लौकिकाना च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेण नोपपद्येत। यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितसत्व-मिति प्रतिलोकाकाशप्रदेश कालद्रव्यभेदसिद्धिः, तत्साधनस्यानवद्यत्वात्, अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धे ।

काल द्रव्य नाना है, अन्यथा आकाशके प्रत्येक प्रदेशके प्रति व्यवहार कालका भेद नही बन सकता है। उसमें दिवसादिके भेदसे तथा क्रियाविशेषके भेदसे नैमित्तिक और लौकिक जनोमे व्यवहार कालका भेद प्रसिद्ध ही है। और दूसरोके द्वारा स्वीकार किया गया वह व्यवहार कालका भेद गौण है जो कि मुख्य काल द्रव्यके बिना नही बन सकता। जिस प्रकार मुख्य सत्त्वके बिना कही पर उपचरित सत्त्व नही बनता, इसलिये लोका-काशके प्रत्येक प्रदेशपर काल द्रव्यके भेदकी सिद्धि होती है। अन्यथा व्यवहार काल नही बन सकता, इससे निश्चय कालको सिद्धि निर्दोष है।

यह उल्लेख स्वयमें बहुत स्पष्ट है। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि कालके विवक्षित समय-को निमित्त कर जो पर्याय उत्पन्न होती है उसका वही स्वकाल है। उस समय वह उत्पन्न न हो या उसे

टालकर उत्पन्न हो यह नही हो सकता। इस प्रकार मणियोंकी मालाके समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुणकी तीनो कालसम्बन्धी पर्यायोंके मणि सूत्रके समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुणमें नियतक्रमसे गुम्फित हैं। जिस प्रकार सूत्रमें गुम्फित मणियोको अपने-अपने स्थानसे च्युत नही किया जा सकता उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुणमें गुम्फित तीनो कालसम्बन्धी पर्यायोको उस-उसकाल समयसे अलग नही किया जा सकता। कोई इसे माने या न माने, प्रत्येक वस्तु तो स्वरूपसे स्वत सिद्ध ऐसी ही है। इसमें अन्य किसीका दखल नही। इसलिए प्रत्येक द्रव्य या गुणकी सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होती हैं ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए (देखो प्रवचनसार गाथा ९९ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृत टीका)।

इस प्रकार उक्त विवेचनसे प्रकृतमें क्रमवद्ध या नियतक्रम पदका क्या अर्थ इष्ट है उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

११ स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गा० ३२३ की संस्कृत टीका

अब हम प्रकृत प्रतिशकाके उस भाग पर विचार करेंगे जिसमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ की सस्कृत टीकामें उद्धृत **'त्रैकाल्य द्रव्यषट्क'** इत्यादि प्रसिद्ध पदके आधारपर अपर पक्षने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। इस सबन्धमें अपर पक्षका वक्तव्य है कि—

'उस टीकामें उद्धृत **'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्क'** इत्यादि पद प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए करनेका प्रयत्न किया है जो मालूम पडता है कि प्रकृत प्रश्नके महत्त्वको पाठकोंकी दृष्टिमें कम करनेके उद्देश्यसे ही आपने किया है।'

सो अपर पक्षका यह वक्तव्य हमें बडा ही उपहासास्पद प्रतीत हुआ, क्योंकि उक्त पद एक तो सस्कृत टीकामें जहाँ जैसा निबद्ध था, हमने उस टीकाके साथ वैसा ही उद्धृत कर दिया है और सस्कृत टीकाके अर्थके साथ उसका भी अर्थ लिख दिया है। हमने उक्त पदके आधार पर जब किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी ही नही की ऐसी अवस्थामें हमने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिये किया है या हम पाठकोंकी दृष्टिमें प्रकृत प्रश्नका महत्त्व घटाना चाहते हैं, अपर पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना मात्र पक्षपात पूर्ण दृष्टिका सूचक प्रतीत होता है।

दूसरे प्रकृतमें उक्त पदका उपयोग ही नही है यह लिखना न केवल हमें लाछित करता है, अपितु संस्कृत टीकाकारको भी लाछित करनेवाला है। टीकाकारने उसे उद्धृत किया और बुद्धिपूर्वक उसे उद्धृत किया, क्योकि स्वामी कार्तिकेयकी **'एव जो णिच्छयदो'** इत्यादि ३२३ संख्याक गाथाके द्वितीय चरणके अन्तमें **'दव्वाणि सव्वपज्जाए'** पाठ पठित है। इसलिये इस पाठके आधारपर वे द्रव्य और सब पर्यायें कौन है इस बातका ज्ञान करानेके लिये ही टीकाकारने **'त्रैकाल्य द्रव्यषट्क'** इत्यादि पद उद्धृत किया है। इसलिये प्रकृतमें उक्त पदका उद्धृत किया जाना न केवल उपयोगी है, किन्तु आवश्यक भी है। इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह कायिक जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्रके भेद आदि जो भी सब द्रव्य और सब पर्यायें जिनागममे कहे गये हैं वे सब नियत और क्रमनियत ही होते हैं। द्रव्य नियत होते हैं और पर्यायें क्रमनियत ही होती है, क्योंकि नियतरूप द्रव्यके साथ पर्यायोका बननेवाला क्रम क्रमनियत ही होगा। अन्यथा द्रव्य, गुण और पर्यायोकी एक सत्ता नही बन सकती। वस्तुत अपर पक्षको उक्त श्लोकका संस्कृत टीकामे उद्धृत किया जाना खटका, इसलिए उसकी ओरसे उक्त श्लोकको आलम्बन कर गलत ढगसे यह टीका-टिप्पणी की गई है।

१२ सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है।

इस टीका-टिप्पणीके बाद अपर पक्षने विस्तारके साथ यह दिखलानेका पुन प्रयत्न किया है कि क्या नियत है और क्या अनियत है और अन्तमें आप्तमीमासाकी कारिका १०५ **'स्याद्वाद केवलज्ञाने'** उद्धृत करनेके पूर्व यह वक्तव्य निबद्ध किया है—

'यदि कार्यके स्वदेश और स्वकालका अभिप्राय जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में प्रगट किया गया है वैसा गृहीत किया जावे तो वह भी इस प्रकारसे सही होगा कि केवलज्ञानमें सभी कार्य प्रतिनियत कारणोसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे है, लेकिन केवलज्ञानमें यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञानमें भी केवलज्ञानकी तरह ही कार्य झलकना चाहिए—यह अभिप्राय उन गाथाओका नही है, कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियोका ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्वमें बतलाया जा चुका है, अत- स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ द्वारा श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानके विषयके प्रति मात्र श्रद्धा करनेका उपदेश देते हुये ऐसे श्रद्धावान व्यक्तिको सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया है।'

यह अपर पक्षका प्रकृत विषयमें उपसहारात्मक वक्तव्य है। आचार्य समन्तभद्रने भी **'स्याद्वाद-केवलज्ञाने'** इत्यादि १०५ सख्याक कारिका द्वारा केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें यथावस्थित पदार्थोंको मात्र प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेकी अपेक्षा भेद बतलाया है—सब द्रव्यो और उनकी पर्यायोको केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे जैसा जानता है, श्रुतज्ञान उनको परोक्षरूपसे वैसा ही जानता है। केवलज्ञान एक ही ज्ञेयको किसी दूसरे प्रकारसे जाने और श्रुतज्ञान उसी ज्ञेयको किसी दूसरे प्रकारसे जाने ऐसा भेद इन ज्ञानोमें नही है और न उक्त कारिकाका यह आशय ही है। आचार्य विद्यानन्दिने भी इसकी टीका अष्टसहस्रीमें **'साक्षादसाक्षाच्च तत्परिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्‌भेदस्य'** इस वचन द्वारा यही प्रगट किया है कि केवलज्ञानमें जो पदार्थ जिस रूपसे प्रत्यक्षरूपसे झलकते हैं, श्रुतज्ञानमें वे ही पदार्थ उसी रूपमे आगमके बलसे परोक्ष रूपमें झलकते हैं। फिर नही मालूम कि अपर पक्ष इन दोनो ज्ञानोमें अन्य किस प्रकारसे अपने कल्पित भेदको प्रसिद्ध करना चाहता है। अपर पक्ष द्वारा ऐसा लिखा जाना तो पूरे जिनागमका अपलाप करनेके समान है। इसका न केवल हमें आश्चर्य है, किन्तु समस्त जैनपरम्परा इसमे आश्चर्यका अनुभव करेगी। अब तक तो पूरी जैन परम्परा यह जानती और श्रद्धान करती आई कि सब पदार्थ केवलज्ञानमे जैसे झलके हैं वैसा प्रत्येक जैनको आगमानुसार श्रद्धान करना चाहिए और जानना भी वैसा ही चाहिये। प्रवचनसारमें साधुको **'आगमचक्षु'** (गाथा २३४) इसी अभिप्रायसे कहा है। और साधु श्रुत-सयमधर ही होते हैं, इसलिए श्रुतके आधारसे साधु जैसा उपदेश दे श्रावकोंको भी वैसा ही मानना चाहिए और श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु अब अपर पक्ष अपने नये विचारोको जैन परपरामे प्रस्थापित करनेके अभिप्रायसे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयमे भेद बतलाकर ऐसा मत प्रकट करनेका साहस करता है कि केवलज्ञानमे जिस प्रकार सब कार्य क्रम नियतरूपसे झलकते है उस प्रकार श्रुतज्ञानमें सब कार्य क्रमनियतरूपसे नही झलकते, इसलिए श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कुछ कार्य क्रम-नियत हैं और कुछ कार्य क्रम-अनियत है।

अपर पक्षके इस कथनके आधारपर विचार यह करना है कि यदि किसी श्रुतज्ञानमे सब कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें नियतक्रमसे होते हुए नही झलकते हैं तो यह किसका दोष है—केवलज्ञानका या आगमका या उस श्रुतज्ञानका ? केवलज्ञानका तो यह दोष माना नही जा सकता, क्योकि यह तो अपर पक्षने ही स्वीकार कर लिया है कि—'केवलज्ञानमे सभी कार्य प्रतिनियत कारणोसे स्वकालमे उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं।'

आगमका भी यह दोष नही माना जा सकता है, क्योकि जैन परम्परामें आगम उसीको स्वीकार किया गया है जिसकी रचना केवलज्ञानी वीतराग जिनकी द्वादशाग वाणीके अनुसार हुई है। इसलिए ऐसे आगममें वही बात प्रतिपादित की गई होगी जो केवलज्ञानमें झलकी होगी। केवलज्ञानमें कुछ दूसरी बात झलकी हो और आगममें कोई दूसरी बात लिपिबद्ध की गई हो यह त्रिकालमें नही हो सकता। ऐसा मानता और लिखना तो पूरे जिनागमको ही अप्रमाण ठहराना है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक तो विचार करेगा ही। साथ ही वह अपने कल्पित अभिमतकी पुष्टिमे जो आगम वाक्योंका विपर्यास कर रहा है उससे विरत होनेकी भी चेष्टा करेगा।

अब रह गया तीसरा विकल्प सो इसका अपर पक्षको ही निश्चय करना है कि जो श्रुतज्ञान केवलज्ञानमें झलकनेवाले विषयको आगमानुसार उसी रूपमें न जानकर उससे विपरीतताको लिये हुए जानता है उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कैसे कहा जा सकता है, वह तो मिथ्या श्रुतज्ञान ही ठहरेगा।

इसलिए सिद्ध हुआ कि यदि मिथ्या श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अपर पक्ष सभी कार्योका नियतक्रम और अनियतक्रमसे होना सिद्ध करना चाहता है तो भले करे, उसकी इच्छा। परन्तु उस पक्षका यह प्रयास आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञानके अनुसार किया गया उपक्रम तो नही माना जा सकता, क्योंकि आगमानुसारी सम्यक् श्रद्धापूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है, आगममे उसे ही सम्यक् श्रुतज्ञानके रूपमे स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार इस विवेचनके प्रकाशमें जब हम उन बातों पर विचार करते हैं जिनके द्वारा विविध उदाहरण उपस्थित कर कुछ कार्योंको क्रमनियत और कुछ कार्योको क्रमअनियत सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सब कथन सम्यक् श्रुतज्ञान या केवलज्ञानके विषयके अनुसार प्रतिपादन करनेवाले परमागमकी प्रतिष्ठा करनेके अभिप्रायसे नही किया गया है किन्तु केवल बाह्य इन्द्रियज्ञान और मानसिक कल्पनाओंकी पुष्टिमें उसका विपरीत ढगसे उपयोग किया गया है। अपर पक्षके उक्त कथनमें निहित अभिप्रायके पीछे न तो परमागमका ही बल है और न ही केवलज्ञानके अनुसार पदार्थ व्यवस्थाके सम्बन्धमे हुई श्रद्धाका ही बल है। अतएव सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है, क्योंकि दीपक और प्रकाशके समान सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। (देखो पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ३४) ऐसा समझ कर यही निर्णय करना चाहिए कि सब पदार्थ केवलज्ञानमें जिस प्रकार झलकते हैं श्रुतज्ञानमें भी वे सब पदार्थ आगमके बलसे उसी प्रकार झलकते हैं। इसमें अवस्था भेद और ज्ञानभेद बाधक नही है।

१३ प्रकृत प्रतिशंकाके कतिपय कथनोका खुलासा

अब इसी बातको उक्त वक्तव्यके कतिपय कथनोंके माध्यमसे थोडा आगम और तर्ककी कसौटीपर कस कर देख लेना चाहते हैं।

१:

अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशकामें एक बात मुक्त जीवोंके अवस्थानको लक्ष्यमें रख कर लिखी गई है। उस पक्षका कहना है कि—

'मुक्त जीवोंका लोकके अग्रभागमे अवस्थान स्वभावत नहीं है, क्योकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन

करनेका ही है, परन्तु गमन करने के लिए उन्हे चूँकि धर्मद्रव्यका अवलम्बन आगे प्राप्त नही है अत लोकके अग्रभागमें ही उनका अवस्थान हो जाता है।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। यहाँ सर्व प्रथम विचार यह करना है कि जो भी कार्य होता है वह स्वभावकी परिधिमें होकर भी समर्थ उपादानके अनुसार स्वकालमें अन्य द्रव्यको निमित्त कर होता है या उपादानके विना केवल स्वभावके अनुसार अन्य द्रव्यको निमित्त कर होता है? द्वितीय पक्ष तो इसलिए ठीक नही है, क्योकि आगममे कही भी उपादानके बिना केवल स्वभावसे अन्य द्रव्यको निमित्तकर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार नही की गई है। रह गया प्रथम पक्ष सो उसे स्वीकार करने पर तो यही मानना उचित है कि मुक्त जीवोका उपादान ही लोकान्त तक गमन करनेका होता है, इसलिए उनकी लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगति होती है और लोकान्तमे स्थित होनेका उपादान होनेसे वहाँ वे स्थित हो जाते हैं। इस गति और स्थितिमें बाह्य द्रव्योका आलम्बन भी तदनुकूल होता है, इसलिए जैसे उनकी स्वभाव ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार लोकान्तमें स्वभाव स्थिति भी होती है। मुक्त जीवोकी ये दोनो गति और स्थिति स्वभावरूप ही है। यदि मुक्त जीवोका लोकान्तमें अवस्थान स्वभावत नही माना जाता है तो वहाँ उस विभावरूप स्थितिका विभावरूप उपादान और उनके अनुकूल निमित्त भी स्वीकार करना होगा। किन्तु इसका स्वीकार किया जाना न तो आगम सगत है और न ही तर्क सगत है। उदाहरणार्थ एक पुद्गल परमाणुको लीजिए। इसमें लोकान्तप्रापिणी द्रव्ययोग्यताके रहते हुए भी अपने उपादानके अनुसार उसकी एक प्रदेश, दो प्रदेश आदि तक ही स्वभावगति होती है और अपने उपादानके अनुसार वह नियत प्रदेशतक गमनकर स्वभाव स्थिति कर लेता है। श्री तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ में लिखा है—

जीव-पुद्गलाना स्वयमेव गतिपरिणामिनां तदुपग्रहकारणात्वेनानुमीयमानो धर्मास्तिकाय। तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दता बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकाय.।

स्वय गति करनेवाले जीव और पुद्गलोकी गतिमे उपग्रहकारणरूपसे अनुमान किया गया धर्मास्तिकाय है तथा स्वयं ही स्थितिको धारण करनेवाले उन्हीकी स्थितिमें बाह्य उपग्रह कारणरूपसे अनुमान किया गया अधर्मास्तिकाय है।

इसमें स्पष्ट शब्दोमें यह स्वीकार किया गया है कि जीव और पुद्गल स्वय गति करते हैं और स्वयं स्थित होते है। अब यदि अपर पक्षके अनुसार सिद्ध जीवोका लोकाग्रमें अवस्थान स्वभावत न माना जाय तो उनका वहाँ अवस्थित होना स्वय ही स्थित होना कैसे कहलायेगा। धर्म द्रव्य तो गतिका निमित्त है, इसलिए यह कार्य उसका तो माना नही जा सकता और अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त है, इसलिए ठहरने रूप क्रियाका कर्ता उसे भी नही माना जा सकता। और ऐसा माना नही जा सकता, कि सिद्ध जीव लोकाग्र भागमें स्थित नही होते, क्योकि ऐसा माननेमें आगमसे विरोध आता है। अत प्रकृतमें यही मानना उचित है कि सिद्ध जीवोकी गति और स्थिति अपने उपादानके अनुसार स्वभावसे होती है। उनके मुख्य कर्ता सिद्ध जीव ही हैं, धर्म-अधर्म द्रव्य नही। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ में लिखा है—

उपकारो बलाधानं अवलम्बन इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयो. गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधान-कर्तृत्वमपोदित भवति।

उपकार, बलाधान और अवलम्बन ये एकार्थवाची शब्द हैं। इससे धर्म और अधर्म द्रव्यका गति और स्थितिके करनेमे प्रधान कर्तापनका निरसन हो जाता है।

आगममें एक प्रश्न उठाया गया है कि आलोकाकाशमें कालद्रव्यका अभाव होनेसे वहाँ उनकी उत्पाद-व्यय रूप पर्यायका बाह्य कारण क्या है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वहाँ बतलाया है कि लोकाकाश और अलोकाकाश यह प्रयोजन विशेषसे किया गया विभाग है, वस्तुत स्वय आकाशमें ऐसा भेद नही है, इसलिए सर्वत्र आकाशकी उत्पाद-व्ययरूप पर्यायमें कालद्रव्यकी निमित्तता बन जाती है। इसी न्यायसे यदि सिद्ध जीव लोकाग्रको लाँघकर ऊर्ध्वगति कर जावें, मात्र अधोभागके कुछ आत्मप्रदेश लोकाकाशकी ऊर्ध्व सतहको स्पर्श किये रहे तो उनकी उस गतिमें धर्मद्रव्यकी निमित्तता बन जानेसे कोई बाधा नही आती। फिर ऐसा क्यो नही होता ? किन्तु ऐसा होता नही यह तो आगमसे ही स्पष्ट है। इससे विदित होता है कि सिद्ध जीवोकी लोकके अग्रभाग तक गति और वहाँ स्थिति तत्त्वत अपने उपादानके अनुसार ही होती है, धर्म और अधर्म द्रव्य तो उनकी गति और स्थितिमें निमित्तमात्र है।

इस प्रकार पूर्वोक्त समग्र विवेचनपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सिद्ध जीवोकी विभावके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें स्वभावगति होती है उसी प्रकार विभागके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें उनकी स्वभाव स्थिति भी होती है। और यह बात असिद्ध भी नही है, क्योकि सिद्धोकी ऊर्ध्वगति स्वाभाविकी होती है इसे सब आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है।

मुक्तस्योर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम् ।—पचास्तिकाय गा० ७३ टीका ।

तथा स्थितिका अन्तर्भाव परिणाममें होनेसे वह स्वाभाविकी है ही। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २२ में **'स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति'** ऐसा कहा भी है। अत अपर पक्षका न तो यह लिखना ही ठीक है कि 'सिद्ध जीवोका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावत नही है और न यह लिखना ही ठीक है कि 'केवल धर्मास्ति-कायके अभावमें सिद्ध जीव लोकाग्रसे आगे गमन नही करते।' लोकाग्रसे आगे सिद्ध जीव गमन नही करते यह नयवचन है जो गतिके मुख्यकर्ता निश्चय उपादानका सूचन करता है। इसलिए **'धर्मास्तिकायाभावात्** (त० सू०, अ० १० सू० ८) इस वचनको व्यवहारनयका वचन मानकर व्याख्यान करना उचित है।

सिद्ध जीवोका ऊर्ध्वगमन होता है यह भी नयवचन है जो इस बातको सूचित करता है कि मुक्त जीवोका ऊपरको ही गमन होता है, दिगन्तर गमन नही होता ऐसा स्वभाव है, ऊर्ध्वगमन करते ही रहना ऐसा उनका स्वभाव नही है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १० सू० ८ में इस तथ्यको ध्यानमें रखकर लिखा भी है—

मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्यय स्वभाव नोर्ध्वगमनमेवेति ।

यदि स्वभावकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो स्वभावसे ही सब द्रव्य लोकमें अवस्थित हैं, अन्यके कारण नही। और इसी कारण **'यत्र षड्द्रव्याणि लोक्यन्ते स लोक'** जहाँ छह द्रव्य देखे जाते हैं वह लोक है यह कथन किया गया है।

२

अपर पक्षने दूसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है। केवल-ज्ञानमें जो अपरिमित सामर्थ्य (योग्यता) का आगममे वर्णन आता है, या सर्वार्थसिद्धिके देवोंमे सातवें नरक तक गमन करनेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है, या देवेन्द्रका जम्बूद्वीपको पलटनेरूप सामर्थ्यका वर्णन आता है, या कुम्हारमें निमित्तपनेकी अपेक्षा विविध प्रकारके मिट्टीके घट आदि बनानेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है,

या मिट्टीमें छोटे-बडे अनेक घटादि कार्यरूप परिणमनेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है, या अध्यापक और शिष्यमें क्रमसे निमित्त-उपादानकी अपेक्षा अनेक शास्त्रोके पढाने-पढनेरूप सामर्थ्यका वर्णन आता है सो यह सब कथन द्रव्यार्थिक दृष्टिसे किया गया है या पर्यायार्थिक दृष्टिमे इस तथ्य पर यदि अपर पक्षका ध्यान जाता तो उसने जिस अभिप्रायकी पुष्टिसे वह सब वक्तव्य लिखा है उसके लिखनेका प्रयोजन ही नही रहता। प्रश्न तो यह है कि प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है वह कैसे होता है ? क्या जो द्रव्य-पर्यायशक्तियुक्त मिट्टी घट-रूप परिणम रही है वह उसी समय गाय आदि खिलौनारूप परिणम सकती है ? द्रव्यदृष्टिसे तो प्रत्येक द्रव्यमे जितनी त्रैकालिक पर्यायें सम्भव है वे सब योग्यतारूपमे विद्यमान हैं। परन्तु प्रत्येक समयमें जो एक-एक पर्याय होती है उसका कारण क्या ? आचार्योंने तो इसका अन्तरग (वास्तविक) कारण पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यको बतलाया है। जिस समय जिसका जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य उपादान होता है उसीके अनुसार उससे दूसरे समयमें कार्य होता है और दूसरे समयमें जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य पदार्थ उपादान होता है उसके अनुसार उसके तीसरे समयमें कार्य होता है। इसी प्रकार सब समयोकी अपेक्षा सब द्रव्योमें कार्यकारणभावको जान लेना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रकृतमें द्रव्य-योग्यताओका उल्लेख कर किन्ही कार्योंको नियत (निश्चित) और किन्हीको अनियत (अनिश्चित) सिद्ध करना ठीक नही है।

: ३ :

अपर पक्षने नियत (निश्चित) योग्यतारूपसे तीसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है। मिट्टी तभी मिट्टी कहलाती है जब वह पुद्गलकी विवक्षित पर्यायरूपसे परिणमती है, इसलिये इसकी कालक्रमसे पर्यायशक्तियुक्त द्रव्ययोग्यताएँ भी सीमित है। वस्त्र वानस्पतिक पर्याययुक्त पुद्गलसे बनता है, मिट्टी पर्याययुक्त पुद्गलसे नही। इसलिये यह उदाहरण ही इस तथ्यकी पुष्टि करता है कि विवक्षित पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही विवक्षित कार्यको जन्म देता है। उससे बाह्य सामग्रीके बल पर अन्य कार्य त्रिकालमें नही हो सकता यह सुतराम् सिद्ध हो जाता है। यदि इसी नियत (निश्चित) योग्यतायुक्त मिट्टीको उदाहरण बनाकर अपर पक्ष कार्य-कारणभावको लक्ष्यमे ले तो सभी कार्य अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार नियत समयमें ही होते हैं यह सिद्धान्त उसकी समझमें आने-में देर न लगे।

: ४ :

अपर पक्षने चौथी बात यह लिखी है कि 'प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्तिके लिहाजसे उतनी ही सख्यामें मानी जा सकती है जितने त्रिकालके समय निश्चित हैं। परन्तु इससे वस्तुकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेकी योग्यताएँ निश्चित नही की जा सकती हैं।' साथ ही अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिमें अपर पक्षने पुन केवलज्ञानको उदाहरणरूपमे उपस्थित किया है तो इस सम्बन्धमें भी यही निवेदन है कि प्रत्येक द्रव्यमे पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य कार्यकारी माना गया है, अतएव आगममें उसीकी उपादान सज्ञा है। यत आगममें प्रत्येक द्रव्यकी सब पर्यायें कालके सब समयोंके बराबर होती हैं, न कम होती हैं और न अधिक होती हैं। इसलिये सब द्रव्योमें उतनी ही पर्यायें होती है और उतने ही उनके उपादान होते हैं। योग्यताकी दृष्टिसे द्रव्यशक्तियाँ चाहे जितनी मानी जायँ, परन्तु उससे कार्योंकी पूर्वोक्त व्यवस्थामें कोई अन्तर नही पडता, क्योंकि जो वर्तमानमें पर्याय शक्ति है वह स्वय द्रव्यशक्तिके साथ उपादान बनकर अगले समयके कार्यका

नियमन करती है। यही क्रम सब द्रव्योकी सब पर्यायोमें जान लेना चाहिए। इस विषयकी पुष्टिमें अष्ट-सहस्री पृष्ठ २२६ का यह वचन द्रष्टव्य है—

न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्त क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत्। पर्यायो वा न केवलोऽर्थ-क्रियाहेतु, तत एव केवल द्रव्यवत्।

केवल द्रव्य अर्थक्रियाका हेतु नही है, क्योकि क्रमयौगपद्यका विरोध है, केवल पर्यायके समान। अथवा केवल पर्याय अर्थक्रियाका हेतु नही है, उसी कारणसे, केवल द्रव्यके समान।

अतएव अनेक द्रव्यशक्तियोंके आधार पर उपादानको अपने-अपने कार्यके प्रति अनिश्चित सिद्ध करना उचित नही है। स्पष्ट है कि द्रव्यशक्तियाँ कितनी ही क्यो न हो, किन्तु एक कालमें वे सब कार्योत्पत्तिके सन्मुख न होकर जो पर्यायशक्ति जिस कार्यका उपादान होती है उसी कार्यके अनुकूल द्रव्यशक्ति कार्यके सन्मुख होती है।

• ५

आगे अपर पक्षने कार्य-कारण परम्पराके अनुसार पहले तो उपादानके अनुसार कार्यका होना स्वीकार कर लिया है। परन्तु इससे अपने पक्षकी हानि होती हुई देखकर यह भी लिख दिया है कि—

'यहाँ पर वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर जिस पर्यायका होना सम्भव हो इस वाक्यमें 'सम्भव हो' के स्थानमें 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिए नही किया गया है कि कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्यायके अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी यह नियम नही बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्यायके अनन्तर उपादानगत योग्यताके आधारपर भिन्न-भिन्न निमित्तोका योग मिलनेपर विविध प्रकारकी पर्यायोंमेंसे कोई एक पर्यायका होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्यायका होना ही सम्भव नही है।' आदि।

सो इस सम्बन्धमें पृच्छा यह है कि आगममे जो उपादानका लक्षण किया है वह सम्भावनाको ध्यानमें रखकर किया है या कार्यका नियमन करनेकी दृष्टिसे किया है? आचार्य समन्तभद्र तो '**यद्यसत्सर्वथा कार्य**' (४२) आप्तमीमासाकी इत्यादि कारिका द्वारा उपादानको कार्यका नियामक बतला रहे हैं और अपर पक्ष उसे सम्भावनामें मान रहा है सो यह क्या बात है? मालूम पडता है कि अपने द्वारा माने हुए जिस श्रुतज्ञान के द्वारा कार्य-कारण भावकी व्यवस्था की जानेकी अपर पक्षने पूर्वमें प्रतिज्ञा की है उसीको आधार बनाकर अपर पक्षके द्वारा यह सब लिखा जारहा है, आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञानके आधारपर नही। आगममें जहाँ-जहाँ उपादानका सुनिश्चित लक्षण लिपिबद्ध हुआ है वहाँ-वहाँ या अन्यत्र कही भी आगममें ऐसा एक भी वाक्य दृष्टिगोचर नही हो सका जिससे इस बातकी पुष्टि हो कि उपादानका सुनिश्चित लक्षण सम्भावनाकी दृष्टिसे लिखा जारहा है। उपादानके लक्षणमें द्रव्यके पूर्व दो विशेषण दिये हैं प्रथम विशेषण तो है 'पर्याययुक्त' पद, और कैसी पर्याययुक्त द्रव्य होना चाहिए इसका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिए कहा है कि 'जो द्रव्य अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त होता है' वही अपने अगले समयके कार्यका उपादान होता है, अन्य नही। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादानका यह लक्षण सम्भावनाकी दृष्टिसे न लिखा जाकर उपादानके अन्तरग स्वरूपपर प्रकाश डालनेके अभिप्रायसे ही लिखा गया है। यह उपादानका आत्मभूत लक्षण है। आगममे जिन-जिन वस्तुओंके जो-जो आत्मभूत लक्षण लिखे गये है वे सब उन-उन वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डालनेके अभिप्रायसे ही लिखे गये हैं। उपादानके इस लक्षणको भी उसी प्रकारका समझना चाहिए।

आगममें जिसकी प्रागभाव सज्ञा है उसीकी उपादान सज्ञा है, ये दोनो विधि-निषेध मुखसे एक ही

अर्थको सूचित करते हैं। यत' प्रागभाव किसी नियत कार्यका ही माना जा सकता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि उपादानका उक्त लक्षण नियत कार्यकी दृष्टिसे ही आगममें स्वीकार किया गया है। यदि पर्यायशक्तिको अगले कार्यका उपादान न मानकर केवल अनेक द्रव्यशक्तियोको ही उपादान रूपसे स्वीकार किया जाता है तो कार्योत्पत्तिके समय अनन्तर पूर्व पर्यायका प्रध्वसाभाव नही बनेगा, क्योकि विवक्षित कार्यके प्रति अनन्तर पूर्व पर्याय तो कार्यकारी हुई नही, केवल कोई एक द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी हुई, ऐसी अवस्थामें अनन्तर पूर्व पर्याय कार्यके कालमें तद्वस्थ ही बनी रहेगी। उसका प्रध्वसाभाव नही होगा और इस प्रकार केवल द्रव्यशक्तिसे कार्यकी उत्पत्ति मानने पर प्रत्येक कार्यके कालमें अतीत सब पर्यायोके स्वीकार करनेका प्रसग उपस्थित हो जायगा। यह तो बडी भारी आपत्ति उपस्थित होती ही है इसके साथ और भी अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती है जिनका विशेष विचार प्रसंगानुसार प्रतिशका छहके उत्तरमें करेंगे। मात्र यहाँ इस बातका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि यदि अपर पक्षके कथनानुसार उपादानमें अनेक योग्यताएँ मानकर निमित्तोंके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उसमें भी अनेक योग्यताएँ होनेसे एक तो कार्यकी उत्पत्ति ही नही बन सकेगी, क्योकि जैसे उपादानमे अनेक योग्यताएँ होनेसे कौन योग्यता कार्यरूपसे परिणत हो यह निश्चित नही किया जा सकता उसी प्रकार सहकारी सामग्रीमें भी अनेक योग्यताएँ होनेसे कौन योग्यता उस कार्यके लिए निमित्त हो यह भी निश्चित नही हो सकेगा। और ऐसी अवस्थामें किसी भी द्रव्यसे कोई भी कार्य नही उत्पन्न हो सकेगा। और कार्यके न उत्पन्न हो सकनेसे द्रव्य अपरिणामी हो जायगा। और इस प्रकार अन्तमें सब द्रव्योका अभाव ही मानना पडेगा। यत किसी भी द्रव्यका अभाव न हो, अत नियत उपादानसे ही नियत कार्यकी उत्पत्ति मान लेना यही कार्य-कारणभावकी सम्यक् व्यवस्था है। साथही उसका नियत निमित्त भी मानना चाहिए, क्योकि प्रत्येक कार्यके प्रति इन दोनोका सुमेल (मैत्री) है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक कार्यके प्रति आभ्यन्तर और बाह्य उपाधिकी समग्रता बनती रहती है। कही यह समग्रता विस्रसा बनती है और कही पुरुषप्रयत्नसापेक्ष बनती है। कार्यकारणकी परम्परामे क्रमानुपातीरूपसे दोनोका यह योग बनता रहता है इतना सुनिश्चित है।

हमें इस बातका अत्यन्त खेद है कि अपर पक्षने भगवान् समन्तभद्रकी आप्तमीमासाकी कारिकाएँ १०५ और १०१ अपने गलत अभिप्रायकी पुष्टिमें उपस्थित की। कहाँ तो समन्तभद्र स्वामी उन कारिकाओ द्वारा आगमानुसारी श्रुतज्ञानको केवलज्ञानके समान बतलाकर दोनोंके मध्य प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद होते हुए भी दोनोका विषय एक बतला रहे हैं और कहाँ अपर पक्ष अपने सम्यक् श्रद्धा विहीन श्रुतज्ञानकी पुष्टिमें उनका उपयोग करना चाहता है। इसे आगमका दुरुपयोग करनेके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। यदि कारिका १०१ में केवलज्ञानके सिवाय शेष चारो ज्ञानोंको क्रमभावी कहा भी है तो वह दूसरे अभिप्रायमे ही कहा है। फिर मालूम नही कि अपर पक्षने उक्त कारिकामे आये हुए 'क्रमभावि' पदसे अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनेका कैसे साहस किया। अथवा क्रम शब्दके साथ सर्वत्र आया हुआ 'अक्रम' शब्द युगपत्वाची है, इसलिए भी अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धि नही होती। विशेष विचार आगे करने वाले हैं ही।

१४. आगमपठित क्रम-अक्रम पदका सही अर्थ

आगे अपर पक्षने धवला पुस्तक १३ पृ० ३४६ से 'सई भयवं' इत्यादि मूल सूत्र उद्धृत कर धवला टीकामें आये हुए अनुभागका लक्षण लिख कर उसमे पठित 'कमाकमेहि' पदसे अपने अभिप्रायके

अनुसार नियतक्रमता (निश्चितक्रमता) और अनियतक्रमता (अनिश्चितक्रमता) रूप अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की है। सो अपर पक्ष द्वारा उक्त कथनसे यह अर्थ फलित करना ठीक नही है, क्योकि वहाँ पर आया हुआ 'अक्रम' शब्द 'युगपत्' अर्थका वाची है, 'अनियतक्रमता' अर्थका वाची नही। जैनदर्शनके ग्रन्थोमें यह पद **'क्रमाक्रमाभ्याम्'** या **'क्रमयौगपद्याभ्याम्'** इस रूपमे अनेक स्थलो पर आता है और वहाँ पर 'क्रम' पदसे क्रमानुपाती पर्यायोंका तथा 'अक्रम' पदसे एक साथ होनेवाली पर्यायोका ग्रहण हुआ है इस बातको प्रत्येक दर्शनशास्त्रका अभ्यासी अच्छी तरहसे जानता है। प्रकृतमे 'अक्रम' पदका अर्थ ही 'न क्रम-अक्रम अर्थात् युगपत्' होता है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षने 'अक्रम' पदका अर्थ 'अनियतक्रमता' कैसे कर लिया इसका हमें आश्चर्य है। अनगारधर्मामृत अ० २ पृष्ठ १०२ में **'जीवे नित्येऽर्थसिद्धि.'** इत्यादि श्लोकमें **'क्रमावक्रमाद्वा'** इस पाठके साथ 'क्रम' और 'अक्रम' ये शब्द आये हैं। वहाँ इनका अर्थ करते हुए लिखा है—

क्रमात् कालक्रमेण देशक्रमेण च। न केवलम्, अक्रमाद्वा अक्रमेण च यौगपद्येन,

पर्यायें क्रमवृत्त भी होती हैं और युगपत्वृत्त भी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सू० ४२ पृ० २५९ का यह वचन अवलोकन करने योग्य है—

स च पर्यायो युगपद्वृत्त क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्याय अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्ते गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादि। क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-बाल्याद्यवस्था-लक्षण.।

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोधसे एक साथ होनेवाली जीवकी पर्याय एक साथ होनेके कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और सयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि अवस्थालक्षण क्रमवर्ती पर्याय हैं।

भट्टाकलकदेव जैनदर्शनके प्रभावक आचार्य हो गये हैं। उन्होने अपने लघीस्त्रयमें भी क्रम और अक्रम शब्दोंका प्रयोग क्रम और युगपत्के अर्थमें किया है। वे लिखते हैं—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयो.।
क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतया मता॥

सर्वथा नित्य पक्ष और सर्वथा क्षणिक पक्षमें क्रम और यौगपद्यरूपसे अर्थक्रिया नही बन सकती, किन्तु वह (अर्थक्रिया) पदार्थोंकी लक्षणरूपसे स्वीकार की गई है।

प्रकृत कारिकामें आये हुए क्रम और अक्रम पदका उक्त अर्थ हमने ही किया हो यह बात नही है। उक्त कारिकाके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रने भी इन पदोका यही अर्थ किया है।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५, सूत्र ३८ में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त का उल्लेख कर दो ही प्रकारके अनेकान्त बतलाये हैं। वे लिखते हैं—

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्य क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥

गुणवाला द्रव्य है यह सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए कहा है और पर्यायवाला द्रव्य है यह क्रमानेकान्त-की जानकारीके लिए कहा है ॥२॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सभी पर्यायें अपने नियत क्रमको लिए हुए स्वकालमे ही होती हैं। इसलिए धवलाके उक्त कथनमें आये हुए 'कमाकमेहिं' पदका अर्थ नियतक्रम और अनियतक्रम न होकर क्रम और युगपत् ही होता है। अतएव उक्त पदके आधारसे प्रकृतमें यही अर्थ करना उचित है कि केवली भगवान्का ज्ञान सूत्र पठित सब बातोके ज्ञानके साथ-साथ द्रव्योके क्रमसे और युगपत् होनेवाले सभी परिणमनोको भी जानता है। अत. अपर पक्षके द्वारा धवलाके उक्त पदके आधारसे यह अर्थ फलित किया जाना उचित नही है कि—

'नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनो वस्तु-परिणमनके ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उनमें सम्पन्न होते हैं। और चूँकि पदार्थकी जैसी स्थिति हो वैसी ही केवलज्ञानीके ज्ञानमे झलकती है अत. वस्तु परिणमनमें पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमतारूप दोनो धर्म केवलज्ञानके भी विषय होते है।' आदि।

क्योंकि अपर पक्ष द्वारा अपनी कल्पनाके आधार पर धवलामें आये हुए उक्त पदका नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप अर्थ करने पर न तो केवलज्ञानकी ही सिद्धि होती है और न ही पदार्थव्यवस्था बन सकती है। साथ ही अपर पक्ष द्वारा पूर्वमें स्वीकृत केवलज्ञानके स्वरूप और उसके विषयके साथ जो विरोध आता है वह भी एक विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतएव सभी आचार्योंने क्रम और अक्रम पदका जो क्रमनियत और युगपत् अर्थ किया है वही यहाँ लेना चाहिए। इससे सभी व्यवस्था सुघटित बन जाती है।

इसके बाद पूर्वोक्त पूरे कथनका पिष्टपेषण करते हुए अपर पक्षने अन्तमें जो यह लिखा है कि—

'इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्य-कारणभावको समझिए, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइए लेकिन इसमें अहकारी मत बनिए, अधीरता मत दिखाइए, असफलतासे दुखी मत हूजिए, विवेकी, गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ श्रद्धाके साथ कर्तव्य पथपर डट जाइए, डट जावें तो फिर डटे रहिए, उस कर्तव्यपथसे च्युत नही हूजिए—यही सम्यकका चिह्न है, इसीमें आस्तिक्य भाव झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुंज आपको मिलेगा और निर्वेदभाव, अनाशक्तिभावकी छाया इसीमें प्राप्त होगी।'

सो एक ओर जब अपर पक्षके पिछले कथनके विरुद्ध अतएव अटपटे इस कथनको पढते हैं और दूसरी ओर ऐसा लिखनेवाले अपर पक्षके उस सिद्धान्तपर दृष्टिपात करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि उपादानमें अनेक योग्यताएँ हैं। उनमेसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह निमित्तोंके आधीन है।' तो हम दग रह जाते हैं। कहाँ एक ओर तो स्वावलम्बनकी मुख्यतासे लिखे गये उक्त वचन और कहाँ दूसरी ओर कार्य-कारणमें पराधीनता स्वीकार करानेवाले दूसरे वचन। मालूम पडता है कि स्वावलम्बन क्या वस्तु है और परावलम्बन क्या वस्तु है इनके सम्यक् स्वरूपकी ओर ध्यान न देनेके कारण ही अपर पक्षने यह परस्पर विरुद्ध कथन किया है, गीतामें आये हुए **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** इस वचनकी उक्त वचनोको कापी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही, होगी। गीता भी तो यही कहती है कि फल अर्थात् कार्यमें तुम्हारा कोई अधिकार नही, वह ईश्वरके आधीन है। अपर पक्षका भी यही कहना है कि किस उपादानसे क्या कार्य हो यह उपादानके आधीन नही, यह सब निमित्तके आधीन है। इस प्रकार जब कि गीता और अपर पक्ष दोनोंके अभिप्रायसे कार्य निमित्तोंके आधीन हो गया तो विचार कीजिए कि कर्ममें उपादानका अधिकार कहाँ रह गया। अपर पक्षके कथनानुसार उपादानका कार्य है कि वह प्रत्येक तन्मे मात्र उपस्थित रहे। निमित्तको उसमें जैसी रचना करना होगी, करेगा। उपादान इसमें ननु न च नहीं

अनुसार नियतक्रमता (निश्चितक्रमता) और अनियतक्रमता (अनिश्चितक्रमता) रूप अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की है। सो अपर पक्ष द्वारा उक्त कथनसे यह अर्थ फलित करना ठीक नही है, क्योंकि वहाँ पर आया हुआ 'अक्रम' शब्द 'युगपत्' अर्थका वाची है, 'अनियतक्रमता' अर्थका वाची नही। जैनदर्शनके ग्रन्थोमें यह पद **'क्रमाक्रमाभ्याम्'** या **'क्रमयौगपद्याभ्याम्'** इस रूपमे अनेक स्थलो पर आता है और वहाँ पर 'क्रम' पदसे क्रमानुपाती पर्यायोंका तथा 'अक्रम' पदसे एक साथ होनेवाली पर्यायोका ग्रहण हुआ है इस बातको प्रत्येक दर्शनशास्त्रका अभ्यासी अच्छी तरहसे जानता है। प्रकृतमे 'अक्रम' पदका अर्थ ही 'न क्रम-अक्रम अर्थात् युगपत्' होता है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षने 'अक्रम' पदका अर्थ 'अनियतक्रमता' कैसे कर लिया इसका हमें आश्चर्य है। अनगारधर्मामृत अ० २ पृष्ठ १०२ में **'जीवे नित्येऽर्थसिद्धि.'** इत्यादि श्लोकमें **'क्रमावक्रमाद्वा'** इस पाठके साथ 'क्रम' और 'अक्रम' ये शब्द आये हैं। वहाँ इनका अर्थ करते हुए लिखा है—

क्रमात् कालक्रमेण देशक्रमेण च। न केवलम्, अक्रमाद्वा अक्रमेण च यौगपद्येन,

पर्यायें क्रमवृत्त भी होती हैं और युगपत्वृत्त भी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सू० ४२ पृ० २५९ का यह वचन अवलोकन करने योग्य है—

स च पर्यायो युगपद्वृत्त. क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्याय अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्ते गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादि। क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-बाल्याद्यवस्था-लक्षण·।

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोधसे एक साथ होनेवाली जीवकी पर्याय एक साथ होनेके कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और सयम आदि सहावस्थायी पर्याय हैं तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि अवस्थालक्षण क्रमवर्ती पर्याय हैं।

भट्टाकलकदेव जैनदर्शनके प्रभावक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अपने लघीस्त्रयमें भी क्रम और अक्रम शब्दोका प्रयोग क्रम और युगपत्के अर्थमें किया है। वे लिखते हैं—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयो·।
क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतया मता॥

सर्वथा नित्य पक्ष और सर्वथा क्षणिक पक्षमें क्रम और यौगपद्यरूपसे अर्थक्रिया नही बन सकती, किन्तु वह (अर्थक्रिया) पदार्थोंकी लक्षणरूपसे स्वीकार की गई है।

प्रकृत कारिकामे आये हुए क्रम और अक्रम पदका उक्त अर्थ हमने ही किया हो यह बात नही है। उक्त कारिकाके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रने भी इन पदोका यही अर्थ किया है।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५, सूत्र ३८ में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त का उल्लेख कर दो ही प्रकारके अनेकान्त बतलाये हैं। वे लिखते हैं—

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्य क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥

गुणवाला द्रव्य है यह सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए कहा है और पर्यायवाला द्रव्य है यह क्रमानेकान्त-की जानकारीके लिए कहा है ॥२॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सभी पर्यायें अपने नियत क्रमको लिए हुए स्वकालमे ही होती हैं। इसलिए धवलाके उक्त कथनमें आये हुए 'कमाकमेहि' पदका अर्थ नियतक्रम और अनियतक्रम न होकर क्रम और युगपत् ही होता है। अतएव उक्त पदके आधारसे प्रकृतमें यही अर्थ करना उचित है कि केवली भगवान्का ज्ञान सूत्र पठित सब बातोके ज्ञानके साथ-साथ द्रव्योके क्रमसे और युगपत् होनेवाले सभी परिणमनोको भी जानता है। अत' अपर पक्षके द्वारा धवलाके उक्त पदके आधारसे यह अर्थ फलित किया जाना उचित नही है कि—

'नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनो वस्तु-परिणमनके ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणोसे ही उनमें सम्पन्न होते है। और चूँकि पदार्थकी जैसी स्थिति हो वैसी ही केवलज्ञानीके ज्ञानमें झलकती है अत वस्तु परिणमनमे पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमतारूप दोनो धर्म केवलज्ञानके भी विषय होते हैं।' आदि।

क्योकि अपर पक्ष द्वारा अपनी कल्पनाके आधार पर धवलामें आये हुए उक्त पदका नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप अर्थ करने पर न तो केवलज्ञानकी ही सिद्धि होती है और न ही पदार्थव्यवस्था बन सकती है। साथ ही अपर पक्ष द्वारा पूर्वमें स्वीकृत केवलज्ञानके स्वरूप और उसके विषयके साथ जो विरोध आता है वह भी एक विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतएव सभी आचार्योने क्रम और अक्रम पदका जो क्रमनियत और युगपत् अर्थ किया है वही यहाँ लेना चाहिए। इससे सभी व्यवस्था सुघटित बन जाती है।

इसके बाद पूर्वोक्त पूरे कथनका पिष्टपेषण करते हुए अपर पक्षने अन्तमें जो यह लिखा है कि—

'इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्य-कारणभावको समझिए, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइए लेकिन इसमे अहकारी मत बनिए, अधीरता मत दिखाइए, असफलतासे दुखी मत हूजिए, विवेकी, गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ श्रद्धाके साथ कर्तव्य पथपर डट जाइए, डट जावें तो फिर डटे रहिए, उस कर्तव्यपथसे च्युत नही हूजिए—यही सम्यकका चिह्न हैं, इसीमें आस्तिक्य भाव झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुज आपको मिलेगा और निर्वेदभाव, अनाशक्तिभावकी छाया इसीमें प्राप्त होगी।'

सो एक ओर जब अपर पक्षके पिछले कथनके विरुद्ध अतएव अटपटे इस कथनको पढते है और दूसरी ओर ऐसा लिखनेवाले अपर पक्षके उस सिद्धान्तपर दृष्टिपात करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि उपादानमें अनेक योग्यताएँ है। उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह निमित्तोंके आधीन है।' तो हम दग रह जाते हैं। कहाँ एक ओर तो स्वावलम्बनकी मुख्यतासे लिखे गये उक्त वचन और कहाँ दूसरी ओर कार्य-कारणमें पराधीनता स्वीकार करानेवाले दूसरे वचन। मालूम पडता है कि स्वावलम्बन क्या वस्तु है और परावलम्बन क्या वस्तु है इनके सम्यक् स्वरूपकी ओर ध्यान न देनेके कारण ही अपर पक्षने यह परस्पर विरुद्ध कथन किया है, गीतामें आये हुए **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** इस वचनकी उक्त वचनोंको कापी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नही, होगी। गीता भी तो यही कहती है कि फल अर्थात् कार्यमें तुम्हारा कोई अधिकार नही, वह ईश्वरके आधीन है। अपर पक्षका भी यही कहना है कि किस उपादानसे क्या कार्य हो यह उपादानके आधीन नही, यह सब निमित्तके आधीन है। इस प्रकार जब कि गीता और अपर पक्ष दोनोंके अभिप्रायसे कार्य निमित्तोंके आधीन हो गया तो विचार कीजिए कि कर्ममें उपादानका अधिकार कहाँ रह गया। अपर पक्षके कथनानुसार उपादानका कार्य है कि वह प्रत्येक समयमें मात्र उपस्थित रहे। निमित्तको उसमें जैसी रचना करना होगी, करेगा। उपादान इसमे ननु न च नही कर

सकता। ऐसी अवस्थामें इसका विचार अपर पक्ष ही करे कि उसकी ओरसे जो 'पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइए' इत्यादि रूपसे प्रेरणाप्रद वचन लिखे गये हैं उनका क्या प्रयोजन रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नही रहता। हम नियतिवादी रूपसे इसलिये लाछित किये जाते हैं, क्योकि हम प्रत्येक कार्यके नियत उपादानको स्वीकार करनेके साथ उसकी बाह्य सामग्रीको भी नियतरूपसे स्वीकार करते हैं और अपर पक्ष अपनेको नियतिवादी इसलिए नही स्वीकार करना चाहता, क्योकि प्रत्येक कार्यकी बाह्य उपाधिको नियत मानकर भी उसके उपादानको नियत माननेमें उसे नियतवादकी गन्ध आती है।

वस्तुत जिस प्रकार केवल नियतिवादको माननेवाले एकान्ती हैं, अतएव वे अनेकान्तवादके प्रकाश पुजसे वचित रहते हैं उसी प्रकार बाह्य उपाधिके आधारसे उपादानमें कार्यकी व्यवस्था बनानेवाले भी अनेकान्तके सम्यक् स्वरूपके ज्ञाता नही माने जा सकते। प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य उपाधि तो नियत हो और जो उपादान उस कार्यका निश्चय कर्त्ता है वह नियत न हो यह कैसा अनेकान्त है ? उसे तो अनेकान्तका उपहास ही कहना चाहिए। जब कि प्रत्येक द्रव्य अपनी एक पर्यायका व्यय और दूसरी पर्यायका उत्पाद अपने अन्तरग बलसे ही करता है। बाह्य उपाधिका कार्य तो मात्र उसका ज्ञान करा देने तक ही सीमित है। ऐसी अवस्थामें वह कार्य अपने आप हो जाता है यह कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नही कहा जा सकता है। अतएव प्रकृतमें क्रम और अक्रम पदका अर्थ जो अपर पक्षमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता किया है वह ठीक न होकर उन शब्दोका क्रमसे क्रमभावी और युगपद्भावी अर्थ करना ही ठीक है आगमका भी यही अभिप्राय है।

१५ निमित्तवादी पुरुषार्थी नहीं हो सकता

हम देखते हैं कि लोकमें जड—चेतन अनन्त पदार्थ हैं और वे प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करते हैं, क्योकि अर्थक्रिया पदार्थका लक्षण है। उनमेंसे किन्ही कार्योंमें पुरुषका प्रयत्न निमित्त है और किन्हीमें नही। सब कार्य पुरुषके प्रयत्नको ही निमित्तकर होते हैं यह जैनदर्शन न होकर ईश्वरवादियोका दर्शन है। औरकी बात तो छोडिये, कर्मोंका जो उपशमादि कार्य होता है वह भी पुरुष प्रयत्न निरपेक्ष विस्रसा होता है। ऐसी अवस्थामें जिन कार्योंके होनेमें पुरुषके प्रयत्नकी निमित्तता नही है उन कार्योंका क्या अपने आप होना कहा जायगा ? यदि अपर पक्ष कहे कि—नही, तो फिर सर्वत्र यही मानकर चलना चाहिए कि जिस पदार्थमें जिस समय जो कार्य होता है उसमें उस समय उस कार्यके अनुरूप बल होता ही है। इसलिए अपर पक्षका यह कहना तो उचित नही है कि जब जो होना होगा वह होगा ऐसा माननेसे हम पुरुषार्थहीन हो जायेंगे। यदि विचारकर देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि जब तक यह ससारी प्राणी परसे कार्यसिद्धिका स्वप्न देखता रहेगा तब तक न तो उसका सम्यक् पुरुषार्थ ही जागृत होगा और न ही वह आत्मकार्यमे सावधान होकर मोक्षमार्गका पथिक ही बन सकेगा। परसे कार्य होता है इस मान्यताका फल ही तो ससार है, अतएव ऐसी मान्यताके त्यागके लिए जो पुरुषार्थ होगा वही सच्चा पुरुषार्थ है और वही मोक्ष का द्वार है।

'खूब पुरुषार्थ कीजिये' ऐसा लिखनेवाले अपर पक्षसे हम पूछते हैं कि क्या पुरुषार्थ करना आपके हाथमें है ? एक ओर यह लिखना कि निमित्तोंके अनुसार कार्य होता है और दूसरी ओर यह लिखना कि 'खूब पुरुषार्थ कीजिये' इनमेंसे किसे सच्चा माना जाय ? जरा विचार तो कीजिए कि पुरुषार्थ करना किसके हाथमे रहा। अपर पक्षके मतानुसार ससारी प्राणीके हाथमें, या निमित्तोंके हाथमें।

इसी प्रकार यह लिखना कि 'आवश्यकतानुसार निमित्तोको जुटाइये' कल्पनामात्र है। जब कि अपर पक्षको अपने उपादानकी ही खबर नही है तो किस कार्यका कौन निमित्त है इसकी खबर उसे कहाँसे हो गई? और फिर कोई भी प्राणी निमित्तोको जुटानेवाला कौन? आवश्यकतानुसार निमित्तोको जुटानेका कार्य तो निमित्तोको ही करना होगा। ससारी प्राणी तो चाहता है कि 'किसी कार्यके होने पर मै अहकारी न बनूँ, अधीरता न दिखलाऊँ, कार्यमें असफल होनेपर दुखी न होऊँ, विवेकी, गभीर और स्थिरबुद्धि बना रहूँ, कभी भी कर्तव्य पथसे च्युत न होऊँ, कर्तव्य पथपर डट गया तो डटा रहूँ, उससे हटूँ न।' पर यह सब हो कैसे? क्या यह सब कर सकना या ऐसा विचार करना स्वय उसके हाथमें है? एक ओर प्रत्येक कार्य निमित्तोके अनुसार होता है ऐसी प्रसिद्धि करना और दूसरी ओर उक्त प्रकारके उपदेशका आडम्बर रचना हमें तो पूर्वापर विरुद्ध ही प्रतीत होता है, अतएव अपर पक्षद्वारा कल्पित कार्य-कारणके इस आगम-विरुद्ध मार्गको छोडकर यही निश्चय करना चाहिए कि भगवान्‌के ज्ञानमें जिस समय जिन प्रतिनियत कारणोंसे जिस कार्यकी उत्पत्ति झलकी है उस समय वही कार्य उसी प्रकार होगा, सम्यक् श्रुतज्ञानी ऐसा ही निश्चय करता है, क्योकि केवलज्ञानीने जैसा माना है श्रुतज्ञानी श्रुतके बलसे वैसा ही निर्णय करता है। कारण कि ऐसे निर्णयपूर्वक आत्मप्राप्तिमे प्रवृत्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

१६ श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय

अब रही सम्यक् श्रद्धा और तदनुसार कर्तव्यके समन्वय की बात सो जिसके सम्यग्ज्ञानके साथ भीतरसे यह श्रद्धा हो गई है कि 'जिसका जिस कालमे जिस नियत सामग्रीके बलसे जैसा होना वीतरागने देखा है उसका उस कालमें उस नियत सामग्रीके बलसे वैसा ही होगा, अन्य प्रकारसे नही होगा। वह जब लोकमें जिसे अनहोनी कहते है उसे अनहोनी मानता ही नही तब अनिच्छित कार्यके होनेपर अधीर हो नही सकता और यदि अधीर होता है तो समझना चाहिए कि उसके कर्तव्य और श्रद्धामें अन्तर है। वस्तुत जिसने इस अन्तरको पाट लिया वही विवेकी है और जो इस अन्तरके झूलेमे झूलता रहा वही अविवेकी है। किसीको अविवेकी कहना और बात है पर अविवेकीकी अविवेकपूर्वक की गई विवक्षित कार्यके प्रति बाह्य उठा-धरीको सम्यक् श्रुतज्ञान निरूपित करनेके लिए उपादानके नियत लक्षणमें परिवर्तनका साहसकर प्रत्येक कार्यकी प्रसिद्धि निमित्तोके अनुसार मानना और बात है। यह श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय न होकर सम्यक् श्रुतका परिहासमात्र है। हमने उपलब्ध जिनागमका यथासम्भव पर्यालोचन करनेका असकृत् प्रयत्न किया है। किन्तु हमें इस आशयका एक भी वचन कही ढूँढे नही मिला कि 'जिसमे एक कालमे एक साथ अनेक कार्योके करनेकी योग्यता होती है उसकी समर्थ उपादान सज्ञा है ऐसा कहा गया है। अष्टशती, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थोमें समर्थ उपादानके स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है पर उन सब ग्रन्थोमे अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही समर्थ उपादान कहा है। इसके सिवाय अपर पक्षद्वारा स्वीकृत समर्थ उपादानका लक्षण आगममे कही भी बतलाया हो ऐसा हमारे देखनेमे नही आया और न ही अपर पक्षने अपने तथाकथित लक्षणकी पुष्टिमे कोई आगम प्रमाण ही दिया। स्पष्ट है कि जिसे अपर पक्ष श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय घोषित करता है वह मात्र कल्पनाओंपर आधारित होनेसे सच्चा समन्वय नही है।

अब यहाँ आत्माका सच्चा हित किसमे है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है इसका विचार करते हैं। आगममें सब जीवोको दो भागोमे विभक्त किया गया है—ससारी और मुक्त। जो अपने अज्ञानादिवश

चतुर्गतिमें परिभ्रमण करते रहते हैं उन्हें ससारी कहते हैं और जिन्होने ससारके कारणोमें हेय बुद्धि कर उनके त्यागपूर्वक निराकुललक्षण अतीन्द्रिय सुखके निधान आत्माको अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लिया है वे मुक्त जीव हैं। अतएव जो संसारके कारण हैं वे स्वय दु खरूप और दु खके कारण हैं ऐसा जान, उनमें हेय बुद्धि कर उनसे निवृत्त होना तथा सम्यग्दर्शनादि जो स्वय सुखरूप और सुखके कारण हैं उनमें उपादेय बुद्धि कर उनमें प्रवृत्त होना यह ससारी जीवका प्रधान कतव्य है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढालाकी तीसरी ढालके प्रारम्भमें लिखते हैं—

आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता विन कहिए।
आकुलता शिवमाँहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए ॥

इस प्रकार जो जीव ससार और समारके कारणोको अहितकारी जानकर उनमें हेयबुद्धिपूर्वक उनसे निवृत्त होता है और मोक्ष तथा मोक्षके कारणोको हितकारी जानकर उनमें उपादेय बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है वही परम अतीन्द्रिय निराकुललक्षण अव्याबाधस्वरूप आत्मसुखका अनन्त काल तक भोक्ता होता है।

किन्तु इसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय आत्मस्वभावका अवलम्बन करना ही है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते है—

सुद्ध तु वियाणतो सुद्ध चेवप्पय लहइ जीवो।
जाणतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्ध (परद्रव्य-परभावोंसे भिन्न) आत्माको जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्माको ही पाता है ॥१८६॥

इसकी टीका करते हुए आचाय जयसेन लिखते हैं—

जो भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्ध आत्माको निर्विकार शुद्धात्मानुभूतिलक्षण भेदज्ञानके द्वारा अनुभवता है वह ज्ञानी जोव है। उक्त जीव उक्त गुणविशिष्ट जैसे आत्माको ध्याता है वैसे ही आत्माको प्राप्त करता है, क्योकि उपादानके अनुसार ही कार्य होता है ऐसा नियम है। किन्तु इसके विपरीत जो मोह, राग और द्वेषभावपरिणत आत्माको अनुभवता है वह नर, नारक आदिरूप अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। (मूल टीकाके आधारसे)

अतएव कैसे भी आत्मपुरुषार्थको जागृत कर अपने धारावाही ज्ञानके द्वारा जो निश्चल शुद्ध आत्माको प्राप्त कर तिष्ठता है वह परपरिणतिके निरोधस्वरूप उदयको प्राप्त हुए क्रीडावनस्थानीय शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है।

यह निराकुल सुखलक्षण वीतराग विज्ञानघन आत्माको प्राप्त करनेके अनुरूप सम्यक् पुरुषार्थ है। ससारी जीवने अपना प्रधान कर्तव्य समझ कर अन्य सब किया, किन्तु आजतक एकमात्र यह कार्य नही किया। जिसे प्रमुखरूपसे इसका भान हो गया है वह ससारकी प्रयोजक अन्य सव समस्याओंको हेय जान उनसे विरत होनेके अनुरूप पुरुषाथको ही अपना यथार्थ कतव्य मानता है। श्रद्धा और कर्तव्यका यह यथार्थ समन्वय है। उसके लिए 'सब कार्य अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' यह निर्णय आत्महितके कार्यमें बाधक न होकर साधक ही है, क्योकि विवेकपूर्वक जिसने ऐसा निर्णय किया है वह परके कर्तृत्वके अहंकारसे मुक्त हो आत्मकार्यमें सावधान हुए बिना रह नही सकता। ऐसा ही इनका योग है क्योंकि जिसने 'सब कार्य अपने-अपने नियत कालमें होते हैं' ऐसा निर्णय नही किया वह परके कतृत्वके अहंकारसे मुक्त नही हो सकता और जो परके कर्तृत्वके अहंकारसे मुक्त नही हो सकता वह परके आश्रयसे होनेवाले विविध प्रकारके

सकल्प-विकल्पोंसे मुक्त नही हो सकता और जो परके आश्रयसे होनेवाले विविध प्रकारके सकल्प-विकल्पोंसे मुक्त नही हो सकता उसका स्वभावसन्मुख हो आत्मकार्यमें सावधान होना ऐसे ही असम्भव है जैसे बालुसे तेल उत्पन्न करना असम्भव है। अतएव जो पुरुषार्थहीनताका आरोप कर सम्यक् नियतिके सिद्धान्तकी अवहेलना करता है वह परके कर्तृत्वकी भावनासे आकुलित चित्तवाला होकर यथार्थमें अपने आत्माका ही छेद करता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्तिका श्रद्धानुसारी ही कर्तव्य होना चाहिए। वास्तवमें यही इन दोनोका समन्वय है। इसके विपरीत अन्य प्रकार (परस्पर विरुद्ध मार्ग) से इन दोनोंके समन्वयकी बात सोचना केवलज्ञान, आगम और आगमानुसारी श्रद्धा व ज्ञान इन सबका अपलाप करना है।

१७ एकान्त नियति और सम्यक् नियतिमें अन्तर

अब हम इस बात पर दृष्टिपात करें कि केवलज्ञानमे नियत कार्य और नियत कारणरूपसे जो पदार्थ झलक रहे हैं उनकी जो उसी प्रकार श्रद्धा करते हैं और उसे दृष्टिपथमे रखकर तदनुसार अपने कर्तव्यका निर्णय करते हैं वे क्या एकान्त नियतिवादी हो जाते हैं। एकान्त नियतिवादका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टरूपसे विवेचन गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ८८२, प्राकृत पचसग्रह पृष्ठ ५५७ और अमितिगति पचसग्रह गाथा ३१२ में किया है। इन तीनो ग्रन्थोमे इस सम्बन्धमें जो विवेचन उपलब्ध होता है वह समान होनेसे यहाँ मात्र गोम्मटसार कर्मकाण्डकी उक्त गाथा दी जाती है। वहाँ एकान्त नियतिवादका निर्देश करते हुए लिखा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तदा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

जो जिस समय जिससे जिस प्रकार जिसके नियमसे होता है वह उस समय उससे उस प्रकार उसके होता है ऐसा कथन एकान्त नियतिवाद है ॥८८२॥

यह एकान्त नियतिवादका स्वरूप है। बाह्य दृष्टिवालोको स्वा० का० अ० के **'जं जस्स जम्मि देसे'** द्वारा तथा पद्मपुराणके **'यत्प्राप्तव्यं यदा'** इत्यादि श्लोक द्वारा भी लगभग यही बात कही गई ज्ञात होती है। केवलज्ञानमे झलकनेवाले विषयकी अपेक्षा विचार करने पर भी लगभग यही ज्ञान होता है कि जिस कालमें जिससे जिसका जो होना है वही होगा, अन्य प्रकार नही होगा। इस प्रकार इन सब कथनोमें बाह्य दृष्टिवालोको एकरूपता प्रतीत होती है, परन्तु इन सब कथनोमें एकान्त नियतिवादके स्वरूपको बतलानेवाले गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनसे जो मौलिक अन्तर है, उसे हमें समझना है। यदि हम शास्त्र (परमागम) के विवेचक बनना चाहते हैं तो हमे भीतर घुस कर उसके रहस्यको भी समझना होगा। अतएव इस अन्तरको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे तत्काल हम गोम्मटसार कर्मकाण्डके उसी प्रकरणको लेते हैं जिसमें एकान्त नियतिवादका निर्देश किया गया है। उसे दृष्टिपथमें लेने पर विदित होता है कि वहाँ पर केवल एकान्त नियतिवादका ही निर्देश नही किया गया है, किन्तु उसके साथ वहाँ एकान्त कालवाद, एकान्त ईश्वरवाद (निमित्तवाद), एकान्त आत्मवाद और एकान्त स्वभाववादका भी निर्देश किया गया है। एकान्त कालवादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूद।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वचिदु कालो ॥८७९॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियोमें काल

ही जागता है। ऐसे कालको ठगनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है, इस प्रकार मात्र कालसे सब कार्योंकी उत्पत्ति-नाश मानना यह एकान्त कालवाद है ॥८७९॥

एकान्त ईश्वरवाद (निमित्तवाद) का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

अण्णाणी दु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्ख च।
सग्गं णिरय गमणं सव्व ईसरकय होदि ॥८८०॥

आत्मा अज्ञानी है, अनीश है। उसके सुख-दुख, स्वर्ग नरकगमन सब ईश्वरकृत है ऐसा वाद एकान्त ईश्वर (निमित्त) वाद है ॥८८०॥

एकान्त आत्मवादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥

एक ही महात्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और सर्वव्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। ऐसे आत्मामे सबकी उत्पत्ति मानना एकान्त आत्मवाद है ॥८८१॥

एकान्त नियतिवादका निर्देश पूर्वमें ही कर आये हैं। एकान्त स्वभाववादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

को करइ कंटयाणं तिक्खत्त मिय-विहंगमादीण।
विविहत्त तु सहाओ इदि सव्वं पि य सहाओ त्ति ॥८८३॥

काटोमें तीक्ष्णपना कौन करता है ? मृग और पक्षी आदिमें विविधपना कौन करता है ? इस सबका कारण स्वभाव है। इस प्रकार स्वभावसे सबकी उत्पत्ति मानना एकान्त स्वभाववाद है ॥८८३॥

ये पाँच एकान्तवाद हैं। यहाँ आत्मवादका तात्पर्य पुरुषार्थवादसे है। क्रियावादी अर्थात् पूर्वोक्त पाँचमें-से एक-एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले कोई स्वत, कोई परत, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने इन कालादि पाँचमेंसे केवल एक एकके द्वारा नौ पदार्थों सम्बन्धी कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए ये १८० प्रकारके एकान्त क्रियावादी मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। प्रकृतमें एकान्त नियतिवादका इसी अर्थमें उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एकान्त नियतिवादी वह है जो न तो कालको कारण मानता है, न निमित्तको स्वीकार करता है, न पुरुषार्थको कारण मानता है और न ही स्वभावको कारण मानता है। मात्र नियतिको सर्वस्व मान कर कार्यकी उत्पत्ति मानता है। उसके मतमें कार्यके लिए नियति ही सब कुछ है, अन्य कालादि कुछ नही। यह नियतिवादका अर्थ है। पूर्वमें हमने एकान्त क्रियावादियोके जो १८० भेद गिनाये हैं उनमे एकान्त नियतिवादियोंके ३६ भेद परिगणित किये गये हैं। वे कोई स्वत, कोई परत, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने मात्र नियतिसे नौ पदार्थों सम्बन्धी कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। इसलिए ये ३६ प्रकारके नियतिवादी एकान्ती होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र आदिने इसी अर्थमें एकान्त नियतिवादका निर्देश किया है।

किन्तु जैनदर्शन ऐसे एकान्त नियतिवादको स्वीकार नही करता। वह प्रत्येक कार्यमें नियतिको कारणरूपसे स्वीकार करके भी स्वभाव, पुरुषार्थ और काल आदिके साथ ही उसे स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनके द्वारा स्वीकार की गई कार्य कारणपरम्परामें अन्य कारणोके समान नियतिको स्थान होने पर भी एकान्त नियतिवादका प्रसग उपस्थित नही होता। यह मिथ्या नियति और सम्यक् नियतिमें फरक है।

स्वामीकार्तिकेयने अपनी द्वादशानुप्रेक्षामें केवलज्ञानके जाननेकी अपेक्षा और आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमे सम्यक् नियतिकी मुख्यतासे जो वर्णन किया है वह नय दृष्टिसे वर्णन होनेके कारण प्रमाणभूत है। यदि विचार कर देखा जाय तो इन आचार्योंने अपने कथनमें देश और काल आदि कारणोका भी उल्लेख किया है इसलिये उसे केवल नियतिवादका कथन कहना उपयुक्त न होगा। प्राकृत पचसग्रह आदिमे एकान्त नियतिवादका जो वर्णन आया है वह उक्त कथनोंसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है, क्योकि उसमें कालादिको न स्वीकार कर मात्र नियतिको ही स्वीकार किया गया है। जैसा कि नियतिवादियोके पूर्वोक्त ३६ भगोंसे भली प्रकार विदित होता है, इसलिए वह वर्णन एकान्त आग्रहका सूचक होनेसे अप्रमाणभूत है। यही सम्यक् नियति और मिथ्यानियति इन दोनोके विवेचनोमे अन्तर है। अपर पक्ष यदि भविष्यमें इस अन्तरको हृदयसे स्वीकार करले तो वह पक्ष यह लिखनेका साहस कभी नही करेगा कि 'श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कोई काय नियतक्रमसे होता है और कोई कार्य अनियत क्रमसे होता है।'

हम तो यह समझनेके लिए हैरान हैं कि वह अपने इस वक्तव्य द्वारा क्या कहना चाहता है ? (१) क्या वह अपने इस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओसे केवल उस कालमें न होकर अन्य कालमें भी हो सकता है ? (२) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमे झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे होता तो उसी कालमें है परन्तु उस कार्यका उस कालमे होना मात्र नियतिपर अवलम्बित न होकर नियति सहित सब कारणोसे होता है ? (३) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है उसका हम अल्पज्ञानियोको पता न होनेके कारण श्रद्धा तो वैसी ही रखनी चाहिए, किन्तु किन हेतुओंसे किस कालमें कौन कार्य होनेवाला है यह भले प्रकार ज्ञात न होनेके कारण अपनी दृष्टिमें काल, नियति और स्वभाव आदिको मुख्य न कर पुरुषार्थकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ? किन्तु अपर पक्षने इन तीन विकल्पोमेंसे किसे मुख्यकर अपनी प्रतिशका प्रस्तुत की है इसका उसकी ओरसे कोई सम्यक् स्पष्टीकरण न होनेके कारण यहाँ उन विकल्पोंके आधारसे विचार किया जाता है—

(१) प्रथम विकल्पमें जो यह कहा गया है कि जिस कार्यका जिन हेतुओसे जिस कालमे होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे केवल उस कालमे न होकर अन्य कालमें भी हो सकता है ? सो यह कथन केवलज्ञानको न स्वीकार करनेवाला होनेके कारण स्वय अपनेमे अप्रमाण है, क्योकि कोई कार्य केवलज्ञानमें प्रतिनियत कालमें प्रतिनियत हेतुओसे उत्पन्न होता हुआ झलके और श्रुतज्ञानकी अपेक्षा वह उस कालमें न हो यह कैसे हो सकता है ? अर्थात् त्रिकालमें नही हो सकता। अतएव प्रथम विकल्प स्वयं अपने मे मिथ्या होनेके कारण उसके आधारसे प्रकृतमें किसी कार्यको क्रम-नियत और किसी कार्यको क्रम-अनियत नही ठहराया जा सकता।

(२) दूसरे विकल्पमे जो यह कहा गया है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओसे उस कालमें होता हुआ नियति सहित अपने सब कारणोंसे होता है सो इस विकल्पके स्वीकार करने पर तो यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रम-नियत होते हैं। ऐसा एक भी कार्य नही हो सकता जो अपने नियत क्रमको छोडकर उत्पन्न हो जाय। अतएव इस आधारपर एक मात्र यही स्वीकार करना चाहिए कि सब कार्य अपने-अपने कालमें होकर भी अपने-अपने प्रतिनियत हेतुओंसे ही

होते हैं। साथ ही उस-उस कालमें उन-उन कार्योंके अपने-अपने प्रतिनियत हेतु ही उपस्थित रहते हैं और उनसे उस-उस कालमें प्रतिनियत कार्य ही होते हैं, अन्य कार्य नही उत्पन्न होते।

(३) तीसरा विकल्प दूसरे विकल्पसे कुछ भिन्न नही है। मात्र इसमें पुरुषार्थकी मुख्यता कही गई है। सो यह उचित ही है। किन्तु समग्र जिनागमका तात्पर्य वीतरागता है और उसे प्राप्त करनेका उपाय है आत्मकार्यमें सावधान होना। इसीलिए परमागममें स्वभावसन्मुख होकर उसे प्राप्त करनेका प्रमुखतासे उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जब कि आप काललब्धि और भवितव्यकी बात करते हो तब उसमें पुरुषार्थकी बात कहाँ रहती है ? समाधान यह है कि परमागममें एक कार्य अनेक कारणसाध्य बतलाया है, सो जहाँ मोक्षका उपाय बनता है वहाँ तो सभी कारण मिलते है और जहाँ मोक्षका उपाय नही बनता है वहाँ उसके सभी कारण नही मिलते हैं। यहाँ जो काललब्धि और भवितव्य कही है सो जिस समय विवक्षित काय होता है वही उसकी काललब्धि है और उस कार्यका होना ही भवितव्य है। तथा जो कर्मका उपशमादिक है वह पुद्गल कमकी अवस्थाविशेष है। उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नही। तथा पुरुषार्थपूर्वक जो उद्यम किया जाता है सो वह आत्माका कार्य है इसलिए आत्माको पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करनेका उपदेश दिया जाता है।

नियम यह है कि जिस कारणसे कार्यसिद्धि नियमसे होती है उस रूप यदि यह आत्मा उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही है और कार्यकी सिद्धि भी होती है। सो परमागममें जो मोक्षका उपाय कहा है उससे मोक्षकी प्राप्ति नियमसे होती है, इसलिए जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वरके उपदेशके अनुसार मोक्षका उपाय करते हैं उनके उसके अनुरूप काललब्धि और भवितव्य दोनो हैं। साथ ही वहाँ कर्मका उपशमादिक भी है, तभी तो यह जीव ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय करते हैं उन्हें बाह्याभ्यन्तर सब कारणोकी युगपत् प्राप्ति होती है ऐसा निश्चय करना ही यहाँ उपादेय है। साथ ही उन्हें मोक्षकी प्राप्ति भी नियमसे होती है।

किन्तु जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करते हैं उनके उसकी काललब्धि और भवितव्य भी नही है। साथ ही उनके कर्मका उपशमादिक भी नही हुआ है। यही कारण है कि वे मोक्षके उपायमें सन्नद्ध नही हो पाते। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नही करते हैं उन्हें मोक्षके कोई कारण नही मिलते और मोक्षकी प्राप्ति भी नही होती।

यहाँ कोई कहता है कि उपदेश तो सब सुनते हैं। उनमेंसे कोई मोक्षका उपाय कर पाते और कोई नही कर पाते सो इसका क्या कारण है ? समाधान यह है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं वे तो मोक्षका उपाय कर सकते हैं और जो पुरुषार्थ नही करते हैं वे मोक्षका उपाय नही कर पाते। उपदेश तो शिक्षामात्र है। फल जैसा पुरुषार्थ करता है वैसा मिलता है।

यहाँ पुन प्रश्न होता है कि जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षके लिए गृहस्थपना छोड़ कर तपश्चरणादि करते हैं सो यहाँ पुरुषार्थ तो किया परन्तु कार्य सिद्ध न हुआ, इसलिए पुरुषार्थ करना भी कार्यकारी नही है ? समाधान यह है कि अन्यथा पुरुषार्थ करनेमें तो इष्ट फलकी सिद्धि होती नही। तपश्चरणादि व्यवहार साधनमे अनुरागी होकर प्रवर्तनेका फल तो जिनागममे शुभबन्ध कहा है और यह जीव इससे मोक्ष चाहता है सो इससे मोक्षकी सिद्धि कैसे हो सकती है। यह तो भ्रममात्र है।

यदि कोई कहे कि भ्रमका भी तो कारण कर्म ही है, यह जीव पुरुषार्थ कैसे कर सकता है ? समाधान यह है कि यथार्थ उपदेशको ग्रहण कर निर्णय करने पर भ्रम दूर हो जाता है। सो यह जीव

ऐसा पुरुषार्थ नही करता है, इसलिए भ्रम बना रहता है। निर्णय करनेका पुरुषार्थ करे तो भ्रमका बाह्य कारण जो मोहकर्म है उसका भी उपशमादिक हो जाता है। और तब भ्रम भी दूर हो जाता है। क्योकि निर्णय करनेवालेके परिणामोमें विशुद्धता होनेसे मोह कर्मका स्थिति अनुभाग स्वयमेव घट जाता है।

यहाँ पुन प्रश्न होता है कि यह जीव निर्णय करनेमे भी उपयोगको नही लगाता है सो उसका कारण भी तो कर्म है? समाधान यह है कि एकेन्द्रियादिकके तो विचार करनेको शक्ति नही है, उनके बाह्य कारण तो कर्म हैं। परन्तु इस जीवके तो ज्ञानावरणादिकका क्षयोपशम होनेसे निर्णय करनेकी शक्ति प्रकट हुई है, इसलिए जहाँ उपयोगको लगायगा उसका निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्यका निर्णय करनेमें उपयोग लगाता है, यहाँ नही लगता है, सो यह तो इसीका दोष है, इसमें कर्मका कुछ प्रयोजन नही है।

यहाँ कोई कहता है कि सम्यक्त्व और चारित्रका तो घातक मोह है। उसका अभाव हुए बिना मोक्षका उपाय कैसे बन सकता है? समाधान यह है कि तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोगको नही लगाना यह तो इसीका दोष है। यदि पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करनेमे उपयोगको लगाता है तो स्वयमेव मोहका अभाव होनेपर सम्यक्त्वादिरूप मोक्षके उपायका पुरुषार्थ बन जाता है। इसलिए मुख्यरूपसे तो तत्त्व-निर्णय करनेमे उपयोगको लगानेका पुरुषार्थ करना चाहिए। उपदेश भी दिया जाता है सो इसी पुरुषार्थके करानेके लिए दिया जाता है।

—मोक्षमार्गप्रकाशकके आधारसे

इस प्रकार प्रकृत प्रश्नपर विचार करनेपर यही ज्ञात होता है कि जिस प्रकार केवलज्ञान उनका ज्ञाता-दृष्टा है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी आगमानुसार उनका ज्ञाता-दृष्टा है। वस्तुस्वभाव और तदनुसार कार्य-कारणपरम्परामे केवलज्ञानके समान श्रुतज्ञानका अन्य प्रयोजन नही है। तटस्थभावसे वे दोनो ज्ञाता-दृष्टामात्र है। अतएव प्रत्येक कार्य स्वभाव आदि पाँचके समवायमें होता है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए क्योकि जो प्रत्येक कार्यमें सम्यक् नियतिको स्वीकार करता है वह पाँचोको युगपत् स्वीकार करता है। किसी भी कार्यके प्रति इनमेंसे किसी एकको स्वीकृतिमे जहाँ एकान्तका आग्रह है वहाँ इन सबकी स्वीकृतिमे अनेकान्तका प्रकाशपुंज दृष्टिगोचर होता है। जैनदर्शनके अनुसार कार्य-कारणभावमें अनुपचरित-उपचरितरूपसे ऐसे ही अनेकान्तको स्थान मिला हुआ है। इस प्रकार एकान्तनियति और सम्यक् नियतिमें क्या अन्तर है इसका सांगोपांग विचार किया।

१८. उपादान विचार

हम अनेक स्थानोपर उपादानका 'अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहते है' यह लक्षण लिख आये हैं और अपने इस कथनकी पुष्टिमें अष्टसहस्री टिप्पण, प्रमेयकमलमार्तण्ड और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिके प्रमाण भी उपस्थित कर आये है, किन्तु अपर पक्ष समझता है कि हमने इस लक्षणका उपयोग अपने गलत अभिप्रायकी पुष्टिमे किया है। उसने अपने इस अभिप्रायके समर्थनमे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें आये हुए उपादानके लक्षणको उद्धृतकर उसका जो अर्थ किया है वह यहाँ दिया जाता है—

> पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
> उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२ व २३०॥

द्रव्य अपने पूर्व परिणामकी अवस्थामें कारणरूपसे रहता है और जब वह उत्तर परिणामसे युक्त हो जाता है तब वह नियमसे कार्यरूप हो जाता है ॥२२२ व २३०॥

यह अपर पक्षद्वारा किया गया उक्त गाथाका अर्थ है। इसका सही अर्थ इस प्रकार है—

अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य नियमसे कारण रूपसे वर्तता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है ॥२२२ व २३०॥

इसके सस्कृत टीकाकारने भी वही अर्थ किया है जिसे हमने पूर्वमें दिया है। प्रकृतमे उपयोगी टीकाका वह अश इस प्रकार है—

द्रव्यं जीवादिवस्तु पूर्वपरिणामयुक्त पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारत्वेन वर्त्तते।

अब हम इन दोनो अर्थोमें अन्तर क्या है इसपर सर्वप्रथम विचार करते हैं—

गाथाके पूर्वार्द्धका अन्वय इस प्रकार होता है—**पुव्वपरिणामजुत्त दव्व कारणभावेण वट्टदे**। इसका शब्दार्थ है—पूर्व परिणामसे युक्तद्रव्य कारण भावसे वर्तता है।

हमने गाथाके पूर्वार्द्धका यही अर्थ किया है। मात्र गाथाके उत्तरार्घमें पठित **'उत्तर'** पदको ध्यानमें रखकर तथा इसकी अगली गाथामें आये हुए कार्यकारणभावके निरूपणको भी लक्ष्यमें रखकर और अन्यत्र प्ररूपित उपादानके लक्षणको भी ध्यानमें रखकर गाथाके अर्थके प्रारम्भमें 'अनन्तरपद' और जोडा है। यहाँ गाथाका **'पुव्वपरिणामजुत्त'** पद **'दव्व'** पदका विशेषण है। कैसा द्रव्य उपादानसज्ञाको प्राप्त होता है ऐसी जिज्ञासा होनेपर गाथामें स्पष्टरूपसे बतलाया गया है कि पूर्व (अनन्तर पूर्व) पर्यायसे युक्त द्रव्य उपादान सज्ञाको प्राप्त होता है। यह निश्चय उपादानका स्वरूप है।

किन्तु अपर पक्षको यह अर्थ इसलिए इष्ट नही है, क्योकि उपादानके उक्त प्रकारके अर्थपरक लक्षणको स्वीकार करनेपर उसके सामने सभी कार्योंको क्रमनियत माननेका प्रसंग उपस्थित होता है, इसलिए उस पक्षकी ओरसे इस गाथाके पूर्वार्घके अर्थको बदलकर उसका इच्छानुसार पूर्वोक्त प्रकारसे कल्पित अर्थ किया गया है, गाथाके पूर्वार्घका प्रथम चरण है—**'पुव्वपरिणामजुत्त ।'** इसका सीधा अर्थ है—'पूर्व परिणामसे युक्त ।' किन्तु इसके स्थानमे अपर पक्षने इसका अर्थ किया है—'अपने पूर्व परिणामकी अवस्थामें ।'

यह है अपर पक्षकी ओरसे किये गये अर्थ परिवर्तनका एक प्रकार। अन्यत्र भी अपर पक्षने जो मूल वाक्योंके अर्थ बदले हैं वे भी यथास्थान देखनेको मिलेंगे।

स्वामी कार्तिकेयने उक्त गाथा दो बार निबद्ध की है। प्रथम बार इस गाथाको निबद्ध करनेके बाद इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

कारण-कज्जविसेसा तीसु वि कालेसु हु ति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥२२३॥

वस्तुओंके पूर्व और उत्तर परिणामोंको लेकर तीनो ही कालोंके प्रत्येक समयमें कारण-कार्यभाव होता है ॥२२३॥

इस वचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यका नाम ही उपादानकारण है। अत अपर पक्षने पूर्व पर्यायकी अवस्थामें जो मात्र द्रव्यको उपादान कारण कहा है, उसका वह कहना ठीक नही है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाथा २२२ मे तो पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही उपादानकारण कहा है, इसलिए 'पूर्व पर्याय' पदसे केवल 'अनन्तर पूर्व पर्यायको' ही ग्रहण नही करना चाहिए। अपर पक्षने अपनी प्रतिशंका ३ में इस बातको ध्यानमे रखकर ऐसा निर्देश किया भी है। सो इसका समाधान यह है कि कोई भी द्रव्य एक समयमें एक ही पर्यायसे युक्त होता है, इसलिए कार्य होनेके पूर्व जिस पर्यायसे युक्त द्रव्य उपलब्ध होता है उसी पर्यायसे युक्त द्रव्य वास्तवमें उत्तर पर्याय युक्त द्रव्यका कारण हो सकता है, अन्य नही। यद्यपि आगममे स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा भी कारण-कार्यका कथन उपलब्ध होता है पर वह व्यवहार (उपचार) कथन है। निश्चय कथन तो यही है कि अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक समयमें उस उस पर्यायसे युक्त द्रव्य कारण भी है और कार्य भी है। अनन्तर पूर्व पर्यायकी अपेक्षा विचार करने पर कार्य है और अनन्तर उत्तर पर्यायकी अपेक्षा विचार करनेपर कारण है। हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने उपादानके इस लक्षणको प्रारम्भमें किसी न किसी रूपमें स्वीकार कर लिया है। साथ ही उस पक्षकी ओरसे इस लक्षण-परक गाथाके पूर्वार्धका जो अर्थ किया गया है उस पर भी वह स्थिर न रह सका और उपादानके इस लक्षण परक गाथाके पूर्वार्धका जो अर्थ सस्कृत टीकाकारने तथा हमने किया है उसे भी अपने व्याख्यानके प्रसगसे स्वीकार कर लिया है।

१९ कार्यका नियामक उपादान कारण होता है

अब उस पक्षको विवाद कहाँ है इस बात पर दृष्टिपात करते हैं। उस पक्षका कहना है कि उपादान कारणसे जो कार्य होता है वह क्या हो इसकी नियामक निमित्तसामग्री है, उपादान कारण नही। अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिमे उसका कहना है—

'परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूपमें होगी ? इसकी नियामक आगमके अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चनेको खप्परमें डालकर अग्निके जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोईमें उबलते हुए पानीमें डालकर उसी चनेको उसी अग्निके द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा माननेके लिए तैयार नही हैं। आपकी मान्यता तो इस विषयमें मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्यायके बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी। परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यतामें पूर्व पर्यायके बाद एक नियत उत्तर पर्यायके होनेका नियामक कौन होगा ? यदि कहा जाय कि गाथामे भी **'णियमा'** पद पडा हुआ है उससे ही सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्यायकी नियामक हो जाती है, क्योकि वह **'णियमा'** पद उस पूर्व पर्यायके अनन्तर दो आदि पर्यायोंमेंसे एक पर्याय होगी इसका विरोधक ही है तो इसपर भी हमारा कहना यह है कि गाथामें पठित **'णियमा'** पद किसी एक निश्चित पर्यायकी सूचना देनेके लिए नही है। उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियमसे कार्य कहलाती है, फिर भले ही उत्तर पर्याय किसी रूपमे क्यो न हो। इस तरह पूर्व पर्यायके बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी वह नियमसे उस पूर्व पर्यायका कार्य होगी।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अश है। आगे अपने इस वक्तव्यकी पुष्टिमें उसकी ओरसे जो कहा गया है उसका कुछ आवश्यक अंश इस प्रकार है—

'इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्यसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोकी अविकलता

(पूर्णता) विद्यमान नही होगी तो उस समय वहाँपर उस उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति कदापि नही होगी फिर तो जिस कार्यके अनुकूल अन्य कारणोकी पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा । यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञानमें झलका होगा । तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानको क्या मालूम कि केवलज्ञानीके ज्ञानमें क्या झलका है । इसलिए जो कुछ होता है उसकी दृष्टिमें कार्य-कारणभावके आधार पर ही होता है कार्योत्पत्तिके विषयमें इससे अधिक वह सोच ही तो नही सकता है ।'

आगे अपने विषयको और भी स्पष्ट करते हुए अपर पक्षने लिखा है—

'इसलिए यह बात तो ठीक है कि पूर्वकी क्रोधरूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे अव्यवहित उत्तर-क्षणमें उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्यायका उपादान कारण है परन्तु श्रुतज्ञानीकी दृष्टिमें यह नियम नही बन सकता है कि उत्तर क्षणमें उस पूर्वकी क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवके क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायोमेंसे अमुक पर्याय ही होना चाहिए अर्थात् चूँकि वस्तु परिणमनस्वभाववाली होती है अत क्रोधरूप पूर्व पर्याय विशिष्ट उस जीवका उत्तर क्षणमें परिणमन तो अवश्यभावी है, परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनोंमेंसे कौनसा परिणमन होगा यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्रीपर ही निर्भर है । याने जीवकी पूर्व पर्यायमें क्रोधरूपता है वह क्रोधरूपता जीवके अपने स्वत सिद्ध स्वभावरूपसे नही है । अपने स्वत सिद्ध स्वभावरूपसे तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योकि जीवका उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादि रूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव नही है, इसलिए यह मानना पडता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि कर्मोंसे उदयके निमित्तसे ही पाई जाती है ।'

ये अपर पक्षकी ओर निमित्तके अनुसार कार्य होता है इस आशयको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे अपनी प्रतिशंका ३ में जो वक्तव्य लिपिवद्ध किया गया है उसके कुछ अश हैं । आगे इनके आधारसे विचार करते हैं—

१ :

इन उल्लेखोमेंसे सर्व प्रथम 'कार्यका नियामक कौन' यह विचारणीय है । अपर पक्षका कहना है कि कार्यकी नियामक निमित्त सामग्री होती है, उपादान नही । और हमारा कहना है कि कार्यका नियामक होता तो उपादान कारण ही है । मात्र प्रत्येक उपादानसे कार्य होते समय अन्य जो बाह्य सामग्री उसके होनेमें निमित्त होती है उससे हम यह जानते हैं कि इस समय इस उपादानसे इस सामग्रीको निमित्त कर यह कार्य हुआ है । जैसे—उडदके जलयुक्त बटलोईमें अग्नि संयोगको निमित्तकर पकने पर बहुतसे उडद जल्दी पक जाते है, बहुतसे उडद कुछ देरमें पकते हैं और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो पकते ही नही । साथ ही कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो बटलोईमें डालते समय जमीन पर गिर जाते हैं । उनमेंसे कुछ उडद तो ऐसे होते हैं जिन्हें उठाकर बटलोईमें डाल दिया जाता है और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो जमीन पर ही पडे रह जाते हैं । ऐसा क्यो होता है ? पकानेवाला तो उन सबको पकाना चाहता है । उनमेंसे कोई गिर न जाये और सब पक जाएँ इसके लिए वह पूरा ध्यान भी रखता है । फिर भी यह विचित्रता होती है । अग्निके सयोगमें भी किसी प्रकारका पक्षपात नही किया जाता है । अग्निका सयोग होनेपर सब उडद नीचे-ऊपर होते हुए खुद-बुद, खुद-बुद चुरने भी लगते हैं । फिर भी उनके चुरनेमे विचित्रता देखी जाती है । सो

क्यो ? इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य सयोग लाख हो पर कार्य होता है उपादानके अनुसार ही। अपर पक्ष द्वारा माने हुए श्रुतज्ञानी जीवको आन्तर उपादानशक्तिका भान नही, इसलिये वह अपनी मिथ्या कल्पनावश भले ही यह मानता रहे कि कार्यकी नियामक निमित्त सामग्री होती है। किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरणसे स्पष्ट है, वस्तुत कार्यका नियामक उपादान कारण ही होता है, निमित्त सामग्री नही। व्यवहार-नयसे निमित्त सामग्रीको नियामक कहना दूसरी बात है।

अब प्रकृत विषयकी पुष्टिमें दूसरा उदाहरण लीजिए—कुछ चरम-शरीरी समवशरणमें जाते है। वे सब तद्भव मोक्षगामी हैं। उनके लिये समवशरण आदिका योग प्राप्त है और हैं वे सब बालब्रह्मचारी। समवशरणमें ऐसी कोई प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री भी नही है जिसके कारण यह कहा जाय कि वे मुनिधर्म स्वीकार करनेमें असमर्थ है। ऐसी उत्तम बाह्य अनुकूलता उन्हें मिली हुई है। फिर भी वे सब एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नही करते। सो क्यो ? ऐसा क्यो होता है कि उनमेंसे कोई सम्यग्दृष्टि बनता है, कोई देशव्रती बनता है और कोई महाव्रती। ऐसा क्यो होता है ? मोक्ष जानेकी योग्यता सबमें है। वे सब तद्भव मोक्षगामी भी है। सबको साक्षात् जिनदेवका सानिध्य, उपदेश लाभ आदि अनुकूल सब बाह्य सामग्री भी मिली हुई है, प्रतिकूल सामग्री भी कुछ नही है। फिर भी उनमें यह भेद दृष्टिगोचर होता है। सो क्यो ? इससे विदित होता है कि जिसका जिस कालमें जैसा उपादान होता है, कार्य उसीके अनुसार होता है। बाह्य-सामग्री तो उसमे धर्मादि द्रव्योंके समान निमित्तमात्र है। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपादने अपने इष्टोप-देशमें अन्य सब बाह्य-सामग्रीको गति आदिमे धर्मादि द्रव्योंके समान निमित्तमात्र स्वीकार किया है।

यहाँपर अपर पक्षकी ओरसे यह कहा जाना ठीक नही है कि जिसके जैसे कर्मका उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है, कार्य उसके अनुसार होता है, उपादानके अनुसार नही, क्योकि अपर पक्षके मतानुसार कर्मका उदयादि भी तो जब अपने उपादानपर निर्भर नही है। वह भी जब निमित्त सामग्रीके अनुसार होता है तो ऐसी अवस्थामें समवसरणादि बाह्य-सामग्रीके मिलनेपर सबके एकसा कर्मका उदयादि क्यो नही हो जाता ? उन जीवोके कर्मके उदयादिमें अन्तर क्यो बना रहता है। क्या इससे यह सिद्ध नही होता कि प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें जो परिणमन होता है वह अपने-अपने उपादानके अनुसार होकर भी स्वयं ही होता है। हाँ, इतना अवश्य ही होता है कि जब प्रत्येक उपादान अपने-अपने कार्यके सन्मुख होता है तब व्यवहारसे उसके अनुकूल बाह्य सामग्री विस्रसा या प्रयोगसे मिलती ही है। इनका ऐसा ही योग है। यही कारण है कि तथ्यका विवेचन करते समय सभी आचार्योंने एक स्वरसे यह स्वीकार किया है कि 'कार्यमें बाह्य सामग्री तो व्यवहारसे निमित्तमात्र है' इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक अ० ५, सूत्र २० में लिखते हैं—

अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणा सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, परिणामकारण जीव सुखादीना, तस्यैव तथ्यपरिणामात्।

सातावेदनीय आदि कर्म सुखादिककी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र होनेसे अनुग्राहक हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये सूत्रमे उपग्रह वचन दिया है। वास्तवमें सुखादिकरूप परिणामका कारण जीव है, क्योंकि उसीके सुखादिकरूप परिणाम होता है।

उपादान कारण ही समर्थ कारण है। यह अन्त्य क्षणको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इस संज्ञाको प्राप्त होता है इस बातका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० में लिखा है—

विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्व हि सम्पूर्णम्।

विवक्षित अपना कार्य करनेमें अन्त्य क्षणको प्राप्त होना ही उपादानकी परिपूर्णता है।

इसलिये उपादानके वास्तविक स्वरूपपर विशेष प्रकाश डालते हुए अष्टसहस्री पृ० २१० में लिखते हैं—

तन्तुद्रव्य हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकारात् व्यतिरिक्त इति सिद्ध, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथा प्रतीते, द्रव्यभावप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपदेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थाना तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थाना तत्प्रसक्ते, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तें, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निवन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेय परिणाम प्रति निश्चीयते।

तन्तुद्रव्य पहलेके अपटाकारका त्यागकर और तन्तुत्व सामान्यका त्याग न कर अपूर्व पटाकार रूपसे परिणमन करता हुआ उपलब्ध होता है। इससे पटाकार पहलेके आकारसे भिन्न ही है यह सिद्ध होता है, क्योकि सर्वथा त्यक्त रूप होकर अपूर्व रूपवर्ति ही उपादान नही हो सकता। जैसे कि अपने पूर्वरूपको छोडे बिना उपादान नही होता, क्योकि वैसी प्रतीति नही होती। कारण कि जिसमें द्रव्य और भावकी प्रत्यासत्ति है उसीमें उपादान-उपादेय भाव बन सकता है ऐसा नियम है। भावप्रत्यासत्ति मात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करने पर समान आकारवाले समस्त पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भावका प्रसग आता है, काल प्रत्यासत्ति मात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करने पर पूर्वोत्तर समनन्तर क्षणवर्ती समस्त पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भावका प्रसग आता है, देश प्रत्यासत्तिमात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करनेपर समान देशवाले समस्त पदार्थोंमें पूरी तरहसे उपादान-उपादेय भावकी आपत्ति प्राप्त होती है। सत्त्व, द्रव्यत्व आदिरूप साधारण द्रव्य प्रत्यासत्तिके कारण भी उपादान-उपादेय भावका नियम नही बन सकता। अतएव **असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और पूर्वाकारभाव-विशेषरूप भाव प्रत्यासत्ति ही अपने उपादेयरूप परिणामके प्रति उपादानपनेका हेतु है ऐसा निश्चय होता है।**

यह आगमवचन है। इसमें उपादानका यथार्थ स्वरूप क्या है इस बातको चारो ओरसे बाँध कर बतलाया गया है। इसमें यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया गया है कि कार्य द्रव्यके साथ जिसकी असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्ति उपलब्ध होती है वही उस कार्यका उपादान हो सकता है। यहाँ पर असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्तिसे तात्पर्य जीवादि प्रत्येक द्रव्यसे है। जिस द्रव्यका जो कार्य है वह उसीमें होता है यह उक्त कथनका भाव है। तथा पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्तिसे तात्पर्य कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती भावविशेषसे है। द्रव्यमें सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि अन्य सामान्य शक्तियाँ भले ही रहा करें पर मात्र ये सामान्य शक्तियाँ उपादान-उपादेय भावके लिए कारण नही है। इस प्रकार प्रत्येक उपादान अपने उपादेयका नियमसे नियामक होता है इस बातको ध्यानमें रखकर स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमासा कारिका ४२ मे **'मोपादाननियामो भूत्'** यह वचन कहा है। इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए अष्टशती समन्वित अष्टसहस्री पृ० १८९-१९० का पाठ विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। इस विषयका उपसहार करते हुए भट्टाकलकदेव और आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टशती और अष्टसहस्री पृ० १९० में लिखते हैं—

कथञ्चिदाहितविशेषतन्तूना पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधि-प्रतिषेधनियम-निमित्तात्ययतात्। प्रतीतेरलमपलापेन। न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियम-निमित्तमस्ति। न हि तन्तव एवातानादिविशेषनिरपेक्षा पटस्वभाव प्रतिलभमाना: समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिपेध नियमो वा स्यात्। नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभाव स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते, यतो विशेपविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वावतिष्ठेत। न चोप-लब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्त तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदत्ययेऽपि तदुभयप्रतीतेर-पलाप: शोभेत।

कथचित् आतान-वितानरूपसे अवस्थित विशेष तन्तुओमे पटस्वभावकी प्राप्ति उपलब्ध होती है, क्योंकि तदन्यतर विधिनियम और तदन्यतर प्रतिषेधनियमरूप निमित्तका अभाव है। इसलिए प्रतीतिके अपलाप-से क्या लाभ। तन्तु और उनके विशेष (पर्याय) इनमेंसे किसी एककी विधि और दूसरेके निषेधमें नियम निमित्तता नही बनती। आतानादि विशेष निरपेक्ष केवल तन्तु ही पटस्वभावको प्राप्त करते हुए नही उपलब्ध होते हैं, जिससे कि एक वस्तुमें तन्तुसामान्यका ही विधिनियम अथवा आतानादि विशेपका प्रतिषेध नियम बने। इसी प्रकार तन्तु निरपेक्ष आतानादि विशेष ही पटस्वभावको स्वीकार करता हुआ नही उपलब्ध होता है जिससे कि एक वस्तुमें विशेष विधिनियम अथवा तन्तु प्रतिषेध नियम बने। और उपलब्धि तथा अनुपलब्धिको छोडकर तन्तु सामान्य और तन्तु विशेषके विधि तथा प्रतिषेधके नियममें अन्य कोई निमित्त नही है, जिससे कि उनके अभावमे भी उन दोनोकी प्रतीतिका अपलाप शोभाको प्राप्त होवे।

यह आगम प्रमाण है। इससे यह बात बहुत अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक कार्यमें उसका उपादान कारण ही नियामक होता हैं जो निश्चय कथन होनेसे परमार्थरूप है। निमित्त सामग्रीको नियामक मानना व्यवहार कथन है। परन्तु श्रुतज्ञानी जीव अपने अल्पज्ञानके कारण प्रत्येक समयके कार्यका कौन उपादान और कौन निमित्त है इसका ठीक निर्णय नही कर सकते। इसलिए वे प्राय व्यवहारका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करते हैं। विवक्षित कार्यके अनुकूल प्रयोगसे या विस्रसा बाह्य सामग्रीके मिलने पर भी जो विवक्षित कार्य नही होता और निराश होना पडता है, उसका कारण भी यही है, किन्तु आगममें कार्यकारण भावकी व्यवहार कथनीका उल्लेख होनेके साथ निश्चय कथन और उसके नियम भी दिये गये हैं। इसलिये उन नियमोको दृष्टिमें रखकर यथार्थमे प्रत्येक कार्यका नियामक उपादान कारणको ही समझना चाहिए। और इसी कारण बृहद्द्रव्यसग्रह गाथा २१ में उपादानके समान कार्य होता है इसका निर्देश करते हुए **'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति'** यह वचन कहा गया है। आचार्य जयसेनने समयसार गाथा ३७२ की टीकामे भी इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे यह कथन किया है—

तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तॄणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादान-कारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिवहिरगनिमित्तरूपेण। कस्मात् इति चेत्? उपादानकरणसदृश कार्यं भवतीति यस्मात्।

किस कारणसे मिट्टी आदि सभी द्रव्य कर्ता होकर घटादि रूपसे उत्पन्न होते हुए अपने उपादान कारण मिट्टी आदि रूपसे उत्पन्न होते हैं, कुम्हार आदि वहिरग निमित्तरूपसे नही, क्योकि कार्य उपादान **कारणके सदृश होता है।**

अतएव अपर पक्षने जो चने आदि पदार्थोंके उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि कार्योंकी नियामक निमित्त सामग्री होती है। सो पूर्वोक्त प्रमाणोको ध्यानमे लेकर विचार करने पर विदित होता है कि वे उदाहरण केवल कल्पनाके आधार पर दिये गये है, कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोके आधार

पर नहीं। वस्तुतः उपादान कारणगत योग्यता ही प्रत्येक कार्यकी नियामक है इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में कहा है—

तत्रापि हि कारण कार्येणानुपक्रियमाण यावत् प्रतिनियत कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कारण कार्यसे उपक्रियमाण न होता हुआ जैसे प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है वैसे वह सब कार्योंको क्यो नही उत्पन्न करता ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि **योग्यता ही शरण है।**

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट रूपसे समझने के लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१७ का यह टीका वचन पर्याप्त होगा—

स कालः सक्रमविधानेन स्वगुणैः नान्यद्द्रव्ये परिणमति, न च परद्रव्यगुणान् स्वस्मिन् परिणामयति, नापि हेतुकर्तृत्वेनान्यद्द्रव्यमन्यगुणै. सह परिणामयति। किं तर्हि ? विविधपरिणामिकाना द्रव्याणा परिणमनस्य स्वयमुदासीननिमित्त भवति। यथा कालद्रव्य तथा सर्वद्रव्यमपि।—स्वा० का० अ० गा० २१७ टीका।

वह काल सक्रम विधिसे अपने गुणोके द्वारा अन्य द्रव्यमें परिणमित नही होता और न परद्रव्यके गुणोको अपनेमें परिणमाता है तथा हेतुकर्त्ता होकर अन्य द्रव्यको अन्य गुणोंके साथ नही परिणमाता है। तो क्या है ? विविध प्रकारसे परिणमनेवाले द्रव्योंके परिणमनका स्वय उदासीन निमित्त है। **जिस प्रकार काल द्रव्य है उसी प्रकार सभी द्रव्य हैं।**

इस उल्लेखमें **'यथा कालद्रव्य तथा सर्वद्रव्यमपि'** यह वचन विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। इससे यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है कि निमित्तपनेकी अपेक्षा सभी द्रव्योकी स्थिति काल द्रव्यके समान है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें व्यापृत नही होता। निमित्त कारणके जो उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसे भेद किये गये हैं उन भेदोका कारण अन्य है, जिसका निर्देश हम पहले उदाहरण देकर कर आये हैं। अतएव निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि वास्तवमें प्रत्येक कार्यकी नियामक निमित सामग्री न होकर उस-उस कार्यका उपादान कारण ही होता है, किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक कार्यके साथ प्रत्येक उपादान कारणकी अन्तर्व्याप्ति उपलब्ध होती है उसी प्रकार प्रत्येक कार्यकी उस-उस कायसम्बन्धी निमित्त सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति भी पाई जाती है। **इसलिए निश्चयनयसे उपादान कारण कार्यका नियामक है और असद्भूत व्यवहारनयसे निमित्त सामग्री कार्यकी नियामक है ऐसा सिद्धान्त स्थिर होता है।**

२०. परिणमन क्रिया और परिणाम दो नहीं

अपनी प्रतिशकामें अपर पक्षने एक यह बात भी लिखी है कि 'जीवका उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव नही है, इसलिए यह मानना पडता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक कर्मोके उदयके निमितसे ही पाई जाती है।' सो सर्वप्रथम तो प्रकृतमें यह देखना है कि यहाँपर उपादानरूप जीवका ग्रहण अपर पक्षने किया है या सामान्य जीवका। सामान्य जीवका ग्रहण तो प्रकृतमें हो नही सकता, क्योकि अनन्तरपूर्व उस-उस पर्याय युक्त द्रव्य ही कार्यकारी माना गया है, केवल

सामान्य द्रव्य नही। अतएव जब वह अशुद्ध पर्यायका उपादान होता है तब वह परके लक्ष्यसे अपनेमें अशुद्ध कार्यको ही जन्म देता है और जब वह शुद्ध पर्यायका उपादान होता है तब वह स्वके लक्ष्यसे स्वभाव (शुद्ध) पर्यायको ही जन्म देता है। जीव द्रव्यका ऐसा ही स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्यका केवल परिणमनशीलता स्वभाव स्वत सिद्ध स्वभाव न होकर जिस समय जिस द्रव्यमे जो कार्य उत्पन्न होता है उसे उत्पन्न करना यह उसका स्वत.सिद्ध स्वभाव है। एक सत्ता और एकाश्रयवृत्ति होनेसे परिणमनशीलता परिणामसे भिन्न नही है। यदि परिणमनशीलता मात्र जीव द्रव्यका स्वत सिद्ध स्वभाव माना जाता है और क्रोधादिरूपता परकृत मानी जाती है तो अरिहन्तो और सिद्धोमें भी केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता परकृत ही माननी पडेगी, क्योकि अपर पक्षके मतानुसार केवल परिणमनशीलता ही उसका स्वत सिद्ध स्वभाव है। जिस समय जो परिणाम उत्पन्न होता है उसे उत्पन्न करना तो उसका स्वत सिद्ध स्वभाव है नही। ऐसी अवस्थामें क्रोधाधिरूपताके समान केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता भी परकृत ही ठहरेंगे। किन्तु ऐसा है नही, क्योकि परिणामी, परिणाम और परिणाम क्रिया ये तीनो वस्तुरूपसे एक ही हैं, तीन नही। और एक द्रव्य अपने किलेको तोडकर पर द्रव्यके किलेका भेदनकर प्रवेश कर सकता नही, अत. **निश्चयसे जीव द्रव्य स्वयं परकी अपेक्षा किये बिना अपने क्रोधादिरूप परिणामको उत्पन्न करता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।** आचार्य कुन्दकुन्दने इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह वचन कहा है—

> जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होति रागादि।
> एवं जीवो कम्म च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
> एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
> ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

जो कर्मके साथ जीवके रागादिरूप परिणाम होते हैं तो इस प्रकार जीव और कर्म दोनो रागादि भावको प्राप्त हुए। और यदि अकेले जीवके रागादि परिणाम होते हैं तो कर्मोदयरूप हेतुओंके बिना ही वह रागादि जीवका परिणाम है ॥१३७-१३८॥

इससे स्पष्ट है कि कर्मोदय आदिको रागादिकी उत्पत्तिमें असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निमित्तरूपसे तो स्वीकार किये गये हैं, किन्तु वे रागादि परिणाम जीवके होनेसे कर्मोदयादिरूप बाह्य हेतुओंके बिना ही जीवके होते हैं। उपादान बनकर स्वयं जीव उन्हें उत्पन्न करता है। केवल परिणमनशीलता ही जीवका स्वत सिद्ध स्वभाव नही है, किन्तु परके लक्ष्यसे रागादिको उत्पन्न करना यह भी उसका स्वत सिद्ध स्वभाव है। जब शुद्ध या अशुद्ध जिस प्रकारका यह जीव अपनेको अनुभवता है तब उस प्रकारकी शुद्ध या अशुद्ध पर्यायको वह जन्म देता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यदि अपनेको शुद्ध अनुभवता है तो शुद्ध पर्यायकी उत्पत्तिमें कर्मोदयादि निमित्त न होकर केवल कालादि द्रव्य निमित्त होते हैं और जब परके लक्ष्यसे अपनेको रागादिरूप अनुभवता है तब रागादिकी उत्पत्तिमे कर्मोदयादि निमित्त होते हैं यह यहाँ निष्कर्ष जानना चाहिए। ऐसी ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानके साथ बाह्य सामग्रीकी निमित्त होकर व्याप्ति है। कार्य-कारणकी परम्परामें अन्य जितने प्रकारके विचार हैं वे सब कल्पनामात्र हैं।

२१. 'णियमा' पदकी सार्थकता

पूर्वोक्त उल्लेखोमेंसे स्वा० का० अनु० की 'पुव्वपरिणामजुत्तं' इत्यादि गाथामें पठित 'णियमा' पदके सम्बन्धमें यह विचार करना है कि वह पद उक्त गाथामें क्यो निबद्ध किया गया है? ऊपर पदमें इस

पदकी केवल कार्यके साथ योजना करके यह अर्थ किया है कि पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्यायविशिष्ट वस्तु नियमसे काय कहलाती है। सो इस सम्बन्धमें इतना ही सकेत करना पर्याप्त है कि पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य कारण तो कहलावे, परन्तु वह अपनेसे जायमान कायका नियामक न हो इसे कौन बुद्धिमार स्वीकार करेगा। अर्थात् ऐसी अटपटी बातको कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नही कर सकता। उपादान कारणका यह लक्षण सभी शास्त्रकारोने स्वीकार किया है और इसीके आधारसे उससे जायमान कार्यकी व्यवस्था भी की है। यह उपादान कारणका उपचरित लक्षण न होकर निश्चय (यथार्थ) लक्षण है। जिसकी पुष्टिमे हम प्रकरण '१९ कार्यका नियामक उपादान कारण होता है' इस शीर्षकके अन्तर्गत अनेक आगम प्रमाण दे आये हैं, किन्तु अपर पक्ष उसे कार्यका नियामक न मानकर उसे उपचरित कारण ठहराना चाहता है। अनुपचरित उपादान कारणका लक्षण क्या है इसे वह आगमसे बतला देता तो अति उत्तम होता। हम तो अभी तक उपलब्ध समस्त आगमका आलोडन करके यही जान सके हैं कि आगममें जिसका जो लक्षण किया गया है वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषोसे रहित ही किया गया है। यही कारण है कि स्वामी कार्तिकेयने उपादान कारण और कार्यके लक्षणोमेंसे इन्ही तीन दोषोका परिहार करनेके लिये उपादान-कारण और कार्यके लक्षणपरक उक्त गाथाके अन्तमें **'णियमा'** पदकी योजना की है, जिसकी पुष्टि उसी ग्रन्थकी गाथा २२३ से भले प्रकार हो जाती है। २२३ सख्याक गाथाका उल्लेख हम पूर्वमें ही कर आये हैं। ये दोनो गाथाएँ परस्परमें एक दूसरेकी पूरक हैं। अतएव उक्त गाथाके अन्तमें पठित **'णियमा'** पदका अर्थ यह करना ही उचित है कि 'पूर्व पर्यायसे युक्त द्रव्य नियमसे उपादन कारण है' और उत्तर पर्यायसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य है।' इतना अवश्य है कि तीनो काल सम्बन्धी सभी उपादानों और उनसे होनेवाले सभी कार्योंमें उक्त लक्षणकी प्रत्येक समयमें व्याप्ति बनती जानेके कारण सामान्य रूपसे ये उपादान कारण और उपादेय रूप कार्यके लक्षण कहे गये हैं। किन्तु विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्य-के लक्षणोकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो वहाँ पर विवक्षित पदकी योजना करके विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्यकी अपेक्षा यह कहा जायगा कि विवक्षित पर्याय युक्त द्रव्य विवक्षित कार्यका उपादान कारण है और उससे जायमान उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य उसका विवक्षित कार्य है। इसी प्रकार जहाँ पर प्रत्येक गुणकी अपेक्षा कार्य-कारणभावका विचार करना हो वहाँ पर 'द्रव्य' पदके स्थानमें 'गुण' पदकी योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार इतने विवेचनसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि विवक्षित उपादानसे अन्य कोई कार्य उत्पन्न न होकर विवक्षित कार्य ही उत्पन्न होता है।

२२. निमित्तविचार

पूर्वोक्त उल्लेखोके आधारसे एक यह बात भी विचारणीय है कि प्रत्येक समयमें अनन्तर पूर्व पर्याय-युक्त द्रव्यरूप उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर उसकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री अविकलरूपसे पाई जाती है या नही ? अपर पक्षका कहना है कि 'कार्यके अव्यवहित पूर्वक्षणवर्त्ती पर्यायमे उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोकी अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नही होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादानसे विवक्षित कार्यका उत्पत्ति कदापि नही होगी।' सो अपर पक्षका यह वक्तव्य स्वय अपनेमें भ्रामक है, क्योंकि विवक्षा प्राणीके चित्तमें होती है। यदि वह किसी दूसरे कार्यके उपादानसे अपने विवक्षित कार्यकी सिद्धि करना चाहे और बाह्य सामग्रीके आधारपर यह कहे कि 'यहाँ बाह्य सामग्रीकी कमी है, इसलिये विवक्षित कार्य नही हुआ' उचित नही है। क्योकि जिस कार्यका वह

उपादान है उससे जायमान कार्यके अनुकूल ही बाह्य सामग्रीकी अविकलता वहाँ पर रहेगी । विवक्षित कार्यके अनुकूल न तो वह उपादान ही है और न हो वहाँ पर बाह्य सामग्रीको अविकलता भो है । उपादान किसी दूसरे कार्यका हो और उससे अपनी इच्छानुसार किसी दूसरे कार्यकी उत्पत्ति हो जाय यह त्रिकालमें सम्भव नही है । **बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता कार्यके अनुकूल ही होती है, विवक्षाके अनुकूल नहीं ।**

अपर पक्षका यह कहना कि 'कार्य-कारणका विचार वस्तु व्यवस्थाके आधारपर होना चाहिए, बीचमें केवलज्ञानको लाकर खडा न किया जाय ।' हम इस बातको हृदयसे स्वीकार करते हैं, इसलिए हमने अपने पिछले उत्तरोमें आगममें स्वीकृत उपादान कारणके सुनिश्चित लक्षणको ध्यानमें रखकर इसका विशेष विचार किया है । किन्तु मालूम पडता है कि अपर पक्ष अपने उक्त कथनपर टिका रहनेके लिये राजी नही है, इसलिए ही वह कार्य-कारणका विचार केवलज्ञान और तदनुसारी आगम तथा श्रद्धाको तिलाजलि देकर श्रुतज्ञानके आधारसे करनेके लिये प्रस्तुत हुआ है और मजा यह कि यह श्रुतज्ञान कौन-सा ? आगमानुसारी नही, किन्तु पाँच इन्द्रियों और मनसे जैसा समक्षमें आया तदनुसारी । उसकी पुष्टिमे उसने जो आगम उपस्थित किया है वह अपने चित्तको बहलानामात्र है । प्रकृतमें अपर पक्षसे हम निवेदन करना चाहते हैं कि बेचारे श्रुतज्ञानीकी केवलज्ञानीके ज्ञानमें जो कुछ झलका है उसकी खबर हो या न हो, इससे क्या ? तदनुसारी ऐसा आगम तो उस (श्रुतज्ञानी) के सामने उपस्थित है ही जिसमें कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोका उल्लेख है, इसलिये उस आधारसे तो श्रुतज्ञानी यह निर्णय कर सकता है कि जिस समय जिस कार्यका जो उपादान होगा उस समय उससे वही कार्य होगा, अन्य नही । साथ ही उस उपादानके अपने अनुरूप कार्यको जन्म देनेके सन्मुख होनेपर कार्यके अनुकूल बाह्य-सामग्री भी अवश्य रहेगी । श्रुतज्ञानीका कार्य आगमानुसारी कार्य-कारणभावके नियमोके अनुसार उसका निर्णय करना है, न कि अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिए कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोमे अर्थ विपर्यास कर अपने अभिप्रायको सिद्ध करना । आशा है अपर पक्षका इस तथ्यपूर्ण वक्तव्यकी ओर विशेष ध्यान जायगा ।

२३. उपादान कारण ही कार्यका नियामक है

पूर्वोक्त उल्लेखोके आधारसे एक यह बात भी विचारणीय है कि यदि क्रोध पर्याययुक्त कोई जीव अनन्तर उत्तर समयमें क्रोधादि चारोमेंसे किसी एकको उत्पन्न करता है तो उसका वह उपादान अनन्तर उत्तर समयमें जिस एकको उत्पन्न करता है उसके अनुकूल होता है या बाह्य-सामग्रीके बलपर चारोमेसे किसीको भी उत्पन्न करे इस रूपमें होता है, क्योकि अपर पक्ष इस सम्बन्धमे ऐसा मानकर चल रहा है कि उपादान तो चारोका होता है, परन्तु बाह्य-सामग्रीके अनुसार किसी एककी उत्पत्ति होती है । यह अपर पक्षके कथनका सार है । समाधान यह है कि बात ऐसी नही है जैसी कि अपर पक्ष समझ रहा है । किन्तु अनन्तर उत्तर समयमे क्रोधादि चारोमेंसे जो पर्याय उत्पन्न होगी, उपादान उसीके अनुकूल होगा तथा कर्म और नोकर्म रूप निमित्त भी उसीके अनुकूल होगे । कारण कि कर्मशास्त्रके नियमानुसार क्रोधादि चारो द्रव्यकर्मोकी सत्ता होनेपर भी एक समयमें एकके उदयका विधान इसी आधारपर किया गया है कि जिस कषायका उपादान अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होता है, उदय भी उसी कषाय द्रव्यकर्मका होता है । ऐसा ही दोनोका योग है । अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण होता है इस लक्षणको तो अपर पक्षने स्वीकार किया ही है । और इस बातके स्वीकार कर लेनेपर यह भी निश्चित हो जाता है

कि उपादान कारण कार्यके एक समय पूर्व होता है, क्योंकि कर्मशास्त्रकी उदयादि व्यवस्थापर दृष्टिपात करनेपर यह सुनिश्चित रूपसे ज्ञात होता है कि जिस बाह्य-सामग्रीमे निमित्त व्यवहार होता है वह कार्यके उत्पन्न होते समय ही होती है। सो क्यो ? कर्म-शास्त्र इस प्रश्नका उत्तर देता है और समर्पक उत्तर देता है। उसमें सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंके उदयको ध्यानमे रखकर बतलाया है कि उनमेंसे किसी एकका उदय नोकर्म रूप बाह्य-सामग्रीके अनुसार न होकर उपादानके अनुसार होता है, क्योकि जिसका अनन्तर समयमें उदय होनेवाला हो वह तो उपादानके कालमें उदयावलिमें तदवस्थ रहती है, मात्र शेष प्रकृतियोका उसमें स्तिवुकसक्रमण हो जाता है और इस प्रकार उपादान तथा कर्मोदयकी कार्यके प्रति एकरूपता बनी रहती है। क्या कर्म-शास्त्रकी इस व्यवस्थासे यह ज्ञान नही हो जाता है कि उपादान अनेक कार्योंका न होकर नियमसे किसी एक कार्यका ही होता है और जिस कार्यका वह उपादान होता है नियमसे उसी कार्यको उत्पन्न करता है। साथ ही निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य-सामग्री भी उसी कार्यके अनुकूल उपस्थित रहती है। कार्य-कारणभावको समग्ररूपसे प्रसिद्ध करनेवाली यह कर्म-शास्त्रकी व्यवस्था है, कुछ मानसिक कल्पना नही। हमें आशा है कि अपर पक्ष इन तथ्योपर ध्यान देकर अपने विचारोंमें सुधार करेगा और वह अपनी इस मान्यताको छोड देगा कि 'जीवका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता है, क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत'सिद्ध स्वभाव नही। कारण कि स्वभावदशामें जिस प्रकार विवक्षित सम्यक्त्वादि पर्यायरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव है उसी प्रकार विभावदशामें विवक्षित क्रोधादिरूप परिणमनशीलता भी उसका अपना स्वत सिद्ध स्वभाव है। जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्यके परिणमनमें विभावरूपता परके द्वारा की गई नही होती यह एकान्त नियम है। (इसके लिये देखिये श्लोकवार्तिक अध्याय ५ सू० १६ पृ० ४१०) इतना अवश्य है कि चाहे स्वभाव पर्याय युक्त जीव उपादान हो या विभाव पर्याययुक्त। किन्तु उपादानभूत जीव यदि परके लक्ष्यसे परिणमता है तो नियमसे विभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है और उपादानभूत वही जीव यदि स्वभावके लक्ष्यसे परिणमता है तो नियमसे स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। कार्यकालमें परपदार्थका निमित्त होना और बात है और स्व या परको लक्ष्य कर प्रवर्तना और बात है। जिनागममे इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर उपदेश ग्रहण करनेके योग्य प्रत्येक पात्र जीवको बाह्य सामग्रीकी उठाधरीके विकल्पसे वचते हुए स्वभावको लक्ष्यमे लेनेका उपदेश दिया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर समयसार कलशमें लिखते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिल त्याज्य यदुक्त जिनै:
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित.।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

सभी वस्तुओंमें जो अध्यवसान है उन सभीको जिनेन्द्रदेवने छोडने योग्य कहा है सो आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि भगवान्ने परके आश्रयसे प्रवर्तनेवाला सभी व्यवहार छुडाया है। इसलिए आचार्य उपदेश करते हुए कहते हैं कि जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चयको ही जिस तरह हो सके उस तरह निश्चित अगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमामें स्थिरता क्यो नही धारण करते ॥१७३॥

आगे समयसार गाथा २७२ की टीका लिखते हुए आचाय अमृतचन्द्रने **'आत्माश्रितो निश्चयनय, पराश्रितो व्यवहारनय'** इस प्रकार जो निश्चयनय और व्यवहारनयका लक्षण किया है सो उसका भी यही

तात्पर्य है। इस विवेचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे हैं कि ज्ञायकस्वरूप आत्माको लक्ष्य कर जो विकल्प होता है वह सविकल्प-निश्चयनय है और पर अर्थात् ऐन्द्रियिक सुख-दुख आदिमे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीको लक्ष्यकर 'यह सुख देनेवाली सामग्री है, यह दुख देनेवाली सामग्री है आदिरूप' जो विकल्प होता है वह व्यवहारनय है। तो ऐसा अध्यवसानरूप व्यवहारनय निश्चयनयका अवलम्बन लेकर त्यागने योग्य है, क्योकि ऐसे विकल्पके छूटने पर बाह्य सामग्री नियमसे छूट जाती है। सो क्यो ? जब कि अपर पक्षके कथनानुसार परिणमनशीलतामात्र उपादानका कार्य है। किसरूप परिणमन हो यह उसका कार्य न होकर बाह्य सामग्रीके आधीन है तो फिर उस बाह्य सामग्रीमें 'यह सामग्री सुखकर है और यह सामग्री दुखकर है' आदिरूप अध्यवसानको छोड़नेका उपदेश तीर्थंकरो, गणधरो और आचार्योंने क्यो दिया ? और ऐसे अध्यवसान विकल्पको मिथ्या क्यो बतलाया। यदि श्रुतज्ञानी जीव यह जानता है कि 'मेरा सुख-दुख आदि ससाररूप कार्य और सम्यक्त्वादिरूप मोक्षकार्य कर्म और नोकर्मके आधीन है, इसका कर्ता मैं स्वय नही। मैं उपादान कारण इसलिए कहलाता हूँ कि वे मुझमें मात्र होते हैं। होगा वही, जैसा कर्मोंका उदयादि और बाह्य सामग्री मिलेगी। यदि ससार कार्यका मैं कर्ता होता तो मैं उसे टालनेके उपक्रममे लगता। पर मैं क्या कर सकता हूँ, कर्म और नोकर्म तो इसे मुझमें किये ही जा रहे हैं। क्योकि एक कालमें कार्य होनेके अनुरूप मुझमें अनेक शक्तियाँ हैं, उनमेंसे कौन शक्ति कार्यरूप परिणमे यह तो बाह्य सामग्रीके आधीन है। इसलिए बाह्य सामग्री ही मुझमें यथार्थ कर्ता है, मैं तो वास्तविक कर्ता हूँ नही।' तो अपर पक्षके कथनानुसार उसका ऐसा जानना यथार्थ ही ठहरता है। तब तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २४७ आदिमे तथा आचार्य अमृतचन्द्रने पूर्वोक्त कलशमें या तत्सम अन्य कलशो व टीकामें उस श्रुतज्ञानीके ऐसे विचारोको अध्यवसान कह कर जो मिथ्या ठहराया है वह सब कथन अयुक्त ही ठहरता है। फिर तो अपर पक्षके मन्तव्यानुसार यही कहना और मानना युक्त होगा कि जीवमें राग-द्वेष, सुख-दुख, नारक-तिर्यञ्च आदि रूप ससार कार्य तथा सम्यक्त्व, केवलज्ञान आदिरूप मुक्तिकार्य जो भी होता है वह सब कर्मों और बाह्य सामग्रीके अनुसार ही होता है। जीव तो जैसे स्वतन्त्र रूपसे राग-द्वेष आदिरूप ससार कार्यको नही कर सकता वैसे ही वह सम्यक्त्वादिरूप मुक्तिकार्यको भी नही कर सकता, क्योकि उसका स्वत सिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमनक्रिया ही है। वह परिणमनक्रिया किसरूप हो यह सब तो कर्मों और बाह्य सामग्रीके आधीन है। उसे उत्पन्न करना उसका स्वभाव नही।

सभव है कि अपर पक्ष यहाँ पर यह तर्क उपस्थित करे कि स्वभावदशामे जैसे परिणमनशीलता जीवका स्वभाव है उसी प्रकार सम्यक्त्वादिको उत्पन्न करना भी उसका स्वभाव है। किन्तु विभाव दशामें मात्र परिणमनशीलता ही उसका स्वभाव है, उसमें राग-द्वेषादिको उत्पन्न करना उसका स्वभाव नही। ये तो निमित्तके बलसे उत्पन्न होते हैं। तो उसपर हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार अपर पक्षके मतसे जीवकी विभाव दशामें राग-द्वेषादि निमित्तके बलसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अपर पक्षको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसकी विभाव दशामें परिणमन क्रिया भी निमित्तोंके बलसे उत्पन्न होती है। वह जीव का अपना कार्य नही, क्योकि परिणमन क्रिया राग-द्वेषादिरूप परिणामसे अभिन्न होनेके कारण यदि राग-द्वेषादिरूप परिणामका वास्तविक कर्ता अन्य द्रव्यको माना जाता है तो उससे अभिन्न परिणामक्रियाका कर्ता भी दूसरा द्रव्य ही ठहरेगा। और ऐसी अवस्थामें विभावदशामे जीवद्रव्य स्वय कूटस्थ हो जायगा और अन्तमें उसका अभाव ही मानना पडेगा।

यदि अपर पक्षको 'विभावदशामें जीव द्रव्य स्वय कूटस्थ है' ऐसा मानना इष्ट न हो तो उसे आगमके

अनुसार अन्तःकरणसे यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार स्वभावदशामें परिणाम और परिणमनक्रिया दोनो अभिन्न होनेसे उनका वास्तविक कर्ता स्वय जीव है उस प्रकार विभावदशामें भी वे दोनों अभिन्न होनेके कारण उनका भी वास्तविक कर्त्ता स्वयं जीव ही है, दूसरा पदार्थ नही। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ८४ और उसकी टीकामें 'आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मको करता है और उसे भोगता है' इसे लोगोका अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार बतलाकर गाथा ८५ और उसकी टीका द्वारा उक्त प्रकारके व्यवहारको दोपयुक्त घोषित किया है। उक्त दोनो आचार्य समयसार गाथा १०६ और उसकी टीकामें यह व्यवहार दोषयुक्त होनेसे उपचरित क्यो है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कद ति जपदे लोगो।
ववहारेण तह कद णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

जिस प्रकार योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जाने पर राजाने युद्ध किया ऐसा लोक (व्यवहारसे) कहते हैं उसी प्रकार जीवने ज्ञानावरणादि कर्मको किया ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ॥१०६॥

यह व्यवहार वास्तविक न होकर उपचरित ही है इसका स्पष्टीकरण इस टीका वचनसे हो जाता है—

यथा युद्धपरिणामेन स्वय परिणममाने योधै कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृत युद्धमित्युपचारो न परमार्थ । तथा ज्ञानावरणादि-कर्मपरिणामेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मन किलात्मना कृत ज्ञानावरणादि कर्मेत्युपचारो न परमार्थ ॥१०६॥

जैसे युद्ध परिणामरूपसे स्वय परिणमते हुए योद्धाओके द्वारा युद्ध किये जाने पर युद्ध परिणामसे स्वयं नही परिणमनेवाले राजामें 'राजाने युद्ध किया' यह उपचार होता है जो परमार्थभूत नही है। वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूपसे स्वय परिणमते हुए पुद्गल द्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूपसे स्वय नही परिणमते हुए आत्मामें 'आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये' यह उपचार होता है जो परमार्थभूत नही है ॥१०६॥

इस प्रकार उक्त उल्लेखसे जहाँ यह बात स्पष्टरूपसे विदित हो जाती है कि जिस द्रव्यमे जो परिणाम होता है उसे वह द्रव्य स्वय स्वतत्ररूपसे कर्त्ता बनकर (**स्वतन्त्र कर्त्ता १।२।१२५ जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ० ४१**) करता है। परिणामक्रिया जिस परिणामरूप होती है उस परिणामको कोई दूसरा पदार्थ करे और परिणाम-क्रियाका कर्ता वह स्वय बने ऐसा न तो है ही और न ही उक्त उल्लेखसे ज्ञात होता है।

जैनेन्द्रमहावृत्तिके उक्त सूत्रकी टीका करते हुए आचाय अभयनन्दि लिखते हैं—

स्वतत्र आत्मप्रधान । क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारक कर्तृसज्ञ भवति ।

स्वतन्त्र आत्मप्रधान। क्रियाकी सिद्धिमें जो अर्थ स्वतन्त्र है वह कारक कर्तृसंज्ञक होता है।

जैनेन्द्रमहावृत्तिके इस उल्लेखसे भी यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य परनिरपेक्ष होकर ही प्रत्येक समयमें अपना कार्य करता है।

इसपर यद्यपि यह शका की जा सकती है कि कर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक निश्चय कर्ता और दूसरा व्यवहार कर्ता। निश्चय कर्ता तो स्वयं वह द्रव्य होता है जिसमें कार्य होता है और व्यवहार कर्ता

दूसरा द्रव्य होता है। इन दोनोकी सम्मिलित क्रिया द्वारा ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए जिस प्रकार निश्चय कर्ता यद्यपि कर्ता होता है उसी प्रकार व्यवहार कर्ताको कारयिताके रूपमें यथार्थ कर्ता ही मानना चाहिए। एकको परमार्थभूत माना जाय और दूसरेको अपरमार्थभूत माना जाय यह कथन युक्तियुक्त नही है। आचार्य कुन्दकुन्दके समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित था। वे इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्वय क्या लिखते हैं यह उन्हीके शब्दोमें पढिये—

उप्पादेदि करेदि य बधदि परिणामएदि गिह्णदि य।
आदा पुग्गलदव्व ववहारणयस्स वत्तव्व ॥१०७॥

आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनयका वक्तव्य है ॥१०७॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्य विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्य विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति वात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

जैसे यह आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्मको नियमसे न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उत्पन्न करता है, न करता है और न बांधता है, क्योकि उन दोनोमें व्याप्य-व्यापक भावका अभाव है। तो भी व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेपर भी जो यह विकल्प होता है कि आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यात्मक कर्मको ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बांधता है वह नियमसे उपचार है ॥१०७॥

यह आगमवचन है। इससे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि श्रुतज्ञानी जीवको भी यह विकल्प होता है कि कर्मने जीवमे राग-द्वेषादि कार्य किया वह (विकल्प) मात्र उपचाररूप ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवके राग द्वेषकी उत्पत्ति में कर्म और नोकर्म व्यवहारसे निमित्तमात्र हैं, इसलिए निमित्त हुए पर द्रव्यको देखकर यह विकल्प होता है और उस विकल्पके अनुसार कहनेमे भी ऐसा ही आता है कि कर्म जीवको ससारी बनाता है, सुख देता है, दुख देता है आदि। किन्तु यह सब कथनमात्र है। आगममें एक **द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करता है इत्यादि रूपसे जितना भी कथन उपलब्ध होता है वह सब व्यवहारनयको मुख्यतासे ही किया गया है,** इसलिए उसे परमार्थभूत न मानकर यह समझना ही परमार्थभूत है कि प्रत्येक द्रव्यमें त्रैकालिक जितने भी परिणाम कार्य होते हैं उन सबका प्रत्येक द्रव्य स्वय कर्ता है और वे सब कार्य प्रत्येक द्रव्यके कर्म हैं। **'सिद्धी दु ण दीसए अण्णा'** (समयसार गाथा ३११)—दूसरे प्रकारसे कर्ता-कर्मकी सिद्धि नही दिखलाई देती। अतएव उपादान कर्ता यथार्थ कर्ता है और निमित्त कर्ता उपचरित कर्ता है यह तथ्य फलित होता है।

इसी बातको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा २१ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद् द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्।

तथा आत्मा अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता उपचारसे है।

निष्कर्ष रूपमें उक्त पूरे विवेचनका प्रकृतमें सार यह समझना चाहिये कि परिणाम और परिणमन क्रिया परिणामीसे अभिन्न होनेके कारण विवक्षित उपादान ही विवक्षित परिणामका यथार्थ कर्ता होता है। अतएव प्रकृतमें यह मानना युक्तिसगत नही है कि 'उपादान अनेक योग्यताओवाला होता है, इसलिए उपादानमें विद्यमान जिस योग्यताके अनुकूल निमित्त सामग्री मिलती है, कार्य वही होता है।' किन्तु इसके स्थानमें यही मानना उचित है कि विवक्षित पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्यशक्ति उपादान होकर विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है और उसमें व्यवहारनयसे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री भी तदनुकूल रहती है। कारण-जातिके भेदके समान शक्तिभेद भी होना चाहिए तभी कार्यभेद बन सकता है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १० में कहा है—

यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोत्पद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेण।

जिस प्रकार कारणजातिके भेदके बिना कार्यभेद नही बनता उसी प्रकार कार्यरूप होनेवाली शक्ति-भेदके बिना कार्यभेद नही बनता।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्यमे प्रति समय जो कार्यभेद दृष्टिगोचर होता है उसका मुख्य कारण उपादानभेद ही है। जैनदर्शनमे कारकसाकल्यको या इन्द्रियवृत्ति आदिको या सन्निकर्षविशेषको प्रमाण न मान कर जो ज्ञानको प्रमाण माना है सो उसका कारण भी यही है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १५ में कहा है—

अस्या स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावाया यदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्कारणकम्।

स्वार्थग्रहण शक्तिलक्षण भावेन्द्रियस्वभाव जिस योग्यताके असन्निधानमें कारकान्तरके सन्निधान होने पर भी जो नही उत्पन्न होता है वह तत्तत्कारणक जानना चाहिए।

जिस प्रकार जैनदशनमें कारकसाकल्य आदिको उपचारसे प्रमाण मान कर भी वास्तवरूपमें प्रमाण ज्ञानको ही स्वीकार किया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

इसलिए प्रकृतमें निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि—

अत्ता कुणदि सहाव तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छन्ति कम्मभाव अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥६५॥—पचास्तिकाय।

आत्मा अपने भाव (रागादि भाव) को करता है, तब वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोंसे, जीवमें अन्योन्य अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मभावको प्राप्त होते हैं ॥६५॥

इस प्रकार इस विवेचनसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उपादान कारण ही वास्तवमे अपने कार्यका नियामक है, बाह्य सामग्री नही।

२४. दो आगम प्रमाणोका यथार्थ तात्पर्य

अपर पक्षने इसी प्रसंगसे दो आगमप्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२वी गाथाकी सस्कृत टीकाका वाक्याश है और दूसरा प्रमाण अष्टसहस्री पृ० १०५ में आया हुआ अष्टशतीका वाक्याश है। किन्तु इन दोनो प्रमाणोसे अपर पक्षके अभिप्रायकी पुष्टि कैसे नही होती यह बात यहाँ विचारणीय है, जिसका क्रमसे विचार किया जाता है—

उक्त गाथाकी संस्कृत टीकाका वह वचन इस प्रकार है—

"तदेव द्रव्य पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्ध सामर्थ्यं कारणान्तरा-वैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव ।

मणि-मन्त्रादिकसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला पूर्व पर्यायाविष्ट कारणभूत वही द्रव्य कारणान्तरोकी अविकलता होनेके कारण उत्तर क्षणमे कार्यको उत्पन्न करता ही है ।

यह उक्त वचनका शब्दार्थ है । मालूम नही कि इस परसे अपर पक्षने यह कैसे फलित कर लिया कि अनन्तर पूर्व पर्यायाविष्ट द्रव्यरूप विवक्षित उपादानके अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होने पर मणि-मन्त्रादिक प्रतिबन्धक कारणोकी उपस्थिति और कारणान्तरोकी विकलता सम्भव है । जब कि आ० शुभचन्द्र-ने **'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं'** इस पदको **'तदेव द्रव्यं'** इत्यादि पदका विशेषणरूपसे प्रयुक्त कर तथा **'कारणान्तरावैकल्येन'** पद द्वारा कारणान्तरोकी अविकलता (पूर्णता) को स्पष्ट शब्दोमें सूचित कर अनन्तर पूर्व-पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादानको अपने कार्यका नियमसे उत्पादक कहा है । पूरे वाक्यके अन्तमें आया हुआ **'एव'** पद यही सूचित करता है कि उक्त प्रकारका उपादान अपने कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और जब वह अपने कार्यको उत्पन्न करता है तब प्रतिबन्धक सामग्रीके अभावके साथ कारणान्तरोकी अविक-लता नियमसे होती है ।

उपादान कारणमें कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्तिका होना यह उपादान कारणगत योग्यता है और कार्यका उससे जायमान होना यह कार्य (उपादेय) गत योग्यता है, इससे उसका प्रतिनियम होता है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७८ में कहा है—

योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्ति, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रति-नियम. ।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहाँ बतलाया है—

शालिबीजाकुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यकुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाकुरजनने न शालिबीजस्येति ।

शालिबीज और शालि-अकुरके भिन्न कालवर्ती (पूर्वोत्तर क्षणवर्ती) होने पर भी शालिबीजमे ही शालि-अकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, यवबीजमें नही । और इसी प्रकार यवबीजमें यव-अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति हैं, शालिबीजमें नहीं ।

इससे इस बातका सम्यक् रीतिसे ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपने नियत कार्यका ही उपादान कारण है और उससे नियत कार्यको ही जन्म मिलता है । अन्यथा 'शालिबीज' और 'यवबीज' इस प्रकार पर्यायाविष्ट द्रव्यको उदाहरणरूपमें स्वीकार कर उपादान-उपादेयभावका आचार्य खुलासा नही करते ।

अब प्रश्न यह है कि जब विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य विशिष्ट कार्यको उत्पन्न करता है तब व्यवहारसे उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीकी समग्रता रहती है या नही ? प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० २ सू० १ पृ० २९८ में इस प्रश्नका समाधान इन शब्दोमें किया है—

यद्यदाविकलकारण तत्तदा भवत्येव, यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽङ्कुरः अविकलकारण चाशेष कार्यम् ।

जो कार्य अविकल कारणवाला होता है वह तब होता ही है, जैसे अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्रीसे अंकुर और अविकल कारणवाले समस्त कार्य होते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि प्रतिसमयमें सब द्रव्योका प्रत्येक उपादान अविकल कारणवाला होकर उत्तर क्षण-में अपने सुनिश्चित कार्यको नियमसे जन्म देता है । उक्त उल्लेखमें आया हुआ 'अन्त्यक्षणप्राप्त' पद ध्यान देने योग्य है, जो सामग्रीका विशेषण होकर उपादानके उस लक्षणकी पुष्टि करता है जिसके द्वारा अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहा गया है । अतएव स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी सस्कृत टीकाके आधारसे यही निर्णय करना चाहिए कि अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त द्रव्यको सभी शास्त्रकारोने जो उपादान कहा है वह इसी अपेक्षासे ही कहा है कि प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें उपादानकी भूमिकामें आते रहनेपर उस-उस उपादानसे उत्पन्न होनेवाले प्रतिनियत कार्यके अनुकूल बाह्य-सामग्रीकी समग्रता रहती ही है । वहाँ न तो कारणान्तरोंकी विकलता होती है और न ही प्रतिबन्धक कारण उपस्थित रहते हैं ।

(२) अपर पक्षने अपनी प्रतिशकाको स्थापित करते हुए अष्टसहस्री पृ० १०५ से लेकर अष्टशतीका जो वचन उद्धृत किया है वह मीमामकोंद्वारा माने गये वर्णात्मक शब्दोंकी नित्यता और व्यापकताके खण्डनके प्रसगमें आया है । मीमांसा-दर्शन वर्णात्मक शब्दोका प्रागभाव और प्रध्वसाभाव न मानकर भी ताल्वादिके द्वारा उनकी अभिव्यक्ति स्वीकार करता है । उस दर्शनका कहना है कि पुरुषव्यापारके पूर्व और बादमें भी शब्दोंके अखडित स्वभाव होनेपर भी उनका सुनना पुरुषव्यापारसापेक्ष होनेसे वे कभी सुनाई पडते हैं और कभी सुनाई नही पडते । इसपर चर्चा करते हुए मीमासकोंसे यह पूछा गया कि वे शब्द अपने विषयकी सवित्ति करनेमें समर्थ हैं या असमर्थ ? यदि समर्थ है तो कारणान्तरोकी अपेक्षाका कोई प्रयोजन नही रह जाता और यदि असमर्थ हैं तो सहकारी इन्द्रिय-मनोभिव्यञ्जकलक्षण व्यापार उनकी असामर्थ्यका खण्डन करता है या नही ? इस प्रकार आचाय विद्यानन्दिने इन दो प्रश्नोको उपस्थित कर भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीका यह वचन दिया है जिसको अपर पक्षने अपने अभिमतकी पुष्टिमें समझकर प्रकृतमें उसे उद्धृत किया है । वह वचन इस प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्कर किं सहकारिकारण स्यात् ।

उस (शब्द) को असामर्थ्यका खण्डन नही करता हुआ अकिञ्चित्कर क्या सहकारी कारण हो सकता है ?

यह अष्टशतीके उक्त वचनकी पृष्ठभूमि है । इसके प्रकाशमें जब हम जैनदर्शनकी अपेक्षा विचार करते हैं तो हमें मीमासादर्शनसे जैनदर्शनमे अनेक विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

(१) मीमासादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानता है किन्तु जैनदर्शन उसे पुद्गल द्रव्यकी व्यञ्जन पर्याय स्वीकार करता है । इतना ही नही, जैनदर्शनने प्रत्येक द्रव्यको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य स्वीकार न करके कथचित् नित्यानित्य स्वीकार किया है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० २२६ में लिखा है—

द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात् ।

सर्वथा एक स्वभाववाले द्रव्य या पर्यायमें क्रम-यौगपद्य नही देखा जाता, क्योकि अनेक पर्यायस्वरूप द्रव्यमें ही उसकी उपलब्धि होती है ।

अष्टसहस्रीके इस उल्लेखसे जहाँ इस बातका पता लगता है कि जिस प्रकार 'मीमासादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानता है उस प्रकार जैनदर्शनने किसी भी पदार्थको सर्वथा नित्य स्वीकार नही किया है। वहाँ इस बातका भी पता लगता है कि पदार्थको सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य स्वीकार करनेपर भी क्रमसे और युगपत् अर्थक्रियाका विरोध आता है, नित्यानित्य स्वीकार करनेपर नही।

(२) मीमासादर्शन शब्दको सर्वथा सदात्मक मानता है, किन्तु जैनदर्शन किसी पदार्थको सर्वथा सत्स्वरूप न मानकर कथचित् सदसत्स्वरूप स्वीकार करता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए भट्टाकलकदेव अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १४०) में लिखते हैं—

सप्तभगीविधौ स्याद्वादे विधि-प्रतिषेधाभ्या समारूढ वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथचित्सित एव सामग्रीसन्निपातिन: स्वभावातिशयोत्पत्ते:, सुवर्णस्येव केयूरादिसस्थान।

सप्तभगी विधिरूप स्याद्वादमे विधि-प्रतिषेध उभयरूप वस्तु सदसदात्मक होकर अर्थक्रियाकारी है, क्योकि सामग्री प्राप्त कथचित्त सत्मे ही स्वर्णमें केयूरादि सस्थानके समान स्वभावातिशय (पर्याय) की उत्पत्ति होती है।

(३) मीमासादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य और व्यापक मान कर भी उसकी अभिव्यक्ति ताल्वादि सहकारी सामग्रीसे स्वीकार करता है। जब कि जैनदर्शन प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अपने उपादानसे ही स्वीकार करता है, क्योकि जैनदर्शन उपादान कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न न मानकर उपादान-उपादेयकी एक सत्ता स्वीकार करता है। इस तथ्यका स्पष्टीकरण आप्तमीमासा कारिका ७१ और ७२ तथा उनकी अष्टसहस्री टीकामें विशदरूपसे किया है।

इस प्रकार मीमासादर्शनमें स्वीकृत शब्दकी क्या व्यवस्था है और जैनदर्शनमें स्वीकृत प्रत्येक पदार्थकी क्या व्यवस्था है इसका यह अतिसक्षिप्त स्पष्टीकरण है। इसे दृष्टिपथमे लेनेपर यह ज्ञात होनेमें देर नही लगती कि भट्टाकलकदेवने मीमासादर्शनमें स्वीकृत शब्दको उक्त प्रकारकी असामर्थ्यका उद्भावन कर और उस असामर्थ्यका सहकारी कारणो द्वारा खण्डन स्वीकार न करने पर मीमासकोंके ऊपर सहकारी कारणोकी अकिंचित्करता दोषका आपादन क्यो किया है ? क्या जिस प्रकार मीमासादर्शनने शब्दोकी सर्वथा नित्यतामें बाधा न आते हुए केवल सहकारी कारणोसे ध्वनिकी अभिव्यक्ति स्वीकार की है उस प्रकार क्या जैनदर्शन उपादान कारणको सर्वथा नित्य मानता है, जिससे कि उसमें कार्यकी असामर्थ्यको स्वीकार करके सहकारी कारणोके व्यापार द्वारा उस (असामर्थ्य) का खण्डन स्वीकार किया जाय। स्पष्ट है कि मीमासादर्शनमें स्वीकृत शब्दके स्वरूपको ध्यानमें रखकर भट्टाकलकदेवने उसके सामने आपत्ति उपस्थित करते हुए उक्त प्रकारके दोषका आपादन किया है जो जैनदर्शनमें स्वीकृत कार्यकारणपरम्परापर अणुमात्र भी लागू नही होता, क्योकि जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक उपादान ऐसी सामर्थ्यवाला स्वीकार किया गया है जिसे वह उत्पन्न करता है और साथ ही जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यको ध्रुवस्वभाव मानकर भी परिणमनशील स्वीकार करता है, अतएव इस दर्शनके अनुसार उपादानमें जब कि कार्यकी असामर्थ्य नही स्वीकार की गई है ऐसा अवस्थामे सहकारी कारणो द्वारा उस (असामर्थ्य) के खण्डनका प्रश्न ही उपस्थित नही होता। अत भट्टाकलकदेवके द्वारा अष्टशतीमें कहे गये उक्त वचनको ध्यानमे रखकर अपर पक्षद्वारा यह फलित किया जाना उचित नही है कि—

'इस विवेचनसे यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर

ही होते हैं इस मान्यताके आधार पर आप जो निमित्तोंको अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं वह असगत है।'

किन्तु इसके स्थानमें अपर पक्षको पूर्वोक्त प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'स्वयं प्रत्येक उपादान विवक्षित शक्तिसम्पन्न और परिणामस्वभावी होनेके कारण अपने बलसे अपने-अपने कालमें व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको निमित्तकर विवक्षित कार्यको जन्म देता है।'

इसी प्रकार अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ और उसकी संस्कृत टीकाको प्रमाण रूपमें उपस्थितकर अपने प्रतिशकारूप वक्तव्यके वलपर जो निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न किया है कि 'प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतासम्पन्न होता है, अत कालादि बाह्य सामग्री जब जैसी मिलती है उसके आधारसे उनमेसे कोई एक योग्यता कार्यरूपसे परिणमन करती है।' सो अपर पक्षका ऐसा कथन करना भी आगमसम्मत नही है, क्योकि जैसा कि हम पूर्वमें अष्टसहस्री पृ० १५० का उल्लेख उपस्थित कर आये हैं उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जैसा कार्य होता है उसरूप परिणमनशक्ति लक्षणवाली प्रतिविशिष्ट अन्त सामग्री ही व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको निमित्तकर कार्यरूपसे परिणमन करती है। आचार्य विद्यानन्दिने इस वचनमें यह बात स्पष्टरूपसे स्वीकार की है कि प्रत्येक उपादान प्रतिविशिष्ट अन्त सामग्री सम्पन्न होता है और साथ ही उसरूप परिणमन स्वभाववाला भी होता है, इसीलिए ही वह अपने-अपने कार्य कालमें अपने-अपने कार्यको जन्म देता है। मालूम पडता है कि अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके समग्र कथनपर ध्यान नही दिया है। तभी वह पक्ष प्रत्येक उपादानको कार्यकारणरूप अनेक शक्तिसम्पन्न मानकर उससे बाह्य सामग्रीके बलपर किसी एक कार्यकी उत्पत्ति माननेका साहस कर रहा है। किन्तु आगमका यह अभिप्राय नही है। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के उसी वचनसे हो जाती है जिसका उल्लेख अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें किया है। उसमें कहा है—

क्रमभुवो. पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

क्रमसे होनेवाली दो पर्यायों (पूर्वोत्तर पर्यायो) में एक द्रव्यकी प्रत्यासत्ति होनेसे (अर्थात् एक द्रव्यका अन्वय होनेसे) उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है।

इसमें अनन्तरपूर्व और अनन्तर उत्तर दो पर्यायोंमें एक द्रव्यका अन्वय होनेसे उपादान-उपादेयभाव स्पष्ट शब्दोमें स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादान उसीकी संज्ञा है जिस रूप कार्य होता है। मालूम पडता है कि अपर पक्ष को उक्त उल्लेखमें '**द्रव्यप्रत्यासत्ते**' पदको देखकर यह भ्रम हो गया है कि द्रव्यप्रत्यासत्तिका नाम उपादान है और इस भ्रमके कारण ही उसने यह कल्पना कर ली है कि 'उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्रीके अनुसार ही उसमें कार्य होता है।' हमें आशा है कि वह अपनी इस मान्यताको बदलकर आगमके अनुसार इस तथ्यको स्वीकार कर लेगा कि 'जैसा कार्य होता है आगममें वैसी कई योग्यतावाला ही उपादान स्वीकार किया गया है।' तभी तो आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड अध्याय दो सू० ७, पृ० २३७ में यह वचन कहा है—

तत्रापि हि कारण कार्येऽनुपक्रियमाण यावत् प्रतिनियत कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

कार्य कारणका तो उपकार करता नही, फिर भी वह जैसे प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है वैसे सब कार्योंको क्यो उत्पन्न नहीं करता ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

यह आगम वचन है। यह अन्यके कार्यमे व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्री तथा उपादान कारण दोनोपर लागू होता है। जैसे—अपर पक्ष उपादान कारणको अनेक योग्यतावाला मानता है वैसे ही उसे व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्रीको भी अनेक योग्यतावाला स्वीकार करना पडेगा और ऐसी अवस्थामे उसके सामने 'नियत योग्यतासम्पन्न उपादान कार्यको जन्म देता है और व्यवहारसे तदनुकूल योग्यतासम्पन्न बाह्य-सामग्री उसमें निमित्त होती है।' इसे स्वीकार किये बिना चारा नही रहता। अपर पक्षने चालू प्रतिशकामें कालप्रत्यासत्तिके रूपमे बाह्य-सामग्रीकी कारणता स्वीकार की है सो वह कालप्रत्यासत्ति क्या वस्तु है इसकी ओर यदि उसका ध्यान जाय तो उसके सामने इसे स्वीकार किये बिना अन्य गति नही होगी कि प्रत्येक उपादानका जो अपने कार्यका काल है उस कालमें वह सामग्री जो उसमें निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है नियमसे उपस्थित रहती है। आचार्य अमृतचन्द्रदेवने प्रवचनसार गा० ११३ की टीकामें इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह वचन कहा है—

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्ते· काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव।

पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्तिके कालमें ही सत् (विद्यमान) होनेसे उससे अन्य कालोमें असत् (अविद्यमान) ही हैं।

इसी तथ्यका समर्थन करते हुए पञ्चास्तिकाय गाथा २१ की टीकामें वे कहते हैं—

यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति, सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति।

किन्तु जब द्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे जीव विवक्षित होता है तब वह उपजता है और विनशता है, जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है।

पंचास्तिकायका यह वचन केवल जीव द्रव्यकी कुछ पर्यायोंके लिए नही आया है। किन्तु यावद् द्रव्यभावी सभी पर्यायोंके लिये आया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एक जीव द्रव्य ही नही, किन्तु सभी द्रव्योकी सभी पर्यायोका उत्पाद अपने-अपने कालमें ही होता है। आगममें सर्वत्र कार्यमात्रके प्रति जो काललब्धिका विशेषरूपसे उल्लेख दृष्टिगोचर होता है सो उसका कारण यही है। इसके लिए देखो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १८८, २१९ और २४४ तथा अन्य आगम साहित्य। सब कार्य स्वकालमें होते हैं इसका क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ९० में लिखते हैं—

न हि स्वाभाविक नि श्रेयसम्, तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थकत्वापत्ते·। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिः तस्य युक्ता, तत एव। केचित् सख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसख्यातेन केचिदनन्तेन। केचिदनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीत्यागमान्निश्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत् ? न, आगमस्यैवपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यन्तीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्। दर्शनमोहोपशमादिजन्यत्वाच्च न दर्शन स्वकालेनैव जन्यते यत स्वाभाविक स्यात्।

नि श्रेयस स्वाभाविक नही है, क्योकि ऐसी अवस्थामें इसके उपायभूत तत्त्वज्ञानादिके अनर्थकपनेका प्रसग आता है। स्वकालमें स्वय उत्पत्ति भी उसकी योग्य नही है, उसी कारणसे।

शका—कोई भव्य जीव सख्यात कालद्वारा, कोई असख्यात कालद्वारा और कोई अनन्त कालद्वारा

मोक्ष जायेंगे । किन्तु कोई जीव अनन्तानन्त कालद्वारा भी मोक्ष नही जायेंगे ऐसा आगम होनेसे विदित होता है कि नि श्रेयसकी स्वकालमे स्वयं उत्पत्ति होती है ?

समाधान—नही, क्योकि आगमका यह आशय नही है। कारण कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी स्वरूपलब्धि होनेपर सख्यातादि कालके द्वारा मोक्ष जायेंगे इस अर्थमे वह आगम निश्चित है। दर्शनमोहके उपशमादिजन्य होनेसे सम्यग्दर्शन मात्र स्वकालजन्य नही है, जिससे कि वह स्वाभाविक होवे।

यह आगमवचन है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ मे भी इसी रूपमें उक्त तथ्यका स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है। सो इन सब प्रमाणोंमे यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होकर भी कारणसामग्रीसे जायमान होता है। इसलिए सभी कार्योंकी प्रतिनियत कालमे प्रतिनियत सामग्रीसे उत्पत्ति मानना ही योग्य है। स्पष्ट है कि अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ में पठित 'णाणासत्तीहिं सजुदा' पदका अर्थ जो अनेक योग्यताओवाला एक उपादान किया है वह ठीक नही है। उस गाथामें 'अत्था' पद बहुवचन है और 'वे सब नानाशक्तिवाले होते हैं।' इतना ही कहा गया है। उसमें उपादानकी तो कही चरचा भी नही की गई है। सस्कृत टीकाकारने भी इसकी चरचा नही की है। उसमें तो सामान्यरूपसे इतना ही कहा गया है कि 'कालादिलब्धिसे युक्त और नाना शक्तियोंसे सयुक्त पदार्थ स्वय परिणमन करते हुए किसीके द्वारा रोके नही जा सकते।' फिर नही मालूम कि अपर पक्षने 'उपादान अनेक शक्तिवाला होता है' यह अर्थ उसमेंसे कैसे फलित कर लिया। इसका हमें ही क्या सभीको आश्चर्य होगा। अतएव प्रकृतमें ऐसा ही समझना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक उपादान अपने प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहार हेतु होती है। स्वामी कार्तिकेयको उक्त गाथाका एक मात्र यही तात्पर्य है, दूसरा नहीं। उक्त गाथाकी सस्कृत टीकामें भव्यत्वशक्तिसे युक्त जीव ही रत्नत्रयको प्राप्त करते हैं या ओदनशक्तिसे युक्त चावल ही ओदन बनता है इत्यादि कथन भी इसी तथ्यको सिद्ध करनेके लिए किया गया है कि जिस कालमें जिस प्रकारका कार्य होता है उसका उपादानकारण उस प्रकारकी शक्तिसे युक्त होकर उस कालमें उस प्रकारके कार्यको करता है। बाह्य सामग्रीके बलसे कार्य होता है इस प्रकारका कथन तो मूल गाथामें किया ही नही है, सस्कृत टीकामें भी इस आशयका वचन उपलब्ध नही होता।

२५. अनन्तर पूर्वोत्तर दो पर्यायोंमें ही हेतु-फलभाव होता है

अपर पक्षने अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कारण स्वीकार करके भी अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिए कि 'यदि विवक्षित कार्यकी प्रतिबन्धक सामग्री हो या कारणान्तरोकी विकलता हो तो उससे विवक्षित कार्य न होकर अन्य वह कार्य होगा जिसके कारणोकी वहाँ समग्रता रहेगी' यह लिखकर प्रत्येक उपादानको अनेक शक्तिवाला स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार अनन्तर पूर्व पर्यायमें उपादानताका निषेध कर मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिमें उपादान कारणता स्वीकार करली है। किन्तु प्रत्येक कार्यमें द्रव्यप्रत्यासत्ति है इसका निर्णय कैसे हो इसके लिए उसने बाह्य सामग्रीकी कालप्रत्यासत्तिको स्वीकार कर लिया है। बाह्य सामग्रीके साथ कार्यकी कालप्रत्यासत्ति है इसका निर्णय कैसे हो इसके लिए 'जिसके बाद जो कार्य होता है वह उसका कारण है, इसे कालप्रत्यासत्तिका नियामक मान लिया है। इस प्रकार अपर पक्षके पूरे कथन पर दृष्टिपात करनेसे विदित तो यही होता है कि द्रव्यमें अपने सब कार्योंको करनेकी शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं किन्तु जब जैसी कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती है तब वह कार्य होता है। मार

पक्षने अपनी प्रकृत प्रतिशकामें अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें जो पाँच तर्कणाएँ प्रस्तुत की है उनका भी यही अभिप्राय है। प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, वर्तमान और भविष्यरूप जितने भी कार्य हुए, होते है और होगे वे सब शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं इस तथ्यको तो अपर पक्ष अस्वीकार कर नही सकता, क्योकि प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोका समुच्चय है इसे आगम ही स्वीकार करता है। आप्तमीमासामें कहा भी है—

नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

नय और उपनयोके विषयभूत त्रैकालिक पर्यायोके अपृथक् भावलक्षण सम्बन्धरूप समुदायका नाम द्रव्य है, जो एक और अनेक प्रकारका है ॥१०७॥

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्यमें त्रैकालिक पर्यायें शक्तिरूपमें सदा विद्यमान रहती हैं। अतएव जब कि अपर पक्ष कार्यके अनन्तर पूर्व पर्यायको उपादान कारणरूपसे स्वीकार नही करता, ऐसी अवस्थामें सूक्ष्मरूपसे प्रत्येक द्रव्य अनन्तर पूर्व पर्यायकी अवस्थामे आने पर ही उपादान कारण होता है ऐसा लिखना तो उसका बहानामात्र है। फिर तो उसे यही स्वीकार करना चाहिए कि वास्तवमे द्रव्य सदा उपादान कारण है। किन्तु जब जिस कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री अविकलरूप से मिलती है तब उसके अनुरूप कार्य होता है। चाहे विवक्षित कार्य हो या अविवक्षित कार्य ही क्यो न हो, होगा वह बाह्य सामग्रीके आधार पर ही। इस प्रकार अपर पक्षके पूरे कथनका आलोडन करनेपर एकमात्र यही तथ्य फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्यका जो भी कार्य होता है वह बाह्य सामग्रीके द्वारा ही होता है। प्रत्येक द्रव्यमें अपने सब कार्योंकी योग्यता है इतना ही मात्र उपादानकारणका अर्थ है।

किन्तु यह सब कथन कैसे असगत हैं, आगे इस बातका विचार करते हैं—

(१) प्रकृत विषयको समझनेके लिए सर्व प्रथम तो यह देखना है कि केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें ही उपादान कारणता है या उसके साथ पर्यायप्रत्यासत्तिका होना आवश्यक है। अनन्तर पूर्वोत्तर पर्यायोमें ही हेतु-फलभाव देखा जाता है, व्यवहित पूर्वोत्तर पर्यायोमें नही इस तथ्यका निर्देश करते हुए श्री लघु अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला अ० ३ सू० ५७ में लिखते हैं—

अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतु-फलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्।

इस उल्लेखमे अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायोमे उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृ० १०१ में लिखते हैं—

तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वसः।

वहाँ ऋजुसूत्रनयको मुख्यतासे तो उपादेयरूप पर्याय ही उपादानका प्रध्वस है।

इस प्रकार इस कथनसे भी यही प्रमाणित होता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याय उपादान है और अव्यवहित उत्तर पर्याय उपादेय है।

यह हम मानते है कि आगममें द्रव्यप्रत्यासत्तिका भी उपादान कारणरूपसे निर्देश किया गया है सो उसका तात्पर्य यह है कि ये अव्यवहित पूर्वोत्तर पर्याय एक ही द्रव्यकी होनी चाहिए, तभी उनमे उपादान-उपादेयभाव बन सकता है। इस प्रकार आगमके बलसे यह सिद्ध हुआ कि असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और अव्यवहित पूर्व पर्यायप्रत्यासत्ति ये दोनो मिल कर ही उपादानकारण कहलाते हैं। अतएव अपर पक्षने जो केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादान कारण स्वीकार किया है वह ठीक नही है।

(२) अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के—

यदनन्तरं हि यदवश्य भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम् ।

सम्भवत. इस वचनको देखकर यह मत बनाया है कि सहकारी सामग्री ही कार्यकी नियामक होती है। किन्तु जब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता प्रत्येक कार्यमें होती है। ऐसी अवस्थामें केवल व्यवहार हेतुके बल पर कार्यका उसे नियामक मानना उचित नही है। वस्तुत कार्यका नियामक उपादान-कारण ही होता है, क्योकि उसका परिणाम ही उपादेय है। इस वातको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० १०१ मे लिखा है—

यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत् ? तर्हि प्रागभावे कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेरुपादानोपादेयभावोऽस्तु ।

जिसके होने पर ही जिसका आत्मलाभ होता है वह उपादान है और दूसरा उपादेय है, यदि इसे स्वीकार करते हो तो पूर्व क्षणवर्ती कारणस्वरूप प्रागभावके होने पर कार्यस्वरूपप्रध्वसका स्वरूपलाभ वनता है, इसलिए उनमें उपादान-उपादेयभाव रहे ।

आगममें यह उपादान-उपादेयभावकी व्यवस्था है, निमित्त-नैमित्तिकभावकी व्यवस्था उससे जुडी हुई है, क्योकि जो उपादेय है वही बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा नैमित्तिक व्यवहारपदवीको प्राप्त है और जो बाह्य सामग्री है वही उपादानकी अपेक्षा बाह्य व्याप्तिवश निमित्त सज्ञाको प्राप्त होती है। **जहाँ प्रतिबधक सामग्री या कारणान्तरोंकी विकलता अपर पक्षने स्वीकार की है वहाँ वह विवक्षित कार्यकी अपेक्षा ही उसे स्वीकार कर रहा है। उस समय वहाँ होनेवाले कार्यकी अपेक्षा नहीं। सो विवक्षा तो मनमें होती है। विवक्षाके अनुसार कोई कार्य होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्य तो अपने उपादानके अनुसार उसकी नियत बाह्य सामग्रीको निमित्तकर वस्तुमें होता है।** अतएव विवक्षित कार्यकी अपेक्षा यदि वहाँ पर प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरोकी विकलता या दोनो है तो इससे क्या ? क्या इससे कार्य-कारणपरपराके अनुसार उस समय होनेवाले कार्यके ऊपर किसी प्रकारकी आँच आना सम्भव है अर्थात् त्रिकालमे आना सभव नही है। जिसे अपर पक्ष विवक्षित कार्यकी अपेक्षा प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरोकी विकलता लिखा रहा है, बहुत सम्भव है कि उस समय होनेवाले कार्यकी अपेक्षा वह उसकी व्यवहारनयसे सहायक बाह्य सामग्री हो।

आगममें उपादान कारणका तीन प्रकारसे विचार किया है—पर्यायविशेषकी अपेक्षा, द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षा और अनन्तर पूर्वपर्याय युक्त द्रव्यकी अपेक्षा। पर्यायकी अपेक्षा विचार करते हुए कार्यकी अव्य-वहित पूर्व पर्यायको उपादान कहा है, द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते हुए मृदादि द्रव्यको उपादान कहा है और द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुकी अपेक्षा विचार करते हुए कार्यके अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहा है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला न होकर नियत पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य ही होता है। अतएव उससे तदनन्तर समयमें प्रतिनियत कार्यको ही जन्म मिलता है और जब वह प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्तिके सन्मुख होता है तो प्रतिनियत पर्याययुक्त बाह्य सामग्री ही उसमें निमित्त होती है, इसलिए अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें क, ख आदि विभाग द्वारा जिन पाँच निष्कर्षोंका निर्देश किया है उन्हें कल्पनामात्र ही जानना चाहिए, **क्योकि कार्यकी उत्पत्ति विवक्षामें नहीं हुआ करती,** उसकी उत्पत्ति तो वस्तुमें होती है। अत प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादानको गौणकर और

विवक्षामें आये हुए कार्यको मुख्यकर कुछ भी तर्कणाएँ क्यो न की जाएँ, उनसे क्या ? वे सब तर्कणाएँ प्रतिनियत उपादानकी कसौटी पर कसने पर सब व्यर्थ ठहर जाती हैं।

जैसा कि अपर पक्षने क, ख आदि विभागो द्वारा अपने पक्षको उपस्थित करते हुए हमारे मतके रूपमें यह सकेत किया है कि 'हम स्वकालको उपादान कारण मानते हैं' सो अपर पक्षका ऐसा लिखना कल्पनामात्र है, क्योकि हमने स्वकालको कही भी क्षणिक उपादान नही लिखा है। हाँ, यदि स्वकालका अर्थ उस-उस द्रव्यकी पर्याय लिया जाता है तो उसे उपादानरूपसे स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति भी नही है, क्योकि ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा अनन्तर पूर्व पर्यायको ही उपादान कहा है। प्रमाण दृष्टिसे अवश्य ही अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान ठहरेगा। ये उपादानके निश्चय-परमार्थभूत लक्षण हैं। व्यवहारनयसे अवश्य ही निश्चय उपादानमे पूर्व वही द्रव्य व्यवहार उपादान कहलाता है और ऐसे उपादानको विवक्षितकर यदि अपर पक्ष क, ख आदि विभाग द्वारा निष्कर्षरूपमें अपनी तर्कणाएँ प्रस्तुत करता है तो उनसे हमें कुछ भी लेना देना नही है, क्योकि आचार्योंने भी व्यवहार उपादानकी अपेक्षा कार्यके अनियमका विधान अनेक स्थलोपर किया है। किन्तु परमार्थभूत उपादान पर ये तर्कणाएँ लागू नही होती। वहाँ तो एक मात्र यही कहा जाएगा कि प्रतिनियत जिस कार्यका वह उपादान है अपने स्वकालमें वह उसीको जन्म देगा। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६८ का—

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभ.

आदि आगम वचन और पृ० ७१ का—

द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो

इत्यादि आगम वचन पढ़ लीजिए। उससे सब स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

इस उल्लेखसे साफ जाहिर होता है कि व्यवहारसे उपादान सज्ञाको प्राप्त वस्तुके रहनेपर बाह्य-सामग्रीकी अनुकूलता और प्रतिकूलताकी अपेक्षा चाहे जितनी तर्कणाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। न्यायके ग्रंथोमें उपादान कारणगत सामर्थ्यकी प्रतिबधक सामग्री और कारणान्तरोकी विकलताका निर्देश इसी आधारपर किया गया है, निश्चय उपादानको ध्यानमें रखकर नही। यह परीक्षामुख अध्याय ३ सूत्र ६० की टीका प्रमेयकमलमार्तण्डसे स्पष्ट ज्ञात होता है। यदि अपर पक्ष निश्चय उपादानको व्यवहार उपादानकी पक्तिसे पृथक् रखकर व्यवहार उपादानकी अपेक्षा अपनी प्रतिशका प्रस्तुत करता तो हम भी 'ओम्' लिखकर व्यवहारनयसे उसे स्वीकार कर लेते। किन्तु उसकी ओरसे तो निश्चय उपादानको ही असमर्थ उपादान बनानेका अश्लाघ्य प्रयत्न किया जा रहा है जो अवश्य ही चिन्ताका विषय है। इस प्रसगमें अपने पूर्वोक्त समग्र कथनकी पुनरावृत्ति करते हुए अपर पक्षने जो हमें उपदेश देनेका प्रयत्न किया है सो इस सम्बन्धमें हम उससे इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त समझते हैं कि उस पक्षका पुरुषार्थके नामपर अपने उपादानको भूलकर बाह्य-सामग्रीकी कार्य-कारिताके समर्थनमें इतना अधिक उलझ जाना उचित नही है। कारण कि उसके इस आचरणके फलस्वरूप स्वावलम्बनके मूर्तरूप सच्चे मोक्षमार्गकी गतिके रुद्ध हो जानेकी अधिक सम्भावना है।—देखो प्रवचनसार गाथा १६ की सूरिकृत टीकाका अन्तिम भाग।

इस प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२वी गाथाकी सस्कृत टीकाका तथा अष्टसहस्री पृ० १०५ के **'तदसामर्थ्य'**—इत्यादि वचनका और इनके उल्लेखके साथ प्रस्तुत प्रतिशकामें उपस्थित की गई अन्य सामग्री-का सप्रमाण विचार किया।

२६. आगमिक अन्य दो प्रमाणोंका यथार्थ तात्पर्य

इसी प्रसगमें अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७७ के अपने पक्षका समर्थन करनेवाले जानकर दो प्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण है—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीते ।

प्रतिबन्धरहित कारण ही अपने कार्यका जनक प्रतीत होता है।

सो प्रकृतमें देखना यह है कि आचार्य विद्यानन्दिने यह कथन निश्चय उपादानको लक्ष्यमें रखकर किया है या व्यवहार उपादान को लक्ष्यमें रखकर किया है। आगे इसी बातका विचार करते हैं—

कोई जिज्ञासु शंका करता है कि जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का कारण है तो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञानको क्यो उत्पन्न नही करता ? इसी प्रश्नका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्दिने निष्कर्षरूपमें उक्त वचन कहा है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक किसी एक गुणस्थान में उत्पन्न होता है और केवलज्ञानकी उत्पत्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें होती है। इससे स्पष्ट है कि जब यह जीव १२वें गुणस्थान के अन्तिम समयको प्राप्त होता है तभी वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिकी अपेक्षा निश्चय उपादान कारण बनता है, उसके पूर्व नही। अत इससे पूर्व यदि 'क्षायिक सम्यग्दर्शन, प्रतिबन्धक कारणोंके कारण केवलज्ञानको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।' यह उत्तर दिया जाता है तो वह युक्तियुक्त है। यहाँपर आचाय महाराजने प्रतिबन्धक कारणोंसे केवल ज्ञानावरणादि बाह्य-सामग्रीको ग्रहण नही किया है। किन्तु उसके साथ उस आत्माको भी ग्रहण किया है जो स्वय बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको प्राप्त होनेके पूर्व केवलज्ञानको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। 'प्रतिबन्धक कारण' यह सामान्य निर्देश है। अत जहाँ इससे केवलज्ञानकार्यके असमर्थ उपादानका ग्रहण होता है वहाँ ऐसी बाह्य-सामग्रीका भी ग्रहण होता है जिसकी बाह्य-व्याप्ति केवलज्ञानकी उत्पत्तिके साथ न होकर उसके पूर्ववर्ती क्षायोपशमिक ज्ञानादिरूप अन्य कार्योंके साथ है। अत इस उल्लेख द्वारा यह सिद्ध नही किया जा सकता कि निश्चय उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर यदि उसकी प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जाय तो जिसका वह समर्थ उपादान कारण है वह कार्य न होकर अन्य कार्य होता है। स्पष्ट है कि यह उल्लेख तो अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टिमें सहायक नही हो सकता।

दूसरा उल्लेख—

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते।

अपनी सामग्रीके बिना कभी भी कोई कार्य नही देखा जाता।

यह इस उल्लेखका अर्थ है सो इसे तो कोई भी तत्त्वज्ञ स्वीकार करेगा, क्योकि बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें कार्य होता है यह एकान्त नियम है। किन्तु प्रकृतमें विचार तो यह चल रहा है कि प्रत्येक कार्यकी निश्चय व्यवहारसे उत्पादक आभ्यन्तर और बाह्य सामग्रीकी समग्रता कब होती है ? इसीके उत्तरस्वरूप हमने आगमप्रमाणके बलपर यह सिद्ध कर दिखाया है कि निश्चय उपादानके कार्यके सन्मुख होनेपर उसकी उत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी समग्रता रहती ही है। इसी बातको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक पृ० ७० मे यह वचन कहा है।

विवक्षितस्वकार्यकारणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं। तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोऽप्यू-

ध्वंसमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। न च 'यथाख्यात पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्येव बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। आदि।

विवक्षित अपने कार्यके करनेमे अन्त समयको प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है। किन्तु वह सम्पूर्णता केवलज्ञानके पूर्व चारित्रमे नही है। उसके बाद भी अघातिकर्मोंको प्रध्वंस करनेरूपसे सम्पूण चरित्रका उदय होता है। और इससे 'यथाख्यात पूर्ण चारित्र है' इस प्रवचनमें कोई बाधा भी नही आती, क्योकि उसे क्षायिकपनेकी अपेक्षा वहाँ पर पूर्ण कहा है। आदि।

इससे स्पष्ट है कि अपर पक्षने जो **'स्वसामग्र्या विना'** इत्यादि दूसरा उल्लेख अपने पक्षका समर्थक जानकर प्रकृतमें उपस्थित किया है सो उससे भी अपर पक्षका समर्थन न होकर हमारे पक्षका ही समर्थन होता है। आशा है कि अपर पक्ष इस दूसरे उल्लेखको भी अपने आगमविरुद्ध अनिश्चित विचारोकी पुष्टिमे न समझकर उससे इष्टार्थको समझनेकी ही चेष्टा करेगा।

२७. टीकांशका पुनः खुलासा

हम पहले स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २३० में आये हुए **'णियमा'** पदका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण कर ही आये है। इसी प्रकार गाथा २२२ की टीकामें **'मणिमन्त्रादिना'** इत्यादि वाक्यांशका भी खुलासा कर आये हैं। परन्तु इन दोनोकी चरचा अपर पक्षने पुन: की है। सो प्रकृतमें इतना ही स्पष्टीकरण पर्याप्त है कि गाथा २३० मे **'णियमा'** पद भी निश्चय उपादान और उसके कार्यका नियम करनेके लिए आया है। तथा टीकाका उक्त वाक्यांश भी नियम करनेके लिए आया है। वह नियम इस प्रकार है कि तीनो कालोंके समयप्रमाण जितने भी निश्चय उपादान हैं वे सब अपने-अपने समयमे अपने-अपने कार्यके लिए व्यापारवान् होने पर मणि-मन्त्रादिकसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले होते हैं और उनसे जायमान प्रत्येक कार्यमें कारणान्तरोकी अविकलता भी रहती है। आशय यह है कि अन्त्यक्षण प्राप्त बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री सम्पूर्ण ही होती है, न्यूनाधिक नही। और इस प्रकार उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यमे कोई बाधा नही आती।

यह ठीक है कि टीकाके इस वाक्यांशद्वारा सामान्यतया बाह्य सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। पर इस द्वारा यही तो बतलाया गया है कि जब उपादान अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य होता है तब कार्यकी बाह्य सामग्री भी परिपूर्ण होती है। ऐसी बाह्य सामग्री नही होती जिसे व्यवहारनयसे निश्चय उपादानकी सामर्थ्यको रोकनेवाला माना जा सके या निश्चय उपादानसे जायमान कार्यमे बाह्य सामग्रीकी विकलताकी कल्पना भी की जा सके। अन्यथा **'मणिमन्त्रादिना'** पदके पूर्व **'यदि'** पद अवश्य दिया गया होता। स्पष्ट है कि गाथा २३० में आया हुआ **'णियमा'** पद और उक्त टीकांश भी अपर पक्षके अभिमतका अणुमात्र भी समर्थन नही करता।

२८. अन्य दो प्रमाण तथा उनका खुलासा

आगे अपर पक्षने हमारे द्वारा पिछले उत्तरोमें दिये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १०१ और पृ० ७१ के दो प्रमाण उपस्थित कर यह तो स्वीकार कर लिया है कि वे समर्थ उपादानका ज्ञान करानेके लिए आये हैं। किन्तु वह साथमें निश्चय उपादानके समर्थ उपादान और असमर्थ उपादान ऐसे दो भेद करके अपनी कल्पित मान्यताको दुहरानेके प्रयत्नमें ही लगा हुआ है। उक्त दोनों प्रमाणोमेंसे प्रथम प्रमाण द्वारा तो स्पष्ट शब्दोमें निश्चय उपादानका जो लक्षण आगममें सर्वत्र आता है, न केवल उसका समर्थन किया गया है, अपितु उसमें मात्र ऐसी योग्यता मानी गई है जो एक मात्र मोक्षरूप कार्यकी ही उत्पादक है और साथ

ही इसे निश्चय उपादान कहा गया है। समर्थ उपादानके स्वरूपपर प्रकाश डालनेवाला इससे और अच्छा उदाहरण नही हो सकता।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका दूसरा प्रमाण भी उसी तथ्यकी पुष्टि करता है। इसमें अयोगकेवलीके अन्तिम समय स्थित रत्नत्रयविशिष्ट आत्मा प्रथम समयमे होनेवाली सिद्ध पर्यायको ही क्यों उत्पन्न करता है, द्वितीयादि समयमे होनेवाली सिद्ध पर्यायको क्यो नही उत्पन्न कर सकता इसे अग्नि और धूमका उदाहरण देकर सुस्पष्ट शब्दोंमे समझाया गया है। इस उदाहरणमें भी यही बतलाया गया है कि अग्नि प्रथम धूमक्षणको ही उत्पन्न करती है, द्वितीयादि धूमक्षणको नही अतएव वह उसका समर्थ उपादान कारण है और साथ ही यह भी सूचना की है कि यदि उपादानको अपने कार्यको उत्पन्न करनेवाला नही स्वीकार किया जाता है तो बेचारी कार्यकारणताकी व्यवस्था ही नही बन सकती। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अन्त्यक्षण प्राप्त प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें समर्थ उपादान ही होता है और वह अनेक योग्यताओवाला न होकर एक मात्र ऐसी योग्यतावाला होता है जिससे उसी कार्यको जन्म मिलता है जिस प्रकारकी योग्यता उस उपादानमें होती है।

इस प्रकार इन दोनो उद्धरणोंमे एकमात्र यही सिद्ध होता है कि सभी द्रव्योकी सभी पर्यायें नियत-क्रमसे ही होती हैं। आगममें उपादान कारणका जो लक्षण दिया है उसे सभी आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। वह लक्षण कही पर समर्थ उपादान कारणको सूचित करता है और कही पर असमर्थ उपादान कारणको भी सूचित करता है, आगममे इस आशयका निर्देश कही पर अभी तक हमारे देखनेमें नही आया है और न ही अपर पक्षकी ओरसे ऐसा एक भी पुष्ट आगम प्रमाण उपस्थित किया गया है जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि इसे समर्थ उपादान कारणका लक्षण नही समझना चाहिए। शास्त्रीय चर्चा शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर ही सफल हो सकती है। हम तो आशा करते थे कि अपर पक्ष अपने अभिमतकी पुष्टिमें कोई प्रवल शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करेगा। किन्तु उसकी ओरसे अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण उपस्थित नही किया जा सका इसका हमें आश्चर्य है। अतएव उक्त दोनो प्रमाणोको हमारे आशयकी पुष्टिमें समर्थ प्रमाण ही समझना चाहिए। स्वामी कार्तिकेयकी एक-एक गाथा इस आशयकी स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी यही अभिप्राय है और यदि अष्टसहस्रीको दृष्टिपथमें लिया जाय तो उसमें भी कार्य-कारणभावकी व्यवस्था उपादानके उक्त लक्षणके आधार पर ही की गई है।

२९. अन्य दो उल्लेखोका स्पष्टीकरण

आगे अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७९ का एक उद्धरण उपस्थित किया है। उस उद्धरणमें बतलाया तो यही गया है कि जब तक कोई भी द्रव्य किसी भी कार्यकी अनन्तर पूर्व पर्यायकी भूमिकामें नही आ जाता तब तक वह उस कार्यका समर्थ उपादान कारण नही हो सकता। यद्यपि इस उल्लेखमें कालादि सहकारी साधनोकी भी चर्चा की गई है और यह बतलाया गया है कि यथाख्यातचारित्र सहकारी विशेषसे अपेक्षित होकर ही मुक्तिको उत्पन्न करनेमे समर्थ होता है सो प्रकृतमें यही विचार करना है कि क्षायिकचारित्र केवलज्ञानके पूर्व मुक्तिकी उत्पत्तिके लिए समर्थ उपादान है या इसके समर्थ उपादान होनेमें स्वयकी कुछ कमी है ? दूसरा यह विचार करना है कि वह कालादि सामग्री क्या वस्तु है जिसके बिना केवल मोहक्षय मुक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है ? ये दो प्रश्न हैं जिनका यहाँ क्रमसे विचार करना है—

(१) उपादान-उपादेयका विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६८ में लिखते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनं । तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः, पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत् । तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचरितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचरितेन रूपेणोत्पादात् । अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचरितरूपतयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत् । तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीते घटपरिणमनसमर्थपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्ववत् । तत्र नश्यतोरेव दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति, चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात् । अन्यथा पूर्ववच्चारित्रासहचरितरूपत्वप्रसगात् । इति कथंचित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्त्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्दनेनोपादेयस्य भवन। न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य सम्भवो विरुद्ध्यते, चारित्रकाले दर्शनज्ञानयो सर्वथा विनाशाभावात् । एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसम्भवोऽपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्त वेदितव्यम्, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्य सर्वथा विनाशानुपपत्तेः, कार्यकालमप्राप्नवत कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्, तत कार्योत्पत्तेरयोगाद्गत्यन्तरासम्भवात् ।

निश्चयसे दर्शनपरिणाम परिणत आत्मा दर्शन है । वह उपादान है, क्योकि उससे विशिष्ट ज्ञान परिणामकी उत्पत्ति होती है । निरन्वय पर्यायमात्र और जीवादि द्रव्यमात्रको सर्वथा उपादान होनेका अयोग है, कूर्मादिरोमके समान । वहाँ दर्शनपरिणामके नाश होने पर ही आत्मा विशिष्ट ज्ञानरूपसे परिणमता है, क्योकि विशिष्ट ज्ञानसे असहचरितरूपसे दर्शनका नाश होता है तथा उससे सहचरितरूपसे उसका उत्पाद होता है, अन्यथा पहलेके समान विशिष्ट ज्ञान सहचरितरूपसे उसकी उत्पत्तिका विरोध है । तथा दर्शनज्ञानसे परिणत जीव ज्ञान-दर्शन है । वे चारित्रके उपादान हैं, क्योकि पर्यायविशेषस्वरूप द्रव्यमें उपादानत्वकी प्रतीति है, घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्यके घटोपादानके समान । वहाँ दर्शन-ज्ञान परिणामके नाश होने पर ही आत्मा चारित्र परिणामको प्राप्त होता है, क्योकि वहाँ चारित्र असहचरितरूपसे उनका विनाश होता है और चारित्र सहचरितरूपसे उनका उत्पाद होता है । अन्यथा पहलेके समान चारित्र असहचरितरूपताका प्रसग आता है । इस प्रकार कथंचित्पूर्वरूपका विनाश उत्तर परिणामकी उत्पत्तिसे अभिन्न होनेके कारण उपादानके उपमर्दनमे उपादेय उत्पन्न होता है यह सत्य है और इस प्रकार एक साथ दर्शनादित्रयकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नही होती, क्योकि चारित्रके कालमें दर्शन-ज्ञानके सर्वथा विनाशका अभाव है । इससे एक साथ दर्शन-ज्ञानकी उत्पत्ति भी कही पर विरोधको प्राप्त नही होती यह कहा गया जान लेना चाहिए, क्योकि विशिष्ट ज्ञान है कार्य जिसका ऐसे दर्शनका विनाश नही बन सकता । जो कार्यकालको नही प्राप्त होता उसमे कारणत्वका विरोध है, अत्यन्त पहले नष्ट हुएके समान, क्योकि उससे कार्यकी उत्पत्तिका अयोग है, अन्य कोई गति नही ।

उपादान-उपादेय भावके ऊपर सर्वाङ्गरूपसे विशेष प्रकाश डालनेवाला यह उल्लेख है । इससे विदित होता है कि—(१) केवलद्रव्य (सामान्य) उपादान नही होता, (२) केवल पर्याय उपादान नही होता । (३) पर्याय युक्त द्रव्यके उपादान होनेपर भी कार्यका अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त द्रव्य ही अपने नियत कार्यका उपादान होता है । यह समर्थ उपादानका लक्षण है यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है । इसके समर्थनमें आचार्य श्रीने घटरूप परिणामके परिणमनमे समर्थ मिट्टी द्रव्यको घटका उपादान सुस्पष्ट शब्दोमे सूचित किया है, अत इससे हम यह भी जान लेते हैं कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर प्रतिनियत कार्यकी प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है ।

यह उक्त उल्लेखका आशय है। इसके प्रकाशमें जब हम अपर पक्षके द्वारा प्रस्तुत किये गये पूर्वोक्त उल्लेखपर दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि वह उल्लेख 'व्यवहार उपादान कार्यकारी नही, किन्तु उसके स्थानमें निश्चय उपादान ही कार्यकारी है' इस तथ्यके समर्थनमें ही आया है।

अपर पक्षका यह लिखना कि 'सयोगकेवली गुणस्थानके रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रयके स्वरूपमें कोई अन्तर नही हैं' हमे ऐकान्तिक प्रतीत हुआ। अपर पक्षका यह ऐसा ही लिखना है कि जैसे कोई लिखे कि 'स्थासरूप मिट्टीमें और कुशूलरूप मिट्टीमें कोई अन्तर नही है।' यदि अपर पक्ष स्थासरूप मिट्टी और कुशूलरूप मिट्टीमे पर्यायभेद मानकर उनमें अन्तर स्वीकार करता है तो प्रकृतमें भी उसे सयोगकेवलीके रत्नत्रयसे अयोगकेवलीके चरम समयमे विद्यमान रत्नत्रयमें पर्यायदृष्टिसे अन्तरको स्वीकार कर निश्चयसे उसे ही सिद्ध पर्यायका उपादान स्वीकार कर लेनेमें आपत्ति नही होनी चाहिए।

आगममें व्यवहारनयकी मुख्यतासे भी कार्य-कारणका विवेचन उपलब्ध होता है और निश्चयकी मुख्यतासे भी। उसमें व्यवहारनयसे जो विवेचन किया गया है उसका प्रयोजन सामान्य उपादानका ज्ञान करानामात्र है। ऐसे उपादानको अनेक योग्यतावाला कहनेमें भी आपत्ति नही। किन्तु जो निश्चय उपादान-का विवेचन है वह ऐसे उपादानको ही सूचित करता है जो प्रतिनियत योग्यतावाला होकर प्रतिनियत कार्य-को ही जन्म देता है। स्पष्ट है कि इस उल्लेखसे अपर पक्ष अपने अभिमतकी सिद्धि नही कर सकता।

अब रह गया दूसरा प्रश्न जिसमें कालादिसामग्रीके विषयमें सूचना की गई है। अपर पक्षका सम्भवत' यह ख्याल है कि अयोगकेवलीके अन्तिम समयके पूर्व ही रत्नत्रय मोक्ष पर्यायको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। मात्र कालादि बाह्य सामग्रीके अभावमें ही वह मोक्षकार्यको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो रहा है। अपने इस पक्षके समर्थनमें उसकी ओरसे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० का **'कालादिसामग्रीको हि'** इत्यादि उल्लेख उपस्थित किया गया है। सो प्रकृतमें वह कालादि सहकारी सामग्री क्या वस्तु है इसका यहाँ विस्तारके साथ विचार करना है। आचार्य विद्यानन्दिने सहकारी सामग्रीमें कालविशेषको स्वीकार करके भी अन्तरग शक्तिविशेषको भी स्वीकार किया है। वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ में लिखते हैं—

दंडकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवत स्वपरिणाम-विशेष शक्तिविशेष। सोऽन्तरंगः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघाति-कर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्ते निःश्रेयसानुत्पत्ते। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा, न पुनरुप-क्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिन प्रथमसमये मुक्ति न सपादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रियासे अनुमान होता है कि भगवान्का स्वपरिणामविशेषरूप शक्ति-विशेष अपकर्षण और परप्रकृति सक्रमणका निमित्त है। वह मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्नत्रयका अन्तरंग सहकारी कारण है, क्योंकि उसके अभावमें नामादि तीन अघातिया कर्मोंकी निर्जरा नही बन सकती और मोक्षकी उत्पत्ति नही हो सकती। आयुकर्मकी तो यथाकाल अनुभवसे ही निर्जरा होती है, उपक्रमसे नही, क्योंकि वह अनपवर्त्य है। इसलिए अन्तरग सहकारी परिणामविशेषकी अपेक्षा रखनेवाला क्षायिक रत्नत्रय सयोग-केवलीके प्रथम समयमें मुक्तिको नही ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उस समय उसके सहकारी कारणका अभाव है।

आचार्य विद्यानन्दिका यह उल्लेख अपनेमें बहुत ही स्पष्ट है। अपर पक्षने अपने कथनमें जहाँ काल-विशेषरूप सहकारी सामग्रीका उल्लेखकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि केवल बाह्य सामग्रीके अभावमें

केवलीका क्षायिक रत्नत्रय मुक्तिको उत्पन्न करनेमे असमर्थ है वहाँ इस उल्लेखसे यह सिद्ध होता है कि केवलीके क्षायिक रत्नत्रयमे अन्तरग सहकारी कारणरूप परिणामविशेषका अभाव होनेसे वह मुक्तिको उत्पन्न करनेमे असमर्थ है। इसलिए इस कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि विशिष्ट पर्याय शक्तियुक्त द्रव्य ही अपने कार्यको करनेमे समर्थ है और साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब प्रत्येक द्रव्य विशिष्ट शक्तियुक्त होता है तब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती ही है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयमें विशिष्ट बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका योग मिलता जाता है और उससे प्रत्येक समयमें विशिष्ट कार्यकी उत्पत्ति होती जाती है।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जो उल्लेख उपस्थित किये हैं उसमें आया हुआ **'कालविशेष'** पद कालविशेषको तो सूचित करता ही है। साथ ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायविशेषको भी सूचित करता है, क्योकि आगममें कालका अर्थ केवल समय ही न करके प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायके अर्थमें भी उसका उल्लेख हुआ है। इसके लिए धवला पुस्तक ४ पृ० ३१७ का यह वचन अवलोकनीय है—

दव्वकालजणिदपरिणामो णोआगमभावकालो भण्णदि। पोग्गलादिपरिणामस्स कध कालववएसो ? ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारणिबंधणत्तादो।

द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ परिणाम नोआगमभावकाल कहा जाता है।

शंका—पुद्गलादि द्रव्योंके परिणामकी काल सज्ञा कैसे है ?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि कार्यमें कारणोपचारनिमित्तक यह संज्ञा है।

प्रत्येक द्रव्यके स्वद्रव्यादिचतुष्टयमे पठित 'स्वकाल' शब्द भी प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायको सूचित करता है इस तथ्यसे अपर पक्ष अनभिज्ञ हो ऐसी बात नही है। सो इससे भी यही सूचित होता है कि प्रकृत उल्लेखमे आया हुआ कालविशेष पद जहाँ बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा कालविशेषरूप निमित्तको सूचित करता है वहाँ जीवद्रव्यकी मुक्ति प्राप्तिकी उपादानकारणरूप पर्यायविशेषको भी सूचित करता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करने पर यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका **'कालाविसामग्रीको हि'** इत्यादि वचन भी व्यवहार उपादानको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है, निश्चय उपादानको ध्यानमें रखकर नही। अतएव 'सब द्रव्योका प्रत्येक समयका निश्चय उपादान अपने-अपने कार्यकालमें अपने कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और व्यवहारसे उसके अनुकूल विस्रसा या प्रायोगिक बाह्य सामग्री प्रत्येक समयमे नियमसे उपस्थित रहती है।' एकमात्र इस आगमको निर्विवादरूपसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

३०. अनवस्था दोषका परिहार

अब प्रतिशकाके उस भाग पर विचार करते हैं जिसमें **'तादृशी जायते बुद्धि'** इत्यादि वचनको ध्यानमें रखकर जो अनवस्थादोष दिया गया है। अपर पक्षका कहना है कि—

'जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिए भवितव्यताको निमित्तोका सहयोग अपेक्षित है उसी प्रकार उन निमित्तोकी प्राप्तिरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिए भी अन्य निमित्तोंके सहयोगकी अपेक्षा उसे (भवितव्यताको) नियमसे होगी और फिर उन निमित्तोकी प्राप्ति भी भवितव्यताको अन्य निमित्तोंके सहयोगसे ही

हो सकेगी । इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थाकी जनक होनेके कारण कार्योत्पत्तिके विषयमें स्वीकार करनेके अयोग्य है ।'

सो मालूम पडता है कि अपर पक्ष स्वयंके द्वारा मानी गई कार्यकारणकी प्रक्रियामें आनेवाले अनवस्था दोषसे बचनेके अभिप्रायसे ही ऐसा लिख रहा है । वस्तुत यह दोष भवितव्यताको मुख्य मानकर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करने पर नही उपस्थित होता, क्योकि अपनी अपनी भवितव्यानुसार सभी कार्य अपने अपने कालमें हो रहे हैं और उनका पूर्वोत्तर पर्यायोकी अपेक्षा परस्पर उपादान-उपादेयभाव तथा अन्वय-व्यतिरेकके नियमानुसार प्राप्त बाह्य सामग्रीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज ही बनता जाता है । कार्य-कारणकी इस प्रक्रियामें कोई किसीके आधीन होकर प्रवृत्ति करता है यह प्रश्न ही उपस्थित नही होता । हाँ, अपर पक्ष प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानकर कार्य-कारणपरम्पराको अनवस्था दोषसे मुक्त नही रख सकता, क्योंकि जिस बाह्य सामग्रीको वह कार्यक्षम मानता है वह भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेंसे किस कार्यके लिए कौन योग्यता निमित्त हो यह उससे भिन्न बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा और तद्भिन्न वह बाह्य सामग्री भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेसे भी किसकी कौन योग्यता निमित्त हो यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा । और इस प्रकार सर्वत्र कार्य-कारण परंपरामें अनवस्था दोष आनेके कारण या चक्रक और इतरेतराश्रय दोष आनेके कारण किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीसे किसी भी कार्यका उत्पन्न होना अशक्य हो जानेके कारण सभी द्रव्य अर्थक्रियासे शून्य होकर अपरिणामी हो जावेंगे । और अन्तमें उनका अभाव होकर जगत् द्रव्यशून्य हो जायगा । भट्टाकलंक-देव इस तथ्यको जानते थे । तभी तो उन्होने पिछले पुण्य-पाप और प्रत्येक जीवमें विद्यमान पौरुषरूप परिणमनेकी सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर पौरुषकी उत्पत्तिका निर्देश करते हुए **'तादृशी जायते बुद्धि'** इत्यादि वचन कहा है । स्वामी समन्तभद्र भी इस तथ्यसे भली-भाँति परिचित थे और यही कारण है कि उन्होने भी कार्य-कारणके हार्दको जानकर अपने आप्तमीमासामें **'दैवादेवार्थसिद्धि.'** (का० ८८) इत्यादि कारिका कही है ।

३१ बाह्य सामग्रीमे अकिंचित्करपनेका खुलासा

बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होकर भी अकिंचित्कर है इसका यह तात्पर्य है कि एक द्रव्य और उसके गुण पर्यायोका दूसरे द्रव्य और उसके गुण-पर्यायोमें अत्यन्ताभाव है । [illegible] अपनी प्रतिनियत सत्ताके भीतर ही कार्यशील है । कोई भी द्रव्य अपनी प्रतिनियत स[illegible] द्रव्यकी प्रतिनियत सत्तामें प्रवेश नही कर सकता । इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्[illegible] आप्तमीमासामें यह वचन कहा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ सत् ही हैं इसे कौन स्वीकार नही क[illegible] चतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ असत् ही हैं इसे भी कौन स्वीकार नही करेगा । यदि प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था ही नही बन सकती ॥१५॥

आचार्य विद्यानन्दि भी इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए दूसरे शब्दोमें लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य ।

अपने स्वरूपके उपादान और परके स्वरूपके अपोहनकी व्यवस्था करना ही वस्तुका वस्तुत्व है ।

यही कारण है कि अपने गुण-पर्यायो द्वारा एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे व्यापार होना त्रिकालमे असभव है, इसलिए तो बाह्य सामग्रीको पर द्रव्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्तरूपसे स्वीकार करके भी वह कर्ता आदिपनेकी दृष्टिमे परद्रव्यका कार्य करनेमें अकिंचित्कर ही है । फिर भी एक द्रव्यके कार्यमे दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको जो व्यवहारसे निमित्त सज्ञा प्राप्त है उसका कारण उस कार्यके प्रति उसकी व्यवहारनयसे अनुकूलता ही समझनी चाहिये । व्यवहारनयकी अपेक्षा यह अनुकूलता दो प्रकारसे प्राप्त होती है—एक तो बलाधान हेतुरूपसे और दूसरे अनुकूल क्रिया परिणामरूपसे । विशेष खुलासा पूर्वमें कर ही आये हैं । अत अपर पक्षने प्रकृतमें इस प्रसगको लेकर जो नाना आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे हमारे कथन पर लागू नही होती ।

३२ नयोंके विषयका स्पष्टीकरण

प्रकृतमें अपर पक्षने व्यवहारनयके विषयको आरोपित स्वीकार करने पर जो आपत्ति उपस्थित की है वह भी हमारे कथनपर लागू नही होती, क्योकि सब ज्ञान हैं और उनके निश्चय व्यवहाररूप सब विषय है । जीवकी ससार-मुक्त अवस्था है और ससारके बाह्यआभ्यन्तररूप उपचरित-अनुपचरित सब हेतु हैं । इसलिए न तो किसीका अभाव है और न असत् युक्तियोसे उनका अभाव ही किया जा सकता है । जो जिस रूपमें है वे सम्यग्ज्ञान द्वारा उसीरूपमें जाने जाते हैं । बाह्य द्रव्यमें निमित्तता किस रूपमें स्वीकृत है यह भी वह जानता है, असद्भूतव्यवहारनय जैसा कहता है, वस्तु वैसी नही है यह भी वह जानता है । जैसे असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा किसीको 'कमलनयन' कहते हैं, परन्तु जिसका नाम कमलनयन है वह द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनो रूपसे कमलनयन नही है । इसलिए सम्यग्ज्ञानी पुरुष यह जानते हैं कि असद्भूत-व्यवहारनयसे 'कमलनयन' कहा जा रहा है, वह परमार्थरूपमें कमलनयन नही है । धवला पु० १ पृ० ७४ में नामके दश भेद करके 'नोगौण्य पद' का खुलासा करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा—चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि ।

जिस सज्ञाओमें गुणोकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्य पद नाम कहते है । जैसे—चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सू० ५ मे इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—

अतद्गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमान सज्ञाकर्म नाम ।

अतद्गुण वस्तुमें व्यवहारके लिये अपनी इच्छासे की गई सज्ञाको नाम कहते हैं ।

यह वस्तुस्थिति है जिसे सभी आचार्योंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है, अतएव सम्यग्ज्ञानमें ऐसा स्वीकार करने पर व्यवहारका लोप हो जायगा, अपर पक्षका ऐसा कहना सर्वथा असगत है । वस्तुस्थिति क्या है और व्यवहार क्या है इतना दिखलाना मात्र निश्चयनय-व्यवहारनयका प्रयोजन है । हमें विश्वास है कि अपर पक्ष इस प्रकार वस्तुस्थितिको समझकर आगममें जहाँ जिस दृष्टिसे प्रतिपादन किया गया है उसे हृदयगम करेगा । अपनी प्रतिशंकाको उपस्थित करते हुए अपर पक्षने जो अन्य प्रतिशकाओंमे इस विषयके विशेष विवेचनकी सूचना की है या उनपर दृष्टि डालनेका सकेत किया है सो उन प्रतिशकाओका उत्तर लिखते समय वे दृष्टिपथमें आई हैं या आवेंगी ही । वही उनपर विशेष विचार किया है या करेंगे ।

हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थाकी जनक होनेके कारण कार्योत्पत्तिके विषयमें स्वीकार करनेके अयोग्य है।'

सो मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष स्वयके द्वारा मानी गई कार्यकारणकी प्रक्रियामें आनेवाले अनवस्था दोषसे बचनेके अभिप्रायसे ही ऐसा लिख रहा है। वस्तुत यह दोष भवितव्यताको मुख्य मानकर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करने पर नही उपस्थित होता, क्योकि अपनी अपनी भवितव्यानुसार सभी कार्य अपने अपने कालमें हो रहे हैं और उनका पूर्वोत्तर पर्यायोकी अपेक्षा परस्पर उपादान-उपादेयभाव तथा अन्वय-व्यतिरेकके नियमानुसार प्राप्त बाह्य सामग्रीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज ही बनता जाता है। कार्य-कारणकी इस प्रक्रियामें कोई किसीके आधीन होकर प्रवृत्ति करता है यह प्रश्न ही उपस्थित नही होता। हाँ, अपर पक्ष प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानकर कार्य-कारणपरम्पराको अनवस्था दोषसे मुक्त नही रख सकता, क्योकि जिस बाह्य सामग्रीको वह कार्यक्षम मानता है वह भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेंसे किस कार्यके लिए कौन योग्यता निमित्त हो यह उससे भिन्न बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा और तद्भिन्न वह बाह्य सामग्री भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेंसे भी किसकी कौन योग्यता निमित्त हो यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा। और इस प्रकार सर्वत्र कार्य-कारण परंपरामें अनवस्था दोष आनेके कारण या चक्रक और इतरेतराश्रय दोष आनेके कारण किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीसे किसी भी कार्यका उत्पन्न होना अशक्य हो जानेके कारण सभी द्रव्य अर्थक्रियासे शून्य होकर अपरिणामी हो जावेंगे। और अन्तमें उनका अभाव होकर जगत् द्रव्यशून्य हो जायगा। भट्टाकलंकदेव इस तथ्यको जानते थे। तभी तो उन्होने पिछले पुण्य-पाप और प्रत्येक जीवमें विद्यमान पौरुषरूप परिणमनेकी सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर पौरुषकी उत्पत्तिका निर्देश करते हुए **'तादृशी जायते बुद्धि'** इत्यादि वचन कहा है। स्वामी समन्तभद्र भी इस तथ्यसे भली-भाँति परिचित थे और यही कारण है कि उन्होंने भी कार्य-कारणके हार्दको जानकर अपने आप्तमीमासामें **'दैवादेवार्थसिद्धि.'** (का० ८८) इत्यादि कारिका कही है।

३१ बाह्य सामग्रीमे अंकिंचित्करपनेका खुलासा

बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होकर भी अकिंचित्कर है इसका यह तात्पर्य है कि एक द्रव्य और उसके गुण पर्यायोका दूसरे द्रव्य और उसके गुण-पर्यायोमें अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रतिनियत सत्ताके भीतर ही कार्यशील है। कोई भी द्रव्य अपनी प्रतिनियत सत्ताको छोडकर अन्य द्रव्यकी प्रतिनियत सत्तामें प्रवेश नही कर सकता। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमासामें यह वचन कहा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ सत् ही हैं इसे कौन स्वीकार नही करेगा, तथा पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ असत् ही हैं इसे भी कौन स्वीकार नही करेगा। यदि ऐसा न होवे तो प्रत्येक प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था ही नही बन सकती ॥१५॥

आचार्य विद्यानन्दि भी इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए दूसरे शब्दोमें लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यव स्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य।

अपने स्वभाव (पर्याय) को करता हुआ आत्मा अपने भावका कर्त्ता है, पुद्गलकर्मोंका नही, यह जिन-वचन जानना चाहिए ॥६१॥

यह उक्त गाथाका अर्थ है। इसी शास्त्रकी गाथा ६२ की संस्कृत टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने कर्म और जीव दोनोकी अपेक्षा निश्चय षट्कारकका स्पष्ट शब्दोमें विवेचन किया है। तथा व्यवहार षट्कारक परमार्थभूत क्यो नही है इसका कर्ताकारककी मुख्यतासे एक वाक्य द्वारा निषेध कर दिया है। वे लिखते है—

अत कर्मण· कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति।

इसलिए निश्चयसे कर्मरूप कर्ताका जीव कर्ता नही है तथा जीवरूप कर्ताका कर्म कर्ता नही है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि निश्चयसे जीव या कर्म एक दूसरेके कर्ता भले ही न बनें। व्यवहार-नयसे तो जीव कर्मका और कर्म जीवका कर्ता है ही और इन दोनोमें व्यवहारसे रहनेवाला कर्तृत्व धर्म यथार्थ होनेसे इसे उपचरित कहना उचित नही है? आचार्य अमृतचन्द्रने इसी शास्त्रकी गाथा २७ की टीकामें व्यवहारसे जीव कर्मका कर्ता है इस विषयका विशदरूपसे विवेचन किया ही है, इसलिए उसे एकान्तसे अपर-मार्थभूत कहना उचित नही है। यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि स्वय आचार्य कुन्दकुन्दने इसी शास्त्रकी गाथा ५८ में इस प्रश्नको उपस्थित कर गाथा ६० में उसका समाधान किया है। वे गाथा ५८ में कहते हैं—

कम्मेण विणा उदय जीवस्स ण विज्जदे उवसमंवा।
खइय खओवसमियं तम्हा भाव कम्मकय ॥५८॥

कर्मके बिना जीवके उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नही होता, इसलिए भाव (जीवभाव) कर्मकृत हैं ॥५८॥

किन्तु यह कथन यथार्थ क्यो नही है इसका विचार करते हुए वे गाथा ६० में लिखते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्म पुण भावकारण भवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

जीवभावका कर्म निमित्त है और कर्मका जीव निमित्त है, परन्तु एक दूसरेके वास्तविक कर्ता नही हैं और वे कर्ताके बिना होते हैं ऐसा भी नही है ॥६०॥

यहाँपर आचार्य कुन्दकुन्द जीव कमका और कर्म जीवका कर्ता है इस व्यवहारका निषेध करते हैं तथा जीव अपने जीवभावका और कर्म अपने कर्मपरिणामका कर्ता है इस निश्चयकी स्थापना करते हैं। सो क्यो? जिस प्रकार आचार्य महाराज व्यवहार पक्षको उपस्थित कर उसका निषेध करते हुए इसी शास्त्रकी गाथा ५९ में—

ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्ण सगं सहावं।

और समयसार गाथा २९ में—

'तं णिच्छए ण जुज्जादि'—

लिखते हैं उस प्रकार उन्होंने पहले निश्चय पक्षको उपस्थित कर क्या कही उसका निषेध करते हुए लिखा है कि 'त ववहारे ण जुज्जदि।' वे व्यवहारनयको प्रतिषेध्य और निश्चयनयको प्रतिषेधक (समयसार गाथा २७२ में) क्यों लिखते हैं? इसका कोई कारण तो होना चाहिए? अपर पक्षने इस तथ्यका क्या कभी विचार किया है? यदि वह इसका समीचीन रीतिसे विचार करे तो उसे निश्चयरूप अर्थ सत्यार्थ है और असद्भूत व्यवहाररूप अर्थ उपचरित होनेसे असत्यार्थ है इसे समझनेमें देर न लगे।

३३ समयसारकी ८० वीं गाथाका वास्तविक अर्थ

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें सभी वस्तुओमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसे बन रहा है और इस आधारसे कहाँ किम प्रकार निश्चित क्रम और अनिश्चित क्रम है इसका अपनी कल्पनाके आधार पर विवेचन करते हुए समयसार गाथा ८० को उपस्थितकर उसके अर्थको बदलनेका भी प्रयास किया है। समयसारकी गाथा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ ८० ॥

इस गाथाका सही अर्थ है—

जीवके परिणामोको निमित्तकर पुद्गल कर्मरूपसे परिणमते हैं और पुद्गल कर्मोंको निमित्तकर जीव भी उसी प्रकार परिणमता है ॥ ८० ॥

इस गाथाकी संस्कृत टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति, पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमति।

इस टीकाका अर्थ वही है जो हमने पूर्वमें किया है। किन्तु अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी सिद्धि करनेके लिये उक्त गाथाका यह अर्थ किया है—

जीवके परिणमनका सहयोग पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गलकर्मका सहयोग पाकर जीव भी परिणमनको प्राप्त होते हैं। अत जीवो और पुद्गलोके ऐसे परिणमन भी स्व-परप्रत्यय माने गये हैं।'

गाथाके पूर्वार्द्धमे 'परिणमति' और उत्तरार्द्धमे 'परिणमदि' पाठ है। आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें इन क्रियापदोको इसी रूपमें रखा है। इनका शब्दार्थ हम पूर्वमें दे ही आये हैं। किन्तु अपर पक्षने इन क्रियापदोंका 'परिणमते हैं' या 'परिणमता है' यह अर्थ न करके इसके स्थानमें क्रमश 'परिणत होते हैं' या 'परिणमनको प्राप्त होते है' यह अर्थ किया है। यो तो साधारण दृष्टिसे उक्त क्रियापदोंसे व्यक्त होनेवाले अर्थमें और अपर पक्ष द्वारा इन क्रियापदोंके किये गये अर्थमें सामान्य मनुष्यको अन्तर नही प्रतीत होगा। किन्तु अपर पक्षने उक्त क्रियापदों द्वारा स्पष्टरूपसे व्यक्त होनेवाला कर्तृपरक अर्थ न करके दूसरा अर्थ सकारण किया है।

बात यह है कि निश्चय और व्यवहारके भेदसे षट्कारक दो प्रकारके आगममें वर्णित हैं। उनमेंसे निश्चय षट्कारक यथार्थ हैं और व्यवहार षट्कारक उपचरित हैं, अर्थात् व्यवहार षट्कारक एक द्रव्यके वास्तविक कर्ता आदि धर्मोको दूसरे द्रव्य पर आरोपित कर कहे गये हैं। उपचारका प्रयोजन किस द्रव्यकी किस द्रव्यके साथ बाह्य व्याप्ति किस रूपमें है इस द्वारा निश्चय षट्कारकका ज्ञान करानामात्र है। इसके लिए पञ्चास्तिकाय गाथा ५७ से लेकर ६५ तककी गाथाएँ और उनकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका अवलोकनीय है। जिनवचन क्या है इसका सम्यक् प्रकारसे विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द वही पर लिखते हैं—

कुव्व सग सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्व ॥६१॥

अपने स्वभाव (पर्याय) को करता हुआ आत्मा अपने भावका कर्त्ता है, पुद्गलकर्मोंका नही, यह जिन-वचन जानना चाहिए ॥६१॥

यह उक्त गाथाका अर्थ है। इसी शास्त्रकी गाथा ६२ की संस्कृत टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने कर्म और जीव दोनोकी अपेक्षा निश्चय षट्कारकका स्पष्ट शब्दोमें विवेचन किया है। तथा व्यवहार षट्कारक परमार्थभूत क्यो नही हैं इसका कर्ताकारककी मुख्यतासे एक वाक्य द्वारा निषेध कर दिया है। वे लिखते हैं—

अत· कर्मण कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति।

इसलिए निश्चयसे कर्मरूप कर्ताका जीव कर्ता नही है तथा जीवरूप कर्ताका कर्म कर्ता नही है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि निश्चयसे जीव या कर्म एक दूसरेके कर्ता भले ही न बनें। व्यवहार-नयसे तो जीव कर्मका और कर्म जीवका कर्ता है ही और इन दोनोमें व्यवहारसे रहनेवाला कर्तृत्व धर्म यथार्थ होनेसे इसे उपचरित कहना उचित नही है? आचार्य अमृतचन्द्रने इसी शास्त्रकी गाथा २७ की टीकामें व्यवहारसे जीव कर्मका कर्ता है इस विषयका विशदरूपसे विवेचन किया ही है, इसलिए उसे एकान्तसे अपर-मार्थभूत कहना उचित नही है। यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि स्वय आचार्य कुन्दकुन्दने इसी शास्त्रकी गाथा ५८ मे इस प्रश्नको उपस्थित कर गाथा ६० में उसका समाधान किया है। वे गाथा ५८ में कहते हैं—

कम्मेण विणा उदय जीवस्स ण विज्जदे उवसमंवा।
खइयं खओवसमिय तम्हा भावं कम्मकय ॥५८॥

कर्मके बिना जीवके उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नही होता, इसलिए भाव (जीवभाव) कर्मकृत हैं ॥५८॥

किन्तु यह कथन यथार्थ क्यो नही है इसका विचार करते हुए वे गाथा ६० में लिखते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारण भवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

जीवभावका कर्म निमित्त है और कर्मका जीव निमित्त है, परन्तु एक दूसरेके वास्तविक कर्ता नही हैं और वे कर्ताके बिना होते हैं ऐसा भी नही है ॥६०॥

यहाँपर आचार्य कुन्दकुन्द जीव कर्मका और कर्म जीवका कर्ता है इस व्यवहारका निषेध करते हैं तथा जीव अपने जीवभावका और कर्म अपने कर्मपरिणामका कर्ता है इस निश्चयकी स्थापना करते हैं। सो क्यो? जिस प्रकार आचार्य महाराज व्यवहार पक्षको उपस्थित कर उसका निषेध करते हुए इसी शास्त्रकी गाथा ५९ में—

ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्ण सग सहावं।

और समयसार गाथा २९ में—

'तं णिच्छए ण जुज्जादि'—

लिखते हैं उस प्रकार उन्होने पहले निश्चय पक्षको उपस्थित कर क्या कही उसका निषेध करते हुए लिखा है कि 'त ववहारे ण जुज्जदि।' वे व्यवहारनयको प्रतिषेध्य और निश्चयनयको प्रतिषेधक (समयसार गाथा २७२ में) क्यो लिखते हैं? इसका कोई कारण तो होना चाहिए? अपर पक्षने इस तथ्यका क्या कभी विचार किया है? यदि वह इसका समीचीन रीतिसे विचार करे तो उसे निश्चयरूप अर्थ सत्यार्थ है और असद्भूत व्यवहाररूप अर्थ उपचरित होनेसे असत्यार्थ है इसे समझनेमें देर न लगे।

हाँ, यदि वह निश्चयार्थके समान असद्भूत व्यवहारार्थको परमार्थभूत सिद्ध करनेको ही अपना चरम लक्ष्य मानता हो तो बात दूसरी है ।

दो द्रव्योके आश्रयसे सभी आचार्योंने सर्वत्र जो यह सरणि अपनाई है सो उसका मूल कारण एक तो यह है कि प्रत्येक द्रव्यका गुण-धर्म दूसरे द्रव्यमें पाया नही जाता और दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्यका गुण-धर्म प्रतिसमय अपने व्यापारमें ही उपयुक्त रहता है, इसलिए यदि हम जीवभावको कर्म परिणाममें या कर्मके उदयको जीवभावमें निमित्तमात्र होता हुआ देखकर यह व्यवहार करते हैं कि जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया तो वह वास्तविक न होकर अपरमार्थभूत ही सिद्ध होता है, क्योकि जीवमें जीवभावका कर्तृत्व धर्म तो है, परन्तु ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्तृत्व-धर्म नही है और इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंमें अपना कर्तृत्व धर्म तो है परन्तु जीवभावका कर्तृत्व धर्म नही है। यही कारण है कि व्यवहारनयसे एक द्रव्यको जो दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि कहा जाता है वह वास्तविक न होनेसे उपचरित, आरोपित, असत्यार्थ या अपरमार्थभूत कहा जाता है। दूसरोको चिढानेके लिये हम इन शब्दोका प्रयोग करते हो ऐसा नही है। किसीको चिढ़ानेका उपक्रम करना यह मोक्षमार्गकी प्रक्रियाके विरुद्ध है। यह तो वस्तुस्वरूपका विश्लेषणमात्र है जो युक्तियुक्त होनेसे प्रयोजनवश किया जाता है।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्षने समयसार गाथा ८० का जो अर्थ किया है वह केवल व्यवहार कथनको परमार्थभूत ठहरानेके अभिप्रायसे ही किया है।

साथ ही उस पक्षकी ओरसे इसी प्रसगमें जो 'आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है' इत्यादि कथन किया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया है जो युक्तियुक्त नही है। आचार्य पूज्यपाद तो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सू० १२ में यह कहें कि 'धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनय से कहा जाता है।' और अपर पक्ष उसके स्थानमें यह लिखे कि 'आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है।' सो यह सब क्या है ? क्या यह जिनागमके विरुद्ध कथन नही है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द तो पञ्चास्तिकाय गाथा २४, २५ व १०० में यह कहें कि 'निमिष, काष्ठा, कला, नाली, दिन-रात, महीना, अयन और संवत्सर आदिरूप व्यवहारकाल जीव और पुद्गलोंके परिणमनसे जाना जाता है' और इसके स्थानमें अपर पक्ष यह लिखे कि 'सभी कालद्रव्य अपनेसे सम्बद्ध वस्तुओंकी सत्ताको और उसमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनोको समय, आवली, घडी, घटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह और वर्ष आदिमें बद्ध करके विभाजित करते रहते हैं।' सो यह क्या है ? क्या यही जैन सस्कृति है ? इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपर पक्षने यह या इसी प्रकारका अन्य जितना भी कथन यहाँ पर किया है वह सबका सब इसी प्रकारके अनेक भ्रमोको लिए हुए है। हमें इसका आश्चर्य नही कि उसकी ओरसे इस प्रकारका भ्रमपूर्ण कथन किया गया है। आश्चर्य इस बातका है कि वह इसे जैन सस्कृति घोषित करनेका साहस भी करता है। अस्तु, स्पष्ट है कि उसकी ओरसे व्यवहारनयसे कहे गये निमित्त-नैमित्तिक भावको लेकर अपनी प्रतिशकामें जो कुछ भी विवेचन किया गया है उसे मात्र भ्रमोत्पादक ही जानना चाहिए।

आगे अपर पक्षने अपनी प्रतिशका २ जिन विषयोको लेकर स्थापित की थी और जिनका सप्रमाण समाधान हम अपने दूसरी बार लिखे गये उत्तरके समय कर आये हैं उन्ही विषयोंके क्रमसे हमारे द्वारा दिये गये उत्तरको आधार बनाकर जो पुन प्रतिशंका उपस्थित की गई है उसका विचार उसी क्रमसे करते हैं—

विचारणीय मुख्य विषय ये हैं—१. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथायें तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री। २ अकालमे दिव्यध्वनि। ३. निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय। ४ अनियत गुणपर्याय। ५. क्रम-अक्रमपर्याय। ६. द्रव्यकर्मकी अनियतपर्याय और ७. निमित्त-उपादान कारण।

इन विषयोपर अपर पक्षने जो सामान्यरूपसे प्रतिशंकाका कलेवर निर्मित किया है उसका ऊहापोह तो हम कर ही आये हैं। आगे इनके आधारसे जो अपर पक्षका कहना है उस पर विचार करते हैं—

३४. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३ गाथायें आदि

अपर पक्षने **'एवं जो णिच्छयदो'** गाथाके जिन पदोंको हमने भिन्न टाईपमें दिया है उस सम्बन्धी हमारे स्पष्टीकरणको उद्धृत कर शुद्ध सम्यग्दृष्टिका खुलासा करते हुए जो पुन यह लिखा है कि—'श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा उस तत्त्वको यथार्थ मानता है जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओंमे प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कार्य-कारणभाव पद्धतिको भी यथार्थ मानता है।' सो यहाँ यह देखना है कि जिसे अपर पक्ष मात्र श्रुतज्ञानका विषय बतला रहा है वह क्या केवलज्ञानके विषयके बाहर है ? वह कार्य-कारणपद्धति क्या वस्तु है जिसे केवलज्ञान नही जानता ? उपादान-उपादेयभावका ही दूसरा नाम कार्य-कारणभाव है जो यथार्थ है। सो यदि उसे केवलज्ञानके विषयके बाहर माना जाता है और इसलिए दिव्यध्वनि द्वारा उसका प्रतिपादन नही हुआ है तो उसे स्वीकार करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि और तदनुसार यथार्थ श्रुतज्ञानी कैसे हो सकता है ? वह तो केवल अतत्त्वश्रद्धान और मिथ्याज्ञान ही होगा, अतएव केवलज्ञानके विषयके अनुसार जैसी श्रद्धा हो, सम्यक् श्रुतज्ञानी जीव उसीके अनुसार कार्य-कारणभाव पद्धतिको यथार्थ मानता है, अन्यको नही ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

हम **'णिच्छयदो'** पदको ध्यानमें रखकर यह लिख आये हैं कि निश्चय (उपादान) की प्रधानतासे विचार करने पर ज्ञात होता है कि आगममें अकालमृत्यु आदिका निर्देश व्यवहारनय (उपचारनय) की अपेक्षा किया गया है, निश्चयनयकी अपेक्षा नही। सो हमारे इस कथन पर अपर पक्षका कहना है कि—'जितना भी मरण है चाहे वह अकालमरण हो या कालमरण दोनो व्यवहाररूप है।' सो उस पक्षका ऐसा लिखना ठीक नही है, क्योकि 'कालमरण' जीवकी व्ययरूप पर्याय होनेसे पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा यथार्थ ही है। हाँ, इसमें बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा जो नञार्थकी योजना की गई है वह परसापेक्ष कथन होनेसे अवश्य ही उपचरित है। यही कारण है कि अकालमरणको हमने इस अपेक्षासे व्यवहार (उपचरित) लिखा है।

अपर पक्षका यह लिखना भी सिद्धान्तविरुद्ध है कि 'आत्मा स्वभावत अमर है' क्योकि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जैसे आत्मा अमर है वैसे ही पर्यायार्थिक दृष्टिसे वह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है। यह दोनो कथन परमार्थभूत हैं। शुद्ध निश्चयनयकी विषयभूत वही वस्तु अंश भेद करने पर सद्भूत व्यवहारनयका भी विषय हो जाती है।

हमने असद्भूतव्यवहारको उपचरित अवश्य लिखा है और है भी वह उपचरित ही। पर सद्भूत व्यवहारको हमने कही भी सर्वथा उपचरित नही लिखा, क्योकि अखण्ड वस्तुमें गुण-पर्यायका सद्भाव वास्तविक है। स्पष्ट है कि हमने अपने पिछले उत्तरमें अकालमृत्युको व्यवहारनयकी अपेक्षा जो उपचरित लिखा है वह आगमसम्मत होनेसे यथार्थ ही लिखा है।

आगे अपर पक्षने निश्चयनय और व्यवहारनयके जो लक्षण लिखे हैं उनका विशेष विचार हम प्रतिशंका ६ के उत्तरमें करनेवाले हैं, अत. यहाँ हम उनके खण्डनमें न पड़कर इतना ही लिख देना पर्याप्त

समझते हैं कि आगममें इन नयोके इस प्रकारके लक्षण कही भी दृष्टिगोचर नही होते। इसलिए वे यथार्थ नही हैं। हाँ, प्रकृतमें अपर पक्षका अपने कथनका यह आशय हो कि जिस वस्तुका जो गुण-धर्म है उसको उसीका जो नय कहे या जाने वह निश्चयनय है और जो बाह्य सामग्रीके संयोगको देखकर निमित्तादिवश अन्य वस्तुके गुण धर्मको अन्यका कहे या जाने वह व्यवहारनय है तो हमें कोई आपत्ति नही है।

आगे अपर पक्षने अपनी बातको रखनेका प्रयास करते हुए अन्तमें 'सभी काय स्वकालमें होते हैं' इसका विरोध करनेके अभिप्रायसे जो काय-कारण पद्धतिको अपनानेकी बात लिखी है सो यह केवल उस पक्षका आग्रहमात्र है, क्योंकि सभी कार्योंका स्वकालमें होना स्वीकार करनेमात्रसे कार्य-कारण पद्धतिके अपनानेमें आगमसे कोई विरोध नही आता। हाँ, इससे अपनी अनियन्त्रित वृत्ति (राग-द्वेष-मोह परिणति) को निरुद्ध करनेका अवसर अवश्य ही मिलता है। लोकमें जितने भी पदार्थ हैं चाहे वे अशुद्धदशामें हो या शुद्धदशामें उन सभीके कार्य (उत्पादन-व्यय) तो कार्य कारणपद्धतिसे ही हो रहे हैं और होते रहेंगे। अपर पक्ष जब यह मानता ही है कि 'कुछ कार्य नियत क्रमसे भी होते हैं' और ऐसा स्वीकार करने पर भी जब कार्य-कारण पद्धतिमें विरोध उपस्थित नही होता, ऐसी अवस्थामें सभी कार्योंका नियतक्रमसे होना स्वीकार कर लेने पर कार्य-कारणपद्धतिमें विरोध कैसे उपस्थित हो जाता है इसका वह स्वय निर्णय करे।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने समयसार आत्मख्याति टीकासे **'जइ जिणमय पवज्जह'** इत्यादि गाथा उद्धृत की है सो वह गाथा निश्चयनय और सद्भूतव्यवहारनयके प्रतिपादनके प्रसगसे आई है। परन्तु अपर पक्षकी ओरसे वह गाथा किस प्रयोजनसे उपस्थित की गई है इसका विशेष खुलासा उसकी ओरसे न किया जानेके कारण हम यहाँ पर उसके सम्बन्धमे विशेष व्याख्यान करना उचित नही समझते।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाको २१९वी गाथा और उसके विषयको स्वीकार करनेसे सभी कार्योंके नियत क्रमसे होनेका खण्डन कैसे हो जाता है यह बुद्धिके बाहर है। जब कि सभी कार्योंके साथ अपने-अपने उपादान-की अन्तर्व्याप्ति और निमित्त सज्ञाको प्राप्त होनेवाली बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्तिको स्वीकार कर इन दोनोका आगममें सुमेल बतलाया गया है और इसीलिए आगममें उपचारसे उपकार-अपकारको कर्मकृत कहा गया है। ऐसी अवस्थामे आगमका जो प्रतिपादन है उसे समझकर ही वस्तुका निणय करना चाहिये यही मार्ग है। तथ्य यह है कि यह जीव स्वय अपने शुभ-अशुभ परिणामोंका कर्ता है और वही उनके फलका भोक्ता है। शुभ-अशुभ भावोको निमित्तकर जो कर्म बँधते हैं वे तो उन भावोंके होनेमें निमित्तमात्र हैं। यही बात उस गाथा द्वारा निष्कर्ष रूपसे सूचित की गई है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९वी गाथामें दो बातें स्पष्टरूपसे कही गई हैं—१ प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर स्वय परिणमन करता है, २. और जब वह कार्यरूप परिणमता है तब कालादि सामग्री उसमें निमित्त होती है। इस प्रकार इस गाथा द्वारा नियत क्रमका ही समर्थन होता है, अनिश्चित क्रमका नही। कार्य कारणभावमें मुख्यरूपसे उपादानका और उपचाररूपसे निमित्त कहलानेवाली बाह्य सामग्रीका ग्रहण है यह नही भूलना चाहिये। जब कि प्रत्येक कार्यका प्रत्येक समयमें उपादानकारण सुनिश्चित है तो उससे जायमान कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्रीका होना भी सुनिश्चित है यह भाव ही इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। प्रत्येक द्रव्य स्वय कर्ता होकर परिणमता है और व्यवहारसे तदनुकूल बाह्य सामग्री उसमे निमित्त होती है यह व्यवस्था ही जैनदर्शनने कार्य-कारणभावमें स्वीकार की है। विशेष खुलासा पहले ही कर आये हैं।

अपर पक्षका यह लिखना कि 'उक्त गाथामे पठित **'सय'** पदके अर्थके साथ **'कालाविलद्धिजुत्ता'**

पदके अर्थका उस अवस्थामें विरोध आता है यदि उस गाथाके आधारसे 'नियतक्रम' पक्षका समर्थन किया जाता है, कारण कि यदि 'सयं' पदका अर्थ 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके' ऐसा किया जाता है तो बाह्य सामग्रीको कारणरूपसे स्वीकार करना निष्फल हो जाता है, इसलिये इसका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि 'निमित्त सामग्री सापेक्ष जो भी पदार्थमें परिणमन होता है उसे उसका (पदार्थका) अपना ही परिणमन जानना चाहिये।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका सार है। सो इस सम्बन्धमे पूछना यह है कि प्रत्येक पदार्थमे परिणमनको करता कौन है—बाह्य सामग्री या उपादान या दोनो ? यदि बाह्य सामग्री करती है तो वह उससे भिन्न रहकर करती है या अभिन्न रहकर करती है ? यदि कहो कि भिन्न रहकर करती है तो बाह्य सामग्रीका कर्तृत्व तो उस (परिणमन) से भिन्न रहा, फिर बाह्य सामग्रीसे भिन्न उपादानमें परिणमन हो कैसे जाता है ? अर्थात् नही हो सकता। यदि कहो कि अभिन्न रहकर करती है तो दो या दोसे अधिक द्रव्योमें एकता प्राप्त होती है जो युक्त नही है। दूसरे बाह्य सामग्रीसे उपादानमे परिणमन मानने पर पुरुषार्थकी कथा करना व्यर्थ हो जाता है और द्रव्यके उत्पाद-व्यय स्वभावकी हानिका प्रसग उपस्थित होता है यह अलग। इसलिए बाह्य सामग्री उपादानमें परिणमन करती है यह कहना तो बनता नही।

यदि कहो कि उपादान और बाह्य सामग्री दोनो मिलकर उपादानमे परिणमन करते हैं तो यह कहना भी नही बनता, क्योकि दोनोंके एक हुए बिना दोनो एक क्रियाके कर्ता नही हो सकते और दो द्रव्य मिलकर एक होते नही, इसलिए दोनो मिलकर एक परिणमनके कर्ता होते हैं यह कहना भी तर्कसंगत नही है।

यदि कहो कि 'बाह्य सामग्रीके सानिध्यमे प्रत्येक उपादान कारण अपना कार्य करता है इसे ही हम 'दोनो मिलकर एक परिणामके कर्ता होते हैं। ऐसा कहते हैं तो स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक उपादान स्वयं अपना कार्य करता है और बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य व्यवहारसे निमित्त होती है। अर्थात् स्वभाव-परिणमनमे बलाधानरूपसे व्यवहारहेतु होती है और विभाव परिणमनमें कार्यके अनुकूल व्यापार द्वारा व्यवहार हेतु होती है। हो रहा है सब क्रमानुपाती ही। इसलिए आगममें ऐसे स्थल पर 'स्वयं' पदका अर्थ अपने आप, अपनेमें या अपने द्वारा आदि ही किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यहाँ हमें 'भो विद्वास ' इस पद द्वारा सम्बोधित कर जो यह लिखा है कि 'हम लोगोंमें से कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति नही होती है। तो फिर क्यो गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं।' आदि, सो निवेदन यह है कि एक ओर अपर पक्ष यह लिखे कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला होता है। किस समय कौन परिणमन हो यह निमित्तों पर अवलम्बित है। परिणमन करना मात्र उपादानका कार्य है, उसमें जो परिणाम होता है वह निमित्तोंके अनुसार ही होता है और दूसरी ओर यह लिखे कि 'हम लोगोमें से कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कायकी उत्पत्ति नही होती है।' सो हमें तो यह सब कथन परस्पर विरुद्ध अतएव विडम्बनापूर्ण ही मालूम पडता है। शास्त्रोमें उपादानका लक्षण 'द्रव्यशक्तिका नाम उपादान है' ऐसा जब कि कही किया ही नही है ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष अपनी प्रतिशंकाओंमें उपादानको मात्र द्रव्यशक्तिरूप मानकर क्यों व्याख्यान कर रहा है और शास्त्रोमे जो उपादान का वास्तविक लक्षण किया है उसे क्यो दृष्टिओझल कर रहा है ! क्या इसका ही अर्थ यह मानना होता है कि प्रत्येक कार्य उपादानके अनुसार होता है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। भट्टाकलकदेवने जो 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' वचन लिखा है उसे अपर पक्ष श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है सो यह उचित ही है। किन्तु उन्हीं आचार्योंने जो द्रव्यशक्तिके साथ पर्यायशक्तिको स्वीकार कर उपादान कारणकी व्यवस्था की है उसे

भी अपर पक्षको हृदयसे स्वीकार कर लेना चाहिए। और जब वह उपादानके इस लक्षणको अन्त करणपूर्वक स्वीकार कर लेगा तब वह प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है उसका उपादान मात्र उसीरूप होता है यह भी स्वीकार कर लेगा। फिर वह यह लिखना छोड देगा कि उपादान मात्र द्रव्यशक्तिरूप होनेके कारण अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए जब जैसे निमित्त मिलते हैं, कार्य उनके अनुसार होता है। इतना ही नही, फिर वह यह भी लिखना छोड देगा कि श्रुतज्ञानके अनुसार कुछ कार्य निश्चित क्रमसे होते हैं और कुछ कार्य अनिश्चित क्रमसे भी होते हैं।

इसी प्रसगमें ज्ञानको लक्ष्यकर अपर पक्षने यह वाक्य भी लिखा है कि 'जैसे ज्ञानका स्वत सिद्ध स्वभाव पदार्थको जाननेका है, लेकिन ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है ? यह व्यवस्था तो उस पदार्थके ही आधीन है।' सो हमें यह वाक्य पढ़कर आश्चर्य ही नही खेद भी हुआ। एक ओर तो सब तथ्यो पर दृष्टिपात करते हुये आचार्य यह घोषणा करें कि परिच्छेद्य (ज्ञेय) होनेसे अन्धकारके समान अर्थ और आलोक ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु नही, इसलिए जैसे दीपक घट आदि पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक है वैसे ही अर्थ और आलोकसे उपयोगाकार ज्ञान उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक (ज्ञापक) है (परीक्षामुख अ० २ सू० ६, ८ व ९)। और दूसरी ओर अपर ज्ञानके उपयोगाकार परिणमनको पदार्थोंके अधीन बतलावे यह खेदकी बात है। शायद अपने आशयको स्पष्ट करते हुए अपर पक्ष कहे कि ज्ञानका परिणमन तो स्वत सिद्ध है। वह परिणाम जो विवक्षित उपयोगरूप होता है, ज्ञेयके आधीन है तो इसका मतलब यह हुआ कि जो अतीत और अनागत कार्य विनष्ट और अनुत्पन्न हैं उन्हें केवलज्ञान जान ही नही सकेगा, क्योकि अतीत कालकी अपेक्षा जिस-जिस कालमें जो जो कार्य हुए न तो वर्तमानमें उस उस रूपमें उस उस कालका ही सत्त्व है और न ही उन-उन कार्योंका भी। इसी प्रकार भविष्यकी अपेक्षा भी जान लेना चाहिए, और जो कार्य या काल अपने रूपमें वर्तमानमें हैं नही उन्हें केवलज्ञान कैसे जानेगा अर्थात् नही जान सकेगा। एक केवलज्ञान ही क्या अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान पर भी यही बात लागू होती है। और यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके लिये भी यही कहा जायगा। अतएव 'ज्ञेयके आधीन होकर ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन होता है' यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।

यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी गई है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक समयमें उससे अभिन्न जो परिणाम होता है वह सामान्य-विशेषात्मक ही होता है या मात्र सामान्यात्मक ही ? अपर पक्ष उस परिणमनको मात्र सामान्यात्मक तो कह नही सकता, क्योंकि मात्र सामान्यात्मक वस्तुका सर्वथा अभाव है। परिशेषन्यायसे वह परिणमन सामान्य-विशेषात्मक ही मानना पडेगा। स्पष्ट है कि जिस प्रकार परिणमन करना प्रत्येक वस्तुका स्वत सिद्ध स्वभाव है उसी प्रकार अपर पक्षको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि परके लक्ष्यसे विभावरूप परिणमन करना और स्वके लक्ष्यसे स्वभावरूप परिणमन करना भी उसका स्वत सिद्ध स्वभाव है। आचार्य अकलकदेवने इसी बातको ध्यानमें रखकर ही 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' यह वचन कहा है। यहाँ '**उत्तरीभवनात्**' पद ध्यान देने योग्य है। केवल परिणमन करे इतना ही उपादानका काय नही है किन्तु उपादानके उत्तर क्षणमें जो कार्य होनेवाला है उस रूप परिणमन करे यह भी उपादानका ही कार्य है।

तीसरी बात यह है कि यदि प्रत्येक द्रव्यका परिणमन करना मात्र उसका स्वत सिद्ध स्वभाव माना जाय और वह परिणमन किस रूप हो यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित माना जाय तो केवली जिनके सुख गुणके प्रत्येक समयके परिणमनमें अनन्त सुखरूपता नही बन सकती।

इत्यादि दोष प्राप्त न हो, इसलिए यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं उस-उस रूपसे परिणमता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। यहाँ अपर पक्षने क्रोधपर्यायको प्रमुखरूपसे उदाहरण-रूपमें उपस्थित किया है सो उसके विषयमें भी इसी न्यायसे निर्णय कर लेना चाहिये।

इस प्रकार अपर पक्षने स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथाओ तथा उनके सम्बन्धसे अन्य जिन विषयोकी चर्चा की है उनके सम्बन्धमें सागोपागरूपसे तथ्यार्थका निर्देश किया।

३५. प्रतिशंका ३ में उपस्थित ४ प्रमाणोंका स्पष्टीकरण

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने अपने अभिमतकी पुष्टिके अभिप्रायसे जो ४ प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमेंसे प्रथम उल्लेख भट्टाकलकदेवने किस आशयसे किया है इसका हम पूर्वमे ही विस्तारके साथ स्पष्टीकरण कर आये हैं। वहाँ यह स्पष्ट बतला आये हैं कि मीमासादर्शन शब्दको उपादानरूपसे स्वीकार न करके भी उससे सर्वथा भिन्न ध्वनिकार्यकी उत्पत्ति सहकारी कारणोसे मानता है, इसलिए जैसे उसके लिए यह कहा जा सकता है कि नित्य शब्दकी असामर्थ्यका खण्डन न करता हुआ सहकारी कारण अकिंचित्कर क्यो नही हो जायगा उस प्रकार जैनदर्शनके ऊपर यह बात लागू नही होती। अतएव प्रथम प्रमाणसे तो अपर पक्षके मतका समर्थन होता नही।

दूसरे प्रमाणमें आचार्य विद्यानन्दिने कार्यके साथ सहकारी सामग्रीकी मात्र कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विवक्षित उपादानके विवक्षित कार्यरूप परिणमनके समय विवक्षित बाह्य सामग्रीकी कालप्रत्यासत्ति नियमसे होती ही है, क्योकि इन दोनोंके एक कालमें होनेका नियम है यही यहाँ कालप्रत्यासत्तिका अर्थ मथितार्थ है। आचार्य विद्यानन्दिने व्यवहारनयकी अपेक्षा द्विष्ठ कार्यकारण भावको जो परमार्थभूत कहकर कल्पनारोपितपनेका निषेध किया है सो वह कालप्रत्यासत्तिको ध्यानमें रखकर ही किया है, क्योकि इन दोनोका एक कालमें होना कल्पनारोपित नही है। किन्तु अपर पक्षको मात्र इतना स्वीकार करनेमें सन्तोष कहाँ है। वह तो जीवके क्रोधरूप कायमें जो क्रोधरूप विशेषता आती है उसे सहकारी कारणका कार्य माननेपर तुला हुआ है। आचार्य विद्यानन्दिने इस उद्धरणके प्रारम्भमें जो महत्त्वपूर्ण सूचना की है उसे तो वह दृष्टि ओझल ही कर देना चाहता है। आचार्य श्री तो कहते हैं कि एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होनेसे नियत क्रमसे होनेवाली अव्यवहित पूर्व और उत्तर दो पर्यायोमें उपादान-उपादेयभाव सिद्धान्तविरुद्ध नही है। किन्तु आश्चर्य है कि अपर पक्ष इस कथनकी ओर ध्यान ही नही देना चाहता और अपने माने हुए श्रुतज्ञानकी अपेक्षा कुछ पर्यायोको निश्चितक्रमरूप और कुछ पर्यायोंको अनिश्चित क्रमरूप माननेमें ही अपनी आगमनिष्ठा समझता है जबकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृष्ठ १५१ के उक्त उल्लेखमें ही आचार्य विद्यानन्दिने

क्रमभुवोः पर्याययोः एक द्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

यह पद देकर सभी पर्यायोकी नियतक्रमता स्वीकार कर ली है। स्पष्ट है कि पिछले उल्लेखके समान इस उल्लेखसे भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न होकर हमारे ही अभिमतकी पुष्टि होती है।

अपर पक्षने तीसरा उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ का उपस्थित किया है सो उस द्वारा तो मात्र यह बतलाया गया है कि केवल काल ही मोक्षका हेतु नही है। किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर अन्य सामग्री भी यथायोग्य उसकी हेतु है। सो इस उल्लेखसे कालकी हेतुताका खण्डन न होकर उसका समर्थन ही होता है। यही कारण है कि लोकमे जायमान सभी कार्योंका कालको भी एक व्यवहार हेतु माना गया है।

प्रत्येक कार्य स्वकालमें नियत है, इसका समर्थन करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० २ सू० १२ पृ० २६१ मे लिखते हैं—

स्वकालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात ।

स्वकालमें नियत सत्त्वरूपसे ही उसका ग्रहण होता है ।

इस उल्लेखमें यह स्पष्टरूपसे बतलाया गया है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें नियत सत्त्वरूप है। इसलिए यह तीसरा उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि नही करता। किन्तु इससे हमारे इस अभिप्राय-की ही पुष्टि होती है कि 'सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होते हैं।

अपर पक्षने चौथा उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१ का उपस्थित किया है। सो इस उल्लेखसे भी यही सिद्ध होता है कि जब यह जीव अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयमें विद्यमान होता है तब उन समयोको निमित्तकर नामादि तीन कर्मोंकी निर्जरा होती है। ऐसा ही इनका योग है। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि आत्मा सहकारी कारण बनकर चाहे जब इन ३ कर्मोंकी निर्जरा कर देता है। अपर पक्षको तो सहकारी कारणोके बलपर कार्योंका अपने निश्चित समयको छोडकर अनिश्चित समयमें होना सिद्ध करना है। सो यह उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न कर हमारे इस आशयका ही समर्थन करता है कि सभी कार्य स्वकालमें बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं। आचार्य जिनसेन हरिवंशपुराण सर्ग ७ में लिखते हैं—

निमित्तमान्तर तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता ।
वहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभि ॥६॥

वस्तुमें स्थित द्रव्य-पर्याय योग्यता कार्यमें आभ्यन्तर निमित्त है और निश्चयकाल बाह्य निमित्त है ऐसा तत्त्वदर्शियोने निश्चित किया है ॥६॥

एकान्त नियतवादका गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि आर्ष ग्रन्थोमें क्या अर्थ किया है इसका स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं। मालूम पडता है कि अपर पक्ष उपर भीतरसे दृष्टिपात नही करना चाहता और जिस प्रकार इतरधर्मी जैनियोंको नास्तिक कहकर जनतामें बदनाम करते हैं उसी प्रकार अपर पक्षने भी हमें एकान्त नियतिवादी कहकर आम जनतामें बदनाम करनेका मार्ग ढूँढ निकाला है। भट्टाकलकदेव और आचार्य विद्यानन्दिके **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वचनकी प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य-सामग्रीकी निमित्तता स्वीकार करनेपर भी सगति कैसे वैठती है इसका उन्होने स्वय अपने द्वारा रचित शास्त्रोमें स्पष्टीकरण किया है। भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सू० १ में लिखते हैं।

वीर्यान्तिराय-ज्ञानावरण-क्षय-क्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणाम- पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म ।

वीर्यान्तिराय और ज्ञानावरणके क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले अर्थात् इन कर्मोंके क्षय और क्षयोपशमसे युक्त **आत्माके द्वारा निश्चयनयसे आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गल-परिणाम तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गल परिणाम और पुद्गलके द्वारा आत्म परिणाम किया** जाता है। इसलिए ये कर्म हैं।

इस उल्लेख द्वारा आचार्य महाराज स्पष्ट शब्दो में बतला रहे हैं कि आत्मा और पुद्गल प्रत्येकका कार्य एक-एक है, किन्तु जब आत्माश्रित निश्चयनयकी विवक्षा होती है तब जिस द्रव्यने स्वय यथार्थ कर्ता होकर

अपनी परिणमन क्रियाद्वारा उसे किया है उसका वह कार्य कहा जायगा और जब पराश्रित व्यवहारनयकी विवक्षा होती है तब जिसने यथार्थमे उसे किया तो नही है, मात्र उसके होनेमे व्यवहारसे अनुकूल रहा, इसलिए उसका भी कार्य कहा जायगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र निश्चय-व्यवहार हेतुओकी युति होनेसे **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** वचनकी सर्वत्र सगति बैठती जाती है। इसके सिवाय केवलज्ञानके विषय और तदनुसारी श्रद्धामूलक श्रुतज्ञान बिना स्वरूपसे अप्रामाणिक अन्य किसी श्रुतज्ञानके द्वारा समन्वयकी बात करना मिथ्या ही है।

स्पष्ट है कि अपर पक्षने जिन चार प्रमाणोंके आधारसे अपने अभिमत की पुष्टि करनी चाही है वे अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न कर हमारे ही अभिमतकी पुष्टि करते हैं, इसलिए हम अपने पिछले उत्तरमें जो कुछ भी लिपिबद्ध कर आये हैं वह आगमानुसारी होनेसे प्रमाणभूत ही है ऐसा अपर पक्षको यहाँ निर्णय करना चाहिए।

३६. प्रतिशंका ३ में उपस्थित कतिपय तर्कोका सप्रमाण खण्डन

इसी प्रसगमें अपर पक्षने हमारे पिछले उत्तरको ध्यानमें रखकर हमारे जिस वाक्याशको उद्धृत किया है उसे पूरे सन्दर्भके साथ हम यहाँ दे देना चाहते हैं, क्योकि अपर पक्षने उसके पूरे सन्दर्भको छोडकर उसे उपस्थित किया है। पूरे सन्दर्भ सहित वह वाक्याश इस प्रकार है—

'प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक समयमे जो द्रव्य–पर्यायात्मक शक्ति होती है जिसे कि आचार्योंने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है उसके अनुसार ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलकदेव और विद्यानन्दि जैसे समर्थ आचार्य **'उपादानस्य उत्तरीभवनात्'** यह कहनेमें समर्थ हुए। यदि उपादानके इस लक्षणको, जिसे कि सभी आचार्योंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नही माना जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है तब उसके अनुसार कार्य होता है तो सिद्धोको जिनमे वैभाविक शक्ति इस अवस्थामें भी विद्यमान है और लोक में सर्वत्र बाह्य निमित्तोकी भी विद्यमानता है तब उन्हें ससारी बनानेसे कौन रोक सकेगा।'

यह हमारे वक्तव्यका वह अश है जिस द्वारा हमने बाह्य सामग्रीके आधारपर कार्योत्पत्ति स्वीकार करनेपर सिद्धोंके ससारी बनानेरूप जो अतिप्रसंग दोषका आपादान किया है वह युक्त ही है, क्योकि अपर पक्ष जब किसी कार्यका प्रतिनियत उपादान माननेके लिए तैयार ही नही और बाह्य सामग्रीके बल पर प्रत्येक कार्यकी व्यवस्था बनाता है तो ऐसी अवस्थामें सिद्धोके पुन ससारी बन जानेकी आपत्ति उपस्थित होती है यह स्पष्ट ही है। किन्तु इस दोषको टालनेके लिए अपर पक्षका कहना है कि 'सिद्धोके कर्मोंका सयोग और रागादि परिणाम नही पाये जाने, इसलिए सिद्धोका ससारी होना सभव नही है।' किन्तु उनका ऐसा लिखना इसलिए ठीक नही है, क्योकि जब अपर पक्ष आगममें स्वीकृत निश्चय उपादानके लक्षणको ही स्वीकार नही करता और बाह्य सामग्रीके बलपर किसी भी कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करता है तो उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि सिद्धोमें द्रव्यशक्तिरूप उपादान योग्यता है ही, अतएव उसे निमित्तकर कर्मोंका सयोग हो जाने पर सिद्धोको ससारी बनाना ही पडेगा। अध्यात्मवेत्ता प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति होती है इसे अच्छी तरह जानते हैं। ससार और मोक्षकी व्यवस्था इसी आधार पर चल रही है इसे भी वे अच्छी तरह जानते हैं, किन्तु वे यह नही जानते कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और न ही उन्होने ऐसी कोई व्यवस्था आगममें

ही देखी है। अतएव इस बातका निर्णय तो अपर पक्षको ही करना है कि—यदि हम उपादानको अनेक योग्यतावाला माननेके साथ बाह्य सामग्रीके बलपर कार्यकी उत्पत्तिको मानते रहे तो सिद्धोको संसारी बनानेरूप अतिप्रसगसे हमें कौन बचा सकेगा। इस प्रसगमें अपर पक्षकी ओरसे जो आगम प्रमाण उपस्थित किये गये हैं उनकी सार्थकता तभी है जब आगम व्यवस्थाको पूर्णरूपसे स्वीकार कर लिया जाय। हमारी ओरसे जहाँ भी निमित्तोंके अनुसार कार्य होना लिखा गया है वहाँ प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादान और प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है, क्योकि इन दोनोकी समव्याप्ति है, इसलिए निश्चयनयकी अपेक्षा यह कथन किया जाता है कि कार्य उपादानके अनुसार होता है और व्यवहारनयसे यह कहा जाता है कि कार्य बाह्य सामग्रीके अनुसार होता है।

यहाँ अपर पक्षकी ओरसे हमारे इस कथनको ध्यानमें रखकर कि 'प्रत्येक द्रव्यकी सयोगकालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है' पुन अपनी इस मान्यताको दोहराया है कि 'उपादानका कार्य केवल परिणमन करना है। उस परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता परिलक्षित होती है वह कर्मोदय आदिरूप निमित्त कारणोंसे ही उत्पन्न होती है।' यद्यपि हम उनकी इस मान्यताका विचार पूर्वमें सागोपाग कर आये हैं, फिर भी यहाँ पर इतना सकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि परिणाम, परिणामी और परिणमन क्रिया ये तीनो एक सत्ताक वस्तु होनेके कारण उपादान ही स्वय अपनी शक्तिसे क्रोधादिरूप परिणामको उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्त।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥

जिस समय जिस स्वभावसे द्रव्य परिणमन करता है उस समय उसमय है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है इसलिए धर्मपरिणत आत्माको धर्म समझना चाहिए ॥८॥

इसकी संस्कृत टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यत्खलु द्रव्य यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन्काले किलौष्ण्यपरिणताय पिण्डवत्तन्मय भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥८॥

वास्तवमें जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय उष्णतारूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति उसमय है, इसलिए यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होनेसे धर्म ही है। इस प्रकार आत्माकी चारित्रता सिद्ध हुई ॥८॥

यहाँ गाथामें **'परिणमति जेण'** और टीकामें **'येन भावेन परिणमति'** पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमे स्वतन्त्र कर्ता होकर जो भी परिणमन करता है वह क्रोधादिमेंसे किसी एक भावरूप ही परिणमन करता है। अन्यथा उसका परिणमन करना ही नही बन सकता। अतएव प्रकृतमें अपर पक्षको यही निर्णय करना चाहिए कि जिस समय जिस द्रव्यमें जिस परिणमनकी उत्पत्ति होती है, उस समय उस परिणमनकी योग्यतावाला ही उस द्रव्यका उपादान होता है। फिर भी निमित्तरूपसे जो बाह्य-सामग्रीकी स्वीकृति है वह केवल निश्चय उपादानके साथ बाह्य-सामग्रीके कालप्रत्यासत्तिरूप अविनाभावको ध्यानमें रखकर ही की गई है। प्रयोजनका विचार हम पूर्वमें ही कर आये है।

आगे अपर पक्षने हमारे इस कथनको ध्यानमें रखकर कि 'निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं' जो यह भाष्य किया है कि 'इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्तिके लिए अनुकूल निमित्तोका समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है।' सो इस सम्बन्धमे इतना ही लिखना है कि प्रत्येक कार्यमें ऐसा योग सहज स्वीकार किया गया है और उसीके अनुसार कार्य होता है।

आगे अपर पक्षका कहना है कि 'यदि प्रत्येक समयका परिणमन सुनिश्चित क्रमसे होता है तो फिर क्यो आप कार्य करनेका सकल्प मनमें करते हैं ? क्यो मस्तिष्कके सहारेपर कार्य-कारणभावकी निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओके साथ सगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यो अपनी श्रमशक्तिके आधारपर तदनुकूल व्यापार करते है।' सो इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि सकल्प करना भी एक प्रतिनियत कार्य है, जो बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है। इसी प्रकार अन्य जिन बातोका उल्लेख यहांपर अपर पक्षने किया है वे सब कार्य ही तो हैं जो राग-द्वेषरूप वृत्तिके परिणाम हैं। जबतक इस जीवके राग-द्वेषमय परिणति होती रहेगी और आत्मा उनमें उपयुक्त होता रहेगा तब तक यह सकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्ति इस जीवके नियमसे होगी। अतएव क्रमानुपातीरूपसे इसे स्वीकार करनेपर एकान्त नियतिवादका प्रसग उपस्थित न होकर अनेकान्तस्वरूप सुप्रभातका दर्शन ही यहाँ होता है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए। एकान्त नियति-वाद क्या वस्तु है इसका निर्देश हम पूर्वमें विस्तारके साथ कर आये हैं।

इसो प्रसगमें अपर पक्षने बाह्य निमित्तोकी सार्थकताका प्रश्न उपस्थित किया है और लिखा है कि 'इसे आप स्पष्ट नही कर पाये हैं।' सो इस सम्बन्धमें हमारा कहना यह है कि बाह्य-सामग्री दूसरे द्रव्यके कार्यमें व्यापारवान् हो इसका नाम उसकी सार्थकता नही है, किन्तु इसकी सार्थकता इसीमें हो है कि उस कार्यके साथ उसकी कालप्रत्यासत्ति है, जिसे आपने मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर लिया है।

अनेकान्तका जो स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी टीकामे लिपिबद्ध किया है वह एक द्रव्यमें रहनेवाले परस्पर विरोधी दो-दो धर्मयुगलोको लक्ष्यमें रखकर ही लिपिबद्ध किया है। इससे उसकी मर्यादा सुस्पष्ट हो जाती है। किन्तु अपर पक्ष प्रत्येक कार्यका यथार्थ कारण धर्म उपादानमें भी रहता है और निमित्तभूत बाह्य-सामग्रीमें भी रहता है इस अर्थमें अनेकान्तको चरितार्थ करना चाहता है जो युक्त नही है, क्योकि एक कार्यका यथार्थ कारण धर्म उसी द्रव्यमे रहता है जिसका वह कार्य है, अन्य द्रव्यमें नही। अन्यथा वे दोनो द्रव्य एक हो जायेंगे। इसीलिए हमने अपने पिछले उत्तरमे यह लिखा है कि 'अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है।'

कर्मशास्त्रके अभ्यासी होनेके नाते हमें अकामनिर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जराका आगममें जो सुस्पष्ट निर्देश है उसका सम्यक् प्रकारसे परिज्ञान है, तभी तो हमारा यह कहना है कि जिस कालमें जिस कर्मकी जिस प्रकारकी निर्जरा होती है वह अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होती है। ऐसा नही हो सकता कि किन्ही कर्मपरमाणुओकी उस कालमें निर्जरा होनेकी निश्चय उपादानयोग्यता न हो और बाह्य सामग्री उपस्थित होकर उसे कर दे। जो भी कार्य होता है वह बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें क्रमानुपाती रूपसे ही होता है, सबका कालनियम है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ में जो '**भव्यस्य कालेन**' इत्यादि वचन आया है सो उसका भी यही आशय है कि सभी कार्य अपने-अपने कालमे अपनी-अपनी प्रतिनियत सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं। *अन्य सामग्रीके अभावमें केवल कालके ही बलसे सभी कार्य होते हो ऐसा काल-*

नियम नही है। न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजीने भी अपनी हिन्दी टीकामें तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखका यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं—**'तातै मोक्ष कार्य प्रति काल ही कौ कारण कहना यह नियम' नाहीं सभवे है।** इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होकर भी बाह्य आभ्यन्तर प्रतिनियत सामग्रीके सन्निधानमें होता है। इसका सप्रमाण विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्वमें ही कर आये हैं।

३७. कर्मशास्त्रके अनुसार भी सब कार्य क्रमनियत ही होते हैं

आगे अपर पक्षने अकामनिर्जरा या तप द्वारा अकालमें भी निर्जराके समर्थनमें आगम प्रमाण देकर हमारे द्वारा अपने पिछले उत्तर २ में निर्दिष्ट दो नियमोके विरोधमें जो विचार उपस्थित किये हैं उनपर सागोपाग विचार करते हैं। वे नियम ये हैं--

१ जिस कालमें जिन कर्मोंकी जितने परिमाणमें जिन परिणामोको निमित्त कर उत्कर्षित, अपकर्षित, सक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है, उस कालमें उन कर्मोका उतने परिमाणमें उन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, और उदीरणा होती है ऐसा नियम है।

२ बन्धके कालमें जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, सो उस कालमे ही उनमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आने पर नियत परिणामो तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन कर्मोंका उत्कर्षणादिरूप परिणमन होता है।

ये दो नियम हैं। इनमेंसे प्रथम नियम सब कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होते हैं इस सिद्धान्तके आधारसे लिपिबद्ध किया गया है। स्वामी कार्तिकेयने **'जं जस्स जम्मि'** इत्यादि तीन गाथाएँ तथा आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमें **'यत्प्राप्तव्य यदा'** इत्यादि श्लोक इसी सिद्धान्तके आधार पर लिपिबद्ध किये हैं। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रख कर भट्टाकलकदेवने **'तादृशी जायते बुद्धि'** इत्यादि श्लोक उल्लिखित किया है। यह सिद्धान्त और उसके आधार पर बने अन्य नियम अकाट्य हैं। कुछ बाह्य जनोकी कल्पनाओं द्वारा उनका खण्डन नही किया जा सकता।

दूसरा नियम आगममे प्रतिपादित १० करणोके स्वरूपको लक्ष्यमें रख कर लिपिबद्ध किया गया है। उन १० करणोका निर्देश करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखते हैं—

> बधुक्कट्टकरण सकममोकट्टुदरीणा सत्त।
> उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥४३७॥

वन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दस करण प्रत्येक प्रकृतिके होते हैं ॥४३७॥

इनमेंसे जीवप्रदेशो और कर्मवर्गणाओंके परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध विशेषको बन्ध कहते हैं। स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उत्कर्षण कहते हैं। एक प्रकृतिके चारो प्रकारसे अन्य सजातीय प्रकृतिरूप परिणमनेको सक्रमण कहते हैं। स्थिति और अनुभागके घटनेको अपकर्षण कहते हैं। अन्यत्र स्थित कर्मका उदयमे देनेको उदीरणा कहते हैं। कर्मरूपसे रहनेको सत्त्व कहते हैं। फलकाल प्राप्त कर्मको उदय कहते हैं। उपशमकरण आदिके स्वरूपका विधान करते हुए धवला पुस्तक १६ पृ० ५१६ व ५१७ में लिखा—

ज पदेसग्ग णिधत्तीकय उदये दादुणो सक्क, अण्णपयडिं सकामिदु पि णो सक्क ओकड्डिदु णो सक्क, एवविहस्स पदेसग्गस्स णिधत्तमिदि सण्णा।

ज पदेसग्गं ओकड्डिदुणो सक्कं, उक्कड्डिदुणो सक्क, अण्णपयडिं सकामिदु णो सक्कं, उदए दादु णो सक्क, त पदेसग्ग णिकाचिद णाम।

उवसंत-णिधत्त-णिकाचिदाण सण्णियासो। त जहा—अप्पसत्थउवसामणाए जमुवसत पदेसग्ग ण तं णिधत्त ण तं णिकाचिद वा। ज णिधत्त ण त उवसत णिकाचिद वा। ज णिकाचिद ण त उवसतं णिधत्त वा।

जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत है—उदयमें देनेके लिए शक्य नही है, अन्य प्रकृतिमें सक्रान्त करनेके लिए भी शक्य नही है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करनेके लिए शक्य है ऐसे प्रदेशाग्रकी निधत्त सज्ञा है।

जो प्रदेशाग्र अपकर्षण करनेके लिए शक्य नही है, उत्कर्षण करनेके लिए शक्य नही है, अन्य प्रकृतिमें सक्रमित करनेके लिए शक्य नही है तथा उदयमे देनेके लिए भी शक्य नही है उस प्रदेशाग्रकी निकाचित सज्ञा है।

उपशान्त, निधत्त और निकाचितका सन्निकर्ष। यथा—अप्रशस्त उपशामना द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त है वह न निधत्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निधत्त है वह न उपशान्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निकाचित है वह न उपशान्त है और न निधत्त ही है।

यह दस करणोका सक्षिप्त स्वरूप है। हम समझते हैं कि जो कर्मशास्त्रके सचमुचमें अभ्यासी होगे वे उक्त कथनसे यह भलीभांति समझ जावेंगे कि अपने-अपने सत्त्वकालमें जिस कर्मका जिसरूप परिणमन होना होता है उस कर्ममें वैसी योग्यता बन्धकालमें ही प्राप्त हो जाती है। इस विषयको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिए धवला पु० १६ पृ० ५१७ में निर्दिष्ट इस अल्पबहुत्वपर दृष्टिपात कीजिए—

एदेसिमप्पावहुअ। त जहा—जिस्से वा तिस्से वा एक्किस्से पयडीए अधापवत्तसकमो थोवो। उवसतपदेसक्कममसखेंज्जगुण। णिधत्तमसंखेज्जगुण। णिकाचिदमसखेज्जगुण।

इनका अल्पबहुत्व। यथा—जिस किसी भी एक प्रकृत्तिका अध प्रवृत्तसक्रम स्तोक है। उससे उपशान्त प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है। उससे निधत्त प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है तथा उससे निकाचित प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है।

इस अल्पबहुत्वमें विधि-निषेधमुखसे कितने कर्म सक्रम, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षणके योग्य तथा अयोग्य होते है इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतएव जिस कालमे जो कर्म उत्कर्षण आदिके योग्य होता है उस कालमें अन्य सामग्रीको निमित्त कर उसीका उत्कर्षण आदि होता है, प्रत्येक कर्मशास्त्रके अभ्यासीको ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए। एक कर्मका उत्कर्षणादि ही क्या, ससारका प्रत्येक कार्य अन्य बाह्य सामग्रीको निमित्तकर अपने-अपने कालमें हो रहा है। यदि हमारा आपका श्रुतज्ञान इसके लिए साक्षीभूत नही है तो न सही, आगम तो इसके लिए साक्षी है। हरिवशपुराण सर्ग ७७ मे इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दिव्येन दह्यमानाया दहनेन तदा पुरि ।
नून क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता ।।६१।।

उस समय दिव्य अग्निसे पुरीके जलते समय देव नियमसे कही चले गये ? भवितव्यता दुर्निवार है ।। ६१ ।।

हमें आशा है कि अपर पक्ष समस्त आगमको ध्यानमे रखकर वस्तुका निर्णय करेगा ।

आगे अपर पक्षने ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, ध्रुव वन्धरूप और अध्रुव वन्धरूप प्रकृतियोका संकेतमात्र करके गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा १२४ व १२६ को उद्धृत कर उन प्रकृतियोंका सकेत किया है जिनमेंसे कुछका ध्रुवबन्ध होता है और कुछका नही । सो मालूम नही कि यहाँ यह खुलासा किस प्रयोजनसे किया गया है । सम्भवत इसलिये कि कुछ प्रमाण देना चाहिए और कुछ लिखना चाहिए । ध्रुव बन्धवाली या ध्रुव उदयवाली वा अन्य कोई प्रकृति क्यो न हो ? यहाँ विचार तो यह चला है कि सत्तामें स्थित जो भी कर्म है उसमे उत्कर्षणादि किन नियमो के आधारपर होता है ? और इसी प्रश्नका पूर्वमें समुचित रीतिसे समाधान किया गया है । अतएव प्रकृतमें गो० क० की पूर्वोक्त जो दो गाथाएँ अपर पक्षने उद्धृत की हैं वे प्रकृतमें उपयोगी नही ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

आगे अपर पक्षने जयधवला पु० ९ पृ० ४-६ के कुछ प्रमाण उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इससे हमारी अपकर्षण आदि सम्बन्धी मान्यताका खण्डन हो जाता है । यहाँ अपर पक्षने जो प्रमाण उद्धृत किये हैं उनमें यह बतलाया गया है कि प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नही होता, क्योंकि वहाँपर अतिस्थापना और निक्षेप नही देखे जाते । इसी प्रकार द्वितीय स्पर्धकसे लेकर जघन्य अतिस्थापना और जघन्य निक्षेप प्रमाण स्पर्धक अपकर्षित नही होते हैं । इसके आगे अन्य स्पर्धकोंके अपकर्षित होनेमें कोई बाधा नही । यह आगम वचन है । इसपरसे निष्कर्षको फलित करते हुए अपर पक्षने लिखा है—

'ऊपरके प्रमाणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धकमें अपकर्षित होनेकी योग्यता है । किन्तु स्वगत योग्यता होते हुए भी अतिस्थापना और निक्षेपके अथवा अकेले निक्षेपके अभावके कारण पहले अनन्त स्पर्धकोकी अपकर्षणरूप प्रवृत्ति नही हो सकती है । अत आपके इस सिद्धान्तका स्पष्टतया खण्डन हो जाता है कि उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यताको लिए हुए उपादान होता है तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि उस योग्यताको लिए हुए उपादान हो, किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होनेसे रुक जाय क्योकि यहाँ उपादानमें अपकर्षण होनेकी योग्यता विद्यमान है किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नही हो सकता है । यदि योग्यता न होती तो आचार्य यही कहते कि इतने स्पर्धकोंमें योग्यता नही है, अत यह अपकर्षित नही हो सकते हैं । किन्तु आचार्योंने अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यताका अभाव इसका कारण नही बतलाया है ।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है । इसे पढ़नेपर ऐसा मालूम देता है कि अपर पक्ष अपने पक्षके समर्थनमें उत्कर्षणके और अपकर्षणके लक्षणको ही भूल गया है । स्थिति और अनुभाग के घटनेका नाम अपकर्षण है इसे अपर पक्ष न भूले यह हमारा निवेदन है । प्रकृतमें अपर पक्षने जो प्रमाण उपस्थित किया है वह अनुभागअपकर्षणसम्बन्धी है ।

साधारण नियम है कि जिस कर्मके जिस अनुभागमे अपकर्षण होता है वह अपनेसे लगे हुए नीचेके अनन्त स्पर्धक अनुभागरूप न परिणम कर उससे नीचेके अनुभागरूप परिणमता है। यहाँ जिसरूप नही परिणमा उसकी अतिस्थापना सज्ञा है और जिस रूप परिणमा उसकी निक्षेप सज्ञा है। यह परिणमन अपनेमें हुआ है। अपनी एक पर्याय-अपकर्षण सज्ञावाली है और उसका व्यय होकर जो पर्याय उत्पन्न हुई उसकी निक्षेप संज्ञा है और इन दोनोके बीचमें जो अन्तराल रहा उसकी अतिस्थापना सज्ञा है। यहाँ अतिस्थापना और निक्षेप निमित्त नही है, निमित्त तो जीवके सक्लेश अथवा विशुद्धिरूप परिणाम हैं। अतएव अपर पक्षने कर्मशास्त्रके इस सूक्ष्म रहस्यको हृदयगम न करके जो समर्थ उपादानकी नियामकताके खण्डनका प्रयास किया है उसके बिना प्रयोजनके किये गये इस परिश्रमणके लिए हम उसे क्या कहें ?

सक्रम अनुयोगद्वारमे सक्रमका निक्षेप करते हुए क्षेत्रसक्रमके निरूपणके प्रसगसे बतलाया है कि एक क्षेत्रका क्षेत्रान्तरको प्राप्त होनेका नाम क्षेत्रसक्रम है। इसपर शका हुई कि क्षेत्र क्रिया रहित है, इसलिए उसका सक्रम कैसे सभव है ? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि आधेयमें आधारका उपचार करके सक्रिय जीव और पुद्गलोमें क्षेत्र सज्ञा सभव होनेसे उनका सक्रम बन जाता है और क्षेत्रका संक्रम व्यवहार अप्रसिद्ध भी नही है। क्योकि 'ऊर्ध्वलोक संक्रान्त हुआ' ऐसा व्यवहार पाया जाता है। धवला पु० १६ पृ० ३३९ का वह वचन इस प्रकार है—

एगक्खेत्तस्स खेत्ततरगमण खेत्तसकमो णाम। किरियाविरहिदस्स खेत्तस्स कध सकमो ? ण, जीव-पोग्गलाण सक्किरियाण आधेये आधारोवयारेण लद्धे खेत्तववएसाण सकमुवलभादो। ण च खेत्तस्स सकमववहारो अप्पसिद्धो, उड्ढलोगो सकतो त्ति ववहारुवलभादो।

यह क्षेत्रसक्रमका उदाहरण है। अनुभागसक्रममें इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह सुस्पष्ट होनेमें देर नहीं लगती कि स्थितिसक्रम और अनुभागसक्रम इन दोनोंमे अतिस्थापना और निक्षेप ये दोनो कोई पृथक्-भूत पदार्थ नही हैं, केवल सुस्पष्टरूपसे स्थितिसक्रम और अनुभागसक्रमका ज्ञान करानेके लिए इनका पृथग्भूत कर्ममें व्यवहार अवश्य किया जाता है। अतएव अतिस्थापना और निक्षेप इन दोनो द्वारा निमित्तभूत वस्तु-का कथन न होकर उपादानभूत वस्तुकी अवस्थाविशेषका ही कथन किया गया है।

अब रही प्रथम आदि स्पर्धकरूप अनुभागके सक्रम न होनेकी बात सो इस सम्बन्धमें अपर पक्षका जो यह कहना है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकोमें अपकर्षित होनेकी योग्यता तो है, किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकती है।' सो उस पक्षका यह कहना ठीक नही है, क्योकि सबसे जघन्य अनुभागस्पर्धककी ही प्रथम स्पर्धक सज्ञा है। जितने भी कर्म हैं चाहे वे घाती हो या अघाती उन सबमें अपनी-अपनी मर्यादाके भीतर जो जघन्य अनुभाग स्पर्धक होता है उसे ही आदि स्पर्धक या प्रथम स्पर्धक कहते हैं। ऐसी अवस्थामे जबकि इससे कम अनुभाग स्पर्धक और कर्म हो ही नही सकता तो फिर अपर पक्षने जो यह अर्थ फलित किया है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकोमें सक्रमित होनेकी योग्यता तो है' सो यह अर्थ उसने किस आधारसे फलित किया इसका उसे स्वय विचार करना चाहिए। यह तो अपकर्षणका सामान्य नियम है कि ऊपरकी उसी स्थिति या अनुभागका अपकर्षण हो सकता है जिससे नीचे उतनी स्थिति और अनुभाग पाया जाय जिसे अतिस्थापना और निक्षेप बनाया जा सके। यहाँ प्रथमादि अनन्त स्पधकोका अपकर्षणके इस नियममें अन्तर्भाव नही होता, इसलिए उनमें अपकर्षित होनेकी द्रव्य-पर्याय उभयरूप उपादान योग्यता नही

है। उसीको आचार्य महाराजने जयधवलामें दूसरे शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। स्पष्ट है कि अपर पक्षने जयधवलाके उक्त उल्लेखको ध्यानमें रखकर जो विधान किया है वह समीचीन नही है।

आगे अपर पक्षने यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'बन्धके समय कुछ प्रदेशोंका उपशम, निधत्ति और निकाचितरूप बन्ध होना सभव है। किन्तु वह बन्ध कारणकलाप पाकर टूट जाता है' अपने इस अभिप्रायके समर्थनमे अपर पक्षने जो धवला पु० ६ पृ० ४२७–२८ का उद्धरण उपस्थित किया है उस पर भी यहाँ सागोपाग विचार कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचितके विषयमे विशेष नियम यह है कि जो जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करते समय अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है उसके दर्शनमोहनीयकर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। जो जीव अनतानुबन्धीकी विसंयोजना करता है उसके अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करने पर अनन्तानुबन्धीचतुष्क अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। तथा जो जीव चारित्र मोहनीय-की उपशमना और क्षपणा करता है उसके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करने पर सभी कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते हैं। देखो धवला पु० १६ पृ० ५१६–५१७।

इसी बातको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमे लिखा है—

उदये सकममुदये चउसु वि दादु कमेण णोसक्क।
उवसत च णिधत्ति णिकाचिद त अपुव्वो त्ति ॥४५०॥

जो कर्म उदयावलिमें नही दिया जा सकता उसकी उपशान्त सज्ञा है, जो कर्म सक्रम और उदयावलिमे नही दिया जा सकता उसकी निधत्ति सज्ञा है तथा जो कर्म उदयावलिमें न दिया जा सके, जिसका सक्रम, उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो सके उसकी निकाचित सज्ञा है। ये तीनो अपूर्वकरण तक होते हैं, आगे इनकी व्युच्छित्ति है।

उपशम, निधत्ति और निकाचित इन तीनके विषयमें कर्मशास्त्रका यह अकाट्य नियम है, इसमें अपवाद नही। अतएव इसके प्रकाशमें जब हम धवला पु० ६ पृ० ४२७–२८ के वचन पर विचार करते हैं तो उससे यही तथ्य फलित होता है कि स्वभावदृष्टिसे जिनदेवका जो स्वरूप है वही आत्माका स्वरूप है ऐसा निर्णय करके जो आसन्न भव्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके प्रसगसे जिनबिम्बका अवलोकन करते समय अन्तरङ्गमें स्वभावसन्मुख होकर अध करण और अपूर्वकरण परिणामोको उलघन कर अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है उसका निधत्ति और निकाचितरूप मिथ्यात्वादि कर्मकलाप अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। यह धवलाके उक्त कथनका तात्पर्य है। धवलाका वह कथन सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके प्रकरणसे ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए आचार्य वीरसेनने उक्त कथन द्वारा उसी नियमका सूचन किया है जिसका प्रकृतमें हमने स्पष्टीकरण किया है। इसपरसे यदि अपर पक्ष यह तथ्य फलित करना चाहे कि बाह्यमे चाहे जैसी भूमिका रहने पर केवल बाह्य निमित्तोके बलसे उपशान्त, निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते होंगे, सो अपर पक्षका ऐसा विचार करना आगम सम्मत नही है। आगममें सब व्यवस्थाएँ सुनिश्चित हैं। उन्हीके आधारसे सब कार्य होते हैं।

उपशान्त, निधत्ति और निकाचित कर्मका स्वमुखसे ही उदय होता है ऐसा कर्मशास्त्रका नियम भी नही है। हमने अपने पूर्व वक्तव्यमें ऐसा विधान भी नही किया है, इसलिए इस प्रश्नको यहाँ उपस्थित कर उसकी चर्चा करना बेमतलब है।

'जो कर्म उपशम, निधत्ति और निकाचितरूप नही है वे बन्धावलिके बाद उदीरणा आदिके योग्य होते हैं' यह अपर पक्षने स्वीकार कर लिया यह प्रसन्नताकी बात है। किन्तु किस कर्मकी कब उदीरणा हो, कब उत्कर्षण, अपकर्षण या सक्रमण हो यह केवल द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखनेवाली बात न होकर द्रव्य-पर्याय दोनो प्रकारकी योग्यतासे सम्बन्ध रखती है। आशय यह है कि जब प्रत्येक कर्म समर्थ उपादान होकर उदीरणा आदिके सन्मुख होता है तभी बाह्य सामग्रीको निमित्तकर उसकी उदीरणा, उत्कर्षण आदि होते हैं।

कर्मशास्त्रमें बन्धावलिके बाद उत्कर्षण आदि होना सम्भव है यह जो विधान किया है वह यथार्थ है, परन्तु काल भी एक निमित्त है, इसलिए कोई भी काल किसी भी कार्यके लिए निमित्त हो जाय ऐसा आगमका नियम नही है। किन्तु निश्चित कार्यके लिए निश्चित काल ही निमित्त होता है ऐसा कालनियम अवश्य है। निश्चित कालके साथ निश्चित अन्य बाह्य सामग्री भी प्रत्येक कार्यमें निमित्त होती है, इसलिए आचार्योंने केवल कालसे ही सब कार्य होते है इसका निषेध अवश्य किया है। पर निश्चित काल निमित्त न हो और कार्य हो जाय ऐसा नही है। देखो, अप्रशस्त उपशम आदिरूप कर्मको जो उदीरणा आदिके अयोग्य बतलाया है सो उसे भी प्रतिनियत काल तक ही ऐसा जानना चाहिए। इससे प्रतिनियत काल ही प्रतिनियत कार्यके लिए हेतु होता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हुए जयधवला पु० ७, पृ० २४७ में लिखा है—

एत्थ चोदओ भणदि—उदयावलियबाहिरे वि ओकड्डुणादो ज्झीणट्ठिदियमप्पसत्थउवसामणा-णिधत्तीकरण-णिकाचणाकरणेहि अत्थि चेव जाव दसण-चरित्तमोहक्खवगुवसामयअपुव्वकरणचरिम-समओ त्ति तदो किं बुच्चदे उदयावलियबाहिरट्ठिदिट्ठिदपदेसग्गमोकड्डुणादो अज्झीणट्ठिदियमिदि? एत्थ परिहारो वुच्चदे-जिस्से ट्ठिदीए पदेसग्गस्स ओकड्डणा अच्चत ण सभवइ सा ट्ठिदी ओकड्डणादो झीणा वुच्चइ, तिस्से अच्चताभावेण पडिग्गहियत्तादो। ण च णिकाचिदपरमाणूणमेवविहो णियमो अत्थि, अपुव्वकरणचरिमसमयादो उवरि तेसिमोकड्डणादिपाओग्गभावेण पडिणिययकालपडिबद्धाए ओकड्डणादीणमणागमणपइज्जाए अणुवलमादो।

शका—यहाँ पर शकाकार कहता है कि उदयावलिके बाहिर भी अप्रशस्त उपशामना, निधत्तीकरण और निकाचनाकरणके सम्बन्धसे ऐसे कर्मपरमाणु बच रहते हैं जो अपकर्षणके अयोग्य है और उनकी यह अयोग्यता दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीयकी क्षपणा या उपशमना करनेवाले जीवके अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक बनी रहती है, तब फिर यह क्यो कहा जाता है कि उदयावलिके बाहिरकी स्थितियोमें स्थित कर्मपरमाणु अपकर्षणके योग्य हैं?

समाधान—जिस स्थितिके कर्मपरमाणुओकी अपकर्षणा बिलकुल ही सम्भव नही, केवल वही स्थिति यहाँ अपकर्षणाके अयोग्य कही गई है, क्योकि यहाँ ऐसे कर्मपरमाणुओकी अपकर्षणाका निषेध किया है जो किसी भी हालतमे सम्भव नही है। किन्तु निकाचित आदि अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओका ऐसा नियम तो है नही, क्योकि वे कर्मपरमाणु अपूर्वकरणके अन्तिम समयके बाद अनिवृत्तिकरणमें अपकर्षणा आदिके योग्य हो जाते हैं। और तब फिर उनकी अपकर्षणा आदिको नही प्राप्त होनेकी जो प्रतिनियत काल तककी प्रतिज्ञा है वह भी नही रहती।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सत्तामें स्थित किस कर्मकी किस समय, घटी, घटा या

मुहूर्तबाद उदीरणा आदि होनेका नियम है उस कर्मकी उस कालमें नियमसे उदीरणा आदि होती है। उदयावलिके भीतर स्थित कर्म अपकर्षणादिकके सर्वथा अयोग्य है, इसलिए वहाँ उसका सर्वथा निषेध किया है। किन्तु उदयावलिके बाद स्थित जितने भी कर्म हैं उनमेसे सबकी उदीरणा आदिका एक कालनियम न होनेके कारण साथ ही सबकी एक-सी व्यवस्था न होनेके कारण उनका अलग-अलग निर्देश किया है। इसके लिए जयधवला पु० ७ में क्षीणाक्षीणचूलिका अनुयोगद्वार द्रष्टव्य है।

यहाँ अपर पक्षने उद्वेलना आदिकी चर्चा करते हुए यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि 'ये उद्वेलना आदि अनियमसे होते हैं।' किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि कर्मशास्त्रमें जिसके लिए जो नियम निर्दिष्ट किये गये हैं उन नियमोको उल्लघन कर न उदीरणा होती है, न उद्वेलनासक्रम होता है और न ही गुणसक्रम या दूसरा कार्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वेलना मिथ्यात्व गुणस्थानमें होनेका नियम है तो क्या बाह्य सामग्रीके बल पर वह अन्य गुणस्थानमें की जा सकती है? यदि नही तो फिर यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेनेमें क्या आपत्ति है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने समर्थ उपादानके अनुसार बाह्य सामग्रीको निमित्त कर स्वकालमें ही होता है। कर्मके जिस कार्यका जो स्थान और योग्यता नियत है उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है यही तो नियति है और नियत किस वस्तुका नाम है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही मिथ्यात्वकी उदीरणा होती है और वेदकसम्यक्त्वके होनेपर ही सम्यक्त्वकी उदीरणा होती है। यही तो नियम है और नियम क्या वस्तु है। वही उनकी उदीरणाका स्वकाल है। फिर नही मालूम कि अपर पक्ष इनकी उदीरणाका नियत काल होने पर भी उसका निषेध किस आधार पर करनेका साहस करता है।

यदि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवके क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करते समय सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसक्रम और सर्वसक्रम नही होता है तो गुणसंक्रम और सवसक्रमके स्वकालमें होनेका निषेध कैसे हो गया। यह कोई तर्क है कि 'क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करते समय यदि सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसक्रम या सर्वसक्रम नही होता तो इनका कालनियम हो नही बनता।' सम्यक्त्व प्रकृतिके गुणसक्रम और सर्वसक्रम उद्वेलनाके समय बनते हैं, क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय नही बनते ऐसी इस कर्मकी व्यवस्था है। और इसीके अनुसार इनके होनेका पृथक् पृथक् जीवोकी अपेक्षा पृथक्-पृथक् कालनियम है।

उपशमश्रेणि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानपर एक साथ आरोहण करनेवाले दो जीवोमेंसे अनन्तर समयमें एक मरकर चतुर्थ गुणस्थानको प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है सो इन दोनोंका एक उपादान है यह अपर पक्षने किस आधारसे निणय किया। यदि इसका वह स्पष्टीकरण कर देता तो तत्त्वमीमासा करनेमें सुगमता जाती। मालूम पडता है कि अपर पक्षने केवल अनिवृत्तिकरणरूप परिणामको ही उपादानकारण समझ लिया है। उन दोनोंकी भवस्थिति जो जुदी-जुदी है उसे उसने लक्ष्यमें ही नही लिया है। कैसी भवस्थितिके साथ कैसा अनिवृत्तिकरण परिणाम होने पर उत्तर क्षणमे किस गुणस्थानरूप क्या परिणाम होता है ऐसा नियम है। उसी नियमके अनुसार एक उपशम अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव मर कर अपने समर्थ उपादानके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानको प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। यह है अपने-अपने उपादानगत विशेषताका फल। आशा है अपर पक्ष इस ओर ध्यान देकर अपने विचारोमें सुधार अवश्य कर लेगा।

जब प्रत्येक जीवका मोक्ष जानेका कालनियम है और इसी नियमके आधार पर ६०८ जीवोका ६ माह ८ समयमें मोक्ष जानेका निर्देश किया है, इसलिए प्रत्येक जीवको तपके लिए अलग-अलग कालनियम बन जाता है और उसके बन जानेसे निर्जराका भी नियम बन जाता है। किसी भी चरमशरीरीका मोक्ष जानेका तो कालनियम हो और व्रतग्रहण, तपश्चरण आदिका कालनियम न हो यह नही हो सकता, अतएव सभी कार्य बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें स्वकालमे ही होते हैं ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

३८. करणानुयोगसम्बन्धी विषयो पर उपस्थित आपत्तियोंका समाधान

अपर पक्षने प्रतिशका २ में अकामनिर्जरा तथा उत्कर्षण, सक्रमण आदिके विषयमे चरचा स्वय चलकर की है और इसी कारण उत्तर २ मे इन सब विषयों पर हमें विचार करना पडा है। किन्तु अब अपर पक्षकी शिकायत है कि इन सब विषयोकी चरचा निमित्तसम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें करनी थी। यहाँ यह सब चरचा क्यो की गई ? इस पर हमारा उत्तर स्पष्ट है कि यदि शकाकार पक्ष प्रत्येक प्रश्नकी मर्यादाको ध्यानमें रख कर अपनी शका प्रस्तुत करता तो हमारी ओरसे उस मर्यादाका अवश्य ही पालन किया जाता। अस्तु,

हमने अपने पिछले उत्तरमें जो हेतु नं० ३ व ४ दिये हैं। उन परसे अपर पक्षने जो यह तात्पर्य फलित किया है कि एक ही निमित्तकारण होनेसे 'एक ही कार्य होना चाहिए था, भिन्न-भिन्न नही।' सो अपर पक्षने यह ठीक आशय लिया है। यही तो हमारा कहना है कि यदि बाह्य सामग्री निमित्त बन कर दूसरे द्रव्यके कार्यमें व्यापार करती है तो उससे एक कालमें एक ही कार्य होना चाहिए, क्योकि कोई भी वस्तु एक कालमें एक ही क्रिया कर सकती है, एक वस्तु एक कालमें अनेक क्रिया करे यह तो जिनागम नही है।

अपर पक्षने लिखा है कि एक लाठीके प्रयोगसे भिन्न-भिन्न आकारवाले कपालोकी उत्पत्ति देखी जाती है और इसकी पुष्टिमें धवला पु० १ पृ० २१९ का प्रमाण दिया है। सो एक तो यह प्रमाण ही यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने उपादानके अनुसार ही होता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्त मात्र है। दूसरे अपर पक्षने प्रमाणरूपमें धवला पु० १ पृ० २१९ का जितना अश उद्धृत किया है वह केवल भ्रममे डालनेके अभिप्रायसे ही उसने उद्धृत किया है। अन्यथा वह उसके आगेके अशको अवश्य ही उपस्थित करता। वह आगेका अश इस प्रकार है—

तत्थ वि होदु णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्त। तदो एयक्खप्परुप्पत्तिपसगादो इदि चे तो क्खहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदिकडयघाद–अणुभागकडयघाद-ट्ठिदिबधोसरण-गुणसकम-गुणसेढी-ट्ठिदिअणुभागबधपरिणामाणं णाणत्त। तो वि एगसमयसठियणाणाजीवाण सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टिविसेसणाणुववत्तीदो।

शंका—वहाँपर मुद्गर एक भले ही रहा जावे, परन्तु उसकी शक्तियो में एकपना नही बन सकता है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहाँपर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणसक्रमण, गुणश्रेणि निर्जरा, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धरूप परिणामोमें नानापना रहा आवे। तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा अनिवृत्ति यह विशेषण नही बन सकता।

यह ऐसा प्रमाण है जो प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादान और उसकी निमित्तभूत प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीको सूचित करता है। देखिए, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमे परिणाम एक है पर वहाँ होनेवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धमें कितनी विलक्षणता देखी जाती है। क्या इससे सर्वत्र यह अनुमान नही किया जा सकता कि सभी कार्योंकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री प्रतिनियत है। यद्यपि ऐसा है फिर भी प्रत्येक उपादानसे जो भी कार्य होता है वह बाह्य-कारणनिरपेक्ष ही होता है। जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तुका परिणमन बाह्यकारण निरपेक्ष होता है। अतएव अनेक कार्योंकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री चाहे एक हो या अनेक, कार्य बाह्य सामग्रीसे निरपेक्ष होकर उपादानके अनुसार ही होता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इतना अवश्य है कि बाह्य-सामग्री उपादानगत विशेषताकी सूचक होनेसे प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें व्यवहारसे कारणरूपसे उसका भी निर्देश किया जाता है। अपर पक्षने धवला पु० १२ पृ० ३८० व ४५१ का सहकारीकारणके भेदसे कार्यभेदका जो प्रमाण उपस्थित किया है वह इसी आशयको सूचित करता है। बाह्य-सामग्रीको उपचरित हेतु, व्यवहार हेतु, उपकरणमात्र निमित्तमात्र आदि कहनेका भी यही कारण है। जब कि प्रत्येक पर्याय स्वकालमें स्वय सत् है ऐसी अवस्थामें उसकी उत्पत्ति परसे मानना कथमपि सम्भव नही है। बाह्य-सामग्री तो भट्टाकलकदेवके शब्दोंमें (तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० २) उपकरणमात्र है। इसका तात्पर्य ही यह है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपनी-अपनी शक्तिसे ही उस पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। अन्यके द्वारा अन्यकी उत्पत्ति होती है यह तो कथनमात्र है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ४४ में कहा है—

स्वय कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्राम्यति ससारे स्वय तस्माद्विमुच्यते ॥१२॥

आत्मा स्वय कर्म करता है, स्वय उसके फलको भोगता है, स्वय ससारमे भ्रमता है और स्वय उससे मुक्त होता है ॥१२॥

यह सम्यक् जैनदर्शन है। इस आधारसे जितनी भी कार्य-कारणव्यवस्था परमागममें उपदिष्ट है वह यथार्थ है। अतएव इस आधारसे कार्य-कारणभावका निर्णय करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्तव्य है।

अपर पक्षने विस्रसोपचयका प्रश्न उपस्थित कर 'समर्थ उपादान या निश्चय उपादानकी अपेक्षा प्रत्येक समयमें कुछ विस्रसोपचय बन्धके योग्य होते हैं और कुछ बन्धके योग्य नही होते,' हमारे इस अभिप्रायका खण्डन करते हुए लिखा है कि 'कर्मवर्गणाका लक्षण ही यह है कि वह द्रव्यकर्मरूप परिणमनके योग्य है। द्रव्यकर्मरूप परिणमन करनेका नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये है श्री वीरसेन स्वामीने भी धवल पु० १२ पृ० २७६-७७ पर यह ही उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धोमें समान शक्ति होते हुए भी, जीवमें इतनी शक्ति नही है जो सर्व कर्मवर्गणाओंको एक समयमें कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नही दिया कि जिन कर्मवर्गणाओंमें योग्यता है वही कर्मरूप परिणमती हैं, शेष योग्यता नही होनेके कारण नही परिणमती हैं। प्रत्युत सबमें समान शक्ति मानी गई है।'

आगे अपने इस अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिए अपर पक्षने धवला पु० १२ पृ० २७६-७७ का वह प्रमाण उपस्थित कर अन्तमें पूर्वोक्त अभिप्रायकी पुष्टिमें एक नोट भी लगाया है तथा आगे इसी विषयके समर्थनमें और प्रमाण भी उपस्थित किया है।

तेसि मुदयविरहिदद्धाए तव्बधुवलभादो। ण णिदाणब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छाणाण-मिच्छदसणेहि, तेहि विणा वि सुहुमसापराइयसजदेसु तव्बधुवलभादो। यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्। तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोग-कसाएहि चेव होदि त्ति सिद्ध।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन प्रत्ययोंसे ज्ञानावरणीयकर्मका बन्ध नही होता है, क्योंकि उनके विना भी अप्रमत्तसयतादिकोंमे उसका बन्ध उपलब्ध होता है। क्रोध, मान, माया और लोभसे भी उसका बन्ध नही होता, क्योकि कर्मके उदयसे युक्त उनके उदयरहित कालमे भी उसका बन्ध उपलब्ध होता है। निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनसे भी उसका बन्ध नही होता, क्योकि उनके विना भी सूक्ष्मसाम्परायिक सयतोमें उसका बन्ध उपलब्ध होता है। जो जिसके होनेपर ही होता है और जिसके नही होनेपर नही होता है वह उसका कारण है ऐसा न्याय है। इसलिए ज्ञानावरणीयवेदना योग और कषायसे होती है यह सिद्ध हुआ।

इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यार्थिकनयसे मात्र सामान्य कारणका ज्ञान होता है। किन्तु प्रत्येक समयमें जो भी कार्य होता है वह पर्याय विशेषरूप वाह्याभ्यन्तर उभय सामग्रीके सद्भावमे ही होता है, अन्यथा नही होता। यह नियम व्यवहारनयसे जहाँ बाह्य सामग्रीपर लागू होता है वहाँ निश्चय-नयसे निश्चय उपादानरूप आभ्यन्तर सामग्रीपर भी लागू होता है। इन दोनोका योग प्रत्येक समयमें मिलता है और तदनुरूप कार्य भी प्रत्येक समयमें होता है।

संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें द्रव्यार्थिकनयका जितना भी कथन है वह मात्र इतना ज्ञान कराता है कि प्राणातिपात आदि कारण होकर भी इनके सद्भावमें ही बन्ध कार्य होता है, अन्यथा नही होता ऐसा नियम नही है। हाँ, पर्यायार्थिकनयसे योग और कषाय नियमसे कार्यवाले होते हैं। किन्तु है यह सब असद्-भूतव्यवहार नयका ही कथन इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए धवला पु० ६ पृ० ११ में लिखा है—

मुह्यत इति मोहनीयम्। एव सते जीवस्स मोहणीयत्त पसज्जदि त्ति णासकणिज्ज, जीवादो अभिण्णम्हि' पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो।

जिसके द्वारा मोहा जाय वह मोहनीय है।

शका—ऐसा होनेपर जीवको मोहनीयपना प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशका नही करनी चाहिए, क्योकि जीवसे अभिन्न अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूपसे स्थित तथा कर्म सज्ञावाले पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तृत्वका आरोप करके उस प्रकारका कथन किया गया है।

अतएव प्रत्येक कार्यका यथार्थ हेतु समर्थ या निश्चय उपादान ही है। व्यवहारसे कालप्रत्यासत्ति होनेके कारण जिसके साथ बाह्य व्याप्ति उपलब्ध होती है उसे भी हेतु, प्रत्यय या निमित्त कहा जाता है। उस सन्दर्भ द्वारा आचार्य वीरसेनने यही अभिप्राय व्यक्त किया है।

आगे अपर पक्षने एक समयमें योगको निमित्त कर कितने प्रमाणमें कर्मवर्गणाएँ या आहारादि वर्गणाएँ बँधती हैं यह जो चर्चा की है सो यह भी प्रत्येक कार्यके प्रतिनियत निमित्तको ही सूचित करती है। जैसे प्रत्येक कार्यका प्रतिनियत उपादान होता है वैसे ही प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीरूप निमित्त भी होता है।

यही सनातन सत्य कार्य-कारणव्यवस्था है। अपर पक्ष इसे ही तो स्वीकार करनेसे हिचकिचाता है। यदि वह इसे स्वीकार कर लेता है तो बहुत-कुछ विवाद समाप्त हो जाता है।

धवला या जयधवलामें जो यह लिखा है कि 'आगम तर्कका विषय नही है' वह यथार्थ लिखा है। अतएव यह अपर पक्षको ही विचार करना है कि श्रुतज्ञानियोकी दृष्टिसे जो वह तर्काश्रित प्ररूपणा करके अपने अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है वह कहाँतक ठीक है। **प्रत्येक कार्यकी अपने उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है और बाह्य-सामग्रीरूप निमित्तके साथ बाह्य-व्याप्ति होती है। यह कार्य-कारणभावकी अकाट्य व्यवस्था है।** व्याप्तिका अर्थ ही यह है कि जिसके होनेपर जो हो और जिसके अभावमें जो न हो। यह नियम ही प्रतिनियत कार्यकी प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको सूचित करता है। किन्तु अपर पक्ष प्रमाण तो आगमका उपस्थित करता है और कहता है अपनी बात। हम उससे पूछते हैं कि यह किस आगममें लिखा है कि अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान अनेक योग्यताओवाला होता है, उनमेंसे जिस योग्यताके अनुरूप बाह्य सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुरूप होता है। क्या यह स्वकल्पित कल्पना नही है? इसका अपर पक्ष ही विचार करे। यदि उसे सचमुचमें आगमको स्वीकार करना इष्ट है तो उसे यह भीतरसे स्वीकार कर लेना चाहिये कि प्रत्येक कार्यकी बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि सुनिश्चित है। इसलिए प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें अपने-अपने उपादानके अनुसार बाह्य सामग्रीको निमित्त कर सुनिश्चित कार्य ही होता है। धवला आदि ग्रन्थोंके टीकाकार इस नियमको उन ग्रन्थोंके आधारसे बराबर समझते है। उन्हें कही कोई भ्रम नही है। वे यह अच्छी तरह जानते है कि आगममें निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो नयोकी मुख्यतासे कथन उपलब्ध होता है। जहाँ बाह्य-निमित्त प्रधान कथन है वह व्यवहारनयका कथन है और जहाँ उपादानप्रधान कथन है वह निश्चयनयका कथन है। प्रत्येक कार्यकी अपने निश्चय उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति है और उसमे निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति है, इसलिए चाहे आभ्यन्तर व्याप्तिको लक्ष्यमें रखकर कथन किया जाय या चाहे बाह्य व्याप्तिको लक्ष्यमे रखकर कथन किया जाय, दोनोंका तात्पर्य एक ही होगा। उदाहरणार्थ आठ कर्मोंके अभावके साथ मुक्तिकी बाह्य व्याप्ति है और रत्नत्रयकी समग्रतारूपसे परिणत आत्माके साथ मुक्तिकी आभ्यन्तर व्याप्ति है, इसलिए 'आठ कर्मोंके अभावसे मुक्ति प्राप्त होती है' चाहे यह कहो या चाहे 'रत्नत्रयकी समग्रतारूपसे परिणत आत्मा मुक्तिको उत्पन्न करता है' यह कहो, दोनो कथनोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। इसलिए आगममें प्रयोजनानुसार दोनो प्रकारसे निरूपण किया गया है। इस विषयको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए प्रवचनसार गाथा १८९ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका द्रष्टव्य है।

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता, तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः।

राग परिणाम ही आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा रागपरिणामका ही कर्ता है, उसीको ग्रहण करनेवाला है और उसीको त्याग करनेवाला है। यह शुद्ध द्रव्यका निरूपणस्वरूप निश्चयनय है। किन्तु जो पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसीको ग्रहण करनेवाला और त्यागनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।

प्रवचनसारटीकाका यह ऐसा वचन है जिससे दोनों प्रकारकी कथनीपर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। यहाँपर शुद्ध शब्दका प्रयोग एक द्रव्याश्रित परिणामकी विवक्षासे किया गया है और अशुद्ध शब्दका प्रयोग अन्य द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यमें लगानेके अभिप्रायसे किया गया है। इससे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि **एक द्रव्याश्रित जितना भी कर्त्ता-कर्म आदि का कथन है वह यथार्थ है और एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यका कर्ता आदि बनाकर जितना भी कथन किया जाता है वह असद्भूतव्यवहाररूप होनेसे उपचरित है।**

अपर पक्षका कहना है कि जीवमे एक समयमें जितने कर्मपरमाणु बाँधनेकी शक्ति है उतने कर्म-परमाणु एक समयमें जीव बाँधता है। वैसे कर्मपरमाणुओंमें तो सभीमें एक साथ बंधनेकी योग्यता है। यदि वे एक साथ नही बँधते हैं तो उसका कारण वे स्वय न होकर जीवका हीनशक्ति होना है यह अपर पक्षका कथन है। किन्तु वस्तुस्थिति क्या है इसके लिए पञ्चास्तिकायका यह वचन अवलोकनीय है—

अत्ता कुणदि सभाव तत्थ गदा पोग्गला सभावेहि।
गच्छति कम्मभाव अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥६५॥

आत्मा अपने भावको करता है, तथा वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोंसे अन्योन्यावगाह-अवगाढ होकर कर्मभावको प्राप्त होते हैं ॥६५॥

इस वचनसे जहाँ उपादान-उपादेयभावकी यथार्थ व्यवस्था क्या है इसका ज्ञान होता है वहाँ उसके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावकी क्या व्यवस्था है इसकी भी सम्यक् जानकारी मिल जाती है। अपर पक्ष बाह्य-सामग्रीमात्रको निमित्तरूपसे स्वीकार न कर जिस प्रकार प्रतिनियत पर्यायकी अपेक्षा उसे निमित्तरूपसे स्वीकार करता है उसी प्रकार वह मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादानरूप से स्वीकार न कर यदि प्रतिनियत पर्यायकी अपेक्षा उसे उपादानरूपसे स्वीकार कर ले तो अपने पिछले उत्तरमें हमने जिन बातोका निर्देश किया है वे सब उसे यथार्थ प्रतीत होने लगें। गलती कहाँ हो रही है इस ओर उसे ध्यान देना है।

हमारी छठी बातकी चर्चा करते हुए अपर पक्षने लिखा है कि 'उपादानकी कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है।' आदि। सो अपर पक्षका यह लिखना ही भ्रमोत्पादक है, क्योकि—

१ अनन्तर पूर्वोत्तर दो क्षणोंमे ही हेतु-फलभाव देखा जाता है। व्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणोंमें हेतु-फलभाव नही बनता।—प्रमेयरत्नमाला ३, ५७।

२ परस्परमे अव्यवहित अग्नि-धूमादिकमे ही तदुत्पत्ति बनती है, व्यवहित कालवालेमे नही, क्योंकि ऐसा होनेपर अतिप्रसग दोष आता है।—प्रमेयकमलमार्तण्ड ३, ६१।

३ परिणमन शक्तिलक्षण प्रतिविशिष्ट अत सामग्री ही उपादान होती है।—अष्टसहस्री पृ० १५०।

३ पर्यायविशेषात्मक द्रव्यमें ही उपादानता प्रतीत होती है, घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायस्वरूप मिट्टी द्रव्यमें घटकी उपादानताके समान।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६९।

इससे स्पष्ट है कि एक द्रव्य प्रत्यासत्तिके आधारपर अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणो (पर्यायो) में ही उपादान-उपादेयभाव आगममें स्वीकार किया गया है, केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें उपादान कारणता आगममे स्वीकार नही की गई है, अतएव समनन्तर पूर्वपर्यायमे कारणताके बन जानेसे उससे समनन्तर नियत उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति अवश्य होगी और उसमें व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीका योग भी अवश्य मिलेगा। ऐसा नही हो सकता कि उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर बाह्य सामग्रीका योग न मिलनेसे

कार्य रुका रहे या जिस कार्यका वह उपादान है, उससे वह कार्य न होकर बाह्य सामग्रीके बलपर अन्य कार्य हो जाय। 'विवक्षित उपादानसे विवक्षित कार्य न होकर अन्य कार्य भी हो सकता है' ऐसा न तो आगममें ही स्वीकार किया गया है और न लोकमे ही देखा जाता है। अतएव हम अपने पिछले उत्तरके समय छठी बातमें जो कुछ तथ्य प्ररूपित कर आये है वह यथार्थ है।

आगे अपर पक्षने कालप्रत्यासत्तिका बाह्य सामग्रीके आधार पर जो अर्थ किया है वह भी भ्रमोत्पादक है, क्योकि जिस समय एक कार्यकी बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति होती है उसी समय उसकी अपने उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है। इसलिये व्यवहारसे जिस प्रकार उस कार्यका बाह्य सामग्रीके साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जानेसे वह सामग्री व्यवहारसे उस कार्यकी निमित्त कहलाती है और निष्पन्न हुई पर्याय उस सामग्रीकी नैमित्तिक कहलाती है, उसी प्रकार निश्चयसे उस कायका अपनी उपादानभूत प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्रीके साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जानेसे निश्चयसे वह प्रतिविशिष्ट अन्त सामग्री उसकी उपादान होती है और निष्पन्न हुई वह पर्याय उसका उपादेय होती है। कालप्रत्यासत्तिका यह सम्यक् अर्थ है। आगममें कालप्रत्यासत्तिके ये दोनो अर्थ स्वीकार किये गये हैं। (उपादान-उपादेयभावकी दृष्टिसे देखो अष्टसहस्री पृ० १११ तथा निमित्त-नैमित्तिकभावकी दृष्टिसे देखो श्लोकवार्तिक पृ० १५१)।

हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि अपर पक्षने 'एक द्रव्यका एक कालमें एक ही व्यापार होता है' इस तथ्यको स्वीकार कर यह स्पष्ट शब्दोमें मान लिया है कि 'जो भी व्यापार होता है, वह अपने उपादानकी अपेक्षा उपादेय है और अन्य वस्तुके परिणमनमें वही निमित्त है।' अब देखना यह है कि वह एक व्यापार उपादान और निमित्त दो सज्ञाओको कैसे धारण करता है ? क्या एक द्रव्यके उस व्यापारकी ये दोनो सज्ञाएँ वास्तविक है ? दोनो सज्ञाएँ एक कालमें वास्तविक तो हो नही सकती, क्योकि उत्तर समयमें होनेवाले कार्यकी अपेक्षा उसे उपादान कहा जावे यह तो बुद्धिसगत प्रतीत होता है। किन्तु अन्य द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा इसे वास्तवमें निमित्त कहा जाय यह बुद्धिसगत प्रतीत नही होता। इससे स्पष्ट है कि इन दोनो सज्ञाओमें उपादान यह सज्ञा अनुपचरित अर्थात् वास्तविक है और निमित्त यह सज्ञा पराश्रित होनेसे वास्तविक नही है। केवल दूसरेका साक्षी (सूचक) होनेसे यह सज्ञा रख दी गई है। इसीका नाम असद्भूतव्यवहार है। अतएव हमने अपने पिछले उत्तरमें अन्य वस्तुकी अपेक्षा निमित्त व्यवहारको वास्तविक माननेपर जो तीन आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे तब तक बराबर बनी रहती हैं जब तक अपर पक्ष निमित्तव्यवहारको असद्भूत नही स्वीकार कर लेता।

आगे हमने जो यह लिखा है कि सब द्रव्योके उस-उस कालमें उस-उसरूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायात्मक योग्यता सहज ही होती है आदि। सो हमारे ऐसा लिखने पर अपर पक्षको बडी आपत्ति है। वह नही चाहता कि सभी प्रकारके निमित्तोको एक आसन पर बिठलाया जाय। वह इसमें आगम बाधा देखता है। किन्तु इस बातका विचार तो अपर पक्षको ही करना है कि प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला माननेपर उसके मतसे प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ये दो भेद बन कैसे सकते है ? क्योकि वह पक्ष जब प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानता है। उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है, ऐसी अवस्थामे सभी निमित्तोको प्रेरक मानना पडता है। निमित्तोंके उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ये भेद बन ही नही सकते। किन्तु आगममे केवल द्रव्ययोग्यताको उपादान नही स्वीकार किया है। पर्याय उसका विशेषण है। अतएव प्रत्येक उपादानके अपने नियत कार्यको जन्म देते समय जो बाह्य सामग्री व्यवहारसे आश्रय निमित्त होती है उसकी उदासीन निमित्त सज्ञा है और

जो बाह्य सामग्री व्यवहारसे कर्ता निमित्त या करणनिमित्त होती है उसकी प्रेरक, प्रयोजक या निर्वर्तक निमित्त सज्ञा है। अतएव बाह्य सामग्रीमे प्रेरक निमित्त व उदासीन निमित्त ये दो भेद आगमके अनुसार तो बन जाते है, परन्तु अपर पक्षकी मान्यतानुसार नही बनते ऐसा यहाँ अभिप्राय लेना चाहिए।

आगे अपर पक्षने हमारे 'शब्द विवक्षित वाक्योका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि कथनके आधारसे जो यह लिखा है कि 'जहाँ पर निश्चयनयकी मुख्यतासे कथन हो वहाँ पर व्यवहारनयका कथन उसके प्रतिपक्षीपनेके रूपमें स्वीकार होता है। लेकिन आपके मतानुसार यदि यह निश्चयनयका कथन है तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहारनयका कथन तो स्वीकार करना ही चाहिए। परन्तु जब आप व्यवहारनयके विषयको उपचरित, कल्पनारोपित, असद्भूत, मिथ्या आदिरूप मानते हैं तो फिर कैसे माना जाय कि आप व्यवहारनयके कथनको भी स्वीकार करते है।'

इस पर हमारा कहना यह है कि सद्भूतव्यवहारनयका विषय तो सद्भूत ही होता है। किन्तु असद्भूत व्यवहारनयका विषय असद्भूत या उपचरित ही होता है। ऐसे स्थल पर निश्चयका अर्थ अनुपचरित है और उसके प्रतिपक्षी व्यवहारका अर्थ उपचरित है और इस प्रकार निश्चय-व्यवहारकी युति बन जाती है। असद्भूत व्यवहारका अर्थ असद्भूत या उपचरित है इसके लिए आलापपद्धतिका यह कथन दृष्टि-पथमें लेने योग्य है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहार. असद्भूतव्यवहार एवोपचार।

दूसरेमें प्रसिद्ध धर्मका दूसरेमें समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०५ मे इसी अर्थमें उपचार शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने गाथा १०६ मे योद्धाओंका और राजाका जो उदाहरण दिया है वह भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। युद्ध योद्धा करते हैं और लोक 'राजाने युद्ध किया' यह कहते हैं। यह है लौकिक परिपाटी। इसीलिए हम उक्त आगम और तथ्यको ध्यानमें रखकर असद्भूत व्यवहारके कथनको उपचरित कहते हैं। अपर पक्ष अपने मनसे कही कुछ भी लिख आया हो। किन्तु उसके लिखनेमात्रसे निमित्त व्यवहार सद्भूत या वस्तुका वास्तविक धर्म सिद्ध नही हो जायगा। जो असद्भूत है वह असद्भूत ही रहेगा। निश्चयनयमें अशरूप नयात्मकता अपनेमें विद्यमान कर्ता आदि धर्मोंकी गौणकर धर्मोंकी अपेक्षा है, परद्रव्यमे आरोपित कर्ता आदि धर्मोंकी अपेक्षा नही। किसी भी वस्तुमें जो भी धर्म सद्भूत होता है वह परनिरपेक्ष ही होता है। अपनेमे विद्यमान अन्य धर्मोंको गौणकर विवक्षित अश धर्मको ग्रहण करना यह नयका कार्य है। अतएव निश्चयनयमें अंशरूप नयात्मकता रहते हुए भी असद्भूत व्यवहार निरपेक्षता ही सिद्ध होती है। हाँ, असद्भूत व्यवहार तभी व्यवहार कहलानेके योग्य है जब वह अपने निश्चयका ज्ञान करानेमे समर्थ हो। अतएव असद्भूत व्यवहारको यथार्थके आसनपर बिठलाना किसी भी अवस्थामें उचित नही है।

आगे अपर पक्षने पुन स्वामी कातिकेयानुप्रेक्षाकी ३२३ वी गाथाकी चरचा उठाकर **'णिच्छयदो'** पदका अपना अर्थ सूचित किया है। सो इसका संस्कृत टीकाकारने **'निश्चयत -परमार्थत'** अर्थ किया है। वही हमने लिया है। घूम फिरकर अपर पक्ष भी उसी अर्थको सूचित कर रहा है। केवल कुछ लिखना चाहिए, इसलिए लिखा है। ऐसा ही पद्मपुराणके **'यत्प्राप्तव्यम्'** इत्यादि श्लोकके विषयमें तथा भैया भगवतीदासजीके **'जो जो देखी'** इत्यादि दोहेके विषयमें तथा स्वामी समन्तभद्रके **'अलघ्यशक्ति'** इत्यादि श्लोकके विषयमें जानना चाहिए। इसकी विस्तृत चरचा पूर्वमे की जा चुकी है।

आगे आयुकर्मकी चरचाके प्रसगसे अपर पक्षने लिखा है कि 'वास्तवमे कालमरण और अकालमरणका जितना भी कथन आगममें पाया जाता है वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योकि निश्चयनयसे आत्मा अपने-आपमे अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप कालमरणको और अकालमरणको भी कालमरणकी ही सज्ञा देकर इसे भी निश्चयनयका ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिए यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के ५३ वें सूत्रका कथन तथा अकलकदेव आदि आचार्योंका इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनयका कथन है।'

यह अपर पक्ष द्वारा हमारे कथनपर टिप्पणी है। अपर पक्षने यहाँपर अपनी टिप्पणीमे जिस निश्चय-नयका उल्लेख किया है वह परम पारिणामिक-भावको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है। पर उससे यहाँ प्रयोजन नही है। यहाँ निश्चयनयका अर्थ आत्माश्रितपना लिया है और व्यवहारनयका अर्थ पराश्रितपना लिया है। जब हम आयु कर्मकी अपेक्षा निषेक स्थितिके न घटनेरूप मरणको कालमरण और निषेकस्थितिके घटनेरूप मरणको अकालमरण कहते हैं तो ये दोनो ही कथन पराश्रित होनेसे व्यवहारनयकी कक्षामे आ जाते हैं। किन्तु जब हम स्वाश्रित उपादानकी अपेक्षा पूर्व पर्यायके व्ययको मरण कहते हैं तो यहाँ कालमरण और अकालमरण ऐसे भेद न रहकर एकमात्र स्वकालमरण ही उसे कहा जा सकता है, इसलिए स्वाश्रित होनेसे यह निश्चयनयकी कक्षामें आता है। यही भाव हमने अपने पिछले उत्तरमें दिखलाकर वहाँ यह सूचित किया है जिसे अपर पक्षने अपनी प्रतिशकामें उद्धृत किया है। आशा है अपर पक्ष इष्टार्थको ग्रहण कर अपनी शकाका निरसन कर लेगा।

हमारे उक्त कथनसे अपर पक्षका यह समझना ठीक है कि निश्चयकथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है, क्योकि आयुकर्मकी उदय या उदीरणाक्रमसे हानिका होना यथार्थमें जीवका मरण नही है। जीवका यथार्थ मरण तो मनुष्यादि एक पर्यायका विनाश ही है। अपर पक्षने पूर्वमें या यहाँ निश्चयनय या व्यवहारनयकी जो परिभाषा दी है वह उसकी कल्पनामात्र है। वस्तुत एक वस्तुके गुण-धर्मको उसीका कहना निश्चयनय है और अन्य वस्तुके गुण-धर्मको अन्यका कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है। आगममें इन नयोकी यही परिभाषाएँ की गई हैं। कुछ दिग्दर्शन पूर्वमे कराया ही है। अपर पक्षने जिन धर्मयुगलोकी प्रतिशका १७ में चरचा की होगी उनका तो वही विचार करेंगे। यहाँ अपर पक्षने जिन सत्-असत्, नित्य-अनित्य, तत्-अतत्, एक-अनेकरूप धर्मयुगलोका निर्देश किया है वे एक द्रव्याश्रित होनेसे सद्भूत हैं इसमें सन्देह नही। परन्तु इन धर्मयुगलोके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'वस्तु उपादानरूप भी है और निमित्तरूप भी है।' सो यह कथन कल्पनामात्र है, क्योकि एक वस्तुमें वस्तुत एक ही कारणधर्म रह सकता है। जैसे एक वस्तुमें अपना भी 'सत्' धर्म रहे और अन्य वस्तुका भी 'सत्' धर्म रहे यह नही बन सकता उसी प्रकार एक वस्तुमें अपने कार्यका भी 'कारणधर्म' रहे और दूसरी वस्तुके कार्यका भी 'कारण धर्म' रहे यह भी नहीं बन सकता। यदि एक वस्तुमें एक साथ दो कार्योंके दो कारणधर्म स्वीकार किये जाते हैं तो उनमेंसे एक उपचरित ही होगा। दोनो वास्तविक नही हो सकते। यत प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टयको छोडकर पर वस्तुके स्वचतुष्टयमें किसी रूपमें नही पाया जाता, अत प्रत्येक वस्तुमें अपने कार्यका कारणधर्म ही रह सकता है, पर वस्तुके कार्यका नही। अन्यथा एक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें स्वीकार करनेपर इन दोनोमें एकता प्राप्त हो जाती है। यदि अपर पक्षको यह दूषण इष्ट न हो तो उसे यह भीतरसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि निश्चयसे प्रत्येक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म उसी द्रव्यमें रहता है, अन्य द्रव्यमें नही।

आगे अपर पक्षने निश्चयनय और व्यवहारनयकी चरचा करते हुए हमसे पृच्छा की है कि 'यदि द्रव्य वास्तविक है तो क्या पर्याय वास्तविक नही है आदि।' सो अपर पक्षको स्मरण रखना चाहिए कि हम यहाँ सद्भूत व्यवहारकी चरचा नही कर रहे है। निमित्त-नैमित्तिक भावकी चरचा असद्भूत व्यवहारकी कक्षामें आती है तथा गुण-गुणीभेद आदिकी चरचा सद्भूत व्यवहारकी कक्षामें आती है। अत सद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा जो कुछ भी कहा गया है वह वास्तविक है। द्रव्य है, पर्याय है, गुण है, गुणी है। यह सब कुछ वास्तविक है। इसका निषेध नही। साथ ही अपर पक्ष पर्याय आदि धर्मोको जो व्यवहाररूप लिख रहा है वह भी ठीक नही, क्योकि परमभावग्राही निश्चयनयकी दृष्टिमें यदि इन्हें व्यवहाररूप माना भी गया है तो भी ये पर्यायार्थिकरूप निश्चयनयकी दृष्टिमें निश्चय-यथार्थस्वरूप ही हैं, इसीलिए आगममें इन्हें सद्भूतरूपसे स्वीकार किया है।

यहाँ प्रश्न तो यह है कि आगममें जो निमित्त व्यवहारको असद्भूत कहा है सो इसका तात्पर्य क्या है? क्या इसका अर्थ यथार्थ लिया जाय या उपचरित? अपर पक्ष समयसार गाथा १०५ में आये हुए 'उपचारमात्र' पदका अर्थ ऐसा घुमाकर करता है जिससे उपचार पदमें जो अर्थ गर्भित है वह लुप्त हो जाता है। उपलब्ध पूरे जिनागमका यथासम्भव आलोडन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि जहाँ एक वस्तुके धर्मको अन्य वस्तुमें आरोपित किया जाता है वहाँ उस व्यवहारको उपचरित कहते हैं। जैसे किसी बालकको अग्नि कहना यह उपचार है। पर इस परसे यदि कोई यह समझे कि अग्निसे जो कार्य होता है वह बालकसे हो जायगा सो उसका ऐसा समझना ठीक नही है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर अष्टसहस्री पृ० १७४ में लिखा भी है—

न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात् पाकादावुपयुज्यते।

अतएव अपर पक्षने उपादानके समान अन्य द्रव्यमें किये जानेवाले निमित्त व्यवहारको भी जो यथार्थ माननेका आग्रह कर रखा है उसे वह जितने जल्दी त्याग देगा उतना ही अच्छा है। निश्चयसे उपादान प्रत्येक समयमें अपना कार्य परनिरपेक्ष होकर ही करता है। परन्तु उस कार्यमें जिसके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है यह दिखलानेके लिए परसापेक्षताका व्यवहार अवश्य किया जाता है। यदि कहा जाय कि ऐसा व्यवहार न भी किया जाय तो क्या हानि है? सो इसका समाधान यह है कि प्रत्येक समयके ऐसे व्यवहारसे प्रत्येक समयके निश्चयकी प्रसिद्धि होती है, इसलिए सप्रयोजन होनेसे आगममें उसे स्थान मिला हुआ है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्व कर्मका उदय जीवके मिथ्यात्व गुणस्थानकी प्रसिद्धि करता है। इसी प्रकार उसका उपशम सम्यक्त्व गुणकी प्रसिद्धि करता है। इस प्रकार बाह्य सामग्री ऐसी प्रसिद्धिका हेतु होनेसे उपचारसे उसे उस उस कार्यके हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है। ऐसा स्याद्वाद ही यहाँ अपेक्षित है, अन्य प्रकारका नही। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्यपर अवश्य ध्यान देगा।

आगे अपर पक्षने बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क जीवोंके मरण और उत्तर भवग्रहणकी जो व्यवस्था सूचित की है उसमें एक-दो बातोका सर्व प्रथम सकेत कर देना इष्ट प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह तो अपर पक्षने स्वीकार ही कर लिया है कि आगामी आयुका बन्ध होनेके बाद अकालमरण नही होता। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे अनपवर्त्य आयुवाला जीव हो और चाहे अपवर्त्य आयुवाला जीव हो, आगामी भवकी आयुका बन्ध होनेके बाद दोनोंके ही एक-एक स्थितिके क्रमसे अध स्थितिगलना होकर मरण होता है। मरणके कालमें आयुकर्मकी उदीरणा होकर अकालमरण उक्त दोनों प्रकारके जीवोमेंसे किसी भी जीवके

नही होता। फिर भी अपवर्त्य आयुवाले जीवके जो अकालमरण कहा गया है वह आगामी आयुबन्धके पूर्व ऐसे जीवके निषेकस्थितिउदीरणा हुई थी इस बातको ध्यानमे रखकर ही कहा गया है। वर्तमान मरण-समयको ध्यानमे रखकर नही।

दूसरी यह बात ज्ञातव्य है कि आयुकर्मके उत्तर भेदोमें सक्रमण करणको छोडकर नौ करण होते हैं ऐसा आगमका अभिप्राय है। इसी तथ्यको सूचित करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

सकमकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊण।
सेसाण दस करणा अपुव्वकरणो त्ति दस करणा ॥४४१॥

नरकादि चारो आयुओंके सक्रमण करणके बिना ९ करण होते हैं और शेष कर्मोंके १० करण होते हैं। ये दसो करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि आयुकर्मके किसी भी भेदमे संक्रमण करणकी योग्यता तो सर्वथा नही होती। शेष ९ करणोमें से बन्धके समय जिसका जैसा बन्ध हुआ हो वैसी योग्यता उसमें होती है। उदाहरणार्थ आयुके जिन कर्मपरमाणुओका निकाचित बन्ध हुआ है उनका उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा तीनो नही होते, जिनका निधत्तिबन्ध हुआ है उनकी तथा जिनका अप्रशस्त उपशम बन्ध हुआ है उनकी उदीरणा नही होती। शेष सत्तामें स्थित कर्मपरमाणुओका बन्धकालमें उत्कर्षण तथा बन्धकालमें और अन्यदा अपकर्षण और उदीरणा यथायोग्य हो सकती है। ऐसा परिणमन करनेका स्वभाव उनका स्वत होता है। और जब उनके उस-उस प्रकारके परिणमनका स्वकाल आता है तब उसके अनुरूप बाह्यनोकर्म सामग्री भी मिलती है। तत्त्वार्थ-सूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ की तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओमें इन्ही नोकर्मोंको लक्ष्यमें रखकर अपवर्त्य आयुवाले जीवोंके मरणको अकालमरण कहा है। यह पराश्रित कथन होनेसे असद्भूत व्यवहारनयका विषय है, इसलिए इसे उपचरित ही जानना चाहिए। यही कारण है कि भगवान् कुन्दकुन्ददेवने समयसारमें कहा है—

आउक्खयेण मरणं जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्त।
आउ ण हरेसि तुमं कह ते मरण कय तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरण जीवाण जिणवरेहिं पण्णत्त।
आउ ण हरति तुह कह ते मरण कयं तेहिं ॥२४९॥

जीवोका मरण आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, तू पर जीवोंके आयुकर्मको तो हरता नही है तो तूने उनका मरण कैसे किया ॥२४८॥ जीवोका मरण आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, पर जीव तेरे आयुकर्मको तो हरते नही हैं तो उन्होने तेरा मरण कैसे किया ॥२४९॥

यहाँ जीवोका मरण और भुज्यमान आयुका क्षय इन दोनोकी सम व्याप्ति देखकर आचार्य महाराजने उक्त वचन कहा है। इसका अर्थ यह नही कि आयुकर्मका क्षय जीवोके मरणका मुख्य हेतु है, वह तो निमित्त-मात्र है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री आयुकर्मकी उदीरणा आदिमें निमित्तमात्र है। निश्चयसे आयुकर्मकी उदय-उदीरणा आदि अपने-अपने कारणसे होती है, बाह्य सामग्रीके कारण नही। उसी प्रकार प्रत्येक जीवका जन्म अथवा मरण निश्चयसे अपने-अपने उपादानके अनुसार होता है, आयुकर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। फिर भी आचार्य महाराजने नोकर्ममेंसे आसक्ति या इष्टानिष्ट बुद्धि हटानेके लिये बन्ध प्रकरणमें ऐसा कहा है कि इस जीवका मरण आदि आयु आदि कर्मके अनुसार होता है। फिर तू ऐसा विचार करता है कि इसने इसे जिलाया या मारा आदि।

इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ भी रक्तक्षय आदिके कारण अकालमरणका निर्देश किया है वहाँ आयु कर्मकी उदीरणा आदिकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री क्या है इसका ज्ञान करानेके लिए ही वैसा कथन किया है।

जिसे प्रतिकूल सामग्री कहते हैं उसका सयोग तो अनपवर्त्य आयुवाले अन्त कृत केवली जीवोको भी होता है। इनके ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग होता है जिसकी सीमा नही और अपवर्त्य आयुवाले जीवोको भी होता है। फिर क्या कारण है कि अन्त कृत केवलियोकी आयु अनपवर्त्य ही बनी रहती है और दूसरे जीवोकी आयुमें अपवर्तन हो जाता है। इसका कारण बाह्य सामग्री तो मानी नही जा सकती, अन्तरग हेतु कोई होना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जो आयु अपवर्तनके योग्य होती है, स्वकाल आने पर बाह्य सामग्रीको निमित्तकर उसीका अपवर्तन होता है, अन्यका नही। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि निश्चयसे किसी भी जीवका अकालमरण नही होता।

हमे प्रसन्नता है कि अपर पक्षने अकालमरणके माननेपर हमारे द्वारा दी गई अकालजन्मकी आपत्तिको स्पष्ट शब्दोंमें अस्वीकार कर दिया है। किन्तु जहाँ उसने यह साहस किया है वहाँ उस पक्षको अकालमरणको उपचरित माननेका साहस और करना चाहिए। तभी उसके द्वारा अकालजन्मका निषेध करना सार्थक होगा, क्योकि व्यय और उत्पादमें सज्ञा और लक्षण आदिका ही भेद है, वैसे जो व्यय है वही उत्पाद है ऐसा होने पर अकालमरणके समान अपर पक्षको विवश होकर अकालजन्म भी मानना पड़ेगा, क्योकि क्रम सन्तान-परम्पराके मध्यमें से किसी एकके क्रमको छोडकर होनेपर उसके आगेकी पूरी सन्तानपरम्परा नियतक्रम रहित हो जाती है, अतएव यदि अपर पक्ष अकालजन्मको माननेमें हानि देखता है तो उसे अकालमरण भी उपचरित मान लेनेमें आपत्ति नही होनी चाहिए।

आगे अपर पक्षने आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्म आदिकी चरचा करते हुए हमारी आपत्तिके निराकरणके अभिप्रायसे लिखा है कि 'कालमरण और अकालमरणवाले जीवोके आगामी आयुकर्मका उदय एक समान होता है, इसलिए आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्मके सहारे जीव यथास्थान पहुँच जाते हैं' आदि।

इसपर कहना यह है कि जब कोई भी कार्य क्रमनियत नही है ऐसी अवस्थामें अमुक जीवको अमुक स्थान पर उत्पन्न होना है यह व्यवस्था ही कैसे बन सकती है। जीव अकालमें मर कर उत्पन्न होनेके सन्मुख हो और नियत बाह्य सामग्री न हो तो उसका आयुकमके अनुसार उत्पन्न होना कैसे बन सकेगा, क्योकि अपर पक्षके मतसे आयुकर्मका उदय स्वय उपादान होनेसे अनेक योग्यतावाला है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे यह तो बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और बाह्य सामग्री स्वय उपादान होनेसे अनेक योग्यतावाली है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलबित है।

अतएव आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्मके उदयानुसार जीवको यथास्थान पहुँचा देंगे यह अपर पक्षकी मान्यतानुसार कथमपि नही बन सकता। हाँ, यदि अपर पक्ष इस आपत्तिसे बचना चाहता है तो उसे सभी कार्य स्वकालमें अपनी-अपनी प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं यही तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए।

अपर पक्षने परमात्मप्रकाशकी गाथा ६६ उपस्थित कर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि आत्मा तो पंगुके समान है, जो कुछ भी होता है कर्मसे ही होता है।

किन्तु यह कथन ही इस बातको प्रसिद्ध करता है कि यह सब निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें रख कर विधान किया गया है। यदि इसे यथार्थ कथन मान लिया जाता है तो आत्मा अपने परिणामका

कर्ता न बन सकनेके कारण सांख्यमतमें माने गये पुरुषके समान कूटस्थपनेको प्राप्त हो जाता है। और उपादानके कार्यका बाह्य सामग्री वास्तविक कर्ता हो यह हो नहीं सकता, क्योंकि स्वयं आचार्य जयसेनने समयसार गाथा १९ की टीकाके बाद 'ज कुणदि भावमावा' इत्यादि गाथाका उल्लेख कर उसकी टीका करते हुए लिखा है—

ववहारा अनुपचरितादद्भूतव्यवहारनयात् पोग्गलकम्माण पुद्गलद्रव्यकर्मादिना कत्तार कर्तेति।

व्यवहारनयसे अर्थात् अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल कर्मोंका अर्थात् पुद्गल द्रव्यकर्मादिका कर्ता है।

यहाँ पर असद्भूत व्यवहारनयसे जिस प्रकार आत्माको पुद्गल द्रव्यकर्मोंका कर्ता कहा है उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म जीवको तीन लोकमें ले जाते है और ले आते हैं, आत्मा तो पगुके समान है इत्यादि परमात्मप्रकाशके कथनको भी असद्भूतव्यवहारनयका कथन ही समझना चाहिए। और जितना भी असद्भूत व्यवहारनयका कथन होता है वह सब उपचरित ही होता है यह स्पष्ट ही है।

आगे अपर पक्षने विचारणीय जिन तीन बातोका उल्लेख किया है वे मात्र पुनरुक्तिको ही सूचित करती हैं, उनमें नई ऐसी कोई भी बात नही कही है।

अकालमरण क्यो कहा गया है और कालमरण क्या है इसका हम पूर्वमें ही खुलासा कर आये हैं। जिसे बद्धायुष्ककी अपेक्षा कालमरण अपर पक्षने स्वीकार किया है उसे ही आयुबन्धके पूर्व विषभक्षण आदिको निमित्त कर हुई उदीरणाकी अपेक्षा अकालमरण सज्ञा आगममें दी गई है। इस प्रकार एक ही कार्य एक अपेक्षासे कालमरण और दूसरी अपेक्षासे अकालमरण कहा गया है।

उसमें भी मरणका यह कथन दो प्रकारसे किया जाता है—उपादानकी अपेक्षा और आयुकर्मकी अपेक्षा। उपादानकी अपेक्षा एकमात्र कालमरण ही सिद्ध होता है और यह स्वाश्रित होनेसे निश्चय कथन है। किन्तु जब इसे ही आयुकर्मकी अपेक्षा विवेचित किया जाता है तब वह पराश्रित होनेसे व्यवहार सज्ञाको प्राप्त हो जाता है। उसमें निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है ऐसा यहाँ विवेक करना चाहिए। आशा है इतने स्पष्टीकरणसे अपर पक्षने यहाँ पर जितना कुछ लिखा है वह अयथार्थ कैसे है यह उसकी समझमें आ जायगा।

अपर पक्ष आगमके प्रति श्रद्धावान् बना रहे यही हमारी भी आकाक्षा है। परन्तु यह श्रद्धा तभी सच्ची श्रद्धा कहलावेगी जब वह निमित्त कथनको उपचरित मान लेगा, क्योंकि निमित्त कथन उपचरित है यह हमारा कहना न होकर आगमका ही कथन है। प्रमाण हम पूर्वमें ही दे आये हैं।

आगे अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक अ० २ सू० ५३ का वचन उद्धृत किया है सो यह सच है कि आयुकर्मकी उदीरणा होती है और उसमें विषभक्षण आदि व्यवहार हेतु होता है। भट्टाकलकदेवने उक्त वचन द्वारा उसी तथ्यकी स्वीकृति दी है। बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा कुछ कार्य प्रायोगिक होते हैं और बहुतसे कार्य वैस्रसिक भी होते है यही उक्त कथनका अभिप्राय है। समस्त जिनागमसे भी इसका समर्थन होता है। परन्तु जिसे हम बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा अकालपाक कहते हैं, अपने उपादानकी अपेक्षा वह अपने कालमें ही हुआ है। भट्टाकलकदेवने उक्त कथनमें बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा ही विचार किया है, इसलिए उसे व्यवहारनयका वचन ही जानना चाहिए। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें एतद्विषयक जो विवेचन उपलब्ध होता है उससे भी यही सिद्ध होता है कि जो आयुकर्मरूप अदृष्ट विशेष बाह्य सामग्रीको निमित्तकर अपवर्तित नही होता उसकी अनपवर्त्य आयुसज्ञा है और इससे अतिरिक्तकी अपवर्त्य आयुसज्ञा है।

चैत्यभक्तिमें '**द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ**' इत्यादि वचन आया है। इसमें दो जिनदेवको श्वेतवर्ण-वाला, दो जिनदेवको नीलवर्णवाला आदि बतलाकर इसे जिनदेवकी स्तुति कहा गया है। यद्यपि यह आगम वचन ही है और परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूपसे अवस्थित किस भगवान्‌के किस शरीरका क्या रग है यह तथ्य इस वचन द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। फिर भी इस बातको लेकर आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

तं णिच्छए ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

वह स्तवन निश्चयमें ठीक नही है, क्योकि शरीरके गुण केवली जिनके नही हैं। जो केवलीके गुणोकी स्तुति करता है वही परमार्थसे केवलीकी स्तुति करता है ॥२९॥

दोनो प्रकारके वचन आगम होने पर भी निश्चयनयके कथन और व्यवहारनयके कथनमें क्या अन्तर है यह इस वचनसे भली-भाँति विदित हो जाता है। इस वचनसे यह हम अच्छी तरहसे जान लेते हैं कि परमागममें निश्चयनयके कथनको क्यो तो यथार्थ कहा गया है और क्यो व्यवहारनयके कथनको उपचरित कहा गया है। यही कारण है कि कर्ता-कर्मका विचार करते हुए आचार्य महाराजने समयसार गाथा ८४ मे व्यवहारसे आत्माको पुद्‌गल कर्मोंका कर्ता और भोक्ता बतलाकर भी गाथा ८५ में उस व्यवहारको सदोष बतलाकर दूसरे शब्दोमें उसका निषेध कर दिया है। हमें भरोसा है कि अपर पक्ष इन तथ्योपर ध्यान देकर तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त कथनको निमित्त प्रधान कथन होनेके कारण उपचरित स्वीकार कर लेगा।

३९. स्वकाल विचार

१ आगे अपर पक्षने स्वकालका विचार करते हुए जो यह लिखा है कि स्वचतुष्टयमे आया हुआ 'स्वकाल' शब्द प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणमनोंके क्रमरूप है और फिर इस परिणमन कार्यको कारणोंके अधीन बतलाकर जो नियतक्रम और अनियतक्रमके समर्थन करनेका उपक्रम किया है सो यह ठीक नही है, क्योकि उपादान ही उपादेयरूपसे परिणमित होता है, अतएव प्रत्येक द्रव्यका त्रिकालका विषयभूत जितना भी स्वकाल है वह सब क्रमनियत ही होता है। बाह्य सामग्री तो उसमें उपकरणमात्र है। आगममें प्रत्येक द्रव्यके अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणोमें उपादान-उपादेयभाव बतलाया है, अतएव प्रत्येक समयमे जो उपादान होता है, प्रत्येक कार्य उसीके अनुरूप होता है। यह निश्चय कथन है।

२ व्यवहारनयसे स्वकालका अर्थ प्रत्येक कार्यमें निमित्तभूत काल द्रव्यकी पर्याय करनेपर जितने कालके समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्यके कार्य हैं, अतएव कालके प्रत्येक समयके साथ अन्य द्रव्योंके एक-एक कार्यका क्रमिक योग अनादि कालके बनता चला आनेके कारण इस अपेक्षासे भी सभी कार्य क्रमनियत ही सिद्ध होते हैं। कालद्रव्य उदासीन कारण है, इसलिए कोई भी कालसमय किसी भी कार्यके लिए निमित्त होता है यह कथन निराधार होनेसे स्वीकार नही किया जा सकता। हम देखते हैं कि आगममे जहाँ भी दृष्टि डालो वही '**काललब्धि**' पदका उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है। अनगारधर्मामृत अ० २ श्लोक ४६-४७ में सम्यक्त्वकी सामग्रीविशेषका सकेत करते हुए लिखा है—'कालादिलब्धिभाक्।' इसी बातको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० २७४ में लिखा है—

केषाञ्चित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यात्।

सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ३ में लिखा है—

काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात् । तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति ।

यहाँ पर काल विशेष्य है और अर्धपुद्गलपरिवर्तन संज्ञा उसका विशेषण है। इससे विदित होता है कि इस जीवके अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन जिसका नाम है ऐसे कालके संसारमें शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता होती है, इससे अधिक कालके शेष रहने पर नही।

प्रश्न यह है कि इससे अधिक कालके शेष रहने पर यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य क्यो नही होता ? आचार्य विद्यानन्दिके सामने भी यह प्रश्न था। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ९१ में इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्याना दर्शनमोहप्रतिपक्ष सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात् ।

जिन भव्य जीवोकी मुक्ति सन्निकट है उन्हे ही दर्शनमोहका प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्यको नही, क्योकि किसी कारणका सन्निधान कभी हो, किसी कारणका सन्निधान कभी हो ऐसा नही है।

अपने इसी कथनका उपसहार करते हुए वे वही पुन. लिखते हैं—

इति युक्तिमानासन्नभव्यादिविभागः सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेऽपि सर्वससारिणाम् ।

इस प्रकार सब ससारी जीवोंके सम्यग्दर्शनादिरूप शक्तिके होने पर भी आसन्नभव्यादिका विभाग युक्तियुक्त है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्यका काल प्रतिनियत है। उसी कालमे बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका योग होकर वह कार्य होता है, अन्य कालमें नही। इस प्रकार काल द्रव्यके समयोंके आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं।

३ आगे अपर पक्षने प्रवचनसारमें प्रतिपादित कालनय और अकालनयकी चरचा करते हुए अन्तमें लिखा है कि 'इन दोनो काल तथा अकाल नयोका विधान करके श्री अमृतचन्द्र सूरि पर्यायके एकान्त क्रमनियत कालका स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।'

अपर पक्षने यहाँ इन दोनो नय वचनोका उल्लेख कर जो पर्यायोंके क्रमनियतपनेका निषेध किया है वह ठीक नही है, क्योकि ये दोनो नयवचन हैं, जो सप्रतिपक्ष होनेसे मात्र अपनी अपनी विवक्षाको सूचित करते हैं। इसका अर्थ ही यह है कि उन दोनोका कथन एक ही कालमें लागू पडता है।

पहले क्रमांक १६-१७ में सामान्य नय और विशेष नय कह आये हैं। सामान्य नयकी अपेक्षा आत्मद्रव्यको व्यापक और विशेषनयकी अपेक्षा उसे अव्यापक बतलाया है। सो इस परसे यदि कोई यह अर्थ करे कि कभी आत्मद्रव्य व्यापक है और कभी अव्यापक है तो उसका जैसे यह अर्थ करना ठीक नही होगा उसी प्रकार उक्त दोनों नयवचनोंके आधारपर अपर पक्षका यह अर्थ फलित करना भी ठीक नही है कि श्री अमृतचन्द्रसूरि उक्त कथन द्वारा पर्यायके एकान्त क्रमनियत कालका निराकरण कर रहे हैं।

विचार कर देखा जाय तो कालनयमे कालकी विवक्षा है और अकालनयमें कालको गौणकर अन्य

हेतुओंकी विवक्षा है। जहाँ अन्य हेतुओंको गौणकर कालकी प्रधानतासे कार्यको दृष्टिपथमें लिया जाता है वहाँ वह कालनयका विषय होता है और जहाँ कालको गौणकर अन्य विस्रसा या प्रयोगसे प्राप्त हेतुओंकी प्रधानतासे कार्यको दृष्टिपथमें लिया जाता है वहाँ वह अकालनयका विषय होता है। इस प्रकार एक ही कार्य कालनयका भी विषय है और अकालनयका भी। यदि ऐसा न माना जाय तो इन्हें नय वचन कहना सगत न होगा। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्रके उक्त कथनसे कोई पर्याय क्रमनियत होती है और कोई पर्याय क्रम अनियत होती है यह त्रिकालमे सिद्ध नही होता। प्रत्युत इससे यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रमनियत होकर भी वे विवक्षाभेदसे काल और अकाल इन दोनो नयोंके विषय हैं।

४ आगे अपर पक्षने प्रवचनसारमें प्रतिपादित नियतिनय और अनियतिनयकी भी चरचा की है और साथ ही स्वभावनय, अस्वभावनय आदि नयोका भी उल्लेख किया है सो इस सब कथन परसे अपर पक्ष क्या फलित करना चाहता है इसका स्पष्ट सकेत न होनेसे हम यहाँ इन सबकी विशेष चरचा नही करेंगे। एकान्तका परिग्रह यदि अपर पक्षको इष्ट हो तो भले ही रहा आवे। हमने न तो एकान्तका परिग्रह ही किया है और न ही एकान्त जैन शासनमें स्वीकृत ही है। हाँ, यदि अपर पक्ष एक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें परमार्थसे रहता है इसे स्वीकार कर और इस प्रकार दो द्रव्योमे एकता स्थापित कर इसे अनेकान्त सज्ञा देनेमे ही चरितार्थता मानता है तो भले ही माने, परन्तु **जैन शासन तो एक द्रव्यके स्वचतुष्टयमें अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयकी नास्ति ही घोषित करता है**। और इस प्रकार एक द्रव्य के कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें परमार्थसे नही ही रहता है यही सिद्ध होता है।

५ आगे अपर पक्षने पण्डितप्रवर टोडरमलजी रचित मोक्षमार्ग प्रकाशकके एक कथनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है सो जहाँ पण्डितजीने काललब्धि और होनहारके स्वतन्त्र वस्तु होनेका निषेध किया है वहाँ वे क्या हैं इसका भी विधान किया है। कालद्रव्यकी विवक्षित पर्यायके साथ अन्य द्रव्योकी विवक्षित पर्यायोका जो सहज योग प्रतिक्षण बनता है उसीका नाम काललब्धि है। इसके सिवाय वह अन्य कुछ नही है। पण्डितजीने यही बात काललब्धिके विषयमें कही है। होनहार भवितव्यताका पर्यायवाची है। इसे सभी आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। सो किसकी किस कालमें क्या भवितव्यता या होनहार है इसका ज्ञान उस कालमें उससे होनेवाले कार्यसे ही होता है। पण्डित जी ने **'जो कार्य भया सोई होनहार'** इन शब्दो द्वारा इसी तथ्यका ज्ञान कराया है। अतएव पण्डितजीके कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है।

६ आगे अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २१९ में आये हुए कालादि लब्धिका अर्थ मात्र रत्नत्रय बतला कर जो कालकी मुख्यताका निषेध किया है वह ठीक नही, क्योकि व्यवहारनयसे कालादि लब्धिका अर्थ जहाँ काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भाव आदि सामग्रीकी प्राप्ति होती है वहाँ निश्चयनयसे काल शब्द अपनी विवक्षित पर्यायको भी सूचित करता है। अतएव नयविवक्षासे किसी भी अर्थके ग्रहण करनेमे कोई बाधा नहीं आती। तथापि अपर पक्षने उक्त गाथाकी टीकाका जो एकान्तरूप आशय लिया है वह क्यो ठीक नही इसके लिए हम वह टीकावचन ही यहाँ दे देना इष्ट समझते हैं—

कालादिलब्धियुक्ता- कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्रीप्राप्ताः। पुनरपि कीदृक्षास्ते अर्था- ? नानाशक्तिभि अनेकसमर्थताभि- नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभि- संयुक्ता। यथा जीवा- भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति।

कालादिलब्धिसे युक्त अर्थात् काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भावादिरूप सामग्रीको प्राप्त हुए वे अर्थ। फिर भी कैसे हैं वे पदार्थ ? नाना शक्तियोंसे अर्थात् नाना प्रकारके स्वभावोंसे युक्त अनेक समर्थताओसे संयुक्त हैं। यथा—जीव भव्यत्वादि शक्तियोमे सयुक्त होकर रत्नत्रय आदिरूप काललब्धिको प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

स्पष्ट है कि उक्त टीकावचनसे भी प्रत्येक कार्यके स्वकालका निषेध नही किया जा सकता।

७ आगे अपर पक्षने प० फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रके दो वचन उद्धृत कर अपने पक्षके समर्थन करनेका जो प्रयत्न किया है वह ठीक नही, क्योकि प्रथम वचन द्वारा एकान्तसे कालकी व्यवहार हेतुताका निषेध किया गया है। तभी तो उक्त वचनमें निष्कर्षको सूचित करते हुए अन्तमें यह लिखा है—

'कार्यकी उत्पत्तिमे जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त है। अत. कार्यकी उत्पत्तिमें केवल कालको प्रधान कारण मानना उचित नही है।'

यद्यपि उक्त वचनके प्रारम्भका वाक्य कुछ भ्रमको उत्पन्न करता है, इसमे सन्देह नही। परन्तु उसका व्याख्यान नाना जीवोकी अपेक्षा करने पर आगमसे उसकी सुसंगति बैठ जाती है। वस्तुत वह वचन तत्त्वार्थवार्तिकके **'कालानियमाच्च'** का व्याख्यानमात्र है। परन्तु तत्त्वार्थवार्तिकमें जिस प्रकार वह वचन नाना जीवोकी अपेक्षा लिखा गया है वैसा विशद स्पष्टीकरण तत्त्वार्थसूत्रके उक्त वचनमे अवश्य किया जाना चाहिए था। अपर पक्षने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, इसलिए इतना खुलासा करनेका हमें अवसर मिल सका इसके लिए हम अपर पक्षको धन्यवाद देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका दूसरा वचन मात्र कर्मकी उत्कर्षणादि अवस्थाओको ध्यानमें रखकर लिखा गया है, जो व्यवहारनय वचन होनेसे युक्तियुक्त है।

अतएव प० फूलचन्द्र द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्रसे भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं। प० फूलचन्द्र शास्त्रीने कार्यके प्रति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी मर्यादा क्या है इसका विस्तृतरूपसे विचार तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू० ३० की टीकामें किया है। यह टीका वी० नि० स० २४७६ के पूर्व लिखी गई थी। तभी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रत्येक कार्यके प्रति निमित्तकी क्या मर्यादा है। इसमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्तका क्या तात्पर्य है यह भी स्पष्ट किया गया है। आशा है अपर पक्ष उसका अवलोकन कर वस्तुस्थिति क्या है उसे समझनेका अवश्य ही प्रयत्न करेगा।

इस प्रकार काललब्धिके आधारसे भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं।

४०. दिव्यध्वनि आदि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं

अपर पक्षने पुन दिव्यध्वनिका प्रश्न उठाकर उस द्वारा सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं इसका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है जो युक्ति-युक्त नही है। इसकी पुष्टिमें पिछले उत्तरमे हम जयधवला पु० १ पृ० ७६ का प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। धवला पु० ९ पृ० १२०-१२१ में भी यही बात कही गई है। इन दोनो वचनोमें दो बातोका स्पष्ट निर्देश दृष्टिगोचर होता है। यथा—

१. प्रश्न यह है कि जिस समय भगवान्‌को केवलज्ञान हुआ उसी समय देवेन्द्रने गणधरको क्यो उपस्थित नही कर दिया ? इसका समाधान आचार्यने यह लिखकर नही किया कि इन्द्र क्षयोपशमज्ञानी था, इसलिए उस समय उसके ख्यालमें यह बात नही आई। किन्तु उक्त प्रश्नका समाधान यह लिख कर किया

है कि काललब्धिके अभावमे उस समय इन्द्रमे ऐसी सामर्थ्य ही नही थी कि वह भगवान्‌के केवलज्ञानके होनेके समय ही गौतम गणधरको लाकर उपस्थित कर देता। इससे इस बातका स्पष्टरूपसे निर्णय हो जाता है कि प्रत्येक कार्य अपने नियत समयमें ही होता है, आगे-पीछे नही।

२ दूसरा प्रश्न यह है कि जिस तीर्थंकरके पादमूलमे जिसने दीक्षा ली है उसे निमित्तकर ही उनकी दिव्यध्वनि क्यों खिरती है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि **ऐसा स्वभाव ही है और स्वभाव कार्य दूसरोंके द्वारा प्रश्नके योग्य नहीं होता।**

उक्त शका–समाधानमें ये दो प्रश्न और उनके दो उत्तर अर्थगर्भ हैं। इनसे प्रथम तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यके लिए निमित्त-नैमित्तिकयोग अपनी-अपनी काललब्धिके अनुसार सहज ही मिलता है। दूसरे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यका निमित्त सुनिश्चित है और वह काललब्धिके अनुसार ही विस्रसा या प्रयोगसे उपस्थित होता है। प्रयोगसे भी यदि बाह्य सामग्रीका योग मिलता है तो वह काललब्धिके अनुसार ही मिलता है, आगे-पीछे नही। तीसरे इससे यह भी सिद्ध होता है कि केवलज्ञान होनेपर तत्क्षण जो दिव्यध्वनि नही खिरी वह स्वभावसे ही नही खिरी। गणेन्द्रके नही मिलनेसे दिव्यध्वनि नही खिरी यह तो व्यवहार कथनमात्र है जो मात्र बाह्य सामग्रीके योगको सूचित करता है। निश्चय कथन तो यही है कि जिस कालमें जो कार्य होना होता है उसी कालमें वह होता है ऐसा वस्तु परिणमनरूप स्वभाव है। अनन्तरपूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहते हैं इस नियमके अनुसार जिस समय दिव्यध्वनि खिरी उसके पूर्व समयमें ही भाषावर्गणाएँ उसका समर्थ उपादान हुई। केवलज्ञान कोई दिव्यध्वनिका उपादान नही है। वह तो गणेन्द्रके समान निमित्तमात्र है, अतएव केवलज्ञान होनेपर दिव्यध्वनि खिरनी ही चाहिए ऐसा नियम नहीं बन सकता यह बात भी इससे सिद्ध होती है। इस प्रकार केवलज्ञानके होनेपर भी गणधरका न मिलना और दिव्यध्वनिका न खिरना ही यह सिद्ध करता है कि **जब दिव्यध्वनिके खिरनेका स्वकाल आया तब गणधरके योगपूर्वक केवलज्ञान उसके खिरनेमें निमित्त हुआ।** यहाँ अपर पक्षने शेष जिन बातोंका उल्लेख किया है उनका समुचित उत्तर पूर्वमें दिया ही गया है, अतएव उन विषयोकी यहाँ पुन चरचा नहीं की गई है।

४१. कर्मनिर्जरा और मुक्तिका काल नियत है, अनियत नहीं

अपर पक्षने कर्मनिर्जराका काल नियत नही इस अभिप्रायकी पुष्टिमें तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ का '**कालानियमाच्च निर्जराया**' वार्तिक उपस्थित किया है। किन्तु यह वार्तिक नाना जीवोकी अपेक्षा निर्जराके कालके अनियमका विधान करता है। अर्थात् किसी जीवकी संख्यात कालमें कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है और किसी जीवकी असख्यात कालमें कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है आदि। एक जीवकी अपेक्षा यह कर्म-निर्जराके कालके अनियमका विधान नहीं करता। इस अपेक्षासे तो जिसकी कर्मनिर्जरा आदिका जो काल नियत है उस कालमें ही कर्मनिर्जरा आदि होकर उसे मुक्तिलाभ होता है यही सिद्ध होता है। ६ माह ८ समयमें छह सौ आठ जीव मुक्तिलाभ करते हैं यह नियम इसी आधार पर किया गया है। धवला पु० १४ पृ० १४३ में आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

सव्वकालमदीदद्धा सव्वजीवरासीए अणतिमभागो अण्णहा ससारिजीवाणमभावप्पसगादो। सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असखेज्जदिभागो चेव, छम्मासमतरिय णिव्वुइगमणणियमादो।

सर्वदा अतीत काल सब जीवराशिके अनन्तवें भागप्रमाण रहता है, अन्यथा सब जीवोंके अभाव होनेका प्रसग आता है।

सिद्ध जीव सर्वदा अतीत कालके असख्यातवें भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

इससे विदित होता है कि कितने कालमे कितने जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं और कितने जीव कितने कालमें मुक्तिलाभ करते हैं यह सुनिश्चित नियम है। अतएव जिसका सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका जो समय है उसी समय वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है और जिसका मोक्ष जानेका जो समय है उसी समय वह मुक्तिलाभ करता है। गति-आगतिसम्बन्धी सब जीवोकी पूरी व्यवस्था अपने-अपने उपादानके अनुसार सुनिश्चित है। उसीके अनुसार प्रत्येक कार्य होता है। इस विषयकी पुष्टिमें विशेष प्रमाण हम पहले दे आये हैं।

अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके हमारे द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणके विरोधमें लिखा है कि 'उक्त प्रमाणोंसे यही प्रमाणित होता है कि 'सहकारी कारणोके सद्भाव होने पर उपादान कारण कार्यरूप परिणत होता है।' सो अपर पक्षके इस कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उपादान कारण तो सदा विद्यमान है, मात्र सहकारी सामग्रीका जब योग मिलता है तब कार्य होता है। किन्तु यह बात नही है, क्योंकि केवलज्ञानका उपादान कारण बारहवें गुणस्थानमें अन्तिम समयवर्ती जीव है, प्रथम समयवर्ती जीव नही। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० में लिखा है—

> क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
> यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥८९॥
> ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तु तद्वदयोगिनः।
> पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥९०॥

मोहनीय कर्मके प्रथम क्षणमें क्षीण हो जाने पर भी जिस प्रकार क्षीणकषायके अन्त्य क्षणमें ज्ञानावरणादिके नाश करनेकी शक्ति मानी गई है उसी प्रकार अयोगी जिनके अन्त्य क्षणमें शेष कर्मोंके क्षयकी शक्ति मानी गयी है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा केवलज्ञानकी उत्पत्तिका उपादान कारण बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही होता है, प्रथम समयमें नही।

हम पिछले उत्तरमे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१ का **'निश्चयनयाश्रयणे तु'** इत्यादि वचन उद्धृत कर आये हैं। इस वचनमें मोक्षका समर्थ उपादानकारण अयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें स्थित जीवको बतलाया गया है। अपर पक्षने भी प्रतिशका ३ में उसे उसरूपमें स्वीकार कर लिया है। अतएव जिस प्रकार अपर पक्षने अन्तिम समयवर्ती अयोगीकेवली जीवको मोक्षका समर्थ उपादान कारण स्वीकार कर लिया है जो आगमसम्मत है उसी प्रकार अन्तिम समयवर्ती क्षीणकषाय जीवको केवलज्ञानका समर्थ उपादान कारण उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि बारहवें गुणस्थानका अन्तिम समयवर्ती जीव जहाँ केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समर्थ उपादान कारण है वही वह ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयका प्रतिनियत निमित्त है। यह तो जीवकी अपेक्षा

विचार है। कर्मोकी अपेक्षा विचार करने पर जहाँ बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें स्थित ज्ञानावरणादि कर्म तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें अपनी अकर्म पर्यायके उपादान कारण हैं वही उनकी कमपर्यायका व्यय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु है। इस प्रकार इससे यही सिद्ध होता है कि लोकमें जितने भी कार्य हुए, होते हैं और होगे उन सबकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री सुनिश्चित है। प्रत्येक समयमे वैसा योग मिलता है और वही कार्य होता है। आचार्य कही उपादानकी अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं और कही बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं। दोनो कथनोंका फलितार्थ एक ही है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इन दोनो शैलियोको अपनाकर विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ५८ में समस्त कर्मोके क्षयको मोक्षका कारण कहा है और पृ० ७१ मे अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है, सो ये दोनों ही कथन अपने-अपने स्थानमे युक्तियुक्त हैं। व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर प्रथम कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि समस्त कर्मोंके क्षयके साथ मोक्षकी कालप्रत्यासत्ति है, इसलिए व्यवहारनयसे यह कहा गया है कि समस्त कर्मोके क्षयसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करने पर दूसरा कथन परमार्थभूत प्रतीत होता है, क्योंकि अयोगकेवलीके अन्तिम समयमे रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष पर्यायको उत्पन्न करता है, समस्त कर्मोका क्षय नही।

स्पष्ट है कि कर्मनिर्जरा और मोक्ष अपने-अपने नियत कालमे ही होते हैं इसकी पुष्टिमें पिछले उत्तरोमें हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह यथार्थ है।

अपर पक्ष एक ओर तो हमें **'कालादिसामग्रीक'** और **'कालविशेषस्य सहकारिण'** इत्यादि उल्लेखोपर विचार करनेकी प्रेरणा करता है और दूसरी ओर कालको उदासीन कारण बतलाकर यह अभिप्राय व्यक्त करनेसे भी नही चूकता कि कोई भी काल किसी भी कार्यके लिए निमित्त है, अमुक काल ही अमुक कार्यके लिए निमित्त होता है ऐसा नही है। इसीको कहते हैं अपनी धारणाके अनुसार आगमका अर्थ करना।

आपने अदालतकी बात लिखी पर हमें तो अदालत जानेका अभ्यास नही है, इसलिये अदालतमें केस कैसे जीता जाता है यह सब हम नही जानते, उसकी रुचि भी नही है। हमारे सामने तो आगमके पत्र खुले हैं जिनके आधारपर हमे निर्णय करना है। उनमें अपर पक्ष जिसे प्रेरकसामग्री कहता है उसके समान काल विशेषपर भी उतना ही बल दिया गया है। यथा—

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्य मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः॥४६॥

—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ६५

इस कारण मोक्षमार्ग तीन प्रकारका है यह विरोधको प्राप्त नही होता, क्योंकि विशिष्ट कालसे युक्त तीनरूप उसमें ही मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य है॥४६॥

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ७१।

क्षीणकषायके प्रथम समयमें उसके आविर्भावका प्रसग आता है यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि उस समय अपेक्षीय सहकारी कालविशेषका अभाव है।

विद्वान् पाठक देखेंगे कि इन उल्लेखोमे अमुक कार्य अमुक कालमें ही होता है इस तथ्यपर कितना

अधिक बल दिया है। हमे आशा है कि अपर पक्ष वस्तुस्थितिका विचार कर अपने विचारोमें अवश्य ही परिवर्तन करेगा।

यह सच है कि काललब्धि पदद्वारा केवल कालका ही ग्रहण नही किया है, किन्तु अन्य सामग्रीका भी ग्रहण किया है। पर इतनेमात्रसे प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत कालका निषेध नही हो जाता। बाह्य सामग्री, जिस कार्यके साथ उसकी व्याप्ति है, उसको सूचक है और इस मायनेमें उसे निमित्तरूपसे स्वीकार करनेमें सार्थकता भी है। पर इसका अर्थ यह नही कि वह अपने व्यापार द्वारा अपनेसे सर्वथा भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करती है। इस दृष्टिसे यदि उसे निमित्त कहा जाता है तो उसमे निमित्तपनेका व्यवहार उपचरित या आरोपित ही होगा। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० में अन्तरीक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न इन आठ महानिमित्तोका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ भी अन्य सामग्रीमें 'निमित्त' शब्दका व्यवहार हुआ है वह मुख्यके सूचनके अर्थमें ही हुआ है। इसी अर्थमें अन्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारकी सार्थकता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

४२. कर्मोंका परिपाक प्रतिनियत ही होता है

अपर पक्षने शिकायत करते हुए लिखा है कि 'अनियत पर्याय सिद्ध करनेके लिए हमने अपने पत्रकमें कर्मपरिपाकके अनियत होनेका प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नही दिया और यह लिख कर उसे टाल दिया कि यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिसपर इस समय लिखना उचित न होगा। प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्यकी पोषक न होनेसे आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अत हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्यायका समर्थन करता है।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा था—'रही कर्मादिकके संक्रम आदिकी बात सो ऐसा मान लेने पर कि कर्मका उदय होने पर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोका फल नही मिलता यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।'

यह हमारा वक्तव्य है। अब देखना यह है कि हमने यह वक्तव्य अपर पक्षके किस कथनको ध्यानमें रख कर लिपिबद्ध किया था। आगे प्रतिशंका २ से उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'अर्हन्त भगवान्‌के असाता वेदनीयकर्मका उदय सातारूपसे हुआ करता है। नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दु खदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दु'खदायक नही होता।'

अपर पक्षने इस कथन द्वारा यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि कर्मका उदय तो हो पर उसके अनुकूल बाह्य सामग्री न हो तो जीवको उसका फल नही भोगना पडता या उसके विपरीत फलकी प्राप्ति होती है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें अपर पक्षने सातावेदनीय और असातावेदनीय उदयको उदाहरणरूपमें उपस्थित किया है।

अपर पक्षके इस कथनसे हम यह तो नही समझ सके कि वह अपने इस विचारके अन्तर्गत सब कर्मोंके उदयको सम्मिलित करता है या केवल सातावेदनीय और असातावेदनीयके उदय तक ही इसे सीमित रखता है। यदि उस पक्षका उक्त कथनके आधार पर यही विचार हो कि किसी भी कर्मका उदय क्यो न हो वह तभी अपना फल दे सकता है जब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री हो। बाह्य सामग्रीके अभावमें या तो

जीवको उसका फल नही भोगना पडता या फिर जैसी वाह्य सामग्री हो वैसा उसका फल मिलता है। तब तो यही मानना पडेगा कि यदि किसी जीवको गुस्सा उत्पन्न होता है तो यह नही माना जा सकता कि उसके क्रोध कषायका ही उदय है, मानादि कषायका उदय नही है। या जो मनुष्य पर्यायमें है उसके मनुष्य गतिका ही उदय है तिर्यञ्चादि गतिका उदय नही है, क्योकि अपर पक्षके मतानुसार कार्य तो वाह्य सामग्रीके अनुसार होता है, कर्मके उदयानुसार तो होता नही।

यदि यह दोष प्राप्त न हो इस भयसे अपर पक्षका कहना यह हो कि यह नियम सब कर्मोके उदयके लिए नही है। कुछ कर्मोंके उदयके लिए तो उक्त नियम है और कुछ कर्मोके उदयके लिए यही नियम है कि जैसा कर्मोंका उदय होता है वैसी वाह्य सामग्री मिलती ही है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि वे कौन कर्म हैं जिन पर उक्त नियम लागू होता है और उनसे भिन्न दूसरे कौन कर्म हैं जिन पर उक्त नियम लागू नही होता इसका आगमसे स्पष्टीकरण करना था। आगममें तो मात्र केवली जिनको लक्ष्य कर यह लिखा है कि उनका असातोदय सातरूपसे परिणाम जाता है। किन्तु आगममें इस प्रकारके निर्देशका कारण है।

१ प्रथम तो इसका कारण यह है कि उनके मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव हो गया है, और मोहनीय कर्मके अभावमे वेदनीय कर्म सुख-दु खरूप अपना कार्य करनेमें अक्षम है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कहा भी है—

घादिं व वेयणीय मोहस्स बलेण घाददे जीव।
इदि घादीण मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिद तु ॥१९॥

वेदनीयकर्म मोहनीयके बलसे घातिया कर्मोंके समान जीवको घातता है, इसलिए घातिया कर्मोके मध्यमें और मोहनीय कर्मके आदिमें उसका पाठ रखा है ॥१९॥

२ दूसरा इसका मुख्य कारण यह है कि क्षपकश्रेणीके प्रत्येक समयमें पाप प्रकृतियोका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता हुआ सयोगकेवलीके असातावेदनीयका अनुभाग वहाँ बँधनेवाले सातावेदनीयके अनुभागसे भी अनन्तगुणा हीन रह जाता है और चूँकि वहाँ ईर्यापथ आस्रव होनेके कारण सातावेदनीयका प्रत्येक समयमें उदय है, अत: अनन्त गुणेअनुभागवाले सातावेदनीयके उदयमें अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले असातावेदनीयका उदय अन्तर्निहित हो जाता है, इसलिए यह कहा है कि असाताका उदय सातारूप परिणम जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा भी है—

समयट्ठिदिगो बधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥

जिस कारण केवली जिनके सातावेदनीयका बन्ध उदयस्वरूप एक समय स्थितिवाला होता है इस कारण असातावेदनीयका उदय सातारूपसे परिणम जाता है ॥२७४॥

यहाँ यह कहना युक्त नही कि कषायका अभाव होनेसे वहाँ सातावेदनीयमें अनुभाग सम्भव नहीं, क्योंकि कषायके सद्भावमें जितना अनुभागबन्ध होता है उतना वहाँ सम्भव न होनेसे उसका निषेध किया है। पर इसका अर्थ यह नही कि वहाँ सातावेदनीयमे अनुभाग होता ही नही, क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी सातावेदनीय यह संज्ञा ही नही बन सकती। अतएव प्रकृतमे यही समझना चाहिए कि केवली जिनके जो सातावेदनीयका बन्ध होता है वह वहाँ सत्तामें स्थित असाताके अनुभागसे अनन्तगुणे अनुभागको लिये हुए ही होता है।

हम पूर्वमें केवली जिनके साता-असातावेदनीयको निमित्तकर इन्द्रियजन्य सुख-दुख नही पाया जाता इसका उल्लेख कर आये हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसारमें लिखा भी है—

णट्ठा य राय-दोसा इदियणाण च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुह-दुक्ख णत्थि इंदियज ॥२७३॥

जिस कारण केवली जिनके राग-द्वेष और इन्द्रियज्ञान नष्ट हो गये हैं इस कारण उनके साता-असाता-जन्य सुख-दुख और इन्द्रियजन्य ज्ञान नही पाये जाते ॥२७३॥

इस प्रकार आगम इस बातको तो स्वीकार करता है कि केवली जिनके असातोदय सातारूपसे परिणम जाता है, पर यह बात आगममें कही भी नही बतलाई है कि 'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमे होता है' और न ही यह बात ही बतलाई है कि 'देवगतिमें दु खदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दु खदायक नही होता' मालूम नही, अपर पक्षने अपने मनसे ऐसी असत्कल्पना करके उसे कैसे लिपिबद्ध किया। बाह्य-साधन स्वय न तो दुखरूप ही होते हैं और न सुखरूप ही। कब कौन दुखमें निमित्त हो और कब कौन सुखमें यह सब भिन्न-भिन्न जीवोकी भिन्न-भिन्न परिस्थितिपर निर्भर करता है। महापुराण पर्व ६ में ललितागदेव और उसकी प्रिय वल्लभा स्वयप्रभाकी कथा आई है। उसमें बतलाया है कि ललितागदेवकी जब छ माह आयु शेष रही तब उसकी माला म्लान हो गई, कल्पवृक्ष कांपने लगे, शरीरकी काति क्षीण हो गई आदि। इससे वह बहुत दुखी हुआ, देखो (श्लोक १ से ८ तक)। आगे वही उसकी देवीकी चर्चा करते हुए लिखा है कि ललिताग देवके स्वर्गसे च्युत होनेपर वह स्वयप्रभादेवी उसके वियोगसे चकवाके विना चकवीकी तरह बहुत ही खेद-खिन्न हुई आदि (देखो श्लोक ५० से ५२ तक)।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार देवोमें इन्द्रियजन्य सुख है उसी प्रकार दुख भी है। नरकोमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३ में जो यह कहा गया है कि नारकी जीव नित्य अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रियावाले होते हैं सो वहाँ आये हुए 'नित्य' शब्दका अर्थ करते हुए आचार्य अकलंकदेवने यही बतलाया है कि उनके आभीक्ष्ण्य (बहुधा) अशुभतर लेश्या आदि पाये जाते हैं। उदाहरणमें नित्य (बहुधा) हँसनेवाले देवदत्तको उपस्थित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार देवदत्त नित्य हँसता है अर्थात् कारण मिलने पर हँसता है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये।

इससे सिद्ध होता है कि ससारी जीवोमें कर्मोदयके साथ जीवकी परिणतिकी बाह्य व्याप्ति है। तभी तो आचार्य कुदकुदने समयसार बन्धाधिकारमें यह लिखा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं दूसरे जीवोको दुखी सुखी करता हूँ वह मूढ अज्ञानी है। किन्तु जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है ॥२५३॥

भगवान् आचार्यने इस वचन द्वारा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र और कालादि दूसरेमें सुख-दुखको उत्पन्न करते हैं इस बातका निषेध किया है। अपने सुख-दुखकी अपने कर्मके साथ बाह्य व्याप्ति क्यो है इसका स्पष्टीकरण आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २५४,२५५ और २५६ में विशदरूपसे किया है। उनकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

सुख-दुःखे हि तावज्जीवाना स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात् । स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातु शक्यम्, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथञ्चनापि अन्योन्यस्य सुख-दु.खे कुर्यात् । अत- सुखित-दु-खितान् करोमि सुखित-दु खित- क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ।

प्रथम तो जीवोको सुख-दु ख वास्तवमे अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योकि अपने कर्मोदयके अभावमें सुख-दु ख होना अशक्य है । और अपना कर्म दूसरेके द्वारा दूसरेको नही दिया जा सकता, क्योकि वह अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है, इसलिए किसी भी प्रकारसे एक दूसरेको सुख-दु ख नही कर सकता । इसलिए यह अध्यवसाय निश्चित अज्ञान है कि 'मैं पर जीवोको सुखी-दु खी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं ।

इस टीका मे **'स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्'** पद ध्यान देने योग्य है । इससे स्वाश्रितपनेका ज्ञान कराते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जीव जैसा करता है वैसा भोगता है ।' सुख-दु खादिकी अपने-अपने कर्मोदयके साथ व्याप्तिका जो विधान आचार्यने किया है उसका हार्द क्या है यह उक्त शब्दो द्वारा सुस्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।

यहाँ यह शका करना उचित नही है कि जब कि अपने परिणामोके अनुसार जीव कर्मोंका उपार्जन करता है और उपार्जित कर्मके अनुसार फल भोगता है ऐसी अवस्थामे उसके ससारका उच्छेद कभी भी नही हो सकेगा, क्योंकि जभी इस जीवका कर्म और कर्मफलमे अरुचि होनेके साथ ज्ञानस्वभाव आत्माके प्रति आदर उत्पन्न होता है तभी इसके नये कर्मका बन्ध नही होता और सत्तामे स्थित पुराने कर्मकी क्रमश निर्जरा होकर यह मुक्तिका पात्र बनता है ।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि 'नरकमें न तो सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमे होता है' और न ही यह कहा जा सकता है कि 'देवोमें दु खदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दु खदायक नही होता ।'

हमने अपने पिछले उत्तरमें अपर पक्षको उक्त मान्यता पर विशेष विचार केवल इस अभिप्रायसे नही किया था कि वह हमारे सक्षिप्त उत्तरमें निहित तथ्यकी ओर ध्यान देकर अपने विचारोंमें परिवतन कर लेगा । किन्तु इसे वह हमारे द्वारा टालना समझकर अपने आगमविरुद्ध अभिमतकी पुष्टिमे ही इतिकर्तव्यता समझता है, इसलिए यहाँ इतना लिखना पडा है । वस्तुत अपर पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना कि 'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है । देवगतिमें दुख-दायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दु खदायक नही है ।' एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिससे पूरी कार्य-कारण-परम्परा पर तो पानी फिरता ही है । साथ ही किस कर्मके उदयमें क्या कार्य होगा ऐसा नियम न रहनेसे पूरी कार्मिक व्यवस्था ही गडबडा जाती है ।

अपर पक्षने जयधवला पु० १ पृ० २८९ से **'पागभावस्स विणासो'** इत्यादि वचन उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न तो किया कि 'जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभावके विनाशके अनुकूल होगा वैसा ही उसका विनाश होगा ।' आदि । परन्तु उसने इस बातका थोडा भी विचार नही किया कि जिस प्रकार उसके मतानुसार कर्मोदयसे वही कार्य होता है जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होते हैं, किन्तु **'स यथा नाम'** (त० सू० अ० ८ सूत्र २१) सूत्रके अनुसार जो उस कर्मकी अनुभागशक्ति है उसके अनुसार कार्य नही होता, तो उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिसे भी वही कार्य होगा जिसके अनुकूल अन्य

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होंगे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको अपना अपना कार्य करनेके लिये अन्य अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि अपेक्षित होनेसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति ही नही बन सकेगी। ऐसी अवस्थामे उक्त उल्लेखसे अपर पक्ष जो अपने अभिमतकी सिद्धि करना चाहता है वह न होकर यही सिद्ध होता है कि जो जिस कार्यका प्रागभाव होता है—उसके विनाशसे वही कार्य होता है और बाह्य सामग्री भी उसके अनुकूल मिलती है।

यहाँ प० फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रके जिन तीन उल्लेखोको अपर पक्षने अपने पक्षकी पुष्टिमें उपस्थित किया है उनमेंसे प्रथम उल्लेख द्वारा तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वय करता है, उसमें अन्य बाह्य सामग्री निमित्त होती है। वाक्य रचना पर ध्यान दीजिये। उसमें यद्यपि व्यवहारनयकी कथनी पर बल दिया गया है पर निश्चयनयकी कथनीको भुलाया नही गया है।

दूसरे उल्लेखमें निधत्त और निकाचित कर्म स्वमुखसे भी उदयमें आते है और पर मुखसे भी उदयमें आते है मात्र इतना सूचित किया गया है। कर्मोका परिपाक अनियत है यह इससे कहाँ सिद्ध होता है। प्रत्युत इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसका जैसा उपादान होता है उसके अनुसार ही उसका कार्य होता है। हाँ, यदि आगम ग्रन्थोमें यह लिखा होता कि ऐसे कर्मोका स्वमुखसे ही उदय होता है और फिर बाह्य सामग्रीके बलसे उनका पर मुखसे भी उदय बतलाया गया होता तो अपर पक्षका यह कहना उचित प्रतीत होता कि इससे कर्मोका अनियत परिपाक सिद्ध होता है। किन्तु ऐसी बात नही है। अत. इस उल्लेखसे भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि नही होती ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

तीसरे उल्लेखमे आये हुए 'अनुकूल सामग्री' पद पर ध्यान दीजिए। इसमे बाह्याभ्यन्तर दोनो प्रकारकी सामग्रीका अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार अकर्मरूप कर्मवर्गणाएँ अपने उपादानके अनुसार कर्मरूप परिणम जाती हैं उसी प्रकार विवक्षित कर्मरूप परिणमी कर्मप्रकृतियाँ अपने-अपने उपादानके अनुसार अन्यरूप परिणाम जाती हैं यह सब उनमें विद्यमान उपादान योग्यता पर निर्भर करता है। इसमें अनियतपनेका तो प्रश्न ही नही उठता। जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें परिणमन करता है तो वह प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य होने ही वाला है। इससे अनियतपना कहाँ सिद्ध होता है। किन कर्मोमे सदृश और विसदृश दोनो प्रकारका परिणमन अपने-अपने उपादानके अनुसार होता है इसी बातको सक्रमण आदि द्वारा सूचित किया गया है। अतएव तत्त्वार्थसूत्रके उक्त उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धिमे सहायक नही हैं।

हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा था—'ऐसा मान लेने पर कि कर्मका उदय होने पर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे' आदि। इस पर अपर पक्षकी जिज्ञासा है कि यह आशय हमने उसके कौनसे वाक्यका ले लिया है? समाधान यह है कि अपर पक्षने अपनी पिछली प्रतिशकामें लिखा था—'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमे होता है। देवगतिमें दुखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुखदायक नही होता।'

हम समझते हैं कि अपने द्वारा पिछली प्रतिशकामें लिखे गये उक्त वाक्योको पढकर अपर पक्षकी समझमे यह बात आ जायगी कि पिछले उत्तरमें इन वाक्योको ध्यानमें रखकर हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह फिजूल न होकर प्रदीपशिखाके समान मार्गदर्शक है।

अपर पक्ष यदि यही मानता है कि उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्षका मेल होने पर कार्य होता है तो फिर वह उपादान अनेक योग्यतावाला होता है इत्यादि असत्कल्पनाएँ करके उपादानको अनुपादान वनानेकी क्यो चेष्टा करता है। तब तो उसे भीतरसे यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य अपने प्रतिनियत कार्यका प्रतिनियत उपादान है, अतएव प्रत्येक समयमें वह अन्य प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको निमित्त कर प्रतिनियत कार्यको ही उत्पन्न करता है।

बाह्य सामग्री स्वय अन्य द्रव्यके कार्यका यथार्थ कारण तो है नही, पर बाह्य व्याप्तिके आधार पर उसमें निमित्त या कर्ता आदि व्यवहार होता है, जो असद्भूत है, इसीलिये ही हम उसे अन्य द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा अकिंचित्कर कहते हैं और यह कहना हमारा ही हो यह वात नही है, शास्त्रकारोने भी इसे असद्भूत अपर नाम उपचरित कहा ही है। प्रमाण पूर्वमें ही दे आये हैं। हमने यहाँ पर जो 'दोनोका मेल होने पर कार्य होता है।' यह लिखा है सो उसका आशय अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्तिको दिखलाना भर है, क्योकि ऐसा ही द्रव्यगत स्वभाव है कि कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है। आभ्यन्तर उपाधि कार्यका आत्मभूत विशेषण है और बाह्य उपाधि अनात्मभूत विशेषण है। उपाधि विशेषणका दूसरा नाम है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए युक्त्यनुशासनकी टीका पृ० ६५ में लिखा है—

उपाधिर्विशेषण स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावा. परद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्च ।

उपाधिका अर्थ विशेषण है जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप तथा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और पर भावरूप होती है।

इसी तथ्यको और स्पष्ट शब्दोमे सूचित करते हुए अष्टसहस्री पृ० १५० में लिखा है—

यथा कार्यं बहिरन्त, स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्ट सर्वथा निरशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः।

जैसे कार्य बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियो अर्थात् अनन्त विशेषणोंसे युक्त होता है, क्योकि सर्वथा निरंश वस्तुमें सकल विशेषणोकी व्यवस्था नही बन सकती।

जिस प्रकार किसी राजाके राज्यका सचालन करते समय आभ्यन्तर उपाधि आज्ञा, ऐश्वर्य आदि और बाह्य उपाधि छत्र, चमर, सिंहासन आदि दोनो देखे जाते हैं। उनमें राज्यका सचालन छत्र, चमर और सिंहासन आदि नही करते। वास्तवमे राजाकी योग्यतासे ही राज्यका सचालन होता है, फिर भी राज्यके सचालनमें व्यवहारसे छत्र, चमर और सिंहासन आदिको स्थान मिला हुआ है। यह एक दृष्टान्त है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। आभ्यन्तर उपाधि द्रव्यका आत्मभूत धर्म है, इसलिए कार्यके प्रति उसे ही निश्चय साधन कहा है। बाह्य उपाधि द्रव्यका आत्मभूत धर्म नही है, फिर भी कार्यके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति नियमसे होती है, इसलिए उसे उपचरित हेतु कहा है। इससे हमारे कथनका आशय क्या है यह अपर पक्षकी समझमें अच्छी तरहसे आ जायगा ऐसी आशा है।

यदि हमने दोनोंको कारण स्वीकार कर लिया या आगममें दोनोंको कारण कहा है तो इसका अर्थ यह नही कि दोनों यथार्थ कारण हो गये। जो उपचरित होगा वह उपचरित ही रहेगा और जो अनुपचरित है वह अनुपचरित ही रहेगा। यदि किसी बालकको अग्नि कह दिया तो इसका अर्थ यह नही कि वह बालक यथार्थमें अग्नि हो गया। अग्नि अग्नि है और बालक बालक है। अग्नि बालक नही और बालक अग्नि नही। फिर भी तेज आदि धर्मको देख कर जिस प्रकार बालकमें अग्निका व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार

प्रकृतमें जानना चाहिए। उपादान कारण जैसे स्वय परिणम कर कार्यको उत्पन्न करता है उस प्रकार बाह्य सामग्री स्वय परिणमकर उस कार्यको उत्पन्न नही करती। फिर भी बाह्य सामग्रीके अमुक प्रकारके परिणामके कालमें ही उपादानका अमुक प्रकारका परिणाम होता है, इसलिए बाह्य सामग्रीमें भी कारण या निमित्त धर्मका उपचार किया गया है। और यही कारण है कि उपचरितपनेकी विवक्षा किये बिना हमने बाह्य सामग्रीको भी कार्यके प्रति निमित्त कहा है।

स्पष्ट है कि हमारे और अपर पक्षके मध्य जो विचारभेद है वह बना हुआ ही है। वह तब तक समाप्त नही हो सकता जब तक कि अपर पक्ष बाह्य सामग्रीमे निमित्त व्यवहारको उपचरित नही स्वीकार कर लेता।

आगे अपर पक्षने अपनी मान्यानुसार पुन॰ स्व-परप्रत्यय और स्वप्रत्यय कार्योंका प्रसग उपस्थित कर अपनी पुरानी मान्यताओको दुहरानेका प्रयत्न किया है। और जिन उदाहरणोको जिस शैलीमें पहले लिपिवद्ध किया था वे उदाहरण उसी शैलीमें पुन॰ यहाँ लिपिवद्ध कर दिये गये हैं। किन्तु उन सबका विस्तारसे विचार हम पूर्वमें कर ही आये हैं अत अपर पक्षके इस सब कथनको पुनरुक्त समझकर यहाँ विशेष विचार करना उचित नही समझते। तथ्य रूपमे इतना अवश्य निर्देश कर देते है कि—

१. लोकमें ऐसा एक भी कार्य नही होता जिसका मात्र निश्चय हेतु हो और व्यवहार हेतु न हो।

२ निश्चय उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग अवश्य मिलता है।

३ किसी भी द्रव्यकी कार्यमाला किसी समय रुकती नही। जहाँ तेलके अभावमें मोटर रुकी ऐसा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक मानससे प्रतीत होता है वहाँ मोटरकी उपादान शक्ति रुकनेकी थी, अत तेलका अभाव उसमें हेतु हुआ ऐसा समझना चाहिए, क्योकि आगममे समर्थ या निश्चय उपादानका लक्षण करते हुए अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही उपादान कहा है। यदि किसीके इन्द्रियप्रत्यक्षसे उस समय मोटरमे यह समर्थ उपादानता ज्ञात नही होती तो ऐसा नही कहा जा सकता कि मोटरका उपादान तो चलनेका था पर तेल नही होनेसे नही चल सकी। प्रत्युत बाह्य सामग्री सूचक होनेसे तेलके अभावसे यही सूचित होता है कि उस समय मोटरका उपादान चलनेका न होकर स्थिर रहनेका था, इसलिए वह स्थिर हो गई और उसमें तेलका अभाव हेतु हो गया।

आचार्योंने एक यह नियम बना दिया कि बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें कार्य होता है (स्वयभूस्तोत्र श्लोक ६०)। दूसरा यह नियम बना दिया कि उपादानके कालमें ही सहकारी सामग्री होती है (त०श्लोकवार्तिक पृ० ५५)। तथा तीसरा यह नियम बना दिया कि विवक्षित अपने कार्यके करनेमें अन्त्य क्षण प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है (तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ७०)। इससे हम जानते है कि यदि कोई मात्र इतना मानता है कि मात्र तेलके अभावमें मोटर नही चल रही है तो वह वास्तवमें कार्य-कारण परम्पराका ज्ञाता नही माना जा सकता, क्योकि तेलके रहने पर भी और चालककी उसे चलानेकी इच्छा होने पर भी कभी-कभी मोटर नही चलती। इससे सिद्ध है कि जिस समय जैसी आभ्यन्तर उपाधि होती है उस समय उसीके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग होकर वह कार्य होता है। कार्य-कारणपरम्पराका यह अव्यभिचारी नियम है।

अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६४६ का उद्धरण उपस्थित कर पुन यह सिद्ध करनेका प्रयत्न

किया है कि सिद्ध जीवकी लोकाग्रसे आगे गति मात्र धर्मद्रव्यके न होनेसे नही होती। साथ ही और भी अनेक प्रकारकी बातें लिखकर प्रतिशंकाके कलेवरको बढ़ाया है।

हम पहले इस सम्बन्धमे पर्याप्त लिख आये हैं, क्योंकि अपर पक्षने इन सब विषयोकी पूर्वमें विस्तारसे चर्चा की है। अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ तत्त्वार्थवार्तिकका जो उद्धरण उपस्थित किया है उसके पूर्वके '**स्यान्मत**' इत्यादि कथन पर यदि वह दृष्टि डाल लेता तो वही उसे अपनी शकाका समाधान मिल जाता। आचार्यदेव लिखते हैं—

प्रश्न—सिद्ध शिलापर पहुँचनेके वाद चूंकि मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन नही होता अत उष्ण स्वभावके अभावमे अग्निके अभावकी तरह मुक्त जीवका भी अभाव हो जाना चाहिए ?

उत्तर—मुक्त जीवका ऊर्ध्व ही गमन होता है तिरछा आदि गमन नही होता यह स्वभाव है, न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्व ज्वलन नही करती तव भी अग्नि वनी रहती है उसी तरह मुक्त जीवका भी लक्ष्य प्राप्तिके वाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी अभाव नही होता।

—**तत्त्वार्थवार्तिक** पृ० ८०४

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुक्त जीवका उपादान ही लोकाग्रतक गमन करनेका होनेसे वहीतक उसका गमन होता है। फिर भी व्यवहार हेतुका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने उक्त वचन लिखा, जिसे आधार बनाकर अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकाका कलेवर पुष्ट किया है। आचार्य कहींपर व्यवहार हेतुकी मुख्यतासे कथन करते हैं और कहीपर निश्चय हेतुकी मुख्यतासे। किन्तु ऐसे कथनको नयवचन ही समझना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्रके १०वें अध्यायमे '**धर्मास्तिकायाभावात्**' सूत्र व्यवहार हेतुकी मुख्यतासे ही लिखा गया है। इसलिए जो महानुभाव उस परसे यह अर्थ फलित करते हैं कि उपादानके रहते हुए भी निमित्तके न होनेसे कार्य नही हुआ वे वस्तुत कार्यकारणपरम्पराके ज्ञाता नही माने जा सकते।

अपर पक्ष पुरुषार्थ करनेका निर्देश तो करता है, परन्तु स्वावलम्बनको तिलांजलि देकर परावलम्बनको ही कार्य-कारणपरम्पराका मुख्य अग बनानेका प्रयत्न करते हुए उस पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना कि 'सर्वज्ञके प्रति आस्था रखिए, उनके ज्ञान तथा वाणीपर भी आस्था रखिए' आदि, केवल पाठकोको भ्रममें रखनामात्र प्रतीत होता है। स्वामी समन्तभद्र तो स्वयभूस्तोतमें यह लिखते हैं—

यद्वस्तु बाह्य गुण-दोषसूते· निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतो·।
अध्यात्मवृत्तस्य तदगभूतमभ्यन्तर केवलमप्यल ते ॥५९॥

अभ्यन्तर अर्थात् उपादान है मूल हेतु जिसका ऐसे गुण-दोषकी उत्पत्तिका जो बाह्य पदार्थ निमित्त है वह मोक्षमार्गपर आरूढ हुए व्यक्तिके लिए गौण है, क्योकि **हे जिन ! आपके मतमें केवल अभ्यन्तर हेतु ही कार्यसिद्धिके लिए पर्याप्त है ॥५९॥**

और अपर पक्ष यह कहता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए कार्य निमित्तके अनुसार होता है। अब विचार कीजिए कि जो इस प्रकारकी कथनी द्वारा उपादानको अनुपादान बनाकर उसके कार्यको निमित्तोकी मर्जीपर छोड देता है उसके द्वारा पुरुषार्थकी बात करना सर्वथा असगत ही प्रतीत होती है। स्पष्ट है कि अपर पक्षका कार्य-कारणपरम्परासम्बन्धी समग्र कथन आगम विरुद्ध होनेसे ग्राह्य नही हो सकता।

अपर पक्षका कहना है कि 'जब तक ज्ञाता-दृष्टा नही बन जाते तब तक अन्तरग-बहिरग साधनोको जुटाना चाहिए। सो प्रकृतमे अपर पक्षको यही तो समझना है कि जब तक जुटानेका विकल्प है तभी तक इस जीवकी ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणति न होकर रागरूप परिणत होती है और जिस क्षण यह जीव स्वभावसन्मुख हो अन्तरग-बहिरग साधनोके जुटानेके विकल्पसे मुक्त हो जाता है उसी क्षण यह जीव अबुद्धिपूर्वक रागके सद्भावमें भी ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है। स्वभावसे तो यह जीव ज्ञाता-दृष्टा है ही। परिणतिमें भी इसे ज्ञात-दृष्टा बनना है। किन्तु एक ओर तो जुटानेके विकल्पको उपादेय मानता रहे और दूसरी ओर मुखसे यह कहता रहे कि मै ज्ञाता-दृष्टा बननेके मार्गपर चल रहा हूँ—इसे मोक्षमार्गका उपहास ही कहा जायगा। यदि यथार्थमे ज्ञाता-दृष्टा बननेका अन्तरगसे भाव हुआ है तो सर्व प्रथम ज्ञातादृष्टा स्वभावके प्रति आदरवान् होकर ऐसे मार्गका अभ्यास करना चाहिए जिससे यह जीव जुटानेके विकल्पसे मुक्त होकर परिणतिमें भी ज्ञाता-दृष्टा बन सके। आचार्य अमृतचन्द्र समयसारकी टीकामें उस मार्गका निर्देश करते हुए लिखते है—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

हे भाई! तू किसी प्रकार महत् कष्टसे अथवा मरकर भी तत्वका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घडी) पडोसी बनकर आत्मानुभव कर कि जिससे सर्व पर द्रव्योंसे भिन्न विलसते हुए अपने आत्माको देखकर इस शरीरादि मूर्त्तिक पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्वके मोहको शीघ्र ही छोड देगा ॥२३॥

यह स्वरूपको प्राप्त करनेका मार्ग है, अन्य सब रागके विकल्पोका ताना-बाना है।

हमने अपने पिछले उत्तरमे उपादान और निमित्तिकी विषम व्याप्तिका निषेधकर लिखा था कि प्रत्येक समयमें उपादान और निमित्तकी प्रत्येक कार्यके प्रति अन्तरग और बहिरंग व्याप्ति बनती रहती है जिससे कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमे उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्यको करता रहता है। किन्तु अपर पक्ष इसे माननेके लिए तैयार नही है। उस पक्षका कहना है कि 'निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा।'

इसपर पृच्छा यह है कि मान लो किसी समय निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम नही हुआ तो कार्य होगा या नही? और इसी प्रकार किसी समय उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम नही हुआ तो भी कार्य होगा या नहीं?

अपर पक्ष यह तो कह नही सकता कि उस समय वह द्रव्य अपना कार्य ही नही करेगा, क्योकि ऐसा मानने पर वह द्रव्य अपरिणामी हो जायगा। किन्तु जैन शासनमें किसी भी द्रव्यको अपरिणामी माना नही गया है। द्रव्यका लक्षण ही यह है—**'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्।'** त० सू० अ० ५ सू० ३० व २९।

अतएव अपर पक्षको प्रकृतमें यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समयमे प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कार्यका समर्थ उपादान है और प्रत्येक समयमें उसके अनुकूल प्रयोगसे या विस्रसा बाह्य सामग्री भी

मिलती रहती है। परीक्षामुख या दर्शन-न्यायके अन्य जिन ग्रन्थोंमें प्रतिबन्धक कारणोंके अभाव और कारणान्तरोकी अविकलताका निर्देश किया है वह कैसी स्थितिमे कारण कार्यका अनुमापक होता है यह बतलानेके लिए किया है। जिस समय किसीके ज्ञानमें प्रतिबन्धक कारण प्रतिभासित हो रहे है या कारणान्तरोकी विकलता ज्ञात हो रही है उस समय भी अपने उपादानके अनुसार उस द्रव्यने अपना काय किया है और जिसे दूसरा व्यक्ति प्रतिबन्धक कारण मान रहा है या कारणान्तरोकी विकलता समझ रहा है, सम्भव है वह सब बाह्य सामग्री उस समय होनेवाले कार्यमें बाह्य हेतु हो रही हो। ज्ञानमें जो प्रतिबन्धक कारणोका सद्भाव या कारणान्तरोकी विकलता झलक रही है वह मनमें सोचे गये कार्यकी अपेक्षा प्रतीत हो रही है। किन्तु किसी द्रव्यने यह ठेका नही लिया कि दूसरे व्यक्तिकी विवक्षाके अनुसार उस समय उस कार्यका उसे उपादान होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो द्रव्य जिस समय जिस कार्यको करता है उस समय वह उसका उपादान नियमसे होकर ही उसे करता है और उस कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री उस समय नियमसे मिलती है।

आगे अपर पक्षने अपनी प्रतिशकामें उपस्थित किये गये तर्कोंपर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी सलाह देनेके बाद अपनी कल्पित उस मान्यताको पुन दुहराया है जिसमें अपर पक्षने समर्थ या निश्चय उपादानको अनेक योग्यतावाला प्रसिद्ध करके प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति बाह्य सामग्रीके आधारपर स्वीकार की है। किन्तु अपर पक्षकी यह मान्यता असमीचीन कैसे है इसका आगमसे अच्छी तरह खुलासा हो जाता है। आगममें एक द्रव्यकी अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायोमें कारण-कार्यभाव स्पष्ट शब्दोमें स्वीकार किया है।

यथा—अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्।—प्रमेयरत्नमाला अ० ३ सू० ५७।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समर्थ उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है।

परीक्षामुख अध्याय तीनमें अविनाभावका लक्षण लिखते हुए बतलाया है—

सह-क्रमभावनियमोऽविनाभाव. ॥१२॥

सहभाव नियम और क्रमभाव नियमको अविनाभाव कहते हैं ॥१२॥

आगे क्रमभाव नियमको दिखलाते हुए वहाँ लिखा है—

पूर्वोत्तरचारिणो कार्य-कारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥

पूर्वचर और उत्तरचरमें तथा कार्य और कारणमें क्रमभाव नियम होता है।

इससे विदित होता है कि कारण और कार्यमें क्रमभाव नियमरूप अविनाभाव है। और इसी आधारपर **'यदनन्तर यद्भवति तत्तस्य कारणम्'**—जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है—यह वचन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे इन तथ्योपर स्पष्ट प्रकाश पडता है—

१ उपादान कारण और कार्यमें क्रमभाव अविनाभाव नियम है।

२. उपादान कारण समनन्तर पूर्व पर्यायरूप होता है और कार्य समनन्तर उत्तर पर्यायरूप होता है।

३. प्रमेयरत्नमालाके पूर्वोक्त उल्लेख द्वारा पर्यायमें उपादानकारणता स्वीकार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक उपादान कारण जिस कार्यको जन्म देता है उसी योग्यताकी अपेक्षा ही वह उपादान कारण कहलाता है।

४ उक्त कथनकी पुष्टि इससे भी होती है कि जिस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे बाह्य सामग्री अनेक योग्यता-वाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूपसे ही वह अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होती है। उसी प्रकार अन्त सामग्री द्रव्यदृष्टिसे अनेक योग्यतावाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूपसे ही वह अपने कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती वस्तु उत्तर क्षणमें प्रतिनियत कार्यको ही उत्पन्न करती है। उस समय उसमें अनेक कार्योंको उत्पन्न करनेकी क्षमता ही नही होती। उसे आगममें निश्चय (यथार्थ) कर्ता इसीलिए ही स्वीकार किया गया है। परसापेक्ष कार्य होता है यह व्यवहारनयका वक्तव्य है, निश्चयनयसे तो प्रत्येक कार्य परनिरपेक्ष ही होता है, इसलिए जिस समय जो द्रव्य जिसरूप परिणमता है वह यथार्थमें अन्त सामग्रीके वलपर ही परिणमता है अतएव प्रकृतमें यही स्वीकार करना चाहिये कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाला होता है उसी प्रकार वह किस समय किस परिणामको उत्पन्न करे यह भी उसके स्वभावमें दाखिल है, क्योकि कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनो वस्तुपनेकी अपेक्षा अभिन्न हैं। उत्पादका अर्थ केवल परिणमन ही नही है। किन्तु उसमे परिणाम और परिणमन क्रिया दोनोका अन्तर्भाव हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३० मे कहा है—

चेतनास्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वा जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावन्तरावाप्तिरुत्पादन-मुत्पाद· मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

अपनी जातिको न छोडते हुए चेतन और अचेतन द्रव्यका उभय निमित्तके वशसे भावान्तरको प्राप्त करनेका नाम उत्पाद है, जैसे मिट्टीके पिण्डकी घट पर्याय।

तत्त्वार्थवार्तिकमें इसी प्रसगसे उत्पादका यही अर्थ किया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसी प्रसगसे उत्पादका लक्षण निबद्ध करते हुए लिखा है—

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः।

अपनी जातिका त्याग किये बिना भावान्तरकी अवाप्तिका नाम उत्पाद है।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणोंसे विदित होता है कि उत्पादमे केवल परिणमन क्रियाका ग्रहण न होकर जिस समय जिस परिणामरूप द्रव्य परिणमता है वह परिणाम भी गृहीत है।

अतएव अपर पक्षका यह कहना तो बनता नही कि प्रत्येक वस्तु मात्र स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव-वाली है, उसमें किस समय क्या परिणाम उत्पन्न हो यह बाह्य सामग्रीपर अवलम्बित है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिविशिष्ट अन्त सामग्री अन्त विशेषण है और प्रतिविशिष्ट बाह्य-सामग्री बाह्य-विशेषण है, इसलिए जिस समय अन्त·बाह्य जैसी सामग्रीका योग होता है (जो प्रति समय नियमसे होता ही है) उसके अनुरूप परिणामको उत्पन्न करना यह प्रत्येक द्रव्यका स्वत-सिद्ध स्वभाव है। इसके लिए अष्टसहस्री पृ० १५० पर दृष्टिपात कीजिए। प्रमाण पूर्वमें ही लिपिबद्ध कर आये हैं। वस्तुत यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है यह व्यवहार नयका ही वक्तव्य है। पर्यायार्थिक

नयसे तो जो पर्याय जिस कालमें उत्पन्न होती है वही उसका कार्य है और वही उसका कारण है। देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३३। यथा—

पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्, अतीतानागतयो विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। स एवैक कार्यकारणव्यपदेशभगिति पर्यायार्थिक ।

पर्याय ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन है जिसका, द्रव्य नही, क्योकि अतीत और अनागत पर्यायें विनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे उनका व्यवहार नही बनता। वही एक पर्याय कार्यकारण व्यपदेशको प्राप्त है ऐसा जिसका मत है वह पर्य्यार्थिक नय है।

अतएव अपर पक्षको अपने मतका आग्रह छोडकर प्रकृतमें यही निर्णय करना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर अपने प्रतिनियत कायको ही करता है और प्रतिनियत वाह्य सामग्री उसमें नियमसे निमित्त होती है। इसमें किसी समय भी खण्ड पडना सम्भव नही।

यहांपर अपर पक्षने उपादान और निमित्त शब्दका निरुक्त्यर्थ लिखकर अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है। किन्तु आगममे निमित्त शब्द कारणके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—**उभयनिमित्तवशात्**। सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३०। इस वचन द्वारा जैसे वाह्य सामग्रीमें निमित्त शब्दका प्रयोग हुआ है उसी प्रकार प्रतिविशिष्ट अन्त सामग्रीके अर्थमे भी शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक अ० ५ सू० ७ में भी '**निमित्त**' शब्द दोनो प्रकारकी सामग्रीके अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। यथा—**उभयनिमित्तापेक्ष** (पृ० ३६७), **उभयनिमित्तापेक्षत्वात्** (पृ० ३९८)। अतएव केवल निरुक्तिके वलपर वाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको यथाथ कारणके रूपमें ग्रहण करना उचित नही है। प्रकृतमें अपर पक्षको विचार इस वातका करना चाहिए कि आगममें जो उपादानको निमित्त कहा है वह किस अपेक्षासे कहा है और बाह्य सामग्रीमें जो निमित्त व्यवहार किया है वह किस अपेक्षासे किया है। तत्त्वनिर्णयका यह यथार्थ मार्ग है। यदि अपर पक्ष इस मागसे तत्त्वका निर्णय करे तो उसे वाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको उपचरित या असद्भूत माननेमें आपत्ति ही न हो। फिर भी यदि अपर पक्ष '**निमित्त**' शब्दके निरुक्त्यर्थके आधारसे ही प्रकृत विषयको ग्रहण करना चाहता है तो उसे इसके लिए उपादानपर ही दृष्टिपात करना चाहिए। वह प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक परिणमनका मित्र या तेलके समान वास्तवमें स्नेहन करता ही है और उसके साथ एक कालप्रत्यासत्ति होनेसे बाह्य सामग्री भी उपचारसे उस सज्ञाको धारण करती है। इससे प्रत्येक कार्यमें उपादानका क्या स्थान है और वाह्य सामग्रीका क्या स्थान है इसका निर्णय हो जाता है। फिर भी यदि अपर पक्ष असद्भूत व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको कार्यके प्रति मददगार, सहकारी या उपकारी आदि कहना चाहता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नही, क्योकि आगममें भी इसी अभिप्रायसे बाह्य सामग्री-को उक्त शब्दो द्वारा प्रतिपादित किया ही है।

आगे अपर पक्षने पण्डितप्रवर बनारसीदासजीके '**पदस्वभाव**' इत्यादि दोहेको उद्धृत कर और उसके विषयका गोम्मटसार कर्मकाण्डमें प्रतिपादित (काल आदि) विषयके साथ मिलान करते हुए अन्तमें लिखा है कि 'परन्तु जब आप द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या सभी कार्य स्वकाल के प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इन सिद्धान्तोंके माननेवाले हैं तो कार्योत्पत्तिमें फिर इन पाँचके समवायकी आपकी दृष्टिमें क्या आवश्यकता है ? आदि।

समाधान यह है कि '**यदनन्तर यद्भवति**' सिद्धान्तके अनुसार इन पाँच का प्रत्येक समयमें युगपत् योग होता है और ऐसा योग होनेपर अनन्तर समयमे अपने उपादानके अनुरूप कार्य भी होता है, इसलिए

इन पाँचमें कारणता स्वीकार की गई है। उदाहरणार्थ जब कुशूल पर्याययुक्त मिट्टीसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है तब उसमे मिट्टीका अन्वय रहता ही है, परन्तु मिट्टी जब भी घट बनेगी अपनी कुशूल पर्यायके बाद ही बनेगी। इससे पुरवा, रकावी आदि अन्य अन्य पर्यायोकी उत्पत्ति त्रिकालमें नही हो सकती, इसलिए कुशूल पर्यायमें घटकी कारणता स्वीकार की गई है। कुशूलसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होते समय मिट्टी स्वयं परिवर्तित होकर घट बनेगी, इसलिए वीर्य या पुरुषार्थमें कारणता स्वीकार की गई है। मिट्टी कुशूल पर्यायसे घट पर्यायको उत्पन्न करते समय प्रतिनियत क्रियायुक्त कुम्भकार आदिको निमित्तकर ही घट पर्यायको उत्पन्न करती है, इसलिए प्रतिनियत क्रियायुक्त कुम्भकारादिमें कारणता स्वीकार की गई है। तथा मिट्टीसे घट पर्यायकी उत्पत्ति अपने प्रतिनियत कालमें ही होगी, इसलिए प्रतिनियत कालमें कारणता स्वीकार की गई है। इस प्रकार उक्त पाँचके समवायमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उक्त पाँचोमे कारणता स्वीकार की गई है। जैसे अपर पक्ष यह मानता है कि अपने स्वभावके अनुरूप ही उपादान होता है वैसे इसे यह भो स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रतिनियत कार्यके लिए इन पाँचका योग प्रतिनियत कालमें ही होता है, अन्यथा कोई भी द्रव्य परिणामस्वभावी नही बन सकता।

महापुराण पर्व ९ में वर्णित वज्रजंघ आर्यकी कथासे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। वज्रजघ आर्यको दो चारणऋद्धिधारी मुनियोको आता हुआ देखकर जातिस्मरण होता है और वह स्नेहसे प्लावित चित्त होकर पूँछता है। ज्येष्ठ मुनि सबोधित कर उसे समझाते हुए अन्तमें कहते हैं कि हे आर्य! इस समय सम्यक्त्वको ग्रहण कर, उसके ग्रहण करनेका ही यह काल है, क्योकि काललब्धि के बिना इस ससारमें जीवोको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नही होती है ॥११५॥ देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरग कारण सम्पदा तथा कारणलब्धिरूप अन्तरग कारणसामग्रीके होनेपर भव्य आत्मा विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है ॥११६॥

यह महापुराणका उल्लेख है। इसमें **'भव्यात्मा'** पद द्वारा स्वभावको सूचित किया गया है, **'करणलब्धि'** पद द्वारा निश्चय या समर्थ उपादानको सूचित किया गया है। यह सम्यग्दर्शनके ग्रहण करनेका ही काल है और **'काललब्धि'** पदो द्वारा प्रतिनियत कालको सूचित किया गया है। **'देशनालब्धि'** पद द्वारा अन्य बाह्य सामग्रीको सूचित किया जाता है। तथा **'गृहाण'** पद द्वारा पुरुषार्थको सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति स्वभाव आदि पाँचोका समवाय होनेपर ही होती है और यत प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करता ही है, अत प्रत्येक समयमें पाँचोका समवाय होता रहता है यह भी इससे सिद्ध होता है। महापुराण पर्व ९ का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

तद् गृहाणाद्य सम्यक्त्व तल्लाभे काल एव ते।
काललब्ध्या बिना नार्य! तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम् ॥११५॥
देशना-काललब्ध्यादिबाह्यकारणसम्पदि।
अन्तःकरणसामग्र्या भव्यात्मा स्यात् विशुद्धकृत् [दृक्] ॥११६॥

हमें भरोसा है कि उक्त विवेचनसे अपर पक्षके समक्षमें यह बात अच्छी तरहसे आ जायगी कि 'पाँचोंके समवायमें प्रत्येक कार्य होता है' इस सिद्धान्तका 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' इस सिद्धान्तके साथ तथा 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इस सिद्धान्तके साथ

किसी प्रकारका विरोध न होकर अविरोध ही है। जहाँ 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर होते हैं' यह कहा जाता है वहाँ अन्य चार कारणोकी गौणता होकर कार्यकालकी मुख्यता रहती है और जहाँ 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' यह कहा जाता है वहाँ अन्य कारणोकी गौणता होकर समर्थ या निश्चय उपादानकी मुख्यता रहती है। अथवा 'प्रत्येक समयमें प्रतिनियत पाँचोंका समवाय नियमसे होता है और तदनुसार प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति होती है' इस व्यवस्थाके अनुसार भी यह कहा जाता है कि 'द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं।' अपर पक्षको यह दृष्टिपथमें लेना चाहिए कि जिस प्रकार पक्तिबद्ध किसी सेनाके सैनिक चलते समय क्रमभंग किये बिना अपने पग उठाते और धरते हैं, अतएव उनके पग नियत क्रमसे ही उठाये जाते और रखे जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अनादि कालसे नियत क्रमसे ही परिवर्तन करता हुआ आ रहा है। कही किसी द्रव्यके कभी किसी परिवर्तनमें किसी प्रकारका क्रमभग नही हुआ, अत उनका प्रत्येक समयमें प्रतिनियत ही योग मिलता है और उससे प्रतिनियत ही कार्य होता है। अनादिकालसे अब तक एक द्रव्यके जितने परिणाम हुए उतने ही दूसरे द्रव्यके हुए। ऐसी अवस्थामें सभी कार्यक्रम नियत ही होते हैं, अन्य प्रकारसे नही हो सकते ऐसा निर्णय यहाँ करना चाहिये।

अपर पक्ष यदि इस कार्य-कारणभावकी प्रतिनियत व्यवस्थाको गोरखधन्धा समझता है तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नही दिखलाई देता, क्योकि वह सभी तथ्योंका निर्णय अपने श्रुतज्ञानके द्वारा ही करना चाहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में आचार्य प्रभाचन्द्र तो यह लिखते हैं—

तत्रापि हि कारण कार्येणानुपक्रियमाण यावत् प्रतिनियत कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्य कारणका उपकार तो करता नही, अत वह प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है तो सबको क्यो नही उत्पन्न करता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्रने **अलध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं** (स्व० स्तो०) इत्यादि कारिकाद्वारा प्रत्येक कार्यके प्रति प्रतिनियत भवितव्यताको ही स्वीकार किया है।

और अपर पक्ष इन सब तथ्योका उल्लघनकर तथा अपने श्रुतज्ञानके बलपर प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला बतलाकर बाह्य सामग्रीमें समर्थ यथार्थ कारणता स्वीकार करता हुआ भी उसे गोरखधन्धा नहीं समझता इसका हमें आश्चर्य है।

उपचरित कारण कौन और अनुपचरित कारण कौन ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि बाह्य सामग्री अपनेसे भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक कारण तो नही, फिर भी उसमें कारणता स्वीकार की गई है, इसलिए तो उसे उपचरित कारण समझना चाहिए और अन्तरग सामग्री स्वय कारण होकर अपनेसे अभिन्न कार्यको उत्पन्न करती है, इसलिए उसे अनुपचरित कारण जानना चाहिए। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस आधारपर स्वभाव आदि पाँचमेंसे कौन उपचरित कारण है और कौन अनुपचरित कारण है इसका निर्णय कर लेगा।

निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इनके विषयका स्पष्ट खुलासा प्रतिशंका ६ में आगे करनेवाले ही हैं। फिर भी समयसार गाथा २७२ की आत्मख्याति टीकाके आधारपर प्रकृतमें इतना स्पष्टीकरण कर देना पर्याप्त है कि निश्चयनय स्वके आश्रित है और असद्भूत व्यवहारनय परके आश्रित है। तथा निश्चयनयके

विषयमें भेद विवक्षा होनेपर वही (विकल्प) सद्भूत व्यवहारनय हो जाता है। असद्भूत व्यवहारनयका विषय उपचरित क्यो है और निश्चयनयका विषय अनुपचरित क्यो है यह उक्त विवेचनसे अपर पक्षकी समझमें अच्छी तरहसे आ जायगा ।

हमने अपने पिछले विवेचनमें यह लिखा था कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रम नियत होता है, अनियत क्रमसे नही होता। ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' किन्तु अपर पक्षने इसपर टिप्पणी करते हुए हमारा ध्यान समयसारकी आत्मख्याति टीकामें निर्दिष्ट अनेकान्तके लक्षणकी ओर आकृष्ट किया है और साथ ही हमारे द्वारा निर्दिष्ट की गई उक्त व्यवस्था पर आश्चर्य और दु ख भी प्रगट किया है।

इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि उक्त कथनमें हमने जो कुछ लिखा है वह जिनागमको लक्ष्यमें रख कर ही लिखा है। इस प्रसगमें हमें अपर पक्षने जैन सस्कृतिका योग्यतम विद्वान् सूचित किया है, उसके लिए तो हम उस पक्षके आभारी हैं। किन्तु साथ ही यह भी सकेत कर देना चाहते हैं कि यदि अपर पक्षका पूरे जिनागम पर ध्यान गया होता तो उसे हमारे उक्त कथन पर न तो आश्चर्य ही होता और न ही दु ख प्रकट करनेका उसे अवसर आता, क्योकि जिनागममें जहाँ (अनेकान्तको वस्तुका स्वरूप स्वीकार करते हुए) एक ही वस्तुमें उसके वस्तुत्वका प्रकाशन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्तिद्वयका प्रकाशन अनेकान्त स्वीकार किया गया है वहाँ दूसरे प्रकारके विरोधके परिहारमें भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके लिए तत्त्वार्थ-वार्तिक अ० १ सू० ५ पर दृष्टिपात कीजिए—

शकाकार विरोध होनेसे नामादि चारका अभाव करता है। उसका कहना है कि एक शब्दार्थके नामादि चार विरुद्ध हैं। यथा—जो नाम है वह नाम ही है, स्थापना नही हो सकता। यदि स्थापनाको नाम कहते हो तो वह नाम नही होगा। यदि कहो कि तो वह स्थापना रहा आवे तो शकाकार कहता है कि वह स्थापना नही हो सकता, क्योकि वह नाम है। अतएव नामार्थ विरोध होनेसे स्थापना नही हो सकता ?

यह एक शका है। भट्टाकलकदेवने इस शकाका कई प्रकारसे समाधान किया है। उनमेंसे एक समाधान अनेकान्तका आश्रय लेकर किया गया है। उनका वह समग्र वचन इस प्रकार है—

अनेकान्ताच्च ॥२२॥ नैतदेकान्तेन प्रतिजानीमहे—नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च। कथम् ?

मनुष्यब्राह्मणवत् ॥२३॥ यथा ब्राह्मण स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात्। मनुष्यस्तु ब्राह्मण· स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्। तथा स्थापना स्यान्नाम, अकृतनाम्न· स्थापनानुपपत्ते·, नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्।

और अनेकान्त है ॥२२॥ यह हम एकान्तसे नही स्वीकार करते कि नाम ही स्थापना है अथवा नही है, अथवा स्थापना नाम है या नही है। कैसे ?

मनुष्य-ब्राह्मणके समान ॥२३॥ जिस प्रकार ब्राह्मण कथंचित् मनुष्य जातिस्वरूप होता है। परन्तु मनुष्य ब्राह्मण है, नही भी है, क्योकि मनुष्य ब्राह्मण जाति आदि पर्यायस्वरूप नही भी देखा जाता है। वैसे ही स्थापना कथचित् नाम है, क्योकि अकृत नामवालेकी स्थापना नही बन सकती। परन्तु नाम स्थापना है और नहीं भी है, क्योकि दोनों प्रकारसे व्यवहार देखा जाता है।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि नाम और स्थापना ये दोनों व्यवहार हैं, वस्तुस्वरूप नही। फिर भी एक वस्तुमें इन दोनोके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारमे आनेवाले विरोधका परिहार जैसे अनेकान्तका अवलम्बन लेकर किया गया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा स्वभाव, समर्थ उपादान और पुरुषार्थका समवाय है वहाँ निश्चयनयके विषयका अविनाभावी प्रतिनियत-काल और वह बाह्य सामग्री भी है जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, अतएव इस अपेक्षासे हमारा यह कहना सर्वथा योग्य है कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रमनियत होता है, अनियत क्रमसे नही होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' इसी तथ्यको पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने इन शब्दोमें स्वीकार किया है—

पदस्वभाव पूरव-उदय निहचे उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यातपथ सरवगी शिवचाल॥

प्रत्येक द्रव्यमें ऐसी स्वाभाविक योग्यता है कि किसके बाद वह किसरूप परिणमे। उसमें ऐसी योग्यता नही है कि वह अपने एक परिणामके बाद दूसरे समयमे परणमनेरूप अनेक योग्यतावाली होकर सर्वथा भिन्न पर वस्तु द्वारा उनमेंसे किसी एकरूप परिणमे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें क्रमनियत अपनी योग्यता और तद्रूप परिणामकी अपेक्षा अस्ति है और परके द्वारा अनेक योग्यताओमेसे किसी एकरूप परिणमे इसकी सर्वथा नास्ति है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ अनेकान्त भी प्रत्येक द्रव्यमे घटित हो जाता है। अतएव अपर पक्षने जो हमारे उक्त कथनको ध्यानमें रखकर विरोध प्रदर्शित किया है वह उचित नही है, ऐसा मथितार्थ भी प्रकृतमें जानना चाहिए। आशा है कि उक्त कथनसे प्रत्येक वस्तुमे अनेकान्तता कैसे घटित होती है यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा।

पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने आत्माको ध्यानमें रखकर यद्यपि 'पदस्वभाव' इत्यादि पद लिखा है, परन्तु लोकमें जितने भी कार्य होते है उन सबमें स्वभाव, निमित्तभूत बाह्य-सामग्री, निश्चय या समर्थ उपादान, अपनी-अपनी सामर्थ्य और प्रतिनियत काल इन पाँचका समवाय आगममें बतलाया है, तदनुसार प्रतीतिमें भी आता है। एकमात्र इसी आधारपर हमने उक्त दोहेमे प्रतिपादित विषयको वस्तु-सामान्यके कार्य-कारणभावका अग बनाकर कथन किया है। यदि अपर पक्ष उक्त दोहेके विषयको सर्वत्र लागू नही करना चाहता तो न करे। परन्तु इस तथ्यको तो उसे स्वीकार करना ही पडेगा कि प्रत्येक कार्य इन पाँचके समवायमे होता है।

एक बात तो यह हुई। दूसरी बात यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर आदि एकान्तोका कथन क्रियावादियोंके प्रसंगसे आया है तथा ईश्वर निमित्तभूत बाह्य-सामग्रीका प्रतिनिधि है और आत्मा पद द्वारा द्रव्यकी स्वशक्तिका भान होता है। यही कारण है कि हमने अपने कथनमें उक्त प्रकारसे सगति बिठलाई है जो कार्य-कारणभावको देखते हुए उचित ही है।

अपर पक्षने 'निहचे अभेद अग' इत्यादि पदको उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि यहाँ कार्य-कारणभावका प्रसग नही है किन्तु ऐसी बात नही है। यदि अपर पक्ष उक्त पद्यके अर्थपर सूक्ष्मतासे ध्यान दे तो उसमें उसे कार्य-कारणभावके दर्शन हो जावेंगे। 'उदै गुनकी तरग' पदद्वारा कर्मोदयमें होने-वाली ज्ञानादि गुणोंकी पर्यायोंकी सूचना मिलती है तथा 'कालकी सी ढाल परिनाम चक्रगति है।' पद द्वारा जो जीवके परिणामोकी चक्रगति चल रही है उसमें प्रतिनियत काल निमित्त है यह ज्ञान हुए बिना नहीं

रहता। स्पष्ट है कि '**पवस्वभाव**' इत्यादि पद्यद्वारा 'इस जीवमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि कैसे होती है' इसी तथ्य की पुष्टि की गई है।

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें प्रतिपादित पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद और लोकवाद इन चार एकान्तोकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रने जिन ३६३ मतोका कथन किया है उनसे बहिर्भूत होकर भी ये एकान्त क्रियावादियोंके ही मत हैं। हम समझते हैं कि इस तथ्यको स्वीकार करनेमें अपर पक्षको कोई विवाद न होगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने ईश्वर और आत्माको उपलक्षण मानकर ईश्वरके स्थानमें निमित्तभूत बाह्य-सामग्री और आत्माके स्थानपर पुरुषार्थका निर्देश किया है तो यह उचित ही किया है। **इससे बाह्य-सामग्रीके बलपर कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले और पुरुषार्थके बलपर प्रतिनियत समयसे आगे-पीछे कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले एकान्तवादियोंका निरसन हो जाता है।**

अपर पक्षने गोम्मटसार कर्मकाण्डके अनुसार एकान्त कालवाद आदिका निर्देश करनेके बाद जो यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'आपके अभिप्रायका समर्थन इन गाथाओंसे कदापि नही होता।' सो इस सम्बन्ध में विशेष न लिखकर मात्र इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनका क्या अभिप्राय है इसकी विस्तृत चर्चा हम स्वय इसी उत्तरमें पहले कर आये हैं। उससे यह बात अपर पक्षकी समझमें अच्छी तरहसे आ गई होगी कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त उल्लेखका वही आशय जो हमने लिया है।

सब कार्योंके जितने कारण हैं उन सबका वर्गीकरण द्वारा स्वभाव आदि पाँचमें समावेश हो जाना है, इसलिए '**जावदिया वयणवहा**' इस गाथा द्वारा परसमयोका निर्देश होनेपर भी सब कार्योंके सब कारणोको पाँच प्रकारका माननेमें कोई बाधा नही आती। जिसका इन पाँचमें समावेश नही हो सकता ऐसे कारणका निर्देश अपर पक्षने किया भी नही हैं। अतएव प्रत्येक कार्यके कारण पाँच ही प्रकारके हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जबकि जैनदर्शन यह स्वीकार करता है कि 'जितने वचनपथ हैं उतने नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने परसमय हैं और साथ ही जबकि वह यह भी स्वीकार करता है कि पर समयोंके वचन '**सर्वथा**' वचनसे युक्त होनेके कारण नियमसे मिथ्या है '**कथंचित्**' वचनसे युक्त होनेके कारण जैनोंके वचन समीचीन हैं।' ऐसी अवस्थामें इससे यही फलित होता है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनमें आचार्यश्री नेमिचन्द्रकी यही दृष्टि रही है कि काल आदि एक एक के आश्रयसे कार्योंकी उत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और स्वभाव, प्रतिनियत बाह्य सामग्री, निश्चय उपादान, पुरुषार्थ (बल) तथा प्रतिनियत कालके समवायसे कार्यों को उत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्वमें हो कर आये हैं।

१८० प्रकारके क्रियावादियोमें यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्रने ईश्वरवाद और आत्मवादको भी प्रमुखता दी है यह सच है। किन्तु इन दर्शनोंका प्राबल्य देखकर ही इन्हें प्रमुखता दी गई है। पर जैनदर्शनके अनुसार ईश्वरवादका अर्थ निमित्तवाद और आत्मवादका अर्थ पुरुषार्थवाद करनेपर पूरी सगति बैठ जाती है। अन्यथा उनका यह कथन नही बनता कि 'जितने परसमयके वचन हैं वे '**सर्वथा**' पदसे युक्त होनेके कारण मिथ्या हैं और जैनोंके वचन '**कथंचित्**' पदसे युक्त होनेके कारण समोचीन है।' उनका गोम्मटसार कर्मकाण्डका वह वचन इस प्रकार है—

परसमयाण वयण मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाण पुण वयणं सम्म खु कहंचिवयणादो ॥८९५॥

अर्थ पूर्वमें ही दिया है।

इससे खीचातानी नही की गई है, किन्तु आगमका आशय ही स्पष्ट किया गया है यह स्पष्ट हो जाता है।

आगे अपर पक्षने स्वभाव, निमित्तभूत बाह्य सामग्री, नियति (निश्चय उपादान), पुरुषार्थ और प्रतिनियत काल इन पाँच को स्वीकार करके भी उनका सम्बन्ध 'परस्वभाव' इत्यादि दोहे और गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनसे नही जोडना चाहा सो यह अपर पक्षकी मर्जी है कि वह इन पाँचके साथ उनका सम्बन्ध जोडे या न जोडे, परन्तु हमें इसमें प्रत्यवाय (विरुद्धता) नही दिखलाई देता। विशेष खुलासा पूर्व में ही किया है।

आगे अपर पक्षने स्वभाव आदि पाँचको कारणरूपसे स्वीकार करके भी उनका जो अर्थ किया है वह क्यो ठीक नही है इसे समझनेके लिए **पं० श्री कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसीके** इस कथनपर दृष्टिपात कीजिए। यह कथन उन्होने वीर सं० २४८६ में श्री परम श्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ गाथाओ पर लिखे गये भावार्थके रूपमें लिपिबद्ध किया है, जो इस प्रकार है—

'सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। जिस समय जिस क्षेत्रमे जिस वस्तुकी जो पर्याय होनेवाली है वही होती है उसे कोई नही टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अवस्थाओंको जानते हैं। किन्तु उनके जान लेनेसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नही हुआ, बल्कि नियत होनेसे ही उन्होंने उन्हें उस रूपमे जाना है। जैसे, सर्वज्ञदेवने हमे बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्यमे प्रति समय पूर्व पर्याय नष्ट होती है और उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। अत. पूर्व पर्याय उत्तर पर्यायका उपादान कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य है। इसलिये पूर्व पर्यायसे जो चाहे उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो मिट्टीके पिण्ड मे स्थास कोस पर्यायके बिना भी घट पर्याय बन जायेगी। अतः यह मानना पडता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भयसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं किन्तु कालको नियत नही मानते। उनका कहना है कि पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है किन्तु काल नियत नही है, कालको नियत माननेसे पौरुष व्यर्थ हो जायेगा। किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्त विरुद्ध है, क्योकि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नही हो सकता। यदि कालको अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीज ही नही रहेगी। फिर तो ससार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्तन-से अधिक शेष रहनेपर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और बिना उस काल को पूरा किये ही मुक्ति हो जायगी। किन्तु यह सब बातें आगमविरुद्ध हैं। अतः कालको भी मानना ही पडता है। रही पौरुषकी व्यर्थताकी आशका, सो समयसे पहले किसी कामको पूरा कर लेनेसे ही पौरुषकी सार्थकता नही होती। किन्तु समयपर कामका हो जाना ही पौरुषकी सार्थकताका सूचक है। उदाहरणके लिये, किसान योग्य समयपर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है। तभी समयपर पक कर गेहूँ तैयार होता है। तो क्या किसानका पौरुष व्यर्थ कहलायेगा ? यदि वह पौरुष न करता तो समयपर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अत. कालकी नियतताम़े पौरुषके व्यर्थ

होने की आशका निर्मूल है। अत. जिस समय जिस द्रव्यकी जो पर्याय होती है वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्तिमे हर्ष और विपत्तिमे विषाद नही करता, और न सम्पत्ति की प्राप्ति तथा विपत्तिको दूर करनेके लिए देवी-देवताओंके आगे गिडगिड़ाता फिरता है ॥३२१-३२२॥

यह श्री प० कैलाशचन्दजी के शब्दोंमे आगमका सार है।

इस प्रकार अपर पक्षके तृतीय दौरकी प्रतिशकापर विस्तारके साथ विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे त्रिकालमे नही होती।

●

ॐ श्रीतत्त्वदर्शिभ्यो नमः

मंगलाचरण

नमस्कृत्य जिनान् सर्वान् पूर्वक्रमसमागता।
खानियातत्त्वचर्चाया. समीक्षा क्रियतेऽग्रत.॥

१—प्रश्नोत्तर पाँचकी सामान्य-समीक्षा

प्राग्वृत्त—

प्रश्नोत्तर पाँच की सामान्य-समीक्षा के आरम्भमें यह सकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इसमें जो लिखा जायेगा उसे मैं—"पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी" शीर्षकसे एक लघु पुस्तिकाके रूप में प्रकाशित[1] कर चुका हूँ। उसमें पूर्वपक्षको पुरातनसिद्धान्तवादी वर्ग और उत्तरपक्षको सोनगढ़ सिद्धान्तवादी वर्ग कहा गया है। परन्तु यहाँ अन्य प्रश्नोत्तरोकी समीक्षा के समान उन्हे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष ही कहा है। विषयका प्रतिपादन दोनोंमें कुछ भाषा-परिवर्तन होनेपर भी समान है।

पूर्वपक्षका प्रश्न—द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है या अनियक्रमसे भी ?
त० च०, पृ० १५८।

उत्तरपक्षका उत्तर—द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं। त० च०, पृ० १५८।

समीक्षा

पर्यायोका विवरण :

१ प्रवचनसार के दूसरे ज्ञेयतत्त्वाधिकारकी[2] गाथा १ में बतलाया है कि विश्वमे एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ हैं उन्हें द्रव्य कहते है। प्रत्येक द्रव्यमें स्वत सिद्ध अनन्त गुण हैं। तथा प्रत्येक द्रव्यमें द्रव्य-पर्यायें व प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक गुणमें गुणपर्यायें होती है। तत्त्वार्थसूत्रके "गुणपर्ययवद्द्रव्य" (५-३८) सूत्रका भी यही अभिप्राय है।

२ तत्त्वार्थसूत्रके "सद्द्रव्यलक्षणम्" (५-२९) सूत्रमें द्रव्यका लक्षण "सत्" कहा है तथा द्रव्यका स्वत -सिद्ध स्वभाव होनेसे गुण भी "सत्" कहलाता है। प्रत्येक द्रव्यमे व प्रत्येक द्रव्यके गुणमे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप से परिणमन होता रहता है। द्रव्य और गुणकी स्व-स्व उत्तरपर्यायके विकासको उत्पाद और पूर्वपर्यायके विनाशको व्यय कहते हैं। द्रव्यो और गुणोमें ये उत्पाद और व्यय दोनो उनकी द्रव्यरूपता और गुणरूपताको सुरक्षित रखकर ही होते हैं। अत द्रव्य और गुणमें ध्रौव्यरूपता भी सतत बनी रहती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" (५-३०) सूत्रमे सत्का लक्षण ऐसा ही निर्धारित किया गया है।

---

१ वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, १९८४ ई०।

२ अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहि पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥ १॥

पर्यायोंकी द्विरूपता

सभी द्रव्यपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती हैं तथा सभी गुणपर्यायोंमेंसे षट्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायें स्वप्रत्यय और इनके अतिरिक्त शेष गुणपर्यायें स्व-परप्रत्यय ही होती हैं। जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीकी सहायतापूर्वक उपादानकारणजन्य हो उसे स्व-परप्रत्यय और जो पर्याय निमित्तकारणभूत बाह्य-सामग्रीकी सहायताके बिना उपादानकारणजन्य हो उसे स्वप्रत्यय कहते हैं। पर्यायका-विभाजन कालद्रव्यकी अखण्ड पर्यायभूत समयसापेक्ष होनेसे द्रव्य और गुणकी प्रत्येक पर्याय समयवर्ती मानी गई है।

उभय पर्यायोंकी आगम द्वारा पुष्टि :

तत्त्वार्थसूत्रके "निष्क्रियाणि च" (५-७) सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें व नियमसारकी गाथा १४ के उत्तरार्द्धमें पर्यायोके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्पष्ट स्वीकार किये गये हैं।

पर्यायोकी उत्पत्तिमे नियतक्रमता और अनियतक्रमताका निर्णय :

यत स्वप्रत्ययपर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अत वह नियतक्रम से ही होती है और स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है, अत वह निमित्तोंके समागमके अनुसार नियत क्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी अन्य आगमवचनो द्वारा पुष्टि :

समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति टीकामें "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव , एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्य-मानोऽजीव एव न जीव " यह कथन पाया जाता है। इस कथनमें विद्यमान "जीव एव नाजीव" और "अजीव एव न जीव" इन दोनो अंशोंसे ज्ञात होता है कि जीवकी पर्यायें अजीवकी सहायतापूर्वक और अजीवकी पर्यायें जीवकी सहायतापूर्वक उत्पन्न होती हैं। यदि ऐसा न माना जावे, तो उक्त कथनके ये दोनो अंश निरर्थक हो जायेंगे, क्योकि जीवको अजीवरूप और अजीवको जीवरूप माननेका प्रसग तभी उपस्थित होता है जब जीवकी पर्यायोका अजीवके साथ और अजीवकी पर्यायोका जीवके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणसम्बन्ध माना जावे। समयसार-कलश १९५ में स्पष्ट कहा गया है कि जीवका प्रकृतियोंके साथ जो बन्ध होता है वह जीवके अज्ञानभावका ही माहात्म्य है। समयसारकी गाथा ३१२-१३ में तो और भी स्पष्ट लिखा है कि जीव प्रकृतिके निमित्त (सहयोग) से उत्पन्न और विनष्ट होता है व प्रकृति जीवके निमित्त (सहयोग)से उत्पन्न और विनष्ट होती है। समयसारकी गाथा ८०, ९१ और १०५ तथा प्रवचन-सारके ज्ञेयाधिकारकी गाथा ७७ से भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंका स्पष्ट समर्थन होता है।

इसके अलावा जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षा (भाग-१) के अन्तर्गत प्रश्नोत्तर-१ की समीक्षामें मैंने तर्क और आगम प्रमाणोंके आधारसे निमित्तोंके प्रेरक और उदासीन (अप्रेरक) दो भेद बतलाकर उनके लक्षण इस रूप में निर्धारित किये हैं कि प्रेरक निमित्त वे हैं जिनके साथ उपादानके कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हों तथा उदासीन निमित्त वे हैं जिनकी उसी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ हो। इन लक्षणोंके अनुसार वहीपर मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रेरकनिमित्तोंके बलसे कार्य आगे-पीछे भी किया जा सकता हैं तथा अनुकूल उदासीन निमित्तोंका भी यदि उपादानको सहयोग प्राप्त न हो तो उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परिणति नही होती है। इससे भी निर्णीत होता है कि निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर ही स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण उदाहरणों द्वारा किया जाता है—

१. पठनकी योग्यताविशिष्ट शिष्यकी पठनक्रिया प्रेरकनिमित्तकारणभूत अध्यापककी सहायतासे होती है, उसकी सहायताके बिना नहीं होती। तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत प्रकाशका अभाव हो तो न अध्यापक पढ़ा सकता है और न शिष्य पढ़ सकता है। इसी प्रकार चलनेकी योग्यताविशिष्ट रेलगाड़ी प्रेरकनिमित्तकारणभूत इंजनके चलनेपर ही चलती है, उसके अभावमें नहीं चलती, तथा वहाँ यदि उदासीन निमित्तकारणभूत रेलपटरीका सहयोग प्राप्त न हो तो न इंजन चल सकता है और न रेलगाड़ी चल सकती है। इस विवेचनके अनुसार स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनों ही प्रकार की व्यवस्था निश्चित होती है।

२ प्रेरक निमित्तकारणभूत कुम्भकार अन्य प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोंकी सहायतापूर्वक घटरूप परिणत होनेकी योग्यता विशिष्ट मिट्टीसे क्रमशः स्थास, कोश और कुशल पर्यायोंकी उत्पत्तिपूर्वक ही संकल्पित घटको उत्पन्न करता है, तथा आवश्यक होनेपर वह कुम्भकार उसी मिट्टीसे विवक्षित सकोरा आदिको भी उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं, यदि दण्डका आघात आदि कारण मिल जायें तो चालू कार्यके विनाश आदि कार्य भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह क्रोधकर्मका उदय रहते क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप परिणत होनेकी योग्यताविशिष्ट जीवकी क्रोधपर्याय होते-होते यदि मान, माया या लोभ कर्मका उदय हो जावे तो क्रोध पर्याय रुककर उस जीवकी यथायोग्य मान, माया या लोभ पर्याय होने लगती है। इस विवेचनके अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियत-क्रमता दोनों ही प्रकारकी व्यवस्था निर्णीत होती है।

३ पकनेकी योग्यताविशिष्ट आम्रफलका पाक ऋतुके अनुसार समयपर होनेका नियम है। परन्तु उस आम्रफलको यदि कृत्रिम ऊष्माका योग मिल जावे तो वह असमयमें भी पक जाता है। इसी प्रकार मरणकी योग्यताविशिष्ट संसारी जीवका मरण आयुकर्मके स्थितिबन्धके अनुसार आयुकी समाप्ति पर होना निश्चित है। परन्तु यदि विषपान आदिका योग मिल जावे तो जीव असमयमें भी मरणको प्राप्त हो जाता है। इस विवेचन-के अनुसार भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनों ही प्रकारकी व्यवस्था सिद्ध होती है।

यहाँ 'असमय' शब्दका अर्थ नियतसमयसे भिन्न अनियतसमय ही ग्रहण करना युक्त है, समयसे भिन्न अन्य निमित्तकारणभूत पदार्थ ग्रहण करना युक्त नहीं है—जैसा कि उत्तरपक्ष मानता है। इतना अवश्य है कि जिस पर्यायकी उत्पत्ति उस अनियतसमयमें होती है वह अनुकूल निमित्तकारणसापेक्ष ही होती है।

उत्तरपक्षकी दृष्टिसे स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था :

१. समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८ से ३११ तककी गाथाओंकी आत्मख्याति-टीकाके पूर्वोक्त कथनके अंगभूत दोनों "क्रमनियमितात्मपरिणामैः" पदोंमें विद्यमान "क्रमनियमित" शब्दका डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्लने अपनी "क्रमबद्धपर्याय" पुस्तक, पृष्ठ ३२३ पर यह स्पष्टीकरण किया है कि "क्रम-नियमितका अर्थ क्रम अर्थात् क्रमसे (क्रमानुसार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस पर्यायका जो क्रम है वही आयेगी, इसमें फेरफार नहीं हो सकता। उत्तरपक्ष भी यही मानता है। इस प्रकार इस टीका

है कि उत्तरपक्ष आत्मख्याति-टीकाके उक्त क्रमनियमित शब्दके आधारपर प्रत्येक स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिका नियत समय मानकर अपना यह मत निश्चित करता है कि सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नही होती।

२ सम्पूर्ण द्रव्योंकी त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें सर्वज्ञके केवलज्ञानमें प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, अत उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही मानना युक्त हैं, अन्यथा अर्थात् उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे स्वीकार करनेपर प्रत्येक द्रव्यकी त्रैकालिक उन पर्यायोका केवलज्ञानमें प्रतिसमय युगपत् (एकसाथ) क्रमबद्ध प्रतिभासित होना असम्भव हो जायेगा, फलत इस तर्कके आधारसे वह अपना यह मत निश्चित करता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति स्व-प्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे ही होती है, अक्रमबद्ध अर्थात् अनियतक्रमसे नही होती।

निष्कर्ष—

यद्यपि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा[1] व आचार्य रविषेण रचित पद्मपुराणके[2] प्रतिपाद्य विषयको प्रमाण मानता है, तथापि ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ पूर्व पक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें जिस देश और जिस कालमें पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको महत्त्व न देकर उपादानकारणभूत अन्तरंग सामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्त्व देता है, वहाँ उत्तरपक्ष उस स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्त्व न देकर उस देश और उस कालको महत्त्व देता है जिस देश और जिस कालमें वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी।

पूर्वपक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उक्त देश और कालको महत्त्व न देकर जो उपादानकारणभूत अन्तरगसामग्रीके साथ निमित्तकारणभूत बाह्य सामग्रीको महत्त्व देता है। उसमें हेतु यह है कि वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमें उस देश और उस कालको नियामक नही मानता है जिस देश और जिस कालमें उस पर्यायकी उत्पत्ति हुई, हो रही है या होगी। तथा वह पक्ष उस पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरग सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर और निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीको उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर नियामक मानता है। इसके विपरीत उत्तरपक्ष उस स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणभूत अन्तरग सामग्रीको महत्त्व देते हुए भी निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीको महत्त्व न देकर जो उक्त देश और कालको महत्त्व देता है उसमें हेतु यह है कि वह पक्ष उस पर्याय-

---

१ ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियद जम्म वा अह व मरण वा॥ ३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदु इदो वा अह जिणिदो वा॥ ३२२॥

२ प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यदा यत।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्य तेन तत्र तदा तत॥ —प० पु०, सर्ग ११०, श्लोक ४०।

की उत्पत्तिमें उपादानको उस पर्यायरूप परिणत होनेके आधारपर नियामक मानते हुए भी निमित्तकारणभूत सामग्रीको उस पर्यायरूप परिणत न होने और उपादानकी उस पर्यायरूप परिणतिमें सहायक भी न होनेके आधारपर सर्वथा अकिंचित्कर मानते हुए नियामक न मानकर केवलज्ञानमे ज्ञात होनेके आधारपर उस देश और उस कालको ही नियामक मानता है जिस देश और जिस कालमें वह पर्याय उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी। प्रकृतमे दोनो पक्षोके मध्य यही मतभेद है।

तथ्यका निर्णय :

स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनो ही प्रकारकी पर्यायोको उत्पत्तिमे जिस देश और जिस कालमें वे पर्यायें उत्पन्न हुईं, उत्पन्न हो रही है या उत्पन्न होगी उस देश और उस कालको नियामक न माना जाकर स्वप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें मात्र उपादानकारणको व स्व-परप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारणके साथ निमित्तकारणको भी नियामक मानना युक्त है, क्योकि कार्यको उत्पत्तिकी नियामक वही वस्तु हो सकती है जो कार्यरूप परिणत हो या उस कार्यरूप परिणतिमें उसकी सहायक हो। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है उस वस्तुका कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना निर्विवाद है, परन्तु जो वस्तु उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होती है उस वस्तुका भी उस कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाना आवश्यक है, जैसाकि परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थके तृतीय समुद्देशके सूत्र ६३ की प्रमेयरत्नमाला-टीकामें कहा गया है—

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापार-सव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलश प्रति।"

अर्थ—कार्यकारणभावकी सिद्धि अन्वय और व्यतिरेकपर आधारित है। तथा वे (अन्वय और व्यतिरेक) कार्यके प्रति कारणव्यापार सापेक्ष ही सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार घटकार्यके प्रति कुम्भकारके अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध होते हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेकके आधारपर जैसा कार्यकारणभाव स्वप्रत्ययकार्य और उपादानमें व स्व-परप्रत्ययकार्य और उपादानकारण तथा निमित्तकारणमें निर्णीत होता है वैसा कार्य-कारणभाव उस कार्य और उक्त देश व कालमें निर्णीत नही होता, क्योकि कार्योत्पत्तिमे जिस प्रकार उपादान-कारण कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर व प्रेरक और उदासीन दोनो निमित्तकारण उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी सिद्ध होते हैं उस प्रकार उस कार्योत्पत्तिमें उक्त देश और उक्त काल कार्यरूप परिणत होने या उसमे सहायक होने रूपसे कार्यकारी सिद्ध नही होते। तात्पर्य यह है कि देश, कार्य और कारणभूत वस्तुओका अवगाहक मात्र होता है व कालके आधारसे कार्य और कारणभूत वस्तुओकी वृत्ति (मौजूदगी) मात्र सिद्ध होती है। तथा कालद्रव्यकी जो पर्यायें हैं वे उन द्रव्योकी पर्यायोका सीमानिर्धारण या विभाजन मात्र करती हैं। अतएव देश और कालकी कार्योत्पत्तिमें कुछ भी उपयोगिता नही है, केवल आवश्यकतानुसार उपादानकारण व प्रेरक और उदासीन निमित्तकारण ही कार्योत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं।

आगममें जो यह बतलाया गया है कि क्षेत्रकी अपेक्षा भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोके भव्य मानव ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, हैमवत आदि क्षेत्रोके भव्य मानव नही। इसी प्रकार कालकी अपेक्षा विदेह क्षेत्रके भव्य मानव मोक्ष-प्राप्तिके अनुकूल स्थिति विद्यमान रहनेके कारण सर्वदा मुक्त हो सकते हैं, तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके भव्य-मानव उत्सर्पिणी कालके तृतीय भागमें व अवसर्पिणी कालके चतुर्थ

भागमें सामान्य रूपसे एव अवसर्पिणी कालके तृतीय भागके अन्तिम हिस्सेमें व पचम भागके प्रारम्भिक हिस्सेमे अपवाद रूपसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके शेष भागोमे या उन भागोके किसी अन्य हिस्सेमें कदापि मुक्ति प्राप्त नही कर सकते हैं। सो आगमके इस कथनसे यद्यपि देश और कालकी भी मुक्तिरूप कार्यके प्रति उदासीनरूपसे निमित्तकारणता सिद्ध होती है, परन्तु इस कथनका यही आशय है कि जीव और पुद्गल द्रव्योके यथायोग्य मध्यम उत्कर्षापकर्षमय देश और कालकी स्थिति ही जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्तकारण सिद्ध होती है। अमूर्त होनेके कारण देश और कालकी मुक्तिके प्रति कारणता सिद्ध नही होती, क्योकि देश और कालका कार्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। यदि देश और काल भी जीवको मुक्ति प्राप्त करनेमें उदासीनरूपसे निमित्तकारण होने लगें, तो ऐसी स्थितिमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा–३२१-२२ व पद्मपुराण, सर्ग–११० के श्लोक ४० में उनका कारण-सामग्रीसे पृथक् निर्देश करना असगत हो जायेगा।

उत्तरपक्ष स्वपरप्रत्ययपर्यायकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध अर्थात् नियतक्रमसे सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा ३०८-११ की आत्मख्याति-टीकाके 'क्रमनियमित' शब्दका यह आशय ग्रहण करता है कि 'क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली हो वही आयेगी, उसमे फेर-बदल नही हो सकता।' सो यह उसकी भ्रमबुद्धि है, क्योकि उस टीकामें प्रयुक्त 'क्रमनियमित' शब्दका क्रममें नियमित अर्थात् बद्ध अर्थ ही ग्राह्य है, जिसका अभिप्राय है कि एकजातीय स्व-परप्रत्यय पर्यायें एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही उत्पन्न होती हैं। एकजातीय दो आदि अनेक पर्यायें युगपत् (एकसाथ) एकसमयमें कदापि उत्पन्न नही होती। फलत उक्त 'क्रमनियमित' शब्दका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त अर्थ युक्त न होकर पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत क्रममें अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममे नियमित अर्थात् बद्ध अर्थ ही युक्त है।

यद्यपि त्रैकालिक स्व-परप्रत्यय पर्यायें केवलज्ञानमें एकसाथ एकसमयमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं, परन्तु उसके आधारसे उन पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार करना युक्त नही है, क्योकि उन त्रैकालिक पर्यायोका केवलज्ञानमें युगपत् (एकसाथ) प्रत्येक समयमें क्रमबद्ध प्रतिभासित होना अन्य बात है और उनका उपादान और प्रेरक तथा उदासीन निमित्तकारणोके बलसे यथासभव क्रमबद्ध या अक्रमबद्ध रूपमें उत्पन्न होना अन्य बात है। अर्थात् केवलज्ञानी जीव क्रम अथवा अक्रमसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोको क्रमबद्धरूपमे जानता है। फलत स्व-परप्रत्यय पर्यायोके विषयमें यदि उत्पत्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि उनकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणसापेक्ष होनेसे क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप सिद्ध होती है तथा ज्ञप्तिकी अपेक्षा विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि उनका प्रतिभासन केवलज्ञानमे युगपत् (एकसाथ) एक समयमें क्रमबद्ध ही होता है।

स्व-परप्रत्यय पर्यायोके विषयमे उत्पत्ति और ज्ञप्तिका यह अन्तर उत्तरपक्षके प्रमुख प्रतिनिधि पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्यने जैन-तत्व-मीमासा (प्रथम सस्करण), पृष्ठ २९१ पर इस प्रकार प्रकट किया है—

"यद्यपि हम मानते हैं कि केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोको जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्य-कारणपरम्पराको ध्यानमे रखकर ही की जानी चाहिए।"

इस प्रकार कार्य-कारणभावके आधारपर होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध तथा केवलज्ञानमें होनेवाली उनकी ज्ञप्तिको मात्र क्रमबद्ध मान्य करनेमे पूर्वपक्षके समान उत्तरपक्षको भी कोई कठिनाई नही होनी चाहिए ।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि केवलज्ञानमें ही नही, मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें भी अमुक कार्य अमुक कारणोसे अमुक देशमे अमुक कालमें अमुकरूपसे उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हो रहा है या उत्पन्न होगा ऐसा क्रमबद्ध प्रतिभासन यथायोग्य सीमामे होता है, परन्तु यह अवश्य ध्यातव्य है कि चाहे केवलज्ञान हो अथवा चाहे मतिज्ञान, अवधिज्ञान या मन पर्ययज्ञान हो, ये सभी ज्ञान अपने द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें अक्षम ही हैं । स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

नेत्रइन्द्रियसे उत्पन्न हुए चाक्षुष-मतिज्ञानसे घटका ज्ञान तो होता, है परन्तु वह घट है ऐसा विश्लेषण उस मतिज्ञानसे नही होता, तथा कर्णेन्द्रियसे उत्पन्न हुए श्रावण-मतिज्ञानसे घटशब्दका ज्ञान तो होता है, परन्तु घटशब्दका अर्थ घटरूप पदार्थ है, यह विश्लेषण उस मतिज्ञानमे नही होता । यही स्थिति अन्य इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानकी एव अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानकी जान लेना चाहिए । इसमें हेतु यह है कि मति आदि उक्त चारो ज्ञानो द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण वितर्कात्मक ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । जबकि वे चारो ज्ञान वितर्कात्मक नही होते । यत श्रुतज्ञान वितर्कात्मक होता है, अत मति आदि उक्त ज्ञानो द्वारा प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण श्रुतज्ञान द्वारा ही हो सकता है । यतः मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोमे श्रुतज्ञानका सद्भाव नियमसे रहता है, अत मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव इन ज्ञानोसे प्रतिभासित पदार्थोंका श्रुतज्ञानके आधारपर विश्लेषण भी करते हैं । पर जो केवलज्ञानी जीव हैं उनमें केवलज्ञानके साथ यत श्रुतज्ञानका सद्भाव नही रहता है, अत केवलज्ञानी जीव द्वारा केवलज्ञानमें प्रतिभासित पदार्थोंका विश्लेषण किया जाना सम्भव नही है । इतना अवश्य है कि केवलज्ञानी तीर्थंकर जीवकी भव्य जीवोके भाग्य और वचनयोगके बलसे जो निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है उसके अर्थको गणधर अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतज्ञानशक्तिके आधारपर ग्रहणकर उस आधारसे अक्षरात्मक श्रुतका निर्माण करते हैं, तथा इस अक्षरात्मक श्रुतका अध्ययन करके अन्य विशेष श्रुतज्ञान शक्तिके धारक महापुरुष भी ग्रन्थोका निर्माण करते हैं ।

वर्तमानमें भी तीर्थंकर महावीरने केवलज्ञान द्वारा विश्वके सभी पदार्थोंको और उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायोको युगपत् एक समयमे जब क्रमबद्ध जान लिया तब भव्यजीवोके भाग्य और वचनयोगके बलसे उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरी, जिसके अर्थको गौतमगणधरने अपनी अतिशयपूर्ण श्रुतशक्तिके बलसे ग्रहण किया और उन्होने अक्षरात्मक श्रुतकी रचना की । उसी प्रकार अपनी श्रुतज्ञानशक्तिके बलसे उसका अध्ययन करके अन्य आचार्योंने भी ग्रन्थोका निर्माण किया । इस तरह यह श्रुत-परम्परा आजतक चल रही है ।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य-कारणभावका विश्लेषण वितर्कात्मक श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है । मतिज्ञान, अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान द्वारा नही, क्योकि इन ज्ञानोमें वितर्कात्मकताका अभाव है ।

जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोका एक साथ सद्भाव रहता है तथा किसी-किसी जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका अथवा अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञान दोनोका सद्भाव भी आगम द्वारा स्वीकार किया गया है, किन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास हो जाता है तब

उसमें पहलेसे यथायोग्यरूपमें विद्यमान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है, क्योकि आगममें क्षायिक केवलज्ञानका जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उससे ज्ञात होता है कि क्षायिक केवलज्ञानके साथ जीवमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका सद्भाव सम्भव नही है, क्योंकि वे क्षायोपशमिक हैं। तथा केवलज्ञानका विकास जीवमें समस्त ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर ही होता है, मात्र केवलज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेपर नही होता।

इसप्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव होनेसे मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव तो श्रुतज्ञानके बलसे कार्य-कारणभावका विश्लेषण करते हैं, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव निश्चित हो जानेसे केवलज्ञानी जीव कार्यकारणभावका विश्लेषण नही करते हैं। एक बात और है कि मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव यत कृतकृत्य नही होते, अत उन्हें तो कार्योत्पत्तिके लिए कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना अनिवार्य है, परन्तु केवलज्ञानी जीव यत कृतकृत्य होते हैं, अत उन्हें कार्योत्पत्तिके अनावश्यक हो जानेसे उसमें हेतुभूत कार्य-कारणभावका विश्लेषण करना आवश्यक नही है।

पूर्वमें बतलाया जा चुका है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असख्यात काल, अनन्त-जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ विद्यमान हैं उन सबमें प्रतिसमय स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्ययके भेदसे दोनों प्रकारके परिणमन होते रहते हैं व उनमेंसे जो स्व-परप्रत्यय परिणमन हैं वे प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगपूर्वक ही होते हैं। एव उन परिणमनोकी उत्पत्तिके लिए पदार्थोंको प्रेरक और उदासीन निमित्तोका सहयोग प्राय निसर्गत ही प्राप्त रहता है। परन्तु किन्ही-किन्ही पदार्थोंको उन प्रेरक और उदासीन निमित्तोंका सहयोग आवश्यकतानुसार जीवोके प्रयत्नपूर्वक भी होता है। जैसे रेलगाडीको उसकी चलनक्रियामे प्रेरक निमित्तभूत इञ्जनका और उदासीन निमित्तभूत रेलपटरीका जो सहयोग प्राप्त होता है यह जीवोंके प्रयत्नपूर्वक ही होता है।

यद्यपि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा-३२१-२२, पद्मपुराण सर्ग-११० के श्लोक-४० और अन्य आगम-वचनोसे भी यह ज्ञात होता है कि पदार्थोंमें जो परिणमन होते हैं वे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें जैसे प्रतिभासित होते हैं वैसे ही होते हैं, परन्तु इस कथनका यह आशय नही ग्रहण करना चाहिए कि उन परिणमनोकी उत्पत्तिमे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होनेवाला वह प्रतिभासन कारण होता है, क्योकि केवलज्ञानी जीव कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होने वाली पर्यायोको ही जानते हैं। अतएव केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार उन पर्यायोकी उत्पत्ति स्वीकार करना गलत है। फलत प्रकृत विषयमें दोनों पक्षोके मध्य जो मतभेद है वह इस बातका है कि जहाँ उत्तरपक्ष पदार्थोंके सभी परिणमनोंकी उत्पत्तिमे केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर क्रम-बद्धता अर्थात् नियतक्रमतता स्वीकार करता है वहाँ पूर्वपक्ष उन परिणमनोकी उत्पत्तिमें श्रुतज्ञानसे ज्ञात कार्य-कारणभावके आधारपर यथासम्भव क्रमबद्धता अर्थात् नियतक्रमता और अक्रमबद्धता अर्थात् अनियतक्रमता दोनो ही बातोको स्वीकार करता है। अर्थात् पूर्वपक्षकी मान्यता है कि स्वप्रत्यय परिणमन तो प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगके बिना उपादानकारणजन्य होनेसे क्रमबद्ध ही होते हैं तथा स्व-परप्रत्यय परिणमन प्रेरक और उदासीन निमित्तोके सहयोगपूर्वक उपादानकारणजन्य होनेसे प्रेरक और उदासीन निमित्तोंकी प्राप्तिके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध उभयरूप होते हैं। पदार्थोंके परिणमनोंकी उत्पत्तिके विषयमें दोनों

है कि उत्तरपक्षद्वारा पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवकी केवलज्ञानकी विषयतापर आधारित क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जीव द्वारा कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानके बलसे किया गया कार्य-कारणभावका निर्णय यथायोग्य सम्यक् और मिथ्या दोनो प्रकारका हो सकता है, अत वह निर्णय यदि सम्यक् हो तो उसके आधारसे कार्योत्पत्तिके लिए किया गया जीवका प्रयत्न सफल होता है और यदि मिथ्या हो तो उसके आधारसे कार्योत्पत्तिके लिए किया गया जीवका प्रयत्न असफल होता है। इसके अतिरिक्त जीव यदि विवेकी है तो अपने प्रयत्नके सफल हो जानेपर वह अहकार नही करता है और असफल हो जानेपर हताश होकर अकर्मण्य भी नही होता है। परन्तु जीव यदि अविवेकी है तो वह अपने प्रयत्नके सफल होनेपर अहकार करने लगता है व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य भी हो जाता है।

३ मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोको कार्योत्पत्तिके अवसरपर एक तो उसके विषयमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्या प्रतिभासित हो रहा है ? इसकी जानकारी (ज्ञान) होनेका कोई नियम नही है। वे तो मात्र "जो-जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे" यह विकल्प ही कर सकते हैं। दूसरे, कार्योत्पत्तिके अवसर-पर कदाचित् किसी जीवको कार्योत्पत्तिके विषयमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें जो प्रतिभासित हो रहा है उसका ज्ञान हो भी जावे, परन्तु वह जीव यदि अविवेकी है तो उस अविवेकके आधार-पर वह अपना प्रयत्न विपरीत करनेको भी उद्यत हो सकता है। जैसे मारीचको तीर्थंकर ऋषभदेवकी दिव्य-ध्वनिके श्रवणसे जब यह ज्ञात हुआ कि वह भी तीर्थंकर होगा, तो 'नान्यथावादिनो जिना' ऐसा अटल विश्वास करके वह कुमार्गगामी बनकर नानाप्रकारकी कुत्सित योनियोमें बहुत काल तक भ्रमण करता रहा और जब वह सूबोधके आधारपर कुमार्गको त्यागकर सन्मार्गका पथिक बना तभी वह महावीरके रूपमें अन्तिम तीर्थंकर बन सका। इस विषयमें उत्तरपक्षका "मारीचको अन्तिम तीर्थंकर महावीर बनना था, इसलिए वह कुमार्ग-गामी बना।" यह कथन तर्कपूर्ण नही माना जा सकता है, क्योकि वह सन्मार्गपर चलकर उत्तम योनियोमें भ्रमण करके भी अतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर बन सकता था। इससे निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त नही है अपितु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रम-बद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

४ श्रीकानजी स्वामीने तो भैया भगवतीदासजीके 'जो-जो देखी वीतरागने सो-सो होसी वीरा रे' इस वचनपर आधारित पर्यायोकी उत्पत्तिकी क्रमबद्धतामें अटूट विश्वास रखकर यहाँ तक मान लिया कि कार्योत्पत्तिके लिये किया जानेवाला जीवोका प्रयत्न (पुरुषार्थ) भी उसी क्रमबद्धताका अग है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब उन्हें शारीरिक व्याधि हुई, तो वे अपनेको महान् अध्यात्ममार्गी व अध्यात्मके अभूतपूर्व उप-देष्टा मानते हुए भी राजसी वैभवमें लिप्त रहनेके कारण उस व्याधिको सहन नही कर सके और भैया भग-वतीदासजीके उक्त वचनके आधारपर पुरुषार्थहीन होकर वे न केवल इस मार्गको भूल गये, अपितु भक्तोकी प्रार्थना और डाक्टरोके सुझावोंको उपेक्षा करके उस व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए बम्बई जाकर जसलोक अस्पतालमें प्रविष्ट हुए एवं वही कालकवलित हो गये। इससे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थों-के परिणमनोंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवोंकी केवलज्ञानविषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया

जाना अयुक्त है, किन्तु पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणमनोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

५ माना कि तीर्थंकर नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके श्रवणसे श्रोताओको ज्ञात हुआ कि बारह वर्ष व्यतीत होनेपर द्वारिकापुरी भस्म हो जायेगी और उसे भस्म न होने देनेके लिए लोगो द्वारा लाख प्रयत्न करनेपर भी वह भस्म हो गयी। परन्तु इसमें ज्ञातव्य यह है कि द्वारिकापुरी तदनुरूप कारणोके मिलनेपर ही भस्म हुई वह तीर्थंकर नेमिनाथके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके बलपर अथवा भगवान् नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके बलपर नही भस्म हुई। इसी प्रकार केवलज्ञानी जीवोंके समान मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोकी भविष्यवाणियाँ भी यथायोग्य सत्य हो सकती हैं या होती हैं, परन्तु वहाँ भी कार्य तो श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर ही सम्पन्न होते है। मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोके यथायोग्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके बलपर अथवा उनकी भविष्य-वाणियोंके बलपर नही। इस विवेचनसे भी निर्णीत होता है कि उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्ति-को केवलज्ञानी जीवकी केवलज्ञानविषयताके आधारपर मात्र क्रमबद्ध मान्य किया जाना अयुक्त है व पूर्वपक्ष द्वारा उन परिणामोकी उत्पत्तिको कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रबमद्ध मान्य किया जाना युक्त है।

६ उत्तरपक्षकी मान्यता है कि भवितव्यता (भविष्यमें होनेवाली कार्योत्पत्ति) के अनुसार ही जीवकी बुद्धि हो जाती है। उसका पुरुषार्थ भी उसी भवितव्यताके अनुसार होता है और अन्य सहायक कारण भी उसी भवितव्यताके आधारपर प्राप्त होते है—

"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश.।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥"

सो उसकी यह मान्यता भी मिथ्या है क्योकि वह पक्ष भवितव्यताके अनुसार होनेवाली कार्योत्पत्तिमें कारणभूत बुद्धि, व्यवसाय (पुरुषार्थ) और अन्य सहायक कारणोकी प्राप्ति भी उसी भवितव्यताके अनुसार मानता है। फलत ऐसी अवस्थामे उक्त बुद्धि, पुरुषार्थ और सहायक कारणोंके बिना भी कार्योत्पत्तिके होनेका प्रसग उपस्थित होता है। इसपर यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि यह प्रसग उसको इष्ट है, तो उसका ऐसा कहना आप्तमीमासाकी कारिका[1] ८८, ८९, ९० और ९१ के कथनके विरुद्ध है। इस बातको दार्शनिक विद्वान् अच्छी तरह समझ सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि आप्तमीमासाकी उक्त कारिकाओके अनुसार भवितव्यता (भविष्यमें होनेवाली कार्योत्पत्ति), जिसे वर्तमानमें कार्योत्पत्तिकी योग्यता, अदृष्ट या दैव कहा जाता है—के अतिरिक्त अन्य कोई

१ दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैव पौरुषत कथम्।
दैवतश्चेदविर्मोक्ष पौरुष निष्फल भवेत् ॥८८॥
पौरुषादेवार्थसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवत. कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघ यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥
विरोधान्नोभैयकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यैतकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ॥९१॥

वस्तु नही है। तथा इससे होनेवाली कार्योत्पत्ति (उसकी कार्यरूप परिणति) जीवकी बुद्धि (श्रुतज्ञान) और व्यवसाय (पुरुषार्थ) तथा अन्य सहायक कारणोका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होती है, अत भवितव्यताको उक्त बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायक कारणोकी प्राप्तिमें कारण नही माना जा सकता है। फलत उक्त कारिकाओके आधारपर यही निर्णीत होता है कि पदार्थमें विवक्षित भवितव्यता (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) हो और उसे बुद्धि, पुरुषार्थ तथा अन्य साधनसामग्रीका योग प्राप्त हो जावे, तो ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पदार्थमें विवक्षित भवितव्यता विद्यमान रहनेपर भी यदि बुद्धि, व्यवसाय और अन्य साधनसामग्रीका योग न प्राप्त हो तो विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नही होती है। यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि भवितव्यताके अनुसार जो कार्यकी उत्पत्ति होती है वह बुद्धि, व्यवसाय और अन्य सहायकसामग्रीकी अपेक्षाके बिना ही होती है, तो उसकी यह स्वीकृति एक तो आप्तमीमासाकी उपर्युक्त कारिकाओंके विरुद्ध है और दूसरे वह अयुक्त भी है, क्योकि कार्योत्पत्तिके विषयमें कारणसामग्रीकी अपेक्षा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ में व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० में भी स्वीकार की गयी है। सज्ञीपचेन्द्रिय जीवोंके अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कसे भी ऐसा ही निर्णीत होता है।

निष्पत्ति

१ समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी गाथा ३०८ से ३११ तककी आत्मख्याति-टीकाका जो कथन पूर्वमें उद्धृत किया गया है उसमें निर्दिष्ट "क्रमनियमित" शब्दका उत्तरपक्षने जो यह अर्थ समझा है कि "क्रम अर्थात् क्रमसे (नम्बरवार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली है वही आयेगी, उसमें फेर-फार नही हो सकता।" उसे मैं उसकी भ्रमबुद्धिका परिणाम मानता हूँ, क्योकि प्रकरणको देखते हुए उस 'क्रमनियमित' शब्दका क्रम अर्थात् एकके पश्चात् एकरूप क्रममें नियमित अर्थात् निश्चित अर्थ ही सगत है। भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थकी एकजातीय नाना पर्यायोकी उत्पत्ति एकके पश्चात् एकरूप क्रमसे ही होती है, युगपत् अर्थात् एकसाथ एक ही समयमें नही होती। इस बातको पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

२ केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके अनुसार निर्णीत पर्यायोकी क्रमबद्धताके आधारपर उन पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध मानना युक्त नही है, क्योंकि उन पर्यायोंकी उत्पत्ति श्रुतज्ञानके आधारपर निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध दोनो प्रकारसे होती है तथा श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होती हैं। इस विषयको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१-२२ व पद्मपुराण सर्ग ११० के श्लोक ४० तथा अन्य आगम-वाक्योमें पर्यायोकी जिस क्रमबद्धताका विवेचन किया गया है उसका उपयोग पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें नही करना चाहिए, क्योकि उसका उपयोग कार्योत्पत्तिके लिए प्रयत्नशील जीवोको अपने प्रयत्नमें सफल होनेपर अहकार न करने व असफल होनेपर हताश होकर अकर्मण्य न बननेके लिए ही करना उचित है। यदि कोई व्यक्ति उसका उसके अतिरिक्त अन्य उपयोग करना चाहता है तो उसका मारीच व काजीस्वामीके समान अकल्याण होना सम्भव है। इस विवेचनको भी पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार प्रकृत विषयके सम्बन्धमे अबतक जो विवेचन किया गया है उससे निर्णीत होता है कि पदार्थोंकी श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्धरूपसे

निष्पन्न हुई, निष्पन्न हो रही और आगे निष्पन्न होनेवाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञान द्वारा होने वाली ज्ञप्तिको ही क्रमबद्ध स्वीकार करना उचित है। उनकी उत्पत्तिको तो श्रुतज्ञानके बलसे निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर यथायोग्य क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध मान्य करना ही युक्त और कल्याणकारी है।

मुझे इस बातका आश्चर्य है कि श्री कानजीस्वामीने अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे विरुद्ध आगमके अभिप्रायको ग्रहणकर केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानकी विषयताके आधारपर निर्णीत पर्यायोकी क्रमबद्धताका श्रुतज्ञानके बलपर निर्णीत कार्य-कारणभावपर आधारित पर्यायोंकी उत्पत्तिमे उपयोग किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि सोनगढसिद्धान्तवादी वर्ग भी उनके उपदेशसे प्रभावित होकर उनकी अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध मान्यताका अनुसरण कर रहा है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी और डॉ० हुकुमचद्र भारिल्ल, जयपुरने उक्त मान्यताको पुष्ट किया है। मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि डॉ० हुकमचन्द्र भारिल्लको 'क्रमबद्ध पर्याय' पुस्तकमें निर्दिष्ट आचार्यों, मुनिराजों, व्रतियो, विद्वानो और लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओने आगमके अभिप्रायको समझनेकी चेष्टा न करके उनकी मान्यताका समर्थन किया है और मुझे इस बातका भी आश्चर्य है कि कतिपय अन्य साधु, व्रती, विद्वान् और सामान्य जन भी कार्योत्पत्तिके विषयमे उनकी (कानजीस्वामीकी) उस मान्यताको स्वीकार करनेके लिए उत्सुक हैं। ऐसी विचित्र दशा देखते हुए मेरी दृष्टि आगमके उस वचनपर जाती है जिसमें यह बतलाया गया है कि सिद्धान्तग्रन्थोका पठन-पाठन गृहस्थोके लिए उचित नही है। वर्तमानमें तो आगमका वह वचन कतिपय साधु-सतोपर भी लागू होता है। वास्तवमें सिद्धान्तका अनर्थ और दुरुपयोग रोकनेके लिए ही आचार्योंने बडी सूझ-बूझसे सिद्धान्तग्रन्थोंके अध्ययनका सर्वसाधारणके लिए निषेध किया है।

मुझे आशा है कि सोनगढसिद्धान्तवादी सभी जन मेरे इस विवेचनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके तथ्यका निर्णय करेंगे। तथा आगमके अभिप्रायको समझनेमे लापरवाह एव सशयमे पडे हुए पुरातन सिद्धान्तवादी सभी जन भी उत्पत्तिकी अपेक्षा आगम द्वारा स्वीकृत व अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे सिद्ध स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध और स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको निमित्तोके समागमके अनुसार क्रमबद्ध और अक्रमबद्ध ही मान्य करेंगे।

केवलज्ञानकी विषयमर्यादा

समयसार गाथा १०३ में बतलाया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ सयुक्त या बद्ध होनेपर भी वे दोनो द्रव्य कभी तन्मयरूपसे एकरूपताको प्राप्त नही होते। और न एक-दूसरे द्रव्यके गुण-धर्म ही एक-दूसरे द्रव्यमें सक्रमित होते हैं—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि ण सकमदि दव्वे।

पचास्तिकायकी गाथा ७ में भी बतलाया गया है कि सभी द्रव्य परस्परमे प्रविष्ट होते हुए भी, परस्परको अवगाहित करते हुए भी और परस्पर (दूध और जलकी तरह) मिलकर रहते हुए भी कभी अपने स्वभावको नही छोडते हैं—

अण्णोण्ण पविसता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलता वि य णिच्च सग सहाव ण विजहति॥

तात्पर्य यह है कि विश्वमें एक आकाश, एक धर्म, एक अधर्म, असख्यात काल, अनन्त जीव और अनन्त पुद्गलरूप जितने पदार्थ है वे सभी यथायोग्य परस्पर सयुक्त होकर ही रह रहे हैं तथा जीव और

पुद्गल एव पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध होकर भी रह रहे हैं। तथापि सभी द्रव्य अपने-अपने द्रव्यरूप, गुणरूप और पर्यायरूप स्वभाव में रह रहे हैं और रहते जावेंगे। कोई भी पदार्थ सयुक्त या बद्ध दशामें दूसरे पदार्थकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको प्राप्त नही होता, न हो सकता है। इतना अवश्य है कि सभी पदार्थ यथायोग्य उस सयुक्त या बद्ध दशामें परस्परके सहयोगसे अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन करते रहते हैं। जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल तो उस बद्ध दशामें परस्परके सहयोगसे अपना-अपना स्व-परप्रत्यय परिणमन विकृत भी करते रहते हैं। समयसार गाथा ८० में कहा भी है कि जीवके परिणामोके निमित्त (सहयोग) से पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गलकर्मके निमित्त (सहयोग) से जीव भी तथैव (रागादिभावकर्मरूप) परिणत होता है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमई ॥

समयसार गाथा ८१ में यह भी कहा गया है कि बद्ध दशामे जीव पुद्गलकर्मगुणरूप परिणत नही होता और पुद्गलकर्म जीवगुणरूप परिणत नही होता। परस्परके निमित्तसे (सहयोगसे) दोनोका अपना-अपना परिणमन अवश्य होता है—

ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्म तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोहृणपि ॥

यह वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उपर्युक्त सभी पदार्थ परस्पर सयुक्त होकर रह रहे हैं व जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल अनादिकालसे परस्पर बद्ध होकर भी रहते आये हैं, तथापि वे पदार्थ यथायोग्य उस संयुक्त दशामें या बद्ध दशामें भी सतत अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतामें ही विद्यमान हैं। जैसे सयुक्त दशामे आकाशकी अपनी द्रव्यरूपता नियत अनन्तप्रदेशात्मक ही है। धर्मकी, अधर्मकी और सभी जीवोमेंसे प्रत्येक जीवकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता; नियत असख्यातप्रदेशात्मक ही है। तथा समस्त कालोमेंसे प्रत्येक कालकी व समस्त पुद्गलोमेसे प्रत्येक पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता एकप्रदेशात्मक ही है। ऐसी ही स्थिति सयुक्त दशामे उन पदार्थोंकी अपनी-अपनी गुणरूपता और स्वप्रत्यय एव स्व-परप्रत्ययपर्यायरूपताकी भी नियत है तथा बद्धदशामें जीव और पुद्गलकी व पुद्गल और पुद्गलकी अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता व स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपताकी भी ऐसी ही स्थिति नियत है। यही कारण है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (पद्य एक) में बतलाया गया है कि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें दर्पणतलके समान अपनी अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्ययपर्याय-रूपता सहित प्रतिसमय युगपत् पृथक्-पृथक् ही प्रतिफलित हो रहे हैं—

तज्जयति पर ज्योतिः सम समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

जो बात इस पद्यमें बतलाई गई है वही बात तत्त्वार्थसूत्र के 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' (१-२९) सूत्रमें भी बतलाई गई है।

यह विवेचन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचा देता है कि उक्त सभी पदार्थ परस्पर सयुक्त रहते हुए भी जीव और पुद्गल तथा पुद्गल और पुद्गल परस्पर बद्ध रहते हुए भी जब केवलज्ञानमें सतत् अपनी-अपनी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और स्वप्रत्यय व स्व-परप्रत्यय पर्यायरूपतासहित पृथक्-पृथक् ही प्रतिभासित हो रहे हैं

तो उस स्थितिमे उन पदार्थोंकी संयुक्त दशाका व जीव और पुद्गल एव पुद्गल और पुद्गलकी बद्धदशाका प्रतिभासन केवलज्ञानमे नही हो सकता है ।

तात्पर्य यह है कि समयसार, गाथा १०३, पचास्तिकाय, गाथा ७ और समयसार, गाथा ८१ के अनुसार उक्त पदार्थोंका परस्पर पृथक्पना वास्तविक सिद्ध होता है व उनकी यथायोग्य सयुक्त व बद्धदशा अवास्तविक सिद्ध होती है । इसलिए केवलज्ञानमें जब प्रतिक्षण पदार्थोंकी वास्तविक पृथक्-पृथक्रूपताका प्रतिभासन हो रहा है तो उसमें उनकी अवास्तविक यथायोग्य परस्पर संयुक्त दशाका या बद्ध दशाका प्रतिभासन होना सभव नही रह जाता है । मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानमेसे मतिज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिसमें सीपकी वास्तविक सीपरूपताका और अवास्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन सम्भव है । परन्तु उस मतिज्ञानमे भी जब सीपका वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी अवास्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन नही होता है और उसमें जब सीपकी अवास्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन हो रहा हो तब उसकी वास्तविक सीपरूपताका प्रतिभासन नही होता है ।

यदि कहा जाये कि सीपकी रजतरूपता जैसी अवास्तविक है वैसी अवास्तविक पदार्थोंकी सयुक्त दशा या बद्धदशा नही है, क्योकि जिस प्रकार मतिज्ञानमें सीपकी अवास्तविक रजतरूपताका प्रतिभासन मिथ्या माना जाता है उस प्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें होनेवाले पदार्थोंकी संयुक्त दशा या बद्धदशाके प्रतिभासनको मिथ्या नही माना जाता है, इसलिए केवलज्ञानके विषयमे मतिज्ञानका उपर्युक्त उदाहरण अयुक्त है, तो इसका समाधान यह है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमे प्रतिभासित होनेवाली पदार्थोंकी सयुक्तदशा या बद्धदशा नानापदार्थनिष्ठ होनेसे उपचरित धर्मके रूपमें उपचारसे ही वास्तविक है । एकपदार्थनिष्ठ स्वरूपदृष्टिसे तो वह मिथ्या ही है । अतएव प्रत्येक पदार्थके पृथक्-पृथक् स्वरूपका प्रतिभासन करनेवाले केवलज्ञानमें उसके प्रतिभासनका निषेध किया गया है, क्योकि केवलज्ञानमें सतत प्रत्येक पदार्थके पृथक्-पृथक् तदात्मक स्वरूपका ही प्रतिभासन होता है । इस विवेचनसे यह भी सिद्ध होता है कि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन केवलज्ञानमें होनेवाले पदार्थके प्रतिभासनसे विलक्षण ही होता है । इस विलक्षणताका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

१ यत जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर ही प्रकट होता है, अत केवलज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिके प्रतिभासनकी क्षमता होनेसे उसमें सभी पदार्थोंकी एक-एक क्षणवर्ती स्थितिका पृथक्-पृथक् प्रतिभासन होता है । यत जीवमें मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर वह प्रकट होता है, अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है और मन पर्ययज्ञान मन पर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होता है, अत इन तीनो ज्ञानोमे अपने-अपने विषयभूत पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोका अखण्डरूपसे प्रतिभासन होनेकी क्षमता होनेसे उस पदार्थकी अन्तर्मुहूर्तकालवर्ती नाना स्थितियोका ही अखण्डरूपसे प्रतिभासन होता है । तात्पर्य यह है कि जहाँ उक्त प्रकार क्षायिक होनेसे केवलज्ञानमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन क्षण-क्षणमे परिवर्तनशील है वहाँ उक्त प्रकार क्षायोपशमिक होनेसे मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान इन तीनोमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन अन्तर्मुहूर्तकालमे ही परिवर्तनशील है । एक-एक क्षणमें परिवर्तनशील नही है ।

२. यत जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मके सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अत उसमें समस्त पदार्थोंका प्रतिभासन मात्र स्व-सापेक्ष होनेसे असीम होता है । यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" (१-२९) सूत्रसे जानी जाती है । इसके विपरीत जीवमें मतिज्ञान मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम

होनेपर प्रकट होता है अत उसमें होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन पौद्गलिक स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र, कर्ण और मनके अवलम्बनपूर्वक होनेसे मर्यादित होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" (१-२६) सूत्रसे जानी जाती है। तथा जीवमें अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर व मन पर्ययज्ञान मन पर्ययज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते हैं। अत इनमे होनेवाला पदार्थका प्रतिभासन स्वसापेक्ष होनेपर भी एक तो मात्र रूपी पदार्थका होता है। दूसरे वह प्रतिभासन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिए हुए होता है। यह बात तत्त्वार्थसूत्रके "रूपिष्ववधे" (१-२७) व 'तदनन्तभागे मन'पर्ययस्य" (१-२८) दोनो सूत्रोंसे जानी जाती है।

३ यत जीवमें केवलज्ञान समस्तज्ञानावरणकर्मका सर्वथा क्षय होनेपर प्रकट होता है, अत निराबाध होनेसे उसमें सयुक्त या बद्धपदार्थोंका सयुक्त या बद्धरूपसे प्रतिभासन न होकर पृथक्-पृथक् ही होता है जबकि जीवमें मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान उस-उस ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर प्रकट होते है, अत बाधासहित होनेसे उनमें सयुक्त या बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन तो संयुक्त या बद्धरूपमें ही होता है व असंयुक्त व अबद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन असयुक्त या अबद्धरूपमे (पृथक्-पृथक्रूपमें) ही होता है। जैसे इन तीनो ज्ञानोमें दूध और जलके मिश्रणमे तो दूध और जलका मिश्रितरूपसे ही प्रतिभासन होता है और पृथक्-पृथक्रूपमें विद्यमान दूध और जलका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् ही होता है। इसी तरह अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त अणुओंके स्कन्धरूपको प्राप्त अणुओंका प्रतिभासन पिण्डरूपमे ही होना है व पृथक्-पृथक्रूपमें विद्यमान अणुओका प्रतिभासन पृथक्-पृथक् रूपसे ही होता है।

इससे निर्णीत होता है कि जहाँ केवलज्ञानमे सयुक्त या बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन संयुक्तदशामें या बद्धदशामें सयुक्त या बद्धरूपसे न होकर पृथक्-पृथक्रूपसे होता है वहाँ मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन-पर्ययज्ञानमें अपने-अपने विषयभूत सयुक्त और बद्ध पदार्थोंका प्रतिभासन पृथक्-पृथक्रूपसे न होकर सयुक्त और बद्धरूपसे ही होता है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारके उपयोगप्रकरण[1]में सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोंको विभावज्ञान व क्षायिकपनेको प्राप्त केवलज्ञानको स्वभावज्ञानकी संज्ञा दी है। इस विषयको मैंने जयपुर (खानिया) तत्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर–४ के प्रथम दौरकी समीक्षामें स्पष्ट किया है।

पूर्वमें यह बात बतलायी जा चुकी है कि जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो एक साथ अनादिकालसे विद्यमान हैं। तथा किसी-किसी जीवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके साथ अवधिज्ञानका या मन पर्ययज्ञानका

---

१ जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विभावणाणत्ति ॥१०॥
केवलमिंदियरहिय असहाय त सहावणाणत्ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाण हवे दुविह ॥११॥
सण्णाण चउभेद मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाण तिवियप्प मदियाईभेददो चेव ॥१२॥
तह दसण उवओगो ससहावेदर-वियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहिय असहाय त सहावमिदि भणिद ॥१३॥
चक्खू अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिद विभावदिट्ठित्ति। गाथा १४ का पूर्वार्ध।

अथवा अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान दोनोका भी विकास हो जाता है। परन्तु जीवमें जब केवलज्ञानका विकास होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका अभाव हो जाता है। इससे निम्नलिखित तथ्य फलित होते हैं—

१—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव तो मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानसे ज्ञात पदार्थका उस श्रुतज्ञानके बलसे विश्लेषण भी करते हैं, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेसे केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानसे ज्ञात पदार्थका कदापि विश्लेषण नही करते हैं।

२—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव श्रुतज्ञानके बलसे एक ही पदार्थमे गुण-गुणीभावका भेद करके गुण और गुणीमें आधाराधेयभावका विश्लेषण करते है, तथा एक ही पदार्थमे भेदके बलपर उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावका भी विश्लेषण करते हैं। इतना ही नही, तादात्म्यसम्बन्धाश्रित अन्य सभी प्रकारके सम्बन्धोका भी विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव एक ही पदार्थमें भेदकी अवास्तविकताके कारण उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण नही करते है।

३—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे नाना पदार्थोंमे भी आधाराधेयभाव और निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव आदि सयोगसम्बन्धाश्रित सभी प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण करते हैं। परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव नाना पदार्थोंमें सयोगसम्बन्धाश्रित उक्त सभी प्रकारके सम्बन्धोका कदापि विश्लेषण नही करते हैं।

४—मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव उस श्रुतज्ञानके बलसे अर्थ और शब्दमें वाच्य-वाचकभाव व पदार्थ व ज्ञानमें ज्ञेय ज्ञायकभाव आदि विविध प्रकारके सम्बन्धोका भी विश्लेषण करते है, परन्तु केवलज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीव इस प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण नही करते हैं।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीवोका कार्य मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जाननेका तथा श्रुतज्ञानके द्वारा विविध प्रकारके सम्बन्धोका विश्लेषण करना है, वहाँ केवलज्ञानी जीवका कार्य केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानना तो है, परन्तु श्रुतज्ञानका अभाव होनेसे उक्त किसी भी प्रकारके सम्बन्धका विश्लेषण करना उसका कार्य नही है।

पुद्गलोका आवश्यक विवेचन

जिस प्रकार कालद्रव्य अणुरूप हैं उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी अणुरूप हैं। दोनोमें विशेषता यह है कि जहाँ कालद्रव्य असख्यात हैं और निष्क्रिय हैं वहाँ पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं और क्रियाशील भी हैं। काल और पुद्गल दोनो द्रव्योमें एक विशेषता यह भी है कि जहाँ सभी कालाणु स्वभावदृष्टिसे समान हैं वहाँ सभी पुद्गलाणु स्वभावदृष्टिसे समान नही हैं। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावत काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच वर्णोंमेसे कोई एक वर्ण रहता है। अत सभी पुद्गलाणु वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके हो जाते हैं। वर्णकी अपेक्षा पाँच प्रकारके सभी पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा और कषायला इन पाँच रसोंमें कोई एक रस रहता है। अत सभी पुद्गलाणु पाँच वर्णों और पाँच रसोंकी अपेक्षा ५ × ५ = २५ प्रकारके हो जाते हैं। इन २५ प्रकारके पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें सुगन्ध और दुर्गन्ध दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध रहता है। अत सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे २५ × २ = ५० प्रकारके हो जाते हैं। इन ५० प्रकारके पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्निग्ध और रुक्ष इन दो स्पर्शोंमेंसे कोई एक स्पर्श रहता है। इस प्रकार सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे ५० × २ = १०० प्रकारके हो जाते हैं। इन १०० प्रकारके पुद्गलाणुओंमेंसे प्रत्येक पुद्गलाणुमें शीत और उष्ण इन दो स्पर्शोंमेसे कोई एक स्पर्श रहता है। अत सभी पुद्गलाणु इस अपेक्षासे १०० × २ = २०० प्रकारके हो जाते हैं।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि आगममे स्पर्शके स्निग्ध, रुक्ष, शीत, उष्ण, हल्का, भारी, कठोर और कोमल इस प्रकार आठ भेद बतलाये गये हैं। किन्तु सभी पुद्गलाणु यत एकप्रदेशात्मक ही होते हैं। अतः उनमें स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श रहते हुए भी हल्का, भारी, कठोर और कोमल इन चार स्पर्शोंका सद्भाव सम्भव नही है, क्योकि हल्का, भारी, कठोर और कोमल ये चार स्पर्श नानाप्रदेशात्मक पुद्गल वस्तुमें ही सम्भव होते हैं। इतना अवश्य है कि प्रत्येक पुद्गलाणुमें जो स्निग्ध और रुक्ष दो स्पर्शोंमेंसे कोई एक स्पर्श पाया जाता है, उसके आधारपर एक पुद्गलाणु दूसरे पुद्गलाणुके साथ बन्धको भी प्राप्त होता रहता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके "स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध" (५-३३) सूत्रसे स्पष्ट है। इस प्रकार दो आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त पुद्गलपरमाणु जब परस्पर बन्धको प्राप्त हो जाते हैं तब उनमें हल्का, भारी, कठोर और कोमल इन चार स्पर्शोंके सद्भावकी सम्भावना हो जाती है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रके "अणव स्कन्धाश्च" (५-२५) सूत्रमें पुद्गलके अणु और स्कन्ध दो भेद बतलाये गये हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि हल्का और भारी तथा कोमल और कठोर परस्परसापेक्ष होकर ही उस-उस स्पर्शरूपताको प्राप्त होते हैं।

पुद्गलोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार स्कन्ध तो प्रत्यक्ष अनुभवमें आते हैं। इनका निर्माण भी पुद्गलाणुओंके परस्पर बन्धके आधारपर ही समझना चाहिए। गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ६०२ में जो बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म ये ६ भेद पुद्गलोके बतलाये गये हैं, उनमेंसे पृथ्वी, काष्ठ, पाषाण आदि बादर-बादर स्कन्ध हैं। जल, तेल आदि बादर स्कन्ध हैं। छाया, आतप, चाँदनी आदि बादर-सूक्ष्म स्कन्ध हैं। शब्द, गन्ध, रस आदि सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध है। ज्ञानावरणादिकर्म सूक्ष्म स्कन्ध हैं और अखण्ड पुद्गल परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्मरूपमें अणु ही है।

गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ५९३-९४ में पुद्गलोके वर्गणाओंके रूपमें २३ भेद भी बतलाये गये हैं। इनमेंसे वर्ग सूक्ष्म पुद्गलाणुरूप है और एकजातीय वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है। इस तरह २३ वर्गणाओकी व्यवस्था आगमके अनुसार ज्ञातव्य है। यहाँ आवश्यक जानकर आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषा-वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके विषयमें स्पष्टीकरण किया जाता है।

आहारवर्गणाके तीन भेद हैं। एक आहारवर्गणा वह है जिससे औदारिक शरीरकी रचना होती है। दूसरी आहारवर्गणा वह है जिससे वैक्रियिक शरीरका निर्माण होता है और तीसरी आहारवर्गणा वह है जो

२—प्रश्नोत्तर ५ के प्रथम दौरकी समीक्षा

प्रश्न प्रस्तुत करनेमे पूर्वपक्षकी दृष्टि

पूर्वपक्षकी मान्यता है कि द्रव्योमें होनेवाली पर्यायोमें कुछ पर्यायें नियतक्रमसे होती हैं और कुछ अनियतक्रमसे होती हैं। इसके विपरीत उत्तरपक्षकी मान्यता है कि द्रव्योमे होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है, कोई भी पर्याय अनियतक्रमसे नही होती। इस मतभेदको समाप्त करनेकी दृष्टिसे ही पूर्वपक्षने उत्तरपक्षके समक्ष प्रकृत प्रश्न प्रस्तुत किया था।

उत्तरपक्ष द्वारा अपने उत्तरका स्पष्टीकरण—

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो यह उत्तर दिया है कि "द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है" इसकी पुष्टिमे उसने "सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं" यह लिखकर इसके स्पष्टीकरणमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी "ज जस्स जम्मि देसे"—इत्यादि तीन गाथाओको प्रस्तुत किया है और लिखा है कि "सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें जिस देश और जिस कालमे होती है वे उस देश और उस कालमे नियतक्रमसे ही होती है, अनियतक्रमसे नही होती"।

समीक्षा—

उत्तरपक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उल्लिखित गाथाओंके आधारपर जो उक्त स्पष्टीकरण किया है उसको द्रव्योमें होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायोके सम्बन्धमे तो माना जा सकता है, क्योकि उन पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणोकी सहायताके विना ही उपादान कारणोंके बल पर होती हैं। परन्तु द्रव्योमें होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोके सम्बन्धमें उस स्पष्टीकरणको नही माना जा सकता है, क्योकि उन पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणो की सहायतापूर्वक ही उपादानके बलपर होती है तथा उपादान कारणोको उन पर्यायोकी उत्पत्तिमे प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणोकी सहायता कही तो नियतक्रमसे प्राप्त होती है और कही अनियतक्रमसे प्राप्त होती है। फलत यह निर्णीत होता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें उपादानकारणको प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोकी नियतक्रम या अनियतक्रमसे जब जैसी सहायता प्राप्त होती हैं उसके अनुरूप ही उन पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रम या अनियतक्रमसे होती है।

उत्तरपक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उन गाथाओका यह अर्थ लिखा है कि "जिनेन्द्रदेवने जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीवके, जिस देशमें, जिस विधिसे, जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमे, उस विधिसे, उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेंसे कौन चलायमान कर सकता है? अर्थात् कोई चलायमान नही कर सकता"।

उत्तरपक्ष द्वारा किये गये इस अर्थसे ज्ञात होता है कि वह पक्ष द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायोंकी उत्पत्तिको जिनेन्द्रदेवके ज्ञानके आधारपर नियतक्रमसे ही मानना चाहता है, परन्तु ध्यातव्य है कि जिनेन्द्रदेव तो द्रव्योमे स्व-स्व प्रतिनियतकारणोके बलपर यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे भूतकालमें उत्पन्न हुई, वर्तमान कालमें उत्पत्ति हो रहीं और आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंको ही युगपत् नियतक्रमसे जानते हैं, इसलिए जिनेन्द्रदेवके ज्ञानके आधारपर उक्त सभी पर्यायोकी उत्पत्तिको मात्र नियतक्रमसे मान्य करना अयुक्त है।

तात्पर्य यह है कि स्वप्रत्यय और स्व परप्रत्यय दोनो ही प्रकारकी पर्यायोकी उत्पत्ति जिनेन्द्रदेवके

ज्ञानके आधारपर न होकर श्रुतज्ञानके आधारपर निर्णीत प्रतिनियत कारणोंके आधारपर ही होती हैं। अतएव स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको मात्र स्व-प्रत्ययताके आधारपर होने के कारण नियतक्रमसे मानना ही युक्त है व स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण निमित्तोकी नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त सहायताके अनुसार यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे स्वीकार करना ही युक्त हैं और इस प्रकार यह मानना भी युक्त है कि अपने-अपने प्रतिनियत कारणोके आधारपर नियतक्रम या अनियतक्रमसे भूतकालमें उत्पन्न हुई, वर्तमानकालमें उत्पन्न हो रही और आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाली उन सभी पर्यायोको केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर प्रतिक्षण नियतक्रमसे ही युगपत् जान रहे हैं। पर्यायोकी उत्पत्ति और ज्ञप्ति की इस व्यवस्थाको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें भी स्पष्ट किया जा चुका है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी "ज जस्स जम्मि देसे" इत्यादि गाथाओंके आधारपर उत्तरपक्षने जो यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि "जिनेन्द्रदेवने जिस जीवके जिस जन्म अथवा मरणको जिस देश और जिस कालमे जिस विधिसे नियत जाना हैं वह जन्म अथवा मरण उस देश और उस कालमें उस विधिसे नियतक्रमसे ही होता है", सो उसका यह प्रयत्न सगत नही है, क्योकि उन गाथाओका क्या अभिप्राय है ?, इस बातको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य-समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने उत्तरके समर्थनमें वही यह भी लिखा है कि "आगममें उपादान कारणका जो लक्षण स्वीकार किया गया है उसका सम्यक् प्रकारसे पर्यालोचन करनेपर भी यही ज्ञात होता हैं कि सभी द्रव्योकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं, अनियतक्रमसे नही होती।" इसकी पुष्टिके लिए उसने आगे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० को उपस्थित किया है और उसका यह अर्थ भी लिखा है कि "अनन्तर पूर्वपर्यायसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे (उपादान-कारणरूपसे) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तरपर्यायसे युक्त वही द्रव्य नियतसे कार्यरूप होता है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमे जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० को उपस्थित किया है उस गाथाको पूर्वपक्ष भी प्रमाण मानता है और उसका उसने जो अर्थ किया है उसके विषयमे भी पूर्वपक्षको विवाद नही है, परन्तु उस गाथासे और उसके अर्थसे उत्तरपक्षकी यह मान्यता कि "द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं" सिद्ध नही होती है, क्योंकि गाथामें नियतरूप अर्थके बोधक 'नियत' जैसे पदका अभाव है।

यदि उत्तरपक्षकी यह धारणा हो कि गाथामें पठित 'णियमा' पदसे यह ज्ञात होता है कि पूर्वपर्याय युक्त द्रव्यसे नियत उत्तरपर्याययुक्त उसी द्रव्यकी उत्पत्ति होती है, तो उसकी यह धारणा भ्रमपूर्ण ही मानी जायगी, क्योकि उस 'णियमा' पदसे मात्र इतना ही बोध होता है कि पूर्वपर्याययुक्त द्रव्य कारणरूपसे रहता है और उत्तरपर्याययुक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है। फलत. 'णियमा' पदके आधारपर उत्तरपक्षकी "द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं" यह मान्यता सिद्ध नही होती।

उत्तरपक्षने उस गाथा २३० का अर्थ करते हुए यह कथन भी किया है कि "यह उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण है। इसका स्पष्टरूपसे विश्लेषण करनेपर उससे यही फलित होता है कि सभी द्रव्योकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं। क्योकि पूर्व-पूर्व क्षणवर्ती उस-उस पर्याययुक्त द्रव्यके यथार्थ उपादान कारण होनेसे उस द्वारा प्रत्येक समयमें नियतक्रमसे ही कार्यकी उत्पत्तिकी प्रसिद्धि होती है, अनियतक्रमसे कार्यकी उत्पत्तिकी प्रसिद्धि त्रिकालमें होना सम्भव नही है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके इस कथनका "यह उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण है" यह अश तो निर्विवाद है, परन्तु इसके आगेका सम्पूर्ण अश असगत है, क्योकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस गाथा में नियतरूप अर्थके बोधक शब्दका अभाव होनेसे उससे "द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं" यह फलित नही होता।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि स्वामीकार्तिकेयने उसी २३०वी गाथाको इसी ग्रन्थमें पृष्ठ सख्या २२२ पर भी निर्दिष्ट किया है, जिसकी टीका पर ध्यान देनेसे कहा जा सकता है कि उत्तरपक्ष द्वारा गाथा २३० के आधारपर "द्रव्यमे होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं" यह निष्कर्ष निकाला जाना युक्त नही है। इस विषयको प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें विशेषरूपसे स्पष्ट किया जाएगा।

उत्तरपक्षने अपनी उस मान्यताके समर्थनमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके अध्याय १, पृष्ठ ७१ पर निर्दिष्ट दो कथनोको भी प्रस्तुत किया है और उनका अर्थ भी लिखा है।

प्रथम कथनका यह अर्थ लिखा है कि "निश्चयनयका आश्रय लेने पर तो जिसके अनन्तर मोक्षका उत्पाद होता है, अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें होनेवाला वही रत्नत्रय मोक्षका मुख्य (प्रधान, साक्षात्) कारण (उपादानकारण) है।"

द्वितीय कथनका यह अर्थ लिखा है कि "प्रकृतमे द्वितीय आदि सिद्ध क्षणोंके साथ अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारणभाव विचार करनेके लिए प्रस्तुत नही है, जिससे उसकी उत्पत्तिमें उसकी असामर्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षणके साथ ही प्रकृतमें इसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ उपादान कारण ही है, इसलिए पूर्वोक्त शंका ठीक नही है। यदि ऐसा न माना जावे तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ उपादान कैसे हो सकती हैं ? क्योकि ऐसी स्थितिमें धूमक्षणोके द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीय आदि धूमक्षणोंके उत्पन्न करनेमें उसके (अग्निके) असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणके उत्पन्न करनेमे भी उसकी असामर्थ्यके प्राप्त होनेका प्रसंग आता है। और ऐसा होनेपर कोई भी किसीका समर्थ कारण नही बन सकता और असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नही', ऐसी स्थितिमें वह विचारी कार्य-कारणता कैसे ठहरेगी ? अर्थात् तब कार्य-कारणताका स्वीकार करना ही निष्फल हो जायगा।"

इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि पूर्वपक्षको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके वे दोनो कथन मान्य हैं तथा उन कथनोका उत्तरपक्ष द्वारा लिखा गया अर्थ भी निर्विवाद है, इसलिए पूर्वपक्षको यह भी मान्य है कि 'अयोगकेवलीके चरम समयवर्ती रत्नत्रयसे मोक्षपर्यायकी उत्पत्ति नियमसे होती है, किन्तु वह उत्पत्ति नियमसे प्रथम मोक्षक्षणकी ही होती है, उससे द्वितीय आदि मोक्षक्षणोकी उत्पत्ति नही होती।' तथापि उन कथनोंके आधारपर उत्तरपक्ष जो यह सिद्ध करना चाहता है कि "द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं" सो उन कथनोंके आधारपर उत्तरपक्षको यह इच्छा सफल नही हो सकती है, क्योकि पूर्वमें सिद्ध किया जा चुका है कि जितनी स्वप्रत्यय पर्यायें हैं वे ही प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणोकी सहायताके बिना मात्र उपादान कारणजन्य होनेसे नियतक्रमसे होती है। किन्तु जो पर्यायें स्व-परप्रत्यय हैं वे प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणोकी सहायतापूर्वक ही उपादानकारणजन्य हैं, अत इनकी उत्पत्ति निमित्तकारणोकी प्राप्त सहायताके अनुरूप नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

यद्यपि प्रथम और द्वितीय आदि मोक्षक्षणरूप पर्यायें षड्गुणहानि-वृद्धि रूप स्वप्रत्यय पर्यायोसे भिन्न स्व-परप्रत्यय होते हुए भी प्रथम मोक्षक्षणरूप पर्यायकी उत्पत्ति अयोगकेवलीके चरमसमयवर्ती रत्नत्रयके पश्चात् और द्वितीय आदि मोक्षक्षणरूप पर्यायोकी उत्पत्ति प्रथमादि मोक्षक्षणरूप पर्यायोके पश्चात् नियमसे होती है, परन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उन अवसरोपर उन मोक्षक्षणरूप पर्यायोकी उत्पत्तिमें उस-उस उपादानकारणको भावकर्मों, द्रव्यकर्मों और नोकर्मोके अभावरूप निमित्तकारणकी सहायता नियमसे प्राप्त रहती है, इसलिए स्व-परप्रत्यय होते हुए भी उनकी उत्पत्ति नियमसे होनेमें कोई विरोध नही आता है।

इसप्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उन कथनोके आधारपर भी उत्तरपक्षकी उक्त मान्यता युक्त सिद्ध नही हो सकती है।

वास्तवमें उत्तरपक्षकी सबसे बडी भूल यह है कि वह एक तो आगमोक्त स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोंके अन्तरको नही मानना चाहता है। दूसरे, वह पर्यायोकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिकी उपर्युक्त व्यवस्थाको भी नही स्वीकार करना चाहता है और तीसरे, वह यह भी नही स्वीकार करना चाहता है कि सभी कार्य अपने-अपने प्रतिनियत कारणोके आधारपर ही उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त वह यह भी नही मानना चाहता है कि कार्य-कारणभावका निर्णय श्रुतज्ञानके आधार पर ही हो सकता है, मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके आधारपर नही। यही कारण है कि प्रकृत विषयमे उसने अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्ककी सर्वथा उपेक्षा करके प्रश्नका समाधान करनेका प्रयत्न किया है जिससे उसे कही-कही आगमके अर्थमें भी परिवर्तन करना पडा है।

३. प्रश्नोत्तर पाँच के द्वितीय दौरकी समीक्षा

द्वितीय दौरमे पूर्वपक्षकी स्थिति—पूर्वपक्षने अपने दौरमें उत्तरपक्षके प्रथम दौरकी आलोचना करते हुए अनेक आगमप्रमाणोके आधारपर यह सिद्ध किया है कि द्रव्योंमें होने वाली सभी पर्यायोंमेंसे स्वप्रत्यय पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं और स्व-परप्रत्यय पर्यायें नियतक्रमके साथ अनियतक्रमसे भी होती हैं। इसका स्पष्टीकरण मैंने प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामे और प्रथम दौरकी समीक्षामें किया है।

द्वितीय दौरमे उत्तरपक्षका आद्य वक्तव्य—उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमे (त०च०, पृ० १६६ पर) सर्वप्रथम यह कथन किया है कि "इस प्रश्नका उत्तर व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो प्रकारसे दिया गया है। व्यवहारनयसे उत्तर देते हुए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षासे तीन गाथायें उपस्थितकर केवलज्ञानके ज्ञेयरूपसे द्रव्यमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे होती हैं यह सिद्ध किया गया था और निश्चयनयसे उत्तर देते हुए उपादानकी अपेक्षा द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे होती हैं यह अनेक आगमप्रमाण देकर सिद्ध किया गया था, किन्तु द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे नही होती इस अभिप्राय की पुष्टि करते हुए पुन प्रतिशंका २ उपस्थित की गई है।"

समीक्षा—

मैं प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्यसमीक्षा और प्रथम दौरकी समीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ कि सभी द्रव्योकी स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोकी सहायताके बिना ही मात्र उपादानकारणके बल पर होनेसे नियतक्रमसे ही होती है। तथा सभी द्रव्योकी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक और उदासीन निमित्तकारणोकी सहायतापूर्वक उपादानकारणके बल पर होनेसे निमित्त कारणोकी प्राप्त सहायताके अनुसार नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती हैं। अत उत्तरपक्षने

अपने आद्य वक्तव्यमे व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो प्रकारसे स्वप्रत्यय पर्यायोके समान स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको भी जो नियतक्रमसे बतलानेका प्रयत्न किया है वह असगत ही है।

पूर्वपक्षने अपने द्वितीय दौरमें (त०च०, पृ० १६० पर) यह कहा है कि "यदि कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिए किसी देवी-देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिए स्वामी कार्तिकेयने उन गाथाओ द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरणकालको इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नही टाल सकते। इस तरह जीवन बचानेके अभिप्रायसे कुदेव आदिकी आराधनासे बचानेके लिए ग्रन्थकारने गाथाओको लिखा है।"

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके इस कथनकी आलोचना करते हुए द्वितीय दौरमें (त०च०पृ० १६७ पर) यह वक्तव्य निर्दिष्ट किया है कि "स्वामी कार्तिकेयने स्वलिखित द्वादशानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टि निश्चयनयसे कैसा निर्णय करता है यह बतलानेके लिए 'ज जस्स जम्मि देसे' इत्यादि दो गाथायें देकर अन्तमें यह लिखा है कि इस प्रकार सब द्रव्य और उनकी पर्यायोको जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके इस वक्तव्यकी समीक्षामें पूर्वोक्त प्रकार यह कहा जा सकता है कि द्रव्योमें होने वाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति उनके अपने-अपने प्रतिनियत कारणके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे होती है। और इस प्रकार भूतकालमें उत्पन्न हुई, वर्तमान कालमें उत्पन्न हो रही व आगामी कालमें उत्पन्न होने वाली उन सभी पर्यायोको केवलज्ञानी जीव युगपत् प्रतिक्षण नियतक्रमसे जानते हैं। अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१, २२ और २३ का अभिप्राय मेरे उक्त कथनके अनुरूप ही ग्रहण करना उचित है।

इसके अतिरिक्त पूर्वपक्षने प्रकृत प्रश्नोत्तरकी प्रतिशंका २ में और मैंने उसी प्रश्नोत्तरकी इस समीक्षामें उन गाथाओका जो अभिप्राय स्पष्ट किया है वह उत्तरपक्षको भी मानना अनिवार्य है, क्योकि उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी इस मान्यताकी उपेक्षा नही कर सकता है कि केवलज्ञानी जीव द्रव्योंमें स्व-स्व प्रतिनियत-कारणोंके आधारपर नियतक्रम या अनियतक्रमसे भूतकालमें उत्पन्न हुईं, वर्तमानकालमें उत्पन्न हो रही और आगामीकालमें उत्पन्न होने वाली पर्यायोको ही नियतक्रमसे जानता है। फलत यह बात ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ द्वारा आचार्य व्यक्तिको सावधान कर रहे हैं कि यदि वह अपना मरण टालनेके लिए देवी-देवताकी भक्ति करता है तो वह सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि हो जाएगा।

उक्त गाथाका अभिप्राय प्रकट करते हुए उत्तरपक्षने (त०च०, पृ० १६७ पर) यह भी लिखा है कि "इस गाथामें 'णिच्छयदो' यह पद देनेका एक दूसरा अभिप्राय भी है। इस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि यह कथन निश्चय (यथार्थ) नयकी (उपादानकी) प्रधानतासे किया गया है। इससे पर्यायान्तरसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगममें जहाँ भी अकाल मृत्यु आदिका निर्देश दिया गया है, वहाँ वह व्यवहार-नयकी (उपचरितनयकी) अपेक्षा ही किया गया है, निश्चयनयकी अपेक्षासे नही।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके इस कथनके सम्बन्धमें मैं यह कहना चाहता हूँ कि कालमरण और अकालमरण दोनों ही व्यवहारनयके विषय हैं, क्योकि निश्चयनयसे तो जीव अजर-अमर ही है। इतना अवश्य है

कि कालमरण तो वह है जो आयु कर्मके स्थितिबन्धकी अपेक्षा सामान्यरूपसे आयु कर्मकी समाप्ति होने पर होता है, इसलिए वह कालमरणके रूपमे व्यवहारनयका विषय है अर्थात् उपचरित है। तथा अकालमरण विषपान आदिकी अपेक्षा विशेषरूपसे आयुकर्मकी समाप्ति होनेपर होता है, अत वह अकालमरणके रूपमें व्यवहारनयका विषय है अर्थात् उपचरित है। इस प्रकार व्यवहारनयके विषय होनेसे दोनो ही मरण उपचरित रूपमें वास्तविक है न तो कालमरण निश्चयनयके विषयके रूपमें वास्तविक है और न अकालमरण व्यवहार-नयके विषयके रूपमे अवास्तविक है।

उत्तरपक्षने (त०च०, पृ० १६७-६८ पर) ही स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारकी कतिपय गाथाओकी समानता प्रदर्शित की है, परन्तु निर्विवाद होते हुए भी उसकी प्रकृतमे कोई उपयोगिता नही है, क्योकि उक्त समानता-प्रदर्शनसे दोनो पक्षोके मध्य विद्यमान प्रकृत विवादकी समाप्ति नही हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे भूतकालमे उत्पन्न हुई, वर्तमान कालमे उत्पन्न हो रही और आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय पर्यायोको केवलज्ञानी जीव नियतक्रमसे जानते हैं वहाँ उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार केवलज्ञानी जीवो द्वारा नियतक्रमसे ज्ञात सभी पर्यायें ही अपने-अपने प्रति-नियत कारणोके आधारपर नियतक्रमसे भूतकालमे उत्पन्न हुई, वर्तमानकालमें उत्पन्न हो रही है और आगामी-कालमें उत्पन्न होगी। फलत उपर्युक्त समानताके प्रदर्शनसे दोनो पक्षोंके मध्य विद्यमान प्रकृत विवादकी समाप्ति नही हो सकती है।

एक बात और है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारको उक्त गाथाओंके अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका उपकार या अपकार नही कर सकता है, यह एकान्तरूपसे नियत नही है, क्योकि यदि ऐसा माना जाय तो आगममे जो हिंसा आदि पापकर्मोका निषेध और दान आदि पुण्यकर्मोका विधान पाया जाता है वह सब व्यर्थ हो जाएगा। तथा आगममें प्रतिपादित स्वर्गसुख और नरकदुखकी व्यवस्था असगत हो जायगी। इतना ही नही, आगममें प्रतिपादित मोक्ष और मोक्षके कारणभूत धर्मपुरुषार्थका उपदेश भी अनावश्यक हो जाएगा, क्योकि सब जीवोका सर्वदा अपने स्वत सिद्ध स्वभावमें बना रहना अनिवार्य होगा, जो उत्तरपक्षको भी इष्ट नही है।

यह ठीक है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा और समयसारमें यह बतलाया गया है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका उपकार या अपकार नही कर सकता, फिर भी व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले पुण्यरूप और पापरूप पुरुषार्थोंसे उस व्यक्तिको यथायोग्य पुण्यरूप या पापरूप कर्मबन्ध तो होता ही है। तथा धर्मपुरुषार्थसे कर्मोका सवर और निर्जरा होकर व्यक्तिको मोक्षकी प्राप्ति भी हो सकती है। फलत आगममे जो पुण्य, पाप और धर्मका कथन पाया जाता है उससे ज्ञात होता है कि जीव पुण्यरूप, पापरूप और धर्मरूप पुरुषार्थ करता हुआ उनके फलको अवश्य प्राप्त करता है।

इसपर उत्तरपक्ष यदि यह कहे कि जीवके पुण्यरूप, पापरूप और धर्मरूप पुरुषार्थ केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानके अनुसार ही होते हैं, तो ऐसी हालतमें उन पुरुषार्थोका यथायोग्य अकर्तव्य और कर्तव्य दृष्टिसे आगममें उपदेश देना व्यर्थ हो जाएगा।

यदि उत्तरपक्ष यह कहे कि उन पुरुषार्थोको जीव स्वय करता है, केवलज्ञानी जीव तो उस जीवके उन पुरुषार्थोंको और उनसे उत्पन्न होने वाली पर्यायोको जानता है, तो इसमें कोई विवाद नही है, परन्तु इससे पर्यायोकी उत्पत्तिमें केवलज्ञानकी उपयोगिता सिद्ध न होनेसे उसमे केवलज्ञानको बीचमें डालना अयुक्त

ही सिद्ध होता है। फलत केवलज्ञानके आधारपर पदार्थोंमें होने वाली पर्यायोंकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध माननेका कोई औचित्य नही रह जाता है।

सामान्यत' नियम भी यह है कि पदार्थोंमें पर्यायोकी उत्पत्ति कार्य-कारणभावके अनुसार ही होती है, केवलज्ञानके अनुसार नही। फिर केवलज्ञानी जीव पर्यायोकी उत्पत्तिको जिस रूपमें जानते है इसका ज्ञान जड पदार्थोंके साथ एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय असज्ञी तकके जीवोंको उनकी अक्षमताके कारण सम्भव नही है। तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव भी केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें वह उत्पत्ति कैसी प्रतिभासित हो रही हैं, इस बातको नही जान सकते हैं, इसलिए वे जीव कार्य-कारणभावका स्वकीय श्रुतज्ञानके आधार पर ज्ञान करके ही अपने विवक्षित कार्योंको सम्पन्न करनेका प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि जिसप्रकार केवलज्ञानी जीव पदार्थोंमें उत्पन्न होने वाली भूत, वर्तमान और भविष्यत् पर्यायोको जानते हैं उसीप्रकार मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव भी यथाशक्ति एकदेश उनको जानते हैं तथा ज्योतिषी भी ज्योतिषके आधारपर जानते हैं, परन्तु कार्य जब उत्पन्न होता है तब वह कार्य-कारणभावके अनुसार ही होता है। अतएव उत्तरपक्षने पदार्थोंमे होने वाली कार्योत्पत्तिमें जो केवलज्ञानको आधार मानकर उसके अनुसार उसकी व्यवस्था बतलाई है और इसप्रकार तत्वचर्चाका अनावश्यक विस्तार किया है उसे कदापि युक्त नही माना जा सकता है।

पूर्वपक्षने प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरमें (त०च०पृ० १६१ पर) कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी "कालाइ-लद्धिजुत्ता" इत्यादि गाथा २१९ की टीकाका उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि ओदन (भात) शक्तिसे युक्त चावल ईंधन, अग्नि, बटलोई, जल आदि निमित्तसामग्रीके मिलनेपर ही ओदनरूपताको प्राप्त होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थमें एक साथ अनेक स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उपादान-शक्तियोका सद्भाव रहते हुए भी प्रतिसमय जो कार्य उत्पन्न होता है वह प्राप्त निमित्तसामग्रीके अनुसार किसी एक उपादानशक्तिविशेषके अनुरूप होता है।

यद्यपि पूर्वपक्षके इस सही दृष्टिकोणकी भी आलोचना करते हुए उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमें (त०च०पृ० १६८ पर) उक्त गाथा २१९ में आये हुए 'सय' पदके आधारपर यह आशय बतलाना चाहा है कि सभी कार्य निमित्तसामग्रीकी सहायताके बिना अपने आप ही उत्पन्न होते हैं। निमित्त वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है, किन्तु उत्तरपक्षका 'सय' पदके आधारपर उक्त गाथासे ऐसा अभिप्राय निकालना मिथ्या ही है, क्योंकि गाथामें पठित उक्त 'सय' पदसे केवल यही आशय व्यक्त होता है कि उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, निमित्तसामग्री नही, यह तो उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक मात्र होती है। कार्य-कारणभावके प्रसगमें जहाँ भी आगममें 'सय' पद आया है वहाँ उसका यही अर्थ ग्रहण किया गया है।

त०च०पृ० १६८ पर उत्तरपक्ष द्वारा निर्दिष्ट 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' इस आगमवाक्यका भी यही अभिप्राय है कि उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है, निमित्तसामग्री नही। उसका कार्य तो उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होना ही है।

उत्तरपक्षने त०च०पृ० १६८ के अन्तमें यह लिखा है कि "जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है तब उसके अनुसार कार्य होता है, तो सिद्धोंके जिनमें वैभाविक शक्ति उस अवस्थामें भी विद्यमान है और लोकमे

सर्वत्र बाह्य निमित्तोकी भी विद्यमानता है तव उन्हें ससारी बननेसे कौन रोक सकता है" यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि ससारी बननेके लिए जैसी निमित्तसामग्री चाहिए उसका सद्भाव सिद्धोमें नही है।

तात्पर्य यह है कि जब तक जीवकी स्वकीय वैभाविक शक्तिके अनुसार राग-द्वेषरूप परिणति होती रहती है तब तक ही वह ससारी बना हुआ है। और उसका द्वेषरूप परिणमन राग-द्वेषरूप पुद्गलकर्मोंके उदयमें होता है, इसके अभावमे नही, इसलिए वैभाविक शक्तिका सद्भाव रहने हुए भी अनुकूल निमित्त-सामग्रीका अभाव रहनेके कारण सिद्ध जीव कभी ससारी नही बनते हैं।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका (त०च०पृ० १६९ पर) उक्त कथनके आगे निर्दिष्ट "क्योकि ऐसा मानने पर"—इत्यादि कथन निरर्थक और अयुक्त सिद्ध हो जाता है, क्योकि प्रकृत विषयमें आगमका अभिप्राय और पूर्वपक्षकी दृष्टि यही है जब कि कार्यकी उत्पत्ति पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्तिके आधारपर होती है, तो उसकी वह उत्पत्ति इस द्रव्यशक्तिके साथ निमित्तसामग्रीकी सहायतापूर्वक होती है।

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चाके उसी पृष्ठपर आगे जो यह लिखा है कि 'नियममें अनेकान्त लागू नही होता' सो यह तो ठीक है, परन्तु कठिनाई यह है कि उत्तरपक्ष उपादानकी स्व-परप्रत्यय कार्यरूप परिणतिमे निमित्तोको सर्वथा अकिंचित्कर मानकर निमित्तोकी सहायताके बिना मात्र परिणमनशक्तिके आधारपर उस परिणतिकी उत्पत्तिको नियतक्रमसे मानता है और इसे ही वह नियम बतलाता है। पर वह ठीक नही है, क्योकि यहाँ नियम यह है कि उपादान अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यरूप योग्यता विशिष्ट वस्तु अनुकूल निमित्तकारणोकी सहायतापूर्वक ही कार्यरूप परिणत होती है और यदि अनुकूल निमित्तोकी सहायता उपादानको प्राप्त हो, तो उस उपादानसे नियत स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति नियमसे होती है। "कालाइलद्धिजुत्ता" इत्यादि गाथासे भी यही सिद्ध है। तथा इसकी पुष्टि समयसार गाथा ८०, ९१ और १०५ से भी होती है।

पूर्वपक्षने अपनी द्वितीय प्रतिशकामें (त०च०पृ० १६१ पर) कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २१९ के अभिप्रायकी पुष्टिके लिए जो गाथा २२२ की टीकाको उद्धृत किया है वह निम्नप्रकार है—

"द्रव्य जीवादिवस्तु पूर्वपरिणामयुक्त पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते। तदेव द्रव्य जीवादिवस्तु उत्तरपरिणामयुक्त उत्तरपर्यायाविष्ट तदेव द्रव्य पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत मणि-मन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव।"

इसका अर्थ पूर्वपक्षने इसप्रकार लिखा है कि "जो जीवादि वस्तु पूर्वपर्यायकी हालतमें उपादान-कारणरूपसे रहती है वही जीवादि वस्तु यदि निर्मापक सम्पूर्ण निमित्तोके साथ मणि-मन्त्रादिक बाह्य सामग्री-द्वारा अप्रतिबद्ध सामर्थ्य और कारणान्तरावैकल्यसे सम्पन्न हो, तो वह उत्तरक्षणमें कायको निष्पन्न करती ही है अर्थात् उसको कोई वारण करनेमे समर्थ नही है।"

इसकी आलोचनामे उत्तरपक्षने (त०च०पृ० १६९ पर) यह कहा है कि "स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२ नम्बरकी गाथाकी टीकासे जो उसका यथार्थ तात्पर्य है वही प्रतिफलित करना चाहिए। उसमे **मणि-मन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणान्तरावैकल्येन के** पूर्व यदि 'यदि' अर्थको सूचित करने वाला कोई पाठ मूल टीकामें होता तब तो निमित्तोकी अनिश्चितता भी समक्षमें आती, परन्तु उसमें इस आशयको सूचित करने वाला कोई पाठ नही है, इसलिए उसे **'तदेव द्रव्य पूर्वपर्यायाविष्टंकारणभूत'**का विशेषण बनाकर ही उसका अर्थ करना चाहिए। और ऐसा अर्थ करने पर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसगति बैठ जाती है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपने कथनमे जो यह लिखा है कि "गाथा २२२ की टीकामे 'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणातरावैकल्येन' के पूर्व यदि 'यदि' "अर्थको सूचित करने वाला कोई पाठ मूल टीकामें होता तब तो निमित्तोकी अनिश्चितता भी समझमें आती" वह ठीक नही लिखा है, क्योकि वहाँ निमित्तोंकी अनिश्चितता 'यदि' शब्दके अर्थके सूचक पाठके विना भी अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके आधारपर निर्णीत होती है। फलत इसके लिए टीकामें वैसे पाठकी अनिवार्यता नही है। समयसार गाथा ८०, ९१ और १०५ का भी यही अभिप्राय है।

उत्तरपक्षने उसी कथनमें जो यह लिखा है कि "मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणान्तरावैकल्येन" इसको 'तदेव द्रव्य पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत' का विशेषण बनाकर उसका अर्थ करना चाहिए और ऐसा करनेपर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसंगति बैठ जाती है।" किन्तु उत्तरपक्षका यह कथत स्वधाय कृत्योत्थापन है, क्योकि उत्तरपक्ष उपादानकी कायरूप परिणतिमें निमित्तोको जब सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो उसके लिए निमित्त-उपादानके योगकी सगति बिठलाना निरर्थक ही है। पर हाँ, पूर्वपक्ष उपादानकी स्व-परप्रत्यय कार्यरूप परिणतिमें निमित्तोंको सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है, अत उसकी अपेक्षा ही उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्त उपादानके योगकी सगति बिठलाना युक्त है। इसके विपरीत उत्तरपक्षके लिए प्रतिज्ञाहानि दोष ही आता है।

उत्तरपक्षने (त०च०पृ० १६९ पर) आगे "अकामनिर्जरा व तपसे होने वाली निर्जराका शास्त्रमें विधान है इसमें सन्देह नही, पर कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नही है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मोंकी, कैसी योग्यताके होनेपर कैसी पद्धतिसे होती है" यह कथनकर आगे पृष्ठ १६९ से १७१ तक विस्तार से जो अन्य कथन किया है वह इस चतुराईसे किया है कि पाठक समझें कि कर्मशास्त्रका ज्ञान उत्तरपक्षको ही है, पूर्वपक्षको नही है। परन्तु उत्तरपक्षका यह कथन अयुक्त है, क्योंकि पूर्वपक्षने जो कुछ लिखा है वह कर्म-शास्त्रके अनुकूल ही लिखा है, उत्तरपक्षने ही अपना कथन कर्मशास्त्र के विरुद्ध लिखा है।

तात्पर्य यह है कि स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त दोनो ही अपेक्षित रहते हैं। फलत जिस कर्ममें अविपाकनिजराकी योग्यता पाई जाती है उसी कर्मकी अकामनिर्जरा या तपसे होनेवाली निर्जरा होती है। परन्तु वह निर्जरा तभी होती है जब उसके लिए अनुकूल सभी प्रकारके निमित्त मिल जाते हैं। और यदि उसके अनुकूल निमित्त नही मिलते हैं तो उस कर्मकी अविपाकनिर्जराकी योग्यता रहते हुए भी अविपाक निर्जरा न होकर सविपाक निर्जरा ही होती है। जैसे पूर्वमें वतलाया जा चुका है कि अकालमरण उसी जीवका होता है जिसमें आयुकमके अपघातकी योग्यता पाई जातो है। परन्तु उसका वह अकालमरण तभी होता है जब आयुकर्मके अपघातके लिए उसको विषपान आदि अनुकूल निमित्तसामग्री मिलती है। और यदि वह सामग्री नही मिली तो आयुकर्मका अपघात न होनेसे उसका अकालमरणकी योग्यता रहते हुए भी कालमरण ही होता है, अकालमरण नही होता। शकुन, अपशकुनका विचार करने एव बीमार पडने पर औपधोपचार करने आदि लौकिक प्रमाणो और मोक्षके हेतु धर्म-पुरुषार्थका उपदेश करनेवाले अनेक आगम प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है। अतएव उत्तरपक्षने "ऐसी निजरा किन कर्मोंकी, कैसी योग्यता होनेपर कैसी पद्धतिसे होती है" यह लिखकर आगे अपने पक्षके समर्थनमे जो कुछ लिखा है वह निरथक सिद्ध होता है। फलत उससे कर्मशास्त्रके विषयमें उसकी अनभिज्ञता ही प्रकट होती है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० १६९-७० पर लिखा है कि "जिस कालमें जिन कर्मोकी, जितने परिमाणमें, जिन परिणामोको निमित्तकर उत्कर्षित अपकर्षित, सक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है उस कालमे, उन कर्मोका, उतने परिमाणमें, उन परिणामोको निमित्तकर उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण और उदीरणा होती हैं ऐसा नियम है। जीवके विवक्षित परिणामोंके साथ उन कर्मोके अपकर्षणादिकी व्यवस्था की गई है। यह बात कर्मशास्त्रियोको सुविदित है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपने उपर्युक्त कथनमें जो यह लिखा है कि "जिस कालमें जिन कर्मोको जितने परिमाणमे जिन परिणामोंको निमित्तकर उत्कर्षित, अपकर्षित, सक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है उस कालमें उन कर्मोका उतने परिमाणमें उन परिणामोको निमित्तकर उत्कर्षण, अपकर्षण सक्रमण और उदीरणा होती है" इसका उत्तरपक्ष क्या अभिप्राय ग्रहण करना चाहता है? वह समझमें नही आया, क्योकि उसने उस कथनमें जिस ढगकी भाषा लिखी है उससे ज्ञात होता है कि उत्कर्षण आदिकी योग्यताके विकासमे आत्म-परिणामोकी निमित्तता उसे स्वीकार है। परन्तु यह उसकी मान्यताके विरुद्ध है। इसलिए उत्तरपक्षका उपर्युक्त कथनसे यदि यह अभिप्राय हो कि "नियत कालमें, नियत कर्मोका नियत परिमाणमे नियत परिणामोको निमित्तकर नियत योग्यताके आधारपर नियत उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण और उदीरणा होना निश्चित है, जैसाकि उसकी मान्यताको देखते हुए प्रतीत होता है, तो कहा जा सकता है कि वह पक्ष कर्मोके उत्कर्षणादिके होनेमें काल, जीवके परिणामो और कर्मोमें विद्यमान उत्कर्षणादिकी योग्यताको नियामक मानता है। परन्तु उसका यह मानना निम्न हेतुओंसे युक्त नही है—

१. मैं प्रश्नोत्तरकी सामान्यसमीक्षामें स्पष्ट कर चुका हूँ कि कार्योकी उत्पत्तिमे काल कारण नही होता और यदि वह कारण होता भी है तो किस रूपमे होता है इसे भी मैं स्पष्ट कर चुका हूँ। अत कर्मोके उत्कर्षणादिमें कालको नियामक मानना अयुक्त है। तात्पर्य यह कि जैनागममे कार्य जिस कालमें उत्पन्न होता है वही उस कार्यका स्वकाल माना गया है, कार्य किसी नियतकालमें ही उत्पन्न होता हो, ऐसा नही है। अतएव वह नियामक नही हो सकता है।

२ इसी तरह जीवके परिणाम भी उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार कर्मोके उत्कर्षणादिमें निमित्त-रूपसे नियामक नही हो सकते हैं, क्योकि वह पक्ष निमित्तकारणोको कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानके सहायक होने रूपसे कार्यकारी न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है। यद्यपि आगममें निमित्तकारणको कार्य-की उत्पत्तिमें उपादान कारणका सहायक होनेरूपसे कार्यकारी ही माना गया है और पूर्वपक्ष भी ऐसा ही स्वीकार करता है, परन्तु उत्तरपक्ष जब निमित्तको उपादानकी कार्यरूपसे परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्-कर मानता है तो उसकी दृष्टिसे प्रकृतमे जीवके परिणामोको भी नियामक नही माना जा सकता है।

३ इसी प्रकार कर्मोमें विद्यमान उत्कर्षणादि होनेकी योग्यता भी उत्तरपक्षकी दृष्टिसे नियामक सिद्ध नही हो सकती है, क्योकि वह योग्यता आगमके अनुसार कर्मोमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्ति रूप है और उसका कार्यव्यवहित पूर्वपर्यायरूप परिणमन, जिसे उत्तरपक्ष कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानकारण मानता है, सहकारी कारणोकी सहायतापूर्वक ही होता है। तथा उसके अव्यवहित उत्तरकालमे होने वाला स्वभावत विद्यमान उस द्रव्यभूत उपादानशक्तिका कार्यरूप परिणमन भी सहकारी कारणोकी सहायता पूर्वक ही होता है (देखो, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पत्राकार, निर्णयसागरीय पृ० ५२।

इससे स्पष्ट है कि उत्तरपक्षको मान्य योग्यता (उपादानशक्ति) विना सहकारी कारणोंके कुछ नही कर सकती है, जिन्हें उत्तरपक्ष सर्वथा अकिंचित्कर मानता है। फलत उल्लिखित योग्यता भी उत्तरपक्षकी मान्यतामें नियामक सिद्ध नही होती है।

इस प्रकार आगमकी कार्योत्पत्ति सम्बन्धी व्यवस्थाको समझने और मान्य करने पर ही उत्तरपक्षका "जिसकालमें जिन कर्मोंकी" इत्यादि कथन सुसगत हो सकता है, अन्यथा नही। इस सन्दर्भमें स्वामी कार्तिकेयकी अनुप्रेक्षागत "कालाइलद्धिजुत्ता" इत्यादि गाथा भी दृष्टव्य है, जिसमें सहकारीकारणोकी अनिवार्यता और उनके महत्त्वको स्पष्ट किया गया है।

आगे इसी त० च० पृ० १७० पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "बन्धकालमें जो स्थितिवन्ध और अनुभागबन्ध होता है सो उस कालमें ही उन-उन कर्मोंकी ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है जिससे नियत-काल आनेपर नियत परिणामो तथा वाह्य नोकर्मोंको निमित्तकर उन-उन कर्मोका अपकर्पणादिरूप परिणमन होता है।"

इसके आगे उसने यह लिखा है कि "यदि ऐसा न माना जाये तो एक तो कर्मशास्त्रमें जो उपशम करण, निघत्तिकरण और निकाचित करणकी व्यवस्थानुसार यह वतलाया गया है कि जो कर्म उदयमें नही दिये जा सकते उनकी उपशमकरण सज्ञा है। जो कम उदयमें नही दिये जा सकते और सक्रमणके अयोग्य होते हैं उनकी निघत्तिसज्ञा है। तथा जो कर्म उदयमें नही दिये जा सकते और जो सक्रमण, उत्कर्पण और अपकर्पण के अयोग्य होते है उनकी निकाचित संज्ञा है वह पूरीकी पूरी व्यवस्था गडवडा जाती है। दूसरे, उदीरणादिमे वह किस क्रमसे होती है और कितने कालमें होती है यह जो व्यवस्था कर्मशास्त्रमें वतलाई है वह व्यवस्था भी गडबडा जायेगी। उदाहरणार्थ जो उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्व-गुणस्थानमें आता है वह मिथ्यात्वमें रहते हुए सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वेलना पल्यके असख्यातवें भागप्रमाणकालमें करता है। उसमें भी प्रथम समयमे अमुक परिमाणमे उद्वेलना होती है, द्वितीय समयमे अमुक परिमाणमें उद्वेलना होती है इत्यादि रूपसे जो व्यवस्था वताई गई है वह व्यवस्था भी नही वन सकती। देवादिका सम्यक् निमित्त मिलनेपर वह अन्तर्मुहूर्तमें, एक दिनमे, एक पक्षमें, एक मासमें, एक वर्षमे या सैकडो वर्षोंमें उनकी उद्वेलना क्यो नही कर लेता है? क्योंकि उद्वेलनाके योग्य बाह्य सामग्री है ही, फिर अमुक काल ही उसके लिए लगे ऐसा नियम नही रहना चाहिए।"

समीक्षा—

प्रथम कथनके वावत पहली वात तो यह है कि जिस प्रकार स्थितिबन्धके अवसरपर कर्मोंकी निषेक-रचनामें यह व्यवस्था होती है कि अमुक निषेकके पश्चात् अमुक निषेक उदयमें आएगा उसी प्रकारका नियम उदीरणादिके विषयमें भी माना जा सकता है। दूसरे, कर्मशास्त्रमें जब यह व्यवस्था पाई जाती है कि सभी कार्य निमित्तसामग्रीके समागमके अनुसार ही होते है तो उनके न मिलनेपर वे कार्य नही भी होगे।

इसपर उत्तरपक्ष यदि यह कहे कि उन कार्योंके होनेके अवसरपर निमित्तसामग्रीका समागम भी नियमसे रहता है तो इस सम्बन्धमें कहा जा सकता है कि यदि निमित्तोका समागम हो तो कार्य भी नियमसे उत्पन्न होगा। परन्तु इससे उत्तरपक्षका यह कथन कि 'उन कार्योंके होनेके अवसरपर निमित्तसामग्रीका समागम नियमसे रहता है' युक्त सिद्ध नही हो सकता है, क्योंकि ऐसा मानना जैनागममें कर्मसिद्धान्तकी स्वीकृतिके विषयमें प्रश्नचिह्न लगा देता है। तथा जीवोके विषयमें कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाके अभावमें

संसार और मुक्ति दोनो केवल कल्पनाके ही विषय रह जावेंगे, क्योकि उसके अभावमे कर्मोके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयकी व्यवस्था नही बनेगी और उस स्थितिमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके समान सभी जीवोकी स्वत सिद्ध शुद्ध स्वाभाविक स्थिति बनी रहनेका प्रसग उपस्थित होगा, जो न आगम-सम्मत है और न पूर्वपक्षके समान उत्तरपक्ष भी माननेके लिए तैयार होगा। अत उत्तरपक्षको पूर्वपक्षकी तरह यह सिद्धान्त मानना अनिवार्य है कि निमित्तोका समागम होनेपर ही उत्कर्षण आदि कार्य होते हैं और निमित्तोंका समागम न मिलनेपर नही होते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ कर्मोंके उत्कर्षण आदि कार्यके अनुकूल निमित्त मिलते हैं वहाँ उन कर्मोंके उत्कर्षण आदि कार्य भी नियमसे सम्पन्न होते हैं, उन्हे कोई रोक नही सकता है। उत्तरपक्षको 'कालाइलद्धिजुत्ता' इत्यादि गाथाका भी यही आशय ग्रहण करना चाहिए।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षके आगेके सभी कथन भी अनावश्यक एव व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं, क्योकि पूर्वपक्षको मान्य आगमकी उपयुक्त मान्यताके अनुसार न तो उपशमकरण, न निधत्तिकरण और न निकाचितकरणकी व्यवस्था भग होगी और न कर्मशास्त्रमे प्रतिपादित सम्यक्त्वप्रकृति तथा सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति दोनोकी उत्तरपक्ष द्वारा सूचित उद्वेलनाकी व्यवस्थामें भी कोई बाधा उपस्थित होगी।

उत्तरपक्षने अपने उक्त कथनमें उद्वेलनाके विषयमे "देवादिका सम्यक् निमित्त मिलनेपर" यहाँसे लेकर "ऐसा नियम रखना चाहिए" यहाँ तक जो कहा है वह युक्त नही है, क्योकि उस अवसरपर उद्वेलनाके योग्य बाह्य सामग्रीका वैसा अनुकूल समागम सम्भव नही होता है जैसा उसका समागम उपर्युक्त प्रकार पल्यके असख्यातवें भाग प्रमाण कालमें होता है।

प्रश्न तो यह है कि क्या अनुकूल निमित्तोके अभावमें भी उद्वेलना हो सकती है ? उत्तरपक्षको इसी प्रश्नका समाधान खोजना था। ऐसा न कर उसने उपयुक्त कथन अप्रगत एव अनावश्यक ही किया है, क्योकि आगमकी व्यवस्था यह है कि न तो उपादान निमित्तोको मिलाता है और न निमित्त उपादानभूत वस्तुमें उपादानशक्तिको उत्पन्न करता है, किन्तु वस्तुमें कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्ति हो और उसके अनुकूल निमित्त सामग्रीका समागम हो जावे तो कार्य नियमसे उत्पन्न होता है। तथा जिस कालमें वह कार्य होता है वही उसका स्वकाल कहलाता है। इससे उत्तरपक्षका यह नियम निरस्त हो जाता है कि "प्रत्येक कार्य अपने-अपने स्वकालमें होता है।"

अपनी मान्यताके समर्थनमें उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७० पर ही आगे लिखा है कि "बन्धके योग्य एक प्रकारका अमुक परिणाम होनेपर जो बन्ध होता है उस परिणामको निमित्तकर मोहनीयकर्मकी सत्तर कोडाकोडी सागर स्थिति पडे और ज्ञानावरणादि कर्मोंका अन्य स्थितिबन्ध हो, स्थितिबन्धमें यह भेद कौन करता है ?"

इसके आगे वहीपर उसने यह लिखा है कि "एक शुभ परिणामके होनेपर विविध कर्मोमे जो अनुभागबन्धमें या योगके अनुसार प्रदेशबन्धमे भेद होता है वह भेद भी कौन करता है ?"

इसके भी आगे उसने यह लिखा है कि "प्रत्येक आत्माके साथ विस्रसोपचय इतना अधिक होता है कि यदि नया विस्रसोपचय सचित न हो और उसीमेंसे नया-नया बन्ध होता रहे तो भी वह चिरकाल तक समाप्त नही होगा। ऐसी स्थितिके रहते हुए भी किस समयमें विस्रसोपचयमेंसे किन कर्मवर्गणाओका कितने परिमाणमें बन्ध होगा यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्धयोग्य कर्मवर्गणाओका ही बन्ध होता है, अन्यका नही ऐसा फरक क्यों पडता है ?"

समीक्षा—

उत्तरपक्ष द्वारा उठाये गये इन तीनो प्रश्नोंका समाधान यह है कि उक्त भेदोका कारण यथायोग्य जीवके परिणाम, बाह्य सामग्री और कर्मवर्गणाओकी योग्यताका भेद ही समझना चाहिए।

आगे उत्तरपक्ष ने त० च० पृ० १७०-१७१ पर "ऐसा नियम है कि निमित्तकी निमित्तता कार्यके समयमें मानी गई है। अतएव" यह लिखकर उसने तीन अनुच्छेदोमें कहा है कि—

१ "जिस समय उपादान कारण कार्यरूपसे परिणमता है उस समय जो उसका निमित्तकारण है वह स्वय अपना उपादान बनकर अपनी पर्यायको उत्पन्न करनेके लिए व्यापार करता है या जिसका वह निमित्त है उसके व्यापारमें लगता है ? यदि कहो कि उस समय वह स्वयका उपादान बनकर करता तो अपना कार्यरूप व्यापार ही है, किन्तु जिसका वह निमित्त है उसके कार्यरूप व्यापारको नही करता है तो फिर दोनोने जबकि उस समय एक साथ अपने-अपने कार्यको करनेका व्यापार किया ऐसी अवस्थामें निमित्तके अनुसार उपादानको परिणमना पड़ता है यह नियम कैसे बन सकता है ?"

२ जिस समय उपादान अपना कार्य करता है उस समय जो उसका निमित्त है वह स्वयंका उपादान बनकर अपना कार्य न करके मात्र जिसका वह निमित्त है उसका व्यापार करता है तो फिर दोनोका मिलकर एक व्यापार दिखलाई देना चाहिए। उदाहरणार्थ, जिस समय कुम्भकार घटका निर्माण करता है उस समय उक्तप्रकारसे मिट्टीमें ही दोनोंके परिणमनकी क्रिया दिखलाई देनी चाहिए। मिट्टीमें होनेवाला परिणमनरूप क्रियाके साथ कुम्भकारके जो हाथ आदि हिलते हुए दिखलाई देते हैं वे नही दिखलाई देने चाहिए।"

३ "जिससमय उपादान अपना कार्य करता है उस समय उसका जो निमित्त है वह अपना कार्य तो करता ही है पर उसके साथ-साथ जिसका वह निमित्त है उसका भी व्यापार करता है तो इसप्रकार उसे एक साथ उपादान बनकर अपनी और जिसका वह निमित्त है उसकी इसप्रकार एक साथ दो क्रियायें करनी पडेंगी। परन्तु ऐसा तो जिनागममें माना नही गया है कि एक पदार्थ दो क्रियाका कर्ता हो।"

उक्त तीनों अनुच्छेदोंमें किये गये कथनके निष्कर्षके रूपमें आगे त० च०, पृ० १७१ पर उत्तरपक्षने यह भी लिखा है कि 'अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादानके कार्यके प्रति दूसरे एक या एक से अधिक जिन द्रव्योकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-व्यवहार होता है वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसी का कार्य नही करता, परन्तु उन सब द्रव्योंके उस-उस कालमें उस-उस रूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायात्मक उपादानयोग्यता सहज ही होती है और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनोकी इस बाह्य व्याप्तिको देखकर ही उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ऐसा मानना यहाँ आगमानुकूल है।"

समीक्षा—

उक्त अनुच्छेदोमें उत्तरपक्षने जो उपर्युक्त आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे आगमके अभिप्रायको और पूर्वपक्षकी दृष्टिको नही समझनेके कारण उपस्थित की गई है।

आगमका अभिप्राय और पूर्वपक्षकी दृष्टि यह है कि विश्वमें जड और चेतन दो प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं। वे सभी पदार्थ परिणमनशील । अर्थात् उनका स्वभाव परिणमन करनेका है और उनके वे परिणमन कालद्रव्यकी अखण्ड पर्यायरूप एक-एक समयके आधारपर विभक्त होकर पूर्वोक्त प्रकार यथायोग्य स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्ययरूपमें सतत हो रहे हैं। इससे निर्णीत होता है कि यद्यपि सभी पदार्थोके स्वप्रत्यय

और स्व-परप्रत्यय दोनो प्रकारके परिणमन उन पदार्थोंमें विद्यमान स्वकीय द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर ही होते हैं, परन्तु स्वप्रत्यय परिणमनोकी अपेक्षा स्व-परप्रत्यय परिणमनोमें यह विशेषता पाई जाती है कि उनकी उत्पत्तिमे अन्य पदार्थ भी सहायक होने रूपसे कारण होते हैं।

इसप्रकार उत्तरपक्ष यदि आगमके अभिप्रायको और पूर्वपक्षकी दृष्टिको समझ लेता तो उसने उक्त अनुच्छेदोमें जितनी आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं उन्हे वह उपस्थित नही करता, क्योकि आगमके अभिप्रायमे और पूर्वपक्षकी दृष्टिमें निमित्त न तो उपादानका कार्य करता है न निमित्त और उपादान दोनोका एक कार्यरूप परिणमन होता है और न निमित्त स्व और उपादान दोनोकी क्रियाओको करता है। वह केवल अपनी ही क्रिया करता है। इतनी बात अवश्य है कि निमित्तभूत जड और चेतन दोनो प्रकारके पदार्थ प्रतिसमय यद्यपि अपना-अपना ही कार्य करते हैं, परन्तु अन्य जड और चेतन पदार्थोंमे उनके उस व्यापारकी सहायताके आधारपर उपादानशक्तिके अनुसार परिणमन भी होते हैं। यही कारण है कि जड और चेतन दोनो ही प्रकारके पदार्थोंको उनसे भिन्न पदार्थोंके परिणमनमें सहायक होने रूपसे कार्यकारी ही माना गया है, सर्वथा अकिंचित्कर नही माना गया है।

इस विवेचनसे यह सिद्धान्त निर्णीत होता है कि जड और चेतन सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण उनकी स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर वे ही स्व-परप्रत्यय परिणमन होते हैं जिनके अनुकूल निमित्त-की सहायता उनको प्राप्त होती है और यदि उनको अन्य पदार्थोंकी सहायता प्राप्त होती है तो तदनुकूल स्व-परप्रत्यय कार्य नियमसे होते हैं, उन्हें कोई भी रोक नही सकता है। उन पदार्थोंको निमित्तोकी सहायता या तो विस्रसा प्राप्त होती है अथवा प्रायोगिक ढङ्गसे प्राप्त होती है।

इनके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि सज्ञीपचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अन्त करणमें जब स्वमे अथवा अन्य पदार्थमे किसी कार्यके सम्पन्न करनेकी अभिलाषा जागृत होती है तब वे जीव उस अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए सकल्प करते हैं और फिर बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं। परन्तु उन्हे यदि अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए अनुकूल निमित्त सामग्रीकी सहायता प्राप्त हो जाती है व स्व या अन्य पदार्थमें उस अभिलषित कार्यकी स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्ति भी विद्यमान रहती है, तो उनका अभि-लषित कार्य नियमसे सम्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत यदि वे जीव स्व अथवा अन्य पदार्थमें अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए सकल्प न करें अथवा सकल्प करनेपर भी तदनुकूल बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ न करें अथवा यह सब करनेपर भी उन्हें अपने अभिलषित कार्यके अनुकूल बाह्य निमित्त कारणोका सहयोग न मिले अथवा बाह्य निमित्त कारणोका सहयोग मिलनेपर भी स्व मे या उस अन्य पदार्थमें उनके उस अभि-लषित कार्यरूपसे परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्तिका अभाव हो तो उनका वह अभिलषित कार्य कदापि सम्पन्न नही होगा।

जड और चेतन पदार्थोंमें स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे अथवा सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अभिलषित कार्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें आगमका यही अभिप्राय है और पूर्वपक्षकी दृष्टि भी यही है। अतएव इस सम्बन्धमे उत्तरपक्षकी जो यह मान्यता है कि 'जब उपादान अपना कार्य करता है तब निमित्त भी उसीके अनुकूल प्राप्त होते हैं' वह बात असगत सिद्ध हो जाती है। तथा आगमके अनुसार पूर्वपक्षकी जो यह मान्यता है कि 'जिस कार्यके अनुकूल उपादानको निमित्तोका समागम प्राप्त होता है उसके अनुरूप ही कार्यकी उत्पत्ति होती है' वह सगत सिद्ध हो जाती है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यके प्रारम्भमें जो यह लिखा है कि "ऐसा नियम है कि निमित्तकी निमित्तता कार्यके समयमें ही मानी गई है" वह तो ठीक है, परन्तु सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको निमित्तकी निमित्तताका यदि कार्योत्पत्तिके पूर्व ज्ञान न हो तो वह अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए अभिलषित निमित्तोंका उपयोग नही कर सकता है। जैसे निमित्तोंकी निमित्तताका ज्ञान कुम्भकारको यदि पहलेसे न हो तो वह मिट्टीसे होनेवाले घटकी उत्पत्तिके लिए निमित्तभूत दण्ड, चक्र आदि सामग्रीका उपयोग नही कर सकेगा। अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके आधारपर निर्णीत यह व्यवस्था उत्तरपक्षके लिए विचारणीय हो जाती है।

आगे उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७१ पर यह कथन किया है कि "शब्द विवक्षित वाक्योका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते है, अत यदि ३२१-३२२ सख्यक गाथाओ द्वारा मात्र नियति (निश्चय) के अनुसार ही कथन किया गया है तो इसका अर्थ यह नही कि उन गाथाओ द्वारा व्यवहार पक्षका भी कथन किया जाना चाहिए था और नही किया गया है तो वह कथन एकान्त हो जाएगा। कथन कही प्रमाणकी अपेक्षा किया गया है, कही व्यवहारनयकी अपेक्षा कथन किया गया है और कही निश्चयनय की अपेक्षा कथन किया गया है। इसलिए जहाँ जिस नयकी अपेक्षा हो उसी रूपमें घटितकर विवक्षित प्रमाणरूप अर्थको फलित कर लेना चाहिए। यही शास्त्रके अर्थ करनेकी पद्धति है जो शास्त्रकारोने सर्वत्र अपनाई है।"

समीक्षा—

यद्यपि उत्तरपक्षका उक्त कथन विवादका विषय नही है, किन्तु विवादका विषय यह है कि उत्तरपक्ष एक ओर तो उपादानभूत वस्तुमें होनेवाली विवक्षित कार्योत्पत्तिके अवसरपर निमित्तकारणकी उपस्थितिको अनिवार्य मानता है और दूसरी ओर वह उपादानकी कार्योत्पत्तिमें निमित्तको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है, तो ये परस्पर विरुद्ध दोनो बातें कैसे हो सकती हैं ?

इसके अतिरिक्त ज्ञातव्य बात यह है कि जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह उपादान कहलाती है और जो वस्तु उपादानभूत वस्तुकी उस कार्यरूप परिणतिमे उसकी सहायता करती है वह निमित्त कहलाती है। कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें आगमकी यही व्यवस्था है। अतएव उत्तरपक्ष निमित्तको उपादानकी कार्योत्पत्तिमें जब सर्वथा अकिंचित्कर मानता है, तो उसकी मान्यता आगमविरुद्ध ही सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि आगममे उपादानकारणताको निश्चयनयका विषय मानकर निमित्तकारणताको जो व्यवहारनयका विषय माना है वह इस आधारपर माना है कि निमित्तकारण उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होता है। यद्यपि वह स्वय कार्यरूप परिणत नही होता, तथापि इतने मात्रसे उसकी सहायक कारणता निरस्त नही होती।

उत्तरपक्ष उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारणको सहायक न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है। किन्तु उसका ऐसा मानना आगम-विरुद्ध है, क्योकि आगममें जहाँ अभेद और स्वाश्रितताको निश्चयनयका विषय माना है वहाँ भेद और पराश्रितताको व्यवहारनयका विषय माना है। फलत जिस प्रकार निश्चयनयके विषयभूत अभेद और स्वाश्रितता वस्तुके धर्म सिद्ध होते हैं उसी प्रकार व्यवहारनयके विषयभूत भेद और पराश्रितता भी वस्तुके धर्म सिद्ध होते हैं। दोनो नयोंके विषयभूत उन धर्मोंमें मात्र इतना अन्तर है कि जहाँ उपादानता स्वाश्रिततारूप होनेसे स्वभावरूप धर्म सिद्ध होता है वहाँ निमित्तता पराश्रिततारूप होनेसे आरोपित या उपचरित धर्म सिद्ध होता है। फिर भी वे दोनो ही वस्तुके धर्म हैं।

यत उत्तरपक्ष स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तको सहायक होनेरूपसे कार्यकारी न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है, अत उसकी दृष्टिमें वह निमित्त व्यवहारनयका भी विषय नही हो सकता है। इस प्रकार निमित्तके व्यवहारनयका विषय न हो सकनेसे निश्चयनयकी विषयभूत कारणता एकान्तरूप हो जानेसे उसे मिथ्यैकान्त ही माना जायेगा।

अपने मतकी पुष्टिके लिए उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७१-७२ पर जो पद्मपुराण, कविवर भगवतीदासजी और स्वयभूस्तोत्रके वचनोको प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है वह भी उक्त कथनके साथ अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार उत्तरपक्षने आगे त० च०, पृ० १७२-७३ पर "पूर्वबद्ध आयु कर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो सम्भव नही, निषेकस्थिति अपकर्षण ही हो सकता है" यहाँ से लेकर "किन्तु जब लोकमे चारो गतियोकी और गत्यागति आदिकी सब सुनिश्चित व्यवस्था है तो ऐसी अवस्थामें अकालमरणके कथनको व्यवहारनयका ही कथन जानना चाहिए" यहाँतक जो प्रतिपादन किया है वह भी अयुक्त एवं व्यर्थ सिद्ध हो जाता है, क्योकि पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्ष अकालमरणको व्यवहारनयका ही विषय मानता है। इतना ही नही, वह तो कालमरणको भी व्यवहारनयका ही विषय स्वीकार करता है। आगमके अनुसार निश्चयनयका विषय तो जीवकी अमरता ही सिद्ध होती है।

उत्तरपक्षने अपने उक्त वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "पूर्वबद्ध आयु कर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो सम्भव नही, निषेकस्थिति अपकर्षण ही हो सकता है" इस नियमको ध्यानमें रख कर जिन जीवोमे वह निषेकस्थिति अपकर्षण नही होता उन जीवोका आयु कर्म इस नियमका अपवाद है यह दिखानेके लिए ही तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ५३ मे नियम वचन आया है सो उससे प्रकृत समस्याका समाधान नही हो सकता है एवं पूर्वपक्षको उत्तरपक्षके उक्त कथनको मान्य करनेमें कोई आपत्ति भी नही है। दूसरे, पूर्वपक्ष जब कालमरण और अकालमरण दोनोको ही व्यवहारनयका विषय मानता है तो उत्तरपक्षका पूर्वपक्षके प्रति यह आक्षेप करना कि "उसपरसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है" मिथ्या हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्वपक्ष ही उत्तरपक्षसे यह प्रश्न कर सकता है कि वह कालमरणको निश्चयनयका विषय किस आधारपर मानता है? क्योकि कालमरण और अकालमरण दोनो ही पराश्रित होनेके कारण व्यवहारनयके ही विषय सिद्ध होते हैं, केवल जीवकी अमरता ही स्वाश्रित होनेके कारण निश्चयनयका विषय है।

अपने कथनमे उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७२-७३ पर अकालमरणको कालमरण सिद्ध करनेके लिए प्रयत्न किया है। उसमें उसने यह हेतु भी दिया है कि 'अकालमरणको स्वीकार करनेपर अकालजन्म भी स्वीकार करना होगा जो सम्भव नही है।' तथा अकालजन्मकी असम्भवताकी पुष्टिके लिए उसने वहींपर विस्तारसे आगे और भी कथन किया है, परन्तु उसका यह सब प्रयत्न सर्वथा अयुक्त है। इस अयुक्तताको आगे सिद्ध किया जाता है—

षट्खण्डागमकी टीका धवला पु० १०, पृ० २३३ पर यह वचन पाया जाता है कि **"परभविआउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि"**

अर्थ—परभव-सम्बन्धी आयुके बँधनेके पश्चात् भुज्यमान आयुका कदलीघात नही होता। अर्थात् जिस जीवने परभवकी आयुका बन्ध कर लिया हो उसका अकालमरण नही होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस जीवके परभवकी आयुका जिस समय बंध होता है उस समय उस आयुका आबाधाकाल भी निश्चित हो जाता है। अर्थात् वह आयु कब उदयमे आएगी यह बात भी उसी समय निश्चित हो जाती है। अब यदि ऐसे जीवका अकालमरण होता है तो उस समय आबाधाकाल होनेसे उस आयुका उदय नही होगा, इसलिए उस जीवके जन्मको अकालजन्म ही मानना होगा, सो इसका निषेध करनेके लिए ही धवलाकारने उक्त वचन निबद्ध किया है जिसके आधारपर अकालजन्मका प्रसग समाप्त हो जाता है।

भाव यह है कि जन्मके साथ आयु कर्मका उदय होना आवश्यक है, क्योंकि पूर्व आयुकी समाप्ति और उत्तर आयुका अनुदय रहनेपर उस जीवकी गतिका निर्णय करना असम्भव हो जाएगा। यह स्थिति न हो, इसके लिए ही धवलाकारको उक्त वचन निबद्ध करना पडा है।

यद्यपि पूर्वपक्षने जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चामें प्रकृत प्रश्नोत्तरके तृतीय दौरमें इस बातको स्पष्ट किया है, परन्तु मैंने इस समीक्षामे भी उसका विवेचन आवश्यक समझ कर किया है।

पूर्वपक्षने अपने मतकी पुष्टिके लिए अपने द्वितीय दौरमें त० च०, पृ० १६३ से १६५ तक 'अकालमे दिव्यध्वनि', 'निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय', 'अनियतगुणपर्याय', 'क्रम-अक्रम परिणमन', 'द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय', 'निमित्त-उपादानकारण' और 'केवलज्ञानकी अपेक्षा' इन शीर्षकोंसे जो विवेचन किया है उसकी आलोचना उत्तरपक्षने अपने द्वितीय दौरमे त० च०, पृ० १७३ से ७७ तक की है। उसकी यहाँ समीक्षा की जाती है—

समीक्षा—

पूर्वपक्षने अनियत समयमें होनेवाली कार्योत्पत्तिके समर्थनमें त० च० पृ० १६३ पर लिखा है कि "तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिका काल यद्यपि नियत होता है तथापि बाहरी प्रबल निमित्तकारण मिलनेपर असमयमें भी उस नियमको भगकर दिव्यध्वनि खिरा करती है" और इसके समर्थनमें उसने वहीपर जयधवला पुस्तक १, पृ० १२६ के प्रमाणको प्रस्तुत किया है। एव उसमे आगत "इयरकालेसु" पदका 'अन्यकालोंमें' अर्थ करके यह बतलाया है कि नियतकालोंके अलावा अन्य कालोंमें भी तीर्थकरकी दिव्यध्वनि खिरती है।

उत्तरपक्षने इसकी आलोचनामें 'इयरकालेसु' पदका पूर्वपक्षको मान्य अर्थ स्वीकार करके भी त० च०, पृ० १७३ पर लिखा है कि "इस द्वारा दिव्यध्वनि कब-कब खिरती है यह नियम किया गया है। जिसका जो नियम हो वह उसका स्वकाल है, अकाल नही' यह लिखकर उस इतरकालको भी उसने दिव्य-ध्वनिका नियतकाल मान लिया है। तथा इसके समर्थनमे उसने वहीपर जयधवला पुस्तक-१, पृ० १२६ का अन्य वचन भी प्रस्तुत किया है और उसमे पठित 'काललद्धीए' पदके आधारपर उस वचनका उसने अपनी मान्यताके अनुसार यह अभिप्राय बतलाना चाहा है कि महावीरकी दिव्यध्वनि जिस समयमें खिरी उस समयमें ही उसका खिरना नियत था। परन्तु 'काललद्धीए' पदके आधारपर उस वचनका उत्तरपक्ष द्वारा यह अभिप्राय स्वीकार किया जाना अयुक्त है, क्योंकि भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि जिस समय खिरी उसी समय उसका खिरना यदि नियत था तो सम्यक्दृष्टि और अवधिज्ञानी सौधर्म इन्द्रको भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेके लिए निमित्तकारणभूत गणधरकी खोज करना आवश्यक नही होना चाहिए चाहिये था, क्योंकि नियत समयके आनेपर भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि गणधरके अभावमे भी अवश्य खिरती। यदि कहा जाए कि सौधर्म इन्द्रका गणधरकी खोज करना भी नियत था, तो इस बातको बुद्धिगम्य नही माना जा सकता है, क्योंकि इस प्रकार जयधवलाके कर्ताका सौधर्मइन्द्रके उस प्रयत्नका सम्बन्ध भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेके साथ जोडना व्यर्थ हो जाता है। यदि फिर भी कहा जाए कि जिस समय उपादान

अपना कार्य करता है उस समय निमित्त भी वहाँ उपस्थित रहता है, इसलिए सौधर्मइन्द्रने गणधरकी खोज की थी, तो यह भी असंगत है, क्योकि उत्तरपक्ष गणधरकी उपस्थितिको भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेमें जब अकिंचित्कर मानता है तो उसके भी मतसे जयधवलाके कर्ताका सौधर्म इन्द्रके उस प्रयत्नका सम्बन्ध भगवान् महावीरको दिव्यध्वनि खिरनेके साथ जोडना व्यर्थ हो जाता है। दूसरे, भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेके अवसरपर गणधरकी उपस्थिति उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार नियतिके आधारपर अनायास हो ही जाती, उसके लिए सौधर्मइन्द्रको गणधरकी खोज करनेकी आवश्यकता नही थी।

इसके अतिरिक्त मैं प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें स्पष्ट कर आया हूँ कि स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभावके आधार पर ही होती है। फलत वहाँ निमित्तको अकिंचित्कर नही माना जा सकता है। अतएव दिव्यध्वनि खिरनेके लिए गणधरकी उपस्थिति आवश्यक सिद्ध हो जाती है व सौधर्म इन्द्रका गणधरकी खोज करना भी सार्थक सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपक्षने अनियत समयमें होनेवाली कार्योत्पत्तिके समर्थनमें त० च०, पृ० १६३ पर ही निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय बतलाते हुए राजवार्तिक अध्याय-१, सूत्र-३, पृ० २४ पर निर्दिष्ट "कालानियमाच्च निर्जराया." वार्तिकको प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है और लिखा है कि "इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग अनुकूल निमित्तकारण प्राप्त कर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मुक्त होता है, अत कर्मनिर्जरा और कर्ममुक्तिका समय नियत नही है।"

इसकी आलोचनामें उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७४ पर लिखा है कि "निर्जरा और मुक्तिका काल अनियत है यदि यह सिद्धान्त माना जाता है तो जैसा कि पूर्वमे बतला आये हैं तदनुसार निमित्त-उपादानकी सम्यक् व्यवस्था ही नही बन सकती" सो उसका यह लिखना असगत ही है, क्योकि वह कर्मसिद्धान्तके विरुद्ध है। इस बातको मै त० च०, पृ० १६९ से ७१ तक निर्दिष्ट उत्तरपक्षके कथनोकी समीक्षा करते हुए स्पष्ट कर चुका हूँ।

उत्तरपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमे श्लोकवार्तिक, पृ० ७० पर निर्दिष्ट "कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतु न केवल, तथा प्रतीतेः" तथा श्लोकवार्तिक पृ० ७० पर ही निर्दिष्ट "**क्षीणकषाय-प्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्**" इन दोनो वचनोंको भी त० च० पृ० १७४ पर उपस्थित किया है। पर उत्तरपक्षने इन दोनो वचनोको उपस्थित कर बडी भूल की है, क्योकि ये दोनो वचन उसके साधक न होकर पूर्वपक्षके ही साधक हैं।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त वचनोका आशय यह है कि यद्यपि मोहक्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु है, तथापि क्षीणकषाय गुणस्थानके प्रथम समयमें मोहक्षयका सद्भाव रहते हुए भी जो केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती है इसका कारण यह है कि वहाँ केवलज्ञानके प्रकट होनेकी कालादि सामग्रीका अभाव है। अर्थात् यह नियम है कि मोहक्षयके अनन्तर जब तक ज्ञानावरणकर्मकी पाँच, दर्शनावरणकर्मकी छह और अन्तराय-कर्मकी पाँच इस प्रकार सोलह प्रकृतियोका क्षय नही होता तबतक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती है। यत उक्त सोलह प्रकृतियोका क्षय यथायोग्य क्षीणकषायरूप बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयोमे ही होता है, अत क्षीणकषायरूप द्वादशगुणस्थानके उपान्त्य समयमें दर्शनावरणकर्मकी निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोका और अन्त्य समयमे शेष ज्ञानावरणकर्मकी पाँच, दर्शनावरणकर्मकी चार और अन्तरायकर्मकी पाँच

इस प्रकार चौदह प्रकृतियोका क्षय होनेपर उसके अनन्तर त्रयोदश गुणस्थानके प्रथम क्षणमें ही केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है। तत्त्वार्थसूत्रके अ० १० के प्रथमसूत्र "मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्" का भी यही अभिप्राय है। इस प्रकार उत्तरपक्ष द्वारा उपस्थित श्लोकवार्तिकके उपर्युक्त दोनो वचनोंके आधारपर भी कार्योत्पत्तिका नियत समय सिद्ध नही होता है।

पूर्वपक्षने अनियत समयमें होनेवाली कार्योत्पत्तिके समर्थनमें त० च०, पृ० १६३ पर पचास्तिकायकी गाथा १५५ को भी उपस्थित किया है। परन्तु इसके विरोधमें उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७४ पर लिखा है "पंचास्तिकायकी १५५वी गाथामें आये 'णियदो' और 'अणियद' पदोके प्रकृत अर्थको छोडकर नियत और अनियत अर्थ करके जो गुण-पर्यायोको नियत और अनियत सिद्ध किया गया है वह सगत नही है।" तथा उसे स्पष्ट करनेके लिए उसने उक्त गाथा और उसकी टीकाको उपस्थित कर आगे उसका अर्थ भी लिखा है। तथापि इससे भी उसके (उत्तरपक्षके) अभिप्रायकी पुष्टि नही होती, क्योकि प्रवचनसारकी गाथा १५५ और उसकी टीकामें स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि जीव स्वभावसे ज्ञान और दर्शनरूप अपने स्वभावमें नियत है, परन्तु अनादिकालसे वह मोहनीयकर्मके उदयकी अधीनतामें रहनेके कारण उपयोगकी विकृति हो जानेसे अनियत गुण-पर्यायरूप परसमयताको प्राप्त हो रहा है। यदि वह अनादिकालीन उस मोहकी अधीनतामें होनेवाली उस विकृतिको समाप्त करके उपयोगके शुद्ध हो जानेपर नियत गुणपर्यायरूप स्वसमयताको प्राप्त होता है तो कर्मबन्धसे अवश्य ही छूट जाता है।

इस प्रकार पचास्तिकायकी उक्त गाथा तथा उसकी टीकासे यही सिद्ध होता है कि मोहनीयकर्मके उदयमें अनादिकालसे जीवकी परिणति अनियतगुण-पर्यायरूप हो रही है। अत उत्तरपक्षकी जो यह मान्यता है कि 'जिसकी जब जो पर्याय होना नियत है वही होती है' वह युक्त नही है, प्रत्युत उस गाथासे पूर्वपक्षकी "निमित्तकारणोंके अनुसार वस्तुकी पर्याय नियत और अनियत दोनों प्रकारसे होती है" यह मान्यता ही पुष्ट होती है। जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षामें प्रेरक निमित्तकारणका यह लक्षण निर्धारित किया गया है कि जिस निमित्तकारणके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं वह प्रेरक निमित्तकारण हैं। इस लक्षणसे भी निर्णीत होता है कि प्रेरक निमित्त कारणके आगे-पीछे मिलनेके आधारपर कार्यकी उत्पत्तिको भी आगे-पीछे किया जा सकता है।

पूर्वपक्षने त० च०, पृ० १६३ पर वस्तुके क्रम-अक्रम परिणमनके समर्थनमें धवला पुस्तक १३ के पृष्ठ ३४९ पर निर्दिष्ट वचनको भी उपस्थित किया है। और उस आधार पर त० च० पृ० १६४ पर उसने जो लिखा है उससे निर्णीत होता है कि निमित्तकारणोके आधारपर पर्यायें क्रमिक और अक्रमिक दोनो रूप होती हैं।

ध्यातव्य है कि पूर्वपक्षके इस कथनकी उत्तरपक्षने आलोचना नही की है। क्यो नही की? यह समझमें नही आया।

पूर्वपक्षने अनियत समयमे होनेवाली कार्योत्पत्तिकी पुष्टिके लिए त० च०, पृ० १६४ पर "द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय" शीर्षकसे जो लिखा है उसकी आलोचना उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७५ पर की है और उसमें उसने सर्वप्रथम पूर्वपक्षके आशयके रूपमें "आचार्य वीरसेनके जयधवला पुस्तक १, पृ० २८९ के उल्लेख परसे प्रतिशकामें यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपर निर्भर है। जबतक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग नही मिलता तबतक प्रागभावका नाश नही होता, सब कार्योंका

कोई स्वकाल न होनेसे कार्य क्रमसे भी होते हैं और अक्रमसे भी होते हैं। अक्रमसे होते हैं अर्थात् क्रमको छोड़कर होते हैं" इतना लिखकर इसके आगे इसकी आलोचनामें उसने (उत्तरपक्षने) यह लिखा है कि "अब यहाँ विचार यह करना है कि क्या जयधवलाके उक्त वाक्यसे यह अर्थ फलित होता है ?" तथा इसको स्पष्ट करते हुए उसने जयधवलाके वाक्यपर विचार करनेसे पूर्व उस वाक्यको भी उद्धृत किया है जो निम्न-प्रकार है—

"पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भावावेक्खाए जायदे" इसका अर्थ उसने (उत्तरपक्षने) यह लिखा है कि "प्रागभावका विनाश भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होता है।"

इसके अनन्तर उसने यह भी लिखा है कि "अब इस वचनपर विचार कीजिए—प्रागभाव और उपादान इन दोनोका एक ही अर्थ है और इस द्वारा मात्र इतना कथन किया गया है कि प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसापेक्ष होता है। इसमें यह नही कहा गया है कि यदि द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि न मिलें तो कार्य नही होता। अत इसपरसे क्रम-अक्रम परिणामका समर्थन करना तो योग्य नही है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके उक्त कथनका यही आशय हो सकता है कि जयधवलाका उक्त वचन मात्र अन्वय रूपसे ही लिखा गया है, व्यतिरेक रूपसे नही लिखा गया है। अत इससे मात्र इतना ही सिद्ध होता है कि "प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसापेक्ष होता है। इससे यह सिद्ध नही होता कि यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि न मिलें तो कार्य नही होगा।' सो इसकी समीक्षामें एक बात तो यह कहना चाहता हूँ कि वक्ता अपनी विवक्षाके अनुसार पृथक्-पृथक् तीन प्रकारसे कथन करता है—केवल अन्वयरूपसे, केवल व्यतिरेकरूपसे व अन्वय और व्यतिरेक दोनो रूपमे, क्योंकि वक्ता अपने अभिप्रायको तीनो प्रकारसे प्रकट कर सकता है।

दूसरी बात यह कहना चाहता हूँ कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्ष द्वारा उद्धृत जयधवलाका उक्त वचन अधूरा ही प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्षने उसका जो उद्धरण दिया है वह इस प्रकार है—

"पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भावावेक्खाए जायदे।
तदो ण सव्वदा दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं ॥"

इसका अर्थ भी पूर्वपक्षने वहाँ यह दिया है कि "प्रागभावका नाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती है और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लेकर होता है, इसलिए द्रव्यकर्म सर्वदा अपने फलको उत्पन्न नही करते हैं—यह सिद्ध होता है।"

इससे यह निष्कर्ष सहजमें निकल आता है कि यदि अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका समागम न हो तो प्रागभावका विनाश नही होता। और उसका विनाश न होनेपर द्रव्यकर्म सर्वदा अपना फल नही देते हैं।

आगे वहीपर उत्तरपक्षने लिखा है कि "रही कर्मादिकके संक्रम आदिकी बात, सो ऐसा मान लेनेपर कि 'कर्मका उदय होनेपर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोंका फल नही मिलता' यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिसपर इस समय लिखना उचित न होगा। विशेष प्रसंग आनेपर अवश्य ही विचार करेंगे। संक्रमादिके विषयमें पूर्वमें विचारकर ही आए हैं।"

समीक्षा—

यहाँ पहली बात तो यह कही जा सकती है कि पूर्वपक्षके उक्त कथनको उत्तरपक्ष यदि गम्भीर प्रश्न समझता था तो उसे प्राथमिकता देकर उसपर यही विचार करना आवश्यक था। उसे टालकर उसने उचित कार्य नही किया है।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि जब आगमके अनुसार अरिहृत भगवान्‌के असाता वेदनीय कर्मका उदय सातारूपसे होता है, नरकमें साता वेदनीय कर्मका उदय असाता वेदनीयके रूपमें होता है व देवगतिमें दु खदायक साधन न होनेसे असाता वेदनीय कर्मका उदय दु खदायक नही होता तो पूर्वपक्षके उक्त कथनको आगमविरुद्ध नही कहा जा सकता है।

तीसरी बात यह है कि कर्म बाह्य निमित्तोके सहयोगसे ही अपना फल देता है। जैसे जबतक अनुकूल निमित्तोका सहयोग मिलता रहता है तबतक जीवकी आयु सुरक्षित रहती है और यदि विषपान आदि प्रतिकूल बाह्य निमित्तोका सहयोग जीवको मिल जाता है तो उसकी आयुका आघात हो जाता है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें यह लिखा है कि "संक्रमादिके विषयमें पूर्वमें विचारकर ही आए हैं" सो उसकी समीक्षा भी पूर्वमें की जा चुकी है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें यह भी लिखा है कि "अतएव उपादान निश्चयपक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहारपक्ष होनेसे यही मानना चाहिए कि दोनोका मेल होनेपर कार्य होता है" पर यह तो पूर्वपक्ष भी मानता है। उसी वक्तव्यमें उत्तरपक्षने आगे यह भी लिखा है कि "सिद्धान्त यह है कि निश्चय उपादानके प्राप्त होनेपर यत इस समय जो अन्य वस्तुकी पर्याय उसका निमित्त है वह अपने परिणमनके लिए उसी समय निश्चय उपादान भी है" सो यह भी विवादका विषय नही है। परन्तु उसी वक्तव्यके अन्तमें उत्तारपक्षने जो यह लिखा है कि "इसलिए प्रत्येक समयमें निश्चय-व्यवहारनयका सुमेल होते जानेसे प्रत्येक कार्य अपने-अपने कालमें ही होता है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए" सो यह विषय विवादका है, क्योकि इस सम्बन्धमें आगमके अनुसार उत्तरपक्षके लिए यह बात विचारणीय हो जाती है कि निमित्तभूत द्रव्यके परिणमनमें उस उपादानभूत वस्तुके परिणमनकी अपेक्षा होनेवाला निमित्त व्यवहार और उपादानभूत वस्तुके उसी परिणमनमें निमित्तभूत वस्तुके परिणमनकी अपेक्षा होनेवाला नैमित्तिक व्यवहार अकारण नही है। इसप्रकार आगमके अनुसार यही निर्णीत होता है कि उपादानभूत वस्तुमे होनेवाले परिणमनमें निमित्तभूत वस्तुका परिणमन सहायक होनेरूपसे कार्यकारी होता है। इसका समर्थन समयसार गाथा ८०, ९१ और १०५ से होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उपादान और निमित्त दोनो ही वस्तुएँ एक साथ अपना-अपना क्रिया-व्यापार करते हुए भी उस अवसरपर निमित्तभूत वस्तुका क्रिया-व्यापार उपादानभूत वस्तुके जिस परिणमनके अनुकूल होता है वही स्व-परप्रत्यय परिणमन उस अवसरपर उपादानभूत वस्तुका होता है। फलत उपादानके प्रत्येक समयमें होनेवाले स्व-परप्रत्यय परिणमनमें मात्र नियतक्रमता न होकर प्राप्त निमित्तोंके अनुसार नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनो ही स्थितियोंकी सिद्धि होती है।

पूर्वपक्षने अपनी मान्यताके समर्थनमें त० च०, पृ० १६५ पर जो प्रकरण 'निमित्त-उपादानकारण' शीर्षकसे लिखा है वहाँ उसने सिद्ध किया है कि स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानभूत द्रव्य और उसके कार्यमें उपादानोपादेयभावरूप व निमित्तभूत द्रव्य और उपादानभूत द्रव्यके उसी कार्यमें निमित्त-नैमित्तिक-

भावरूप दोनो प्रकारके कार्यकारणभाव आगममे स्वीकार किये गये हैं। फलत: निर्णीत होता है कि उपादानभूत द्रव्यमें स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति निमित्तभूत द्रव्यकी सहायतासे होती है। इसप्रकार वह उत्पत्ति यथाप्राप्त निमित्तोंके अनुसार होनेसे नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७६ पर पूर्वपक्षकी आलोचना करते हुए सर्वप्रथम यह कथन किया है कि "कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त इन दो का कारणरूपसे उल्लेख किया गया है इसका तात्पर्य यह नही कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नही होगा ऐसा अर्थ करना संगत नही है। जबकि शास्त्रकारोने उपादानकी अन्तर्व्याप्ति और निमित्तकी बाह्यव्याप्तिका निर्देश किया है। ऐसी अवस्थामें दोनोकी व्याप्ति एक साथ प्रत्येक समयमे मिलती रहती है और प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्यको उत्पन्न करता रहता है।" सो यह तो ठीक है, परन्तु इसके आगे उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "प्रत्येक समयमें द्रव्यका परिणमन अन्यथा नही बन सकता और न ही उपादान और निमित्तकी विषमव्याप्ति बनाई जा सकती है" यह ठीक नही है, क्योकि आगममें यही बतलाया गया है कि उपादानमें प्रत्येक समयमें जो स्व-परप्रत्यय कार्य उत्पन्न होता है वह उसमें पाई जानेवाली स्वाभाविक द्रव्यरूप उपादानशक्तिके आधार-पर निमित्तकी सहायताके अनुसार हो उत्पन्न होता है। फलत: 'द्रव्यका परिणमन अन्यथा नही बन सकता और न ही उपादान और निमित्तकी विषमव्याप्ति बनाई जा सकती है' यह कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने अपने मन्तव्यके समर्थनमे प्रमेयकमलमार्तण्ड (पुस्तकाकार) २, २, पृ० २०१ के इस कथनको प्रस्तुत किया है कि—"यदप्यभिहित शक्तादशक्ताद्वा तस्या: प्रादुर्भाव इत्यादि। तत्र शक्तादेवास्या प्रादुर्भाव। न चानवस्था दोषाय—बीजाकुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य। वर्त्तमाना हि शक्ति प्राक्तनशक्ति-युक्तेनार्थेनाविर्भाव्यते, सापि प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पर्वपूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोत्तरावस्थाप्रादुर्भाववत्"।

इस उद्धरणका अर्थ उत्तरपक्षने निम्न दिया है—

"और जो यह कहा है कि समर्थ उपादानसे ही द्रव्य-पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है या असमर्थ उपादानसे उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है इत्यादि। उसमें समर्थ उपादानसे ही द्रव्य-पर्याया-त्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है। और अनवस्था दोषके लिए नही है, क्योकि बीजाकुरप्रवाहके समान उसका प्रवाह अनादि है। वर्तमान शक्ति पूर्वशक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है। वह भी उससे पूर्वकी शक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है। इसप्रकार पूर्व-पूर्व अवस्थायुक्त पदार्थोंका उत्तरोत्तर अवस्थारूपसे जैसा प्रादुर्भाव होता है उसीप्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।"

समीक्षा—

प्रमेयकमलमार्तण्डके उक्त उद्धरणका जो अभिप्राय उत्तरपक्षने समझा है वह सही नही है, उसे यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

प्रमेयकमलमार्तण्डके उक्त उद्धरणका सही अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। इस-लिए उसमें प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। परन्तु वह परिणमन आगमके अनुसार दो प्रकारका होता है। एक स्वप्रत्यय होता है, जो सहकारी (निमित्तभूत) द्रव्योकी सहायताके विना ही होता है और दूसरा स्व-परप्रत्यय होता है, जो सहकारी (निमित्तभूत) द्रव्योकी सहायतापूर्वक होता है। ये दोनो ही परिणमन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी द्रव्यभूत योग्यता)के अनुसार बीजाकुरके समान एकके बाद एक प्रवाहके रूपमें अनादिकालसे प्रतिक्षण होते आये हैं और अनन्तकालतक प्रतिक्षण होते

जायेंगे। किन्तु उनमेंसे जो स्व-परप्रत्यय परिणमन हैं वे उस उपादानशक्तिके आधारपर होकर भी निमित्तोंकी सहायताके अनुसार ही होते हैं। इससे यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि स्वप्रत्यय परिणमन मात्र उपादान-शक्तिके आधारपर होनेके कारण प्रतिसमय नियतक्रमसे होते हैं और स्वपर-प्रत्यय परिणमन उपादानशक्तिके अतिरिक्त निमित्तसामग्रीकी सहायतापूर्वक होनेके कारण निमित्तोंके समागमके अनुसार नियतक्रम और अनियत-क्रम दोनो प्रकारसे होते हैं।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका त० च०, पृ० १७६ पर निर्दिष्ट "इसप्रकार निमित्त-उपादानकी अपेक्षा विचार करनेपर सब कार्योंकी उत्पत्ति नियतक्रमसे ही होती है ऐसा निर्णय करना समीचीन है" यह कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सभी पदार्थोंमें उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) सर्वथा स्वभावत विद्यमान रहती है और उन पदार्थोंके सतत परस्पर यथायोग्य सयुक्त या बद्ध रहनेके कारण कार्योत्पत्तिके लिए निमित्तसामग्रीका सहयोग भी उन्हें प्रतिसमय प्राप्त होता रहता है। अत उनमें होनेवाले स्व-परप्रत्यय परिणमन भी स्वप्रत्यय परिणमनोंके समान प्रतिसमय होते रहते हैं। परन्तु वे परिणमन निमित्त-सामग्रीकी प्राप्त सहायताके अनुरूप यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होते हैं। जैसे जीव जब तक क्रोध, मान, माया और लोभ पुद्गलकर्मोके साथ बद्ध रहता है तबतक इनके अनुसार उसमे स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत वैभाविक शक्तिके आधारपर उसका प्रतिसमय क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप या लोभरूप कोई विभाव परिणमन हो सकता है। परन्तु उस जीवमें जब क्रोधकर्मका उदय रहता है और जबतक रहता है तब और तबतक तो उसका वह परिणमन क्रोधरूप होता है और उसमे जब क्रोधपुद्गलकर्मका उदय न होकर मान, माया या लोभ पुद्गलकर्मका उदय होता है और जबतक होता रहता है तब और तबतक उसका वह परिणमन क्रोधरूप न होकर मान, माया या लोभ पुद्गलकर्मके उदयके अनुसार मान, माया या लोभरूप होता है। इस प्रकार विचार करनेपर ज्ञात होता है कि स्व-परप्रत्यय परिणमन उपादानशक्तिके आधारपर प्रति-समय होकर भी यथाप्राप्त निमित्तोंके बलसे नियतक्रम या अनियतक्रमरूपमें होते हैं। अर्थात् नियतरूपसे भी होते हैं और अनियतरूपसे भी होते हैं।

आगे उसी वक्तव्यमें उत्तरपक्षने प्रमेयकमलमार्तण्डके उक्त कथनके आधारपर जो प्रत्येक समयके उपादानकी सम्यक् व्यवस्था बननेकी बात कही है और उसके साथ जो यह कथन किया है कि "उक्त उल्लेखमें उसे समर्थ उपादान प्रतिपादित किया गया है" सो यह कथन स्वप्रत्यय परिणमनकी अपेक्षा ही युक्त है, स्वा परप्रत्यय परिणमनकी अपेक्षा युक्त नही है, क्योकि उपादानमें स्व-परप्रत्यय परिणमनकी उस सामर्थ्यक विकास निमित्तकी सहायतासे ही होता है। यह बात पत्राकार प्रमेयकमलमार्तण्डमें उपयुक्त कथनसे अव्यव-हित पूर्वमें पत्र ५२ पर निर्दिष्ट कथनसे स्पष्ट ज्ञात होती है। वह कथन निम्नप्रकार है—

"यच्चोच्यते शक्तिर्नित्याऽनित्या वेत्यादि, तत्र किमय द्रव्यशक्तौ पर्यायशक्तौ वा प्रश्न स्यात्, भावाना द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिर्नित्यैव, अनादिनिधनस्वभावत्वाद्द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्वनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात्पर्यायाणाम्। न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षयै-वार्थस्य कार्यकारित्वानुषग., द्रव्शक्तेः केवलाया. कार्यकारित्वानभ्युपगमात्। पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी, विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्वप्रतीतेः। तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया। इति पर्यायशक्तेस्तदैव भावान्न सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसगः सहकारिकारणा-

पेक्षावैयर्थ्यं वा। कथमन्यथा अदृष्टेश्वरादे केवलस्यैव सुखादिकार्योत्पादनसामर्थ्ये सर्वथा कार्योत्पादकत्व सहकारिकारणापेक्षावैयर्थ्यं वा न स्यात् ?"

अर्थ—"और जो यह कहा जाता है कि शक्ति नित्य है या अनित्य ? इत्यादि। सो यह प्रश्न द्रव्यशक्तिके विषयमे है या पर्यायशक्तिके विषयमे, क्योकि पदार्थ, द्रव्य और पर्याय उभयशक्तिसे युक्त होते हैं ? उक्त दोनो शक्तियोंमेंसे द्रव्यशक्ति नित्य ही है, क्योकि द्रव्य अनादिनिधन स्वभाववाला होता है व पर्यायशक्ति अनित्य ही है, क्योकि पर्यायें सादि-सात होती हैं। वहाँ द्रव्यशक्तिके नित्य होनेसे ऐसा नही समझना चाहिए कि सहकारी कारणोकी अपेक्षाके बिना ही पदार्थमें कार्यकी उत्पत्ति हो जायेगी, क्योकि केवल द्रव्यशक्ति कार्यकारी नही हो सकती है। पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है, कारण कि पर्यायविशेषसे युक्त द्रव्यमे ही कार्यकारित्वकी प्रतीति होती है। पदार्थकी पर्यायरूप परिणति सहकारीकारणके आधारपर होती है। फलत पर्यायशक्तिके सहकारीकारणकी सहायतासे होनेके कारण सर्वदा कार्यकी उत्पत्तिकी प्रसक्ति नही होती है और न सहकारी कारण ही व्यर्थ सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो प्रश्नकर्ताके मतमे भी केवल अदृष्ट और ईश्वर आदिमें सुखादि कार्योंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य होनेसे सदा कार्योंका उत्पादकपना स्वीकार करनेका प्रसग उपस्थित होगा तथा सहकारीकारणोकी अपेक्षा भी व्यर्थ सिद्ध हो जायेगी।"

प्रमेयकमलमार्तण्डके इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति केवल उपादानशक्तिसे नही होती, अपितु सहकारीकारण-सापेक्ष उपादानशक्तिसे ही उनकी उत्पत्ति होती है। सहकारीकारण यत नियतक्रम और अनियतक्रमसे उपलब्ध होते है, अत स्व-परप्रत्यय कार्य भी नियतक्रम और अनियतक्रमसे उत्पन्न होते हैं। इससे उत्तरपक्षका "इसप्रकार निमित्त उपादानकी अपेक्षा विचार करनेपर' " इत्यादि अनुच्छेद सम्बन्धी सम्पूर्ण कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

आगे उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७६ पर ही यह कथन किया है कि "उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति है" सो उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्तिको तो पूर्वपक्ष भी मानता है। परन्तु उत्तरपक्ष जिस आधारपर उस समव्याप्तिको मानता है उस आधारपर उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध न होनेके कारण पूर्वपक्ष उस समव्याप्तिको उससे भिन्न आधारपर स्वीकार करता है। अर्थात् उत्तरपक्ष उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति इस आधारपर मानता है कि निमित्तोकी प्राप्ति प्रतिसमय उपादानके कार्योंके अनुसार ही होती है, जबकि उपर्युक्त विवेचनसे उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति इस आधारपर सिद्ध होती है कि उपादानसे प्रतिसमय उसी स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति होती है जिसके अनुकूल उस अवसरपर उस उपादानको निमित्तोकी प्राप्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि प्रतिसमय उपादानमे प्रतिनियत कार्यके अनुरूप निमित्तोकी प्राप्ति होती हो, ऐसा नही है, अपितु ऐसा है कि प्रतिसमय जैसे निमित्त उपलब्ध हो उनके अनुरूप ही उपादानसे उस अवसरपर स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति होती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवमे जहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ चारो कर्मोंकी सत्ता एक साथ रहती है वहाँ उनके उदयके अनुसार जीवकी भाववतीशक्तिके क्रोध, मान, माया और लोभरूप परिणतियोकी उपादान शक्तियोंका सद्भाव भी उस जीवमे एक साथ पाया जाता है। परन्तु उन चारो उपादानशक्तियोंमेंसे उस जीवमें प्रतिसमय उसी उपादानशक्तिका मानसिक परिणमन होता है जिसके अनुकूल उस समय निमित्तसामग्रीका समागम होता है। इससे निर्णीत होता है कि प्रतिसमय जैसे निमित्त उपलब्ध हो उनके अनुसार ही उपादानशक्तिसे स्व-परप्रत्यय कायकी उत्पत्ति उस अवसरपर होती है।

आगे उत्तरपक्षने उपादानका यह लक्षण निर्धारित किया है कि 'अनन्तरपूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान कहते हैं' सो यह तो ठीक है, परन्तु इसका अभिप्राय गलत निकालकर उसके आधारपर उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी आलोचनामें जो यह कथन किया है कि "यह सुनिश्चित लक्षण होनेपर भी यह लिखना कि 'कार्यके प्रति जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है'—युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योकि प्रत्येक पदार्थ उपादान बनकर प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य कर रहा है। उसमें कही किसी प्रकारकी गडबडी नही देखी जाती। यदि निमित्ताधीन कार्यकी व्यवस्था होती तो द्रव्यको जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला आगममें सर्वत्र स्वीकार किया गया है वह नही बन सकता" सो इसे मिथ्या ही समझना चाहिए, क्योकि पूर्व-पक्ष प्रत्येक द्रव्यको उत्तरपक्षके समान उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वभाववाला मानता है और भी आगमके अनुसार यह स्वीकार करता है कि सभी द्रव्य उपादान बनकर प्रतिसमय यद्यपि अपना-अपना कार्य करते है, परन्तु साथमें वह यह भी मानता है कि वे कार्य यदि स्वप्रत्यय हो तो उनकी उत्पत्ति प्रतिसमय द्रव्योंके मात्र उक्त परिणमन-स्वभावके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती हैं। और यदि वे कार्य स्व-परप्रत्यय हो तो उनकी उत्पत्ति द्रव्योके उक्त परिणमनस्वभावके आधारपर प्रतिसमय होनेपर भी उन्ही निमित्तोंके अनुसार होती है जिनके अनुकूल उस अवसरपर निमित्तोका समागम रहता है। फलत यह निर्णीत होता है कि जब जैसे निमित्त मिलते है तब उनके अनुकूल ही स्व-परप्रत्ययकार्योंकी उत्पत्ति प्रतिसमय नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे उत्तरपक्षका त० च०, पृ० १७६-७७ पर निर्दिष्ट "क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नही किया" यहाँ से लेकर "और जिन्हें प्रतिबन्धक कारण कहा जाता है सो यह कथन विवक्षित कार्यकी अपेक्षासे ही किया गया है" यहाँ तकका सम्पूर्ण कथन निरर्थक सिद्ध हो जाता है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है—

यद्यपि पूर्वपक्ष मानता है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक स्व-परप्रत्यय कार्य अनुकूल निमित्तोकी सहायतासे ही होता है, उसकी सहायताके बिना नही होता, तथापि वह (पूर्वपक्ष) इस बातको अस्वीकार करता है कि किसी द्रव्यको किसी समय यदि अनुकूल निमित्त नही मिले तो उस समय वह अपना स्व-परप्रत्यय कार्य नही करता है, क्योंकि वह पक्ष भी प्रत्येक द्रव्यकी स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्ति प्रतिक्षण मानता है। तथा इस मान्यताकी सगतिके लिए वह यह भी मानता है कि जब सभी द्रव्य सर्वदा परस्पर यथायोग्य सयुक्त या बद्ध होकर ही रह रहे हैं, तो उन्हें प्रतिक्षण निमित्तोका सहयोग प्राप्त होनेमें कोई बाधा नही है। अतएव उत्तरपक्षने अपने कथनमें पूर्व-पक्षके प्रति आपत्ति प्रस्तुत करनेके रूपमें जो यह लिखा है कि "क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नही किया" वह निरर्थक ही है।

उत्तरपक्षने उसी कथनमें आगे जो यह लिखा है कि "किसी विवक्षित द्रव्यसे किसी विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यको उत्पत्तिकी अपेक्षासे व्यापार किया गया था परन्तु बीचमें कुछ ऐसी सामग्री उपस्थित हो गई जिस कारण वह विवक्षित कार्य या तो विवक्षित समयमें नही हो सका या हो ही नही सका" सो यह भी मेरे उपर्युक्त हेतुपरक कथनसे निरर्थक सिद्ध हो जाता है, क्योकि उस अवसरपर भले ही विवक्षित या प्रकृत स्व-परप्रत्यय कार्य न हो सके, फिर भी प्राप्त निमित्तानुसार अविवक्षित या अप्रकृत कार्यके होनेमें कोई बाधा उपस्थित नही होती है।

उत्तरपक्षकी मान्यता है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिसमय नियत कार्य ही उत्पन्न होता है और उस अवसर-पर उसे नियमसे उस कार्यके अनुकूल ही निमित्त मिलते है। यही कारण है कि उसे पूर्वपक्षकी 'उपादानमें

प्रतिसमय प्राप्त निमित्तोंके अनुरूप ही स्व-परप्रत्यय कार्य होता है' यह मान्यता स्वीकार्य नही है। परन्तु पूर्वमें स्पष्ट कर दिया गया है कि पूर्वपक्षकी मान्यता ही अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणोंसे सम्मत होनेके कारण सम्यक् है, उत्तरपक्षकी मान्यता उन प्रमाणोंसे सम्मत न होनेके कारण सम्यक् नही है।

उपर्युक्त विवेचनसे उत्तरपक्षका यह सम्पूर्ण लेख निरस्त हो जाता है कि "क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नही किया इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तोके अभावमें कार्य नही होता या किसी विवक्षित द्रव्यसे किसी विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे व्यापार किया गया था परन्तु बीचमें कुछ ऐसी सामग्री उपस्थित हो गई जिस कारण वह विवक्षित कार्य या तो विवक्षित समयमें नही हो सका या हो ही नही सका, इसलिए यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तोंके अभावमें कार्य नही होता। इनमेंसे प्रथम पक्षके स्वीकार करनेपर तो आगमविरोध आता है, क्योकि सूक्ष्म-स्थूल जड-चेतन ऐसा एक भी द्रव्य नही है जो प्रत्येक समयमें परिणमन न करता हो और प्रत्येक समयमें परिणमन करना यही उसका स्वभाव है, अतएव इस आधारसे विचार करनेपर अनुकूल निमित्त न मिलनेसे कार्य नही हुआ यह तो कहा नही जा सकता। दूसरे पक्षके स्वीकार करनेपर यह तो कहा जा सकता है कि जैसी इच्छा हुई थी उसके अनुसार कार्य नही हुआ। पर किसी पदार्थने किसीकी इच्छाके अनुसार परिणमन करनेका ठेका थोडे ही लिया है। और जिन्हें प्रतिबन्धक कारण कहा जाता है सो वह कथन विवक्षित कार्यकी अपेक्षासे ही किया गया है।"

उत्तरपक्षके उक्त लेखके निरस्त होनेका आधार यह है कि वह पूर्वपक्षकी मान्यताका विरोध करनेमे अक्षम है, क्योकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्वपक्षकी मान्यतासे यह सिद्ध नही होता कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नही मिले या अनुकूल निमित्त मिलनेपर भी बीचमें बाधक कारण उपस्थित हो गये तो उस अवसरपर वह द्रव्य अपना कोई कार्य न करके सर्वथा अकिंचित्कर ही बना रहता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षकी मान्यतासे यह भी सिद्ध नही होता कि उपादानसे सर्वदा व्यक्तिकी इच्छाके अनुरूप ही कार्य होता है क्योकि पूर्वपक्षकी मान्यताके आधारपर यही सिद्ध होता है कि निमित्त यदि व्यक्तिकी इच्छाके अनुरूप हो तो उसकी उस इच्छाके अनुकूल कार्य होता है और निमित्त यदि व्यक्तिकी इच्छाके प्रतिकूल हो तो उसकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य होता है।

उत्तरपक्षने अपने उसी लेखमें आगे यह भी लिखा है कि "इसमें सन्देह नही कि प्रत्येक पदार्थ कार्य तो स्वय ही करता है निमित्त उसका कार्य नही करता। परन्तु जिस कार्यका जो निमित्त होता है उसकी अनुकूलता होने पर और जो जिसका अनुकूल निमित्त नही है उसके अभावमें ही वह कार्य होता।" सो यह तो उसने ठीक लिखा है परन्तु उसने जो यह लिखा है कि "पर यह नियम विवक्षित कार्यकी अपेक्षा सिद्धान्तरूपसे स्वीकार किया गया है।" सो यह उसने आगमके अभिप्रायको न समझनेके कारण गलत ही लिखा है, क्योकि स्व-परप्रत्यय कार्य चाहे विवक्षित हो या अविवक्षित हो तथा वह कार्य सूक्ष्म-स्थूल, जड-चेतन किसी भी द्रव्यका हो तथा वह पुरुषार्थ (जीवकृत प्रयत्न) पूर्वक प्राप्त निमित्तोंकी सहायतासे हो रहा हो अथवा पुरुषार्थके बिना प्राकृतिक ढगसे प्राप्त निमित्तोकी सहायतासे हो रहा हो सर्वत्र उक्त नियमकी सिद्धान्तरूपसे स्वीकृति अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणोंसे सम्मत है। फलत उत्तरपक्ष द्वारा

उसके आगे यह लिखा जाना कि "अविवक्षित कार्यकी अपेक्षा विचार करनेपर तो तब भी उस पदार्थने अपना कार्य किया जब उक्त स्थितिके रहते हुए भी विवक्षित कार्य नही हुआ" निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने उसी वक्तव्यमें आगे जो यह लिखा है कि "अतएव जैसा कि आगम प्रमाणसे सिद्ध कर आये हैं प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है यह नियम स्वीकार कर लेना चाहिए" सो यह उसने आगमके अभिप्रायको गलत रूपमें समझनेके कारण ही लिखा है, क्योकि आगमका जो सही अभिप्राय है उसे मैं पूर्वमे वही स्पष्ट कर चुका हूँ जहाँ उत्तरपक्षने आगमके आधारपर अपना मन्तव्य सही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

आगे उत्तरपक्षने "पूरे उपचरित और अनुपचरित कारणोका विचार करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं" यहाँसे लेकर "अतएव प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रमनियत होता है अनियतक्रमसे नही होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए" यहाँ तक जितना कथन किया है उसपर पूर्वपक्षने प्रकृत प्रश्नोत्तरके अपने तृतीय दौरमें विस्तारसे विचार किया है, इसलिए इस विषयमें यहाँ विचार करना आवश्यक नही समझा गया है। पूर्वपक्षके उस कथनकी उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरमें जो आलोचना की है उसकी समीक्षा तृतीय दौरकी समीक्षा करनेके अवसर पर की जायेगी।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनके लिए अन्तमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके पद्य ३२१ और ३२२ को पुन उद्धृत कर उसकी शुभचन्द्राचार्यकृत संस्कृतटीकाको भी उद्धृत किया है, परन्तु उक्त पद्यका अभिप्राय प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। तथा आचार्य शुभचन्द्रकृत टीकाका भी वही अभिप्राय ग्रहण करना युक्त है।

तात्पर्य यह है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उक्त गाथायें और उनकी आचार्य शुभचन्द्र कृत टीका सभी पूर्वपक्षके लिए प्रमाण है, परन्तु अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगमके आधारपर उनकी सगति किस रूपमें सिद्ध होती है इस बातको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव उन गाथाओ और उनकी उक्त टीकाका अभिप्राय उस समीक्षाके आधारपर समझा जा सकता है। इसलिए उसके आधारपर उत्तरपक्षको अपना मत पुष्ट करनेका प्रयत्न करना अनुचित है।

इसी प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'गाथा ३२३ में और आचार्य शुभचन्द्रकृत टीकामें जो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके लक्षणोका निर्देश किया गया है वह भी पूर्वपक्षके लिए मान्य है। अतएव पाठकोको यह निर्णय करना है कि प्रकृतमें उस गाथा और उसकी उक्त टीकाका क्या उपयोग हो सकता है? इसके लिए उन्हें प्रकृत प्रश्नोत्तरकी इस समीक्षासे यथेष्ट सहायता प्राप्त हो सकती है।

अन्तमें मैं यह और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि पूर्वपक्षकी ओरसे अपने द्वितीय दौरके अन्तमें "केवलज्ञानकी अपेक्षा" शीर्षकमें जो यह लिखा गया है कि "उपलब्ध क्रमिक-अक्रमिक निमित्त तथा उपादान कारणोके अनुसार होने वाली पदार्थोंकी क्रमिक-अक्रमिक पर्यायें केवलज्ञानमें उसी क्रम-अक्रमिक रूपसे झलकती हैं" इसका आशय इस रूपमे ग्रहण करना ही युक्त है कि पर्यायोकी उत्पत्ति तो नियतक्रम और अनियतक्रमसे होती है, परन्तु नियतक्रम और अनियतक्रमसे हुई, हो रही और आगे होने वाली उन पर्यायोका प्रतिभासन केवलज्ञानमें नियतक्रमसे ही होता है। केवलज्ञानके आधारपर कार्योंकी उत्पत्तिको नियत मान्य करनेका सिद्धान्त प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें निराकृत किया जा चुका है।

४. प्रश्नोत्तर ५ के तृतीय दौरकी समीक्षा

तृतीय दौरमे पूर्वपक्ष द्वारा अपनी मान्यता-पुष्टि :

पूर्वपक्षने अपने तृतीय दौरमे प्रमाणाधारपर उत्तरपक्षके प्रथम और द्वितीय दौरोकी आलोचना करते हुए अपने इस मन्तव्यकी पुष्टि की है कि द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायोंमेंसे कोई पर्यायें नियतक्रमसे उत्पन्न होती हैं और कोई पर्यायें अनियतक्रमसे उत्पन्न होती हैं।

उत्तरपक्षके तृतीय दौरका आद्य वक्तव्य—

उत्तरपक्षने अपने तृतीय दौरके प्रारम्भमें (त० च०, पृ० २४९) यह कथन किया है कि "प्रथम उत्तरमे इस प्रश्नका समाधान हमने दो प्रकारसे किया है—एक तो केवलज्ञानकी अपेक्षा और दूसरे आगममे स्वीकृत उपादानके सुनिश्चित लक्षणकी अपेक्षा। इन दोनो अपेक्षाओसे समाधान करते हुए यह सिद्ध कर आये हैं कि द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं। साथ ही इसे आलम्बन बनाकर प्रतिशका २ में विरोध स्वरूप जो प्रमाण और तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उनका भी सागोपाग विचार उसके उत्तरमें कर आये हैं।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके इस कथनके सम्बन्धमें मात्र इतना कहना पर्याप्त है कि अपने प्रथम और द्वितीय दौरोमें उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो समाधान किया है उसकी समीक्षा प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षासे व प्रथम और द्वितीय दौरोकी समीक्षाओसे अवगत हो जाती है, क्योकि वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि न तो केवलज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण पर्यायोकी उत्पत्ति मात्र नियतक्रमसे सिद्ध होती है और न उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत उपादानके लक्षणके आधारपर उनकी उत्पत्ति मात्र नियतक्रमसे सिद्ध होती है।

उत्तरपक्षका आगेका वक्तव्य—

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २४९ पर ही "अपरपक्ष द्वारा प्रत्येक कार्यका स्वकालमें होना स्वीकार" शीर्षक के अन्तर्गत पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १८१ पर निर्दिष्ट "यह हम मानते है कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है, कारण कि केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोका केवलज्ञानी जीवोको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैन सस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। इसी आधारपर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है" इस कथनको उद्धृत कर उसके सम्बन्धमे लिखा है कि "अपरपक्षने सर्वप्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें उल्लिखित जिन पाँच आगम-प्रमाणोके आधारसे यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है' इसकी हमें प्रसन्नता है। हमे विश्वास है कि समग्र जैन-परम्परा इसमें प्रसन्नताका अनुभव करेगी, क्योकि प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्थाका प्राण है। इमे अस्वीकार करनेपर न तो केवलज्ञानकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न वस्तुव्यवस्थाके अनुरूप कार्य-कारणपरम्परा ही सुघटित हो सकती है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने उक्त कथन करते समय जो पूर्वपक्षके कथनका उद्धरण दिया है उसमें उस कथनके

अशभूत प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है' इस कथनके आगेका "परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिसकालमें होती है उस कालमें वह उत्पत्ति इस आधारपर नही होती कि उस कालमें उसका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योकि वस्तुकी जिस कालमें जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जानना मात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नही है" इस अंशको छोड दिया है। तथा उसने पूर्वपक्षके त० च० पृ० १६५ पर निर्दिष्ट यतश्च 'केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नही है और कार्य कारकके अनुसार होता है, ज्ञापकके आधारपर नही' इस कथनको भी दुर्लक्षित कर दिया है। फलत उसने 'अपरपक्ष द्वारा प्रत्येक कार्यका स्वकालमें होना स्वीकार' शीर्षकके अन्तर्गत पूर्वपक्षके सम्बन्धमें जो भी लिखा है वह सब व्यर्थ है, क्योकि पूर्वपक्षके उक्त कथनसे केवलज्ञानकी ज्ञापकता ही सिद्ध होती है, कारकता नही।

यद्यपि उत्तरपक्षने त० च० पृ० २४९ पर 'केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नही' शीर्षकके अन्तर्गत पूर्वपक्षके 'परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है'—इत्यादि कथनको उद्धृत कर उसे स्वीकार करते हुए केवलज्ञानकी ज्ञापकताको ही माना है और कारकताका स्पष्ट निषेध किया है, तथापि वहीपर उसने यह भी लिखा है कि "जिस प्रकार जिस कालमें जो कार्य होता है उसे केवलज्ञान यथावत् जानता है उसी प्रकार उसकी कारकसामग्रीको भी वह जानता है।" परन्तु यह असगत है, क्योकि इससे केवलज्ञानकी कार्योत्पत्तिमें आधारता नही सिद्ध होती है। दूसरे, केवलज्ञानसे कार्य-कारणभावका ज्ञान होना भी सम्भव नही है। आगे इसे स्पष्ट किया जाता है—

१ कार्य और कारणमें मान्य कार्य-कारणभाव भेद और पराश्रितताके आधारपर कार्य और कारण उभयवस्तुसापेक्ष होनेसे केवलज्ञान द्वारा ज्ञात न होकर श्रुतज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। इस बातको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें स्पष्ट किया जा चुका है। तथा वहाँ केवलज्ञानकी विषय-मर्यादा बतलाकर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि केवलज्ञानमें भेदाश्रित उपादानोपादेयभाव और पराश्रित निमित्त-नैमित्तिकभावरूप दोनो ही कार्य-कारणभावोका प्रतिभासन नही होता है। इतना ही नही, किसी भी प्रकारके कार्यकारणभावका प्रतिभासन मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानमें भी नही होता है, यह बात भी वहाँ स्पष्ट कर दी गई है।

२ अमुक पर्यायकी अमुक देश और अमुक कालमें अमुक कारणोंसे अमुक पर्याय उत्पन्न होती है यह केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है ऐसा उत्तरपक्ष भले ही मानता रहे, तथापि उसे इतना तो ज्ञात होगा ही कि कृतकृत्य होनेसे केवलज्ञानी जीवके लिए केवलज्ञानमें होने वाला उस प्रकारका प्रतिभासन उनके कार्य-कारणभावका साधक नहीं हो सकता है। तथा कार्योत्पत्तिमें प्रवृत्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवको जब केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें क्या प्रतिभासन हो रहा है, इसकी जानकारी सम्भव नही है, तो उसे भी कार्योत्पत्तिमें केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

३ प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मारीचको अपने तीर्थंकर होनेकी जानकारी भगवान् ऋषभदेवकी दिव्यध्वनिके आधारपर मिल गई थी। परन्तु उसके आधारसे कुमार्गगामी होकर उसने उसका दुरुपयोग ही किया था। तथा कानजीस्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और ३२२, पद्मपुराण सर्ग २९ के श्लोक ८३ और कविवर भैया भगवतीदासजीके "जो-जो देखी वीतरागने सो-सो होसी वीरा रे" इत्यादि वचनोंपर गलत रूपसे अटल श्रद्धावान् होकर शारीरिक व्याधिको

सहन नही कर सकनेके कारण उसे नष्ट करनेके लिये अपने कथित अध्यात्ममार्गसे च्युत होकर बम्बईके जसलोक अस्पतालमें प्रविष्ट हुए और वही उन्होने अपने प्राणोका विसर्जन कर दिया।

४ मैं सोनगढपथके अनुयायी जनोसे पूछना चाहूँगा कि वे सतत जो प्रवृत्तियाँ करते रहते हैं उनके करनेमें उन्हें क्या केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनसे प्रेरणा प्राप्त होती है या केवल अपनी आकाक्षा, संकल्प और बुद्धिसे प्रेरित होकर ही वे उन प्रवृत्तियोको करते है। तथा उन प्रवृत्तियोके करनेमें वे जो आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिका उपयोग करते हैं वह उपयोग भी वे क्या केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनकी प्रेरणासे करते हैं ? मेरा विश्वास है कि यदि वे विवेकी हैं तो इन प्रश्नोका उत्तर वे नहीके रूपमें ही देंगे, क्योकि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी होनेके कारण उन प्रश्नोका उत्तर वे अपने अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके आधारपर ही देनेका प्रयत्न करेंगे।

इन युक्तिगर्भित विवेचनोसे यही निर्णीत होता है कि प्रत्येक पदार्थमे जो स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति होती है उसमें केवलज्ञानकी भासकताका कुछ भी उपयोग नही है। वह उत्पत्ति केवल श्रुतज्ञानके आधारपर निर्णीत उपादानोपादेयभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव दोनो प्रकारके कार्य-कारणभावोंके अनुसार ही होती है तथा उक्त प्रकारके कार्य-कारणभावोके अनुसार उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रही और आगे उत्पन्न होने वाली उन पर्यायोका प्रतिभासन ही केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होता है।

स्वामिसमन्तभद्रकृत स्वयभूस्तोत्रके पद्य ३३ से यह स्पष्ट है कि पदार्थोंमे स्व परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति उनमें स्वभावत विद्यमान भवितव्यता अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यतास्वरूप नित्य उपादान-शक्ति, यथावश्यक उन पदार्थोंमें कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायका विकास और अनुकूल निमित्त-सामग्रीका सद्भाव एव प्रतिकूल निमित्तसामग्रीका अभाव इन सभी कारणोके बलपर होती है, केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके बलपर नही।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्तिमें कारणभूत कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायका पदार्थमें विकास और उसके पश्चात् होनेवाला कार्य दोनो ही निमित्तभूत बाह्य-सामग्रीका समागम प्राप्त होनेपर होते हैं। यह बात पूर्वमें प्रमेय-कमल-मार्तण्ड (पत्र ५२ पर निर्दिष्ट कथन) के आधारपर स्पष्ट की जा चुकी है।

इस प्रकार यहाँ केवल यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि यदि केवलज्ञानके प्रतिभासनके अनुसार पदार्थोंमे उन कार्योंकी उत्पत्ति नही होती है तो कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि आगमवचनोमें केवलज्ञानको उन कार्योंकी उत्पत्तिका आधार क्यों बतलाया गया है ?

इसका समाधान यह है कि वे आगमवचन इसलिए लिखे गये हैं कि सर्वज्ञको माननेवाले जो सज्ञी पन्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अज्ञानी हैं वे जो स्वकीय विवक्षित कार्यके सम्पन्न होनेपर हर्ष और सम्पन्न न होनेपर विषाद करने लगते हैं सो वे हर्ष व विषाद न करें। फलत उन आगम-वचनोके अनुसार केवलज्ञानको कार्योत्पत्तिका आधार नही बनाया जा सकता है, जिसप्रकार कि 'जैन आगममें ईश्वरकर्तृत्व सम्बन्धी वचन पाये जानेपर भी उन वचनोके अनुसार ईश्वरको सृष्टिनिर्माणका आधार नही बनाया जा सकता है, क्योंकि जैनदर्शनकी मान्यता है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंके आधारपर ही होती है, ईश्वर उसमे कारण नही होता।

आगे उत्तरपक्षने "कारक-साकल्यमें पाँचका समवाय स्वीकृत है" शीर्षक के अन्तर्गत जो कुछ लिखा है उसकी समीक्षामें इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्तिमें निमित्तभूत बाह्यसामग्रीका

सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है तो उसका कार्योत्पत्तिके लिये कारकसाकल्यमें पाँचका समवाय मानना निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

कारकसाकल्यमें पाँचका समवाय पंडितप्रवर बनारसीदासजीने निम्न प्रकार बतलाया है—

"पदस्वभाव पूरब उदै निहचे उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यातपथ सर्वंगी शिवचाल॥"

पर यह पाँचका समवाय पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार ही युक्त है, उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार युक्त नहीं है, क्योंकि उत्तरपक्ष वह बाह्यसामग्रीको कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानता है।

उत्तरपक्षने कार्योत्पत्तिमें पाँचके समवायके साथ जो कार्य-कारणभावकी व्यवस्था स्वीकार की है उसमें उसने अष्टशती (का० ८९) में उद्धृत निम्न पद्यको भी आधार माना है—

"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥"

परन्तु उसकी यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि यह पद्य यद्यपि आप्तमीमांसाकी ८८ से ९१ तककी कारिकाओंके मध्य ८९वीं कारिकाकी अष्टशतीमें अकलंकदेवने कार्यकी सिद्धिमें पौरुषैकान्तके विरुद्ध उद्धृत किया है और जो लोकमें प्रसिद्ध है, किन्तु वह जैन मान्यता नहीं है। जैन मान्यता तो आप्तमी० का० ९१ में दी गयी है और जिसका ही समर्थन अकलंकदेवने स्वयं "ततोऽतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतं तद्विपरीतं पौरुषापादितं" इन वाक्यों द्वारा किया है और आ० विद्यानन्दने कारिका एवं उसकी इस अष्टशतीका व्याख्यान करते हुए सापेक्ष एकान्तों अर्थात् अनेकान्तकी सप्रमाण सिद्धि की है। यह वास्तविक स्थिति है।

तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षने (त० च, पृ० २५० पर) उक्त पद्यको उद्धृतकर उसका यह अर्थ लिखा है कि "जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसके सहायक भी उसीके अनुकूल मिल जाते हैं।"

परन्तु उक्त पद्य और उसका वह अर्थ दोनों आप्तमीमांसाकी कारिका ९१ (जो जैन मान्यताकी प्रदर्शक है) के विरुद्ध हैं। इसमें हेतु निम्न प्रकार है—

दैव और पौरुषके एकान्तोंके निरास तथा उनके अनेकान्तकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत की गयी इस सन्दर्भकी इन कारिकाओं (८८ से ९१) का यह अभिप्राय है कि पदार्थोंमें विवक्षित कार्योत्पत्तिकी भवितव्यता अर्थात् होनहार (कार्यरूप परिणत होनेकी द्रव्यभूत योग्यता) विद्यमान रहते हुए बाह्यनिमित्तसामग्रीकी सहायता प्राप्त होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे कार्योत्पत्ति होती है, एकान्तसे माननेपर बाधाएँ हैं। जैसा कि दिखाया गया है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके विवक्षित (आकांक्षित) कार्योंकी उत्पत्तिकी व्यवस्था इस प्रकार है—वे जीव उन कार्योंकी उत्पत्तिके लिए यदि संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करें व सहायक भी तदनुकूल प्राप्त हो जावें, तो उस भवितव्यताके अनुरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा वे जीव विवक्षित पदार्थमें उस भवितव्यताके विद्यमान रहते हुए भी यदि स्वकीय संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ तदनुकूल न करें व सहायक भी तदनुकूल न मिलें तो उस पदार्थमें उस भवितव्यताके अनुरूप कार्यकी उत्पत्ति न होकर उसमें विद्यमान अन्य उस भवितव्यताके अनुरूप कार्यकी उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल सहायक मिल रहे होंगे।

आप्तमीमासाकी इन कारिकाओके इस अभिप्रायको और स्पष्ट यो समझा जा सकता है कि संसारी जीव भव्य और अभव्य दो प्रकारके हैं। उनमेसे भव्य जीव वे है जिनमें ससारसे मुक्त होनेकी द्रव्यभूत भवितव्यता विद्यमान है और अभव्य जीव वे हैं जिनमें वह भवितव्यता विद्यमान नही है।

सभी भव्य जीवोमेंसे जो भव्य जीव स्वकीय आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपूर्वक अपना पुरुषार्थ उसमें विद्यमान मुक्त होनेकी द्रव्यभूत भवितव्यताके अनुकूल करेगा तथा उसके अनुकूल उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सहायक कारण भी प्राप्त होगे तो वह ससारसे मुक्त हो जावेगा। तथा जो भव्य जीव उस भवितव्यताके विद्यमान रहते हुए भी स्वकीय आकाक्षा, सकल्प व बुद्धिपूर्वक उसके अनुकूल पुरुषार्थ नही करेगा व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सहायक भी तदनुकूल प्राप्त नही होंगे, तो वह ससारसे मुक्त नही हो सकेगा। इसी प्रकार अभव्य जीव स्वकीय आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ ससारसे मुक्त होनेका करे व उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सहायक भी तदनुकूल मिल जायें, तो भी वह अपनी अभव्यता (उपादानभूत निजी द्रव्य योग्यताके अभाव) के कारण ससारसे मुक्त नही हो सकेगा, क्योकि उपादान और निमित्तसामग्री दोनोंके समागमसे ही स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति होती है।

इससे प्रकृतमें यह स्पष्ट हो जाता है कि अकलकदेव द्वारा पुरुषार्थैकान्तके विरोधमे प्रस्तुत "तादृशी" इत्यादि पद्य व उसका अर्थ, जिसे उत्तरपक्षने भी माना है, जैन मान्यता नही है। जैन मान्यता तो अनेकान्त है, जिसे का० ९१ में दिया गया है।

यदि कहा जाये कि "तादृशी"—इत्यादि पद्य यदि जैन मान्यताका अग नही होता तो उसके आधारसे श्रीअकलकदेवने मात्र पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि स्वीकार करनेवालोका खण्डन नही किया होता।

इस विषयमें मेरा कहना है कि आप्तमीमासाकी का० ८९ मे मात्र पुरुषार्थसे अर्थसिद्धि मानने वालोसे प्रश्न किया है कि जिस पुरुषार्थसे आप अर्थसिद्धि मानते हैं वह पुरुषार्थ कैसे उत्पन्न होता है ? आप यदि कहें कि वह पुरुषार्थ दैवसे उत्पन्न होता है, क्योकि लोकमें भी 'तादृशी'—इत्यादि पद्यके आधारपर दैवसे ही बुद्धि, प्रयत्न, सहायक आदिकी प्राप्ति मानी गई है, तो आपका यह कहना युक्त नही है, क्योकि आपने 'पुरुषार्थसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा की है—माना है उसकी हानि—समाप्ति हो जावेगी। यह कारिकाके पूर्वार्धमें कहा गया है। कारिकाके उत्तरार्धमें कहा गया है कि आप यदि कहें कि वह पुरुषार्थ पूर्व पुरुषार्थसे उत्पन्न होता है, तो सभी प्राणियोमे होनेवाला पुरुषार्थ सफल होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता। इससे स्पष्ट है कि उक्त पद्य जैन मान्यता नही है और न उसका अग है।

उक्त पद्यको जैन मान्यताका अग नही माननेमें एक तर्क भी यह है कि उक्त पद्यमें जिस भवितव्यताके बलपर कार्यकी उत्पत्ति मान्य की गई है उसी भवितव्यताके बलपर उसमें कारणभूत बुद्धि, पुरुषार्थ और निमित्तोंका समागम ये सभी स्वीकार किये गये हैं, इसलिए कार्योत्पत्तिमें बुद्धि, पुरुषार्थ और निमित्तोंकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

दूसरा तर्क यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि वह पद्य जिस प्रकार बुद्धि, पुरुषार्थ और सहायक कारणोका समागम उसी भवितव्यताके आधारपर बतलाता है उसी प्रकार उस पद्यसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके कार्योंकी उत्पत्तिमें कारणभूत आकाक्षा और संकल्प भी उसी भवितव्यताके आधारपर होनेका प्रसग उपस्थित होता है। फलतः विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति सर्वदा निश्चित हो जानेसे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके विवक्षित कार्योंकी उत्पत्तिमें कदापि व्याघात नही होना चाहिए। परन्तु उनके उन कार्योंकी उत्पत्तिमें व्याघात देखा जाता है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त मूल पद्य जैन मान्यताका अग नही है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५१ पर "अलब्धशक्ति पदका वास्तविक अर्थ" शीर्षकके अन्तर्गत लिखा है कि "प्रत्येक कार्यके प्रति प्रतिसमय कारकसाकल्यका सहज योग जैन दर्शनमें स्वीकार किया गया है, इसलिए यह तो प्रश्न ही नही उठता कि अन्तरग-वहिरग सामग्री किसीके अधीन होकर कार्यके प्रति कारण होती है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने उक्त वक्तव्यमें प्रत्येक कार्यके प्रति प्रतिसमय जो कारकसाकल्यका सहज योग जैनदर्शनमें स्वीकार करनेकी बात कही है वह उसकी निजी कल्पना है, क्योंकि ऊपर जो भव्य और अभव्य जीवोंके उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनसे प्रकृत विषयमें जैनदर्शनकी मान्यता उत्तरपक्षके कथनके विपरीत ही सिद्ध होती है। तथा जैनदर्शनमें कार्यके प्रति प्रतिसमय कारकसाकल्यका योग तो माना गया है, परन्तु कारक-साकल्यका वह योग जैनदर्शनके अनुसार कही तो सहज ढङ्गसे होता है और कही जीवके पुरुषार्थके बलपर होता है। फलत· उत्तरपक्षकी कार्यकी उत्पत्तिमें सर्वत्र प्रतिसमय कारकसाकल्यके सहज योगकी मान्यता मिथ्या सिद्ध होती है। दूसरे, कार्यके प्रति प्रतिसमय कारकसाकल्यका सहज योग मान्य करनेपर भी उत्तरपक्षकी मान्यतामें कार्यका कारकसाकल्यके साथ कार्य-कारणभाग सिद्ध नही होता है, क्योकि वह निमित्तकारणोंको कार्यकी उत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानता है।

उत्तरपक्षने इसी शीर्षकके अन्तर्गत यह लिखा है कि "अपरपक्ष वस्तुमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी आधार-भूत स्वत सिद्ध योग्यतारूपसे जिस भवितव्यताका उल्लेख करता है वह सामान्यरूपसे द्रव्यशक्तिके सिवाय और क्या हो सकती है अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ भी नही हो सकती।" सो यह तो ठीक है, परन्तु उसके आगे उसने यह लिखा है कि "किन्तु ऐसी द्रव्यशक्ति जब भिन्न-भिन्न पर्यायशक्तिसे युक्त होकर पृथक्-पृथक् समर्थ या निश्चय उपादान सज्ञाको प्राप्त होती है तब वहिरग सामग्रीको निमित्तकर नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है।"

इसके सम्बन्धमें यह ध्यातव्य है कि वह द्रव्यशक्ति जहाँ जिस पर्यायशक्तिसे विशिष्ट होकर उत्तर-पक्षको मान्यताके अनुसार पृथक्-पृथक् समर्थ या उपादान सज्ञाको प्राप्त होती है वहाँ वह पर्यायशक्ति बहिरग कारण सामग्रीकी सहायतासे ही उत्पन्न होती है, क्योकि वह पर्यायशक्ति जहाँ उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार स्वकीय उत्तरपर्यायरूप कार्यकी समर्थ या निश्चय उपादान होती है वही वह उससे पूर्ववर्ती पर्यायशक्तिका कार्य भी है। दूसरी बात यह है कि वह कार्य पर्यायरूप शक्ति निमित्तानुसार विवक्षित या अविवक्षित दोनोंमेंसे यथासम्भव किसीरूप भी हो सकती है और यथासम्भव विवक्षित या अविवक्षित किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें कारण हो सकती है। इसलिए उत्तरपक्षका भिन्न-भिन्न पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्तिके विषयमे यह लिखना कि "तब बहिरग सामग्रीको निमित्तकर नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है" असगत सिद्ध हो जाता है।

इसी सन्दर्भमें उत्तरपक्षने आगे यह भी लिखा है कि "कार्य-कारणपरम्पराका प्रवाह प्रत्येक समयमें अनादिकालसे इसी क्रमसे चला आ रहा है और अनन्तकालतक चलता रहेगा" सो इसके विषयमें पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ मात्र इतना मतभेद है कि जहाँ उत्तरपक्ष उस प्रवाहको नियतक्रमसे मानता है वहाँ पूर्वपक्ष उसे आगमके अनुसार एकके-बाद-एकरूप क्रमसे ही मानता है, नियतक्रमसे नही मानता, क्योकि स्व-परप्रत्यय

कार्यकी उत्पत्तिमें जब उपादानके साथ निमित्त भी उपादानका सहायक होने रूपसे कारण होता है तो कार्यकी वह उत्पत्ति प्राप्त निमित्तोके अनुसार अनियतक्रमसे भी होती है।

आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "यहाँ न तो कारण कार्यके अधीन है और न कार्य कारणके अधीन है" पर उसका यह लिखना सगत नही है, क्योकि सभी वस्तुएँ स्वकीय द्रव्य, गुण और पर्यायके रूपमें स्वतन्त्र होते हुए भी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें उनकी द्रव्यगत पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमें व गुणगत पूर्वपर्याय और उत्तरपर्यायमे स्वीकृत उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव एव द्रव्यगत कार्यरूप पर्याय और उसकी उत्पत्तिमें सहायक कारणरूप वस्तुमें तथा गुणगत कार्यभूत पर्याय और उसकी उत्पत्तिमें सहायक कारणभूत वस्तुमें स्वीकृत निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव इनमें कारणगत कारणता कार्यसापेक्ष है व कार्यगत कार्यता कारणसापेक्ष है। तात्पर्य यह है कि वस्तुओंमे कार्य और कारणका व्यवहार परस्पर सापेक्ष ही होता है। हाँ, उनका स्वरूप स्वत सिद्ध है। (देखे, आप्तमी० का० ७५)

यदि उत्तरपक्ष यह बात माननेके लिए तैयार नही है तो ऐसी स्थितिमे वस्तुकी द्रव्यगत और गुणगत स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमे उपादानोपादेयभावरूप और निमित्त-नैमित्तिकभावरूप दोनो कार्य-कारणभावोका जो आगममे विवेचन किया गया है व लोकमे जिन्हें स्वीकार किया गया है वह सब असगत हो जायगा।

कार्योत्पत्तिमें कार्यको कारणके अधीन और कारणको कार्यके अधीन माननेपर उत्तरपक्षको वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपके विघटनका जो भय है वह निराधार है, क्योकि वस्तुके स्व-परप्रत्यय कार्योके अन्तरङ्ग उपादानकारण और बहिरङ्ग निमित्तकारणजन्य होनेपर भी उनके स्वतन्त्र स्वरूपके विघटनकी कोई सम्भावना नही है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है।

वस्तुके स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्तिके विषयमें यह ज्ञातव्य है कि उपादानकारण और उसके कार्यमें विद्यमान उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव एक ही वस्तुमें विद्यमान कार्यता और कारणताके भेदपर आधारित है व निमित्तकारण और उपादानके कार्यमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव पृथक्-पृथक् वस्तुओमें विद्यमान कार्यता और कारणताके भेदपर आधारित है। दोनो कार्य-कारणभावोमें केवल यह अन्तर है कि उपादानकारण स्वय (आप) कार्यरूप परिणत होता है, अत उपादानकारण और उपादेय कार्यमें विद्यमान उपादानोपादेयभावरूप कार्य कारणभाव द्रव्यप्रत्यासत्तिके आधारपर एक ही वस्तुमें होता है व निमित्तकारण उपादानके कार्यरूप परिणत न होकर उसकी उस कार्यरूप परिणतिमें सहायकमात्र होता है, अत निमित्तकारण और उपादानके कार्यमें विद्यमान निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव कालप्रत्यासत्तिके आधारपर पृथक्-पृथक् वस्तुओमे होता है। तथापि जिसप्रकार एक ही वस्तुमें उपादानोपादेयभावरूपसे कार्य और कारणका भेद मानकर उपादानकारणमें विद्यमान कारणता उसके उपादेयरूप कार्यमे विद्यमान कार्यताके अधीन है व कार्यमें विद्यमान कार्यता उपादानकारणमें विद्यमान कारणताके अधीन है, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् वस्तुओमें निमित्त-नैमित्तिकभावरूपसे कार्य और कारणका भेद विद्यमान रहते हुए भी निमित्तकारणमें विद्यमान कारणता उपादानके कार्यमें विद्यमान कार्यताके अधीन व उपादानके कार्यमे विद्यमान कार्यता निमित्तकारणमें विद्यमान कारणताके अधीन मानना ही युक्त है। इस प्रकार काय और निमित्तकारणमें निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभाव विद्यमान रहते हुए भी विवक्षित कार्यभूत और निमित्तकारणभूत दोनो वस्तुओको अपनी-अपनी द्रव्य-गुण-पर्यायरूपता पृथक्-पृथक् ही बनी रहती है। उनके विघटनकी कोई समस्या उत्पन्न नही होती है।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तुमें स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति उसमें विद्यमान स्वाभाविक द्रव्यशक्तिरूप भवितव्यताके अनुसार प्रतिक्षण होते हुए भी जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब उनके अनुरूप विवक्षित कार्यरूप भी होती है और अविवक्षित कार्यरूप भी होती है।

इस प्रकार "अलघ्यशक्ति पदका वास्तविक अर्थ" शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्षने "किन्तु ऐसी द्रव्य-शक्ति जब भिन्न-भिन्न पर्यायशक्तिसे युक्त होकर पृथक् पृथक् समर्थ या निश्चय उपादान सज्ञाको प्राप्त होती है तब बहिरङ्ग सामग्रीको निमित्तकर नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है" इस वक्तव्यका 'नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है' यह अश असगत सिद्ध हो जाता है और उसके असगत सिद्ध हो जानेसे उत्तरपक्षका "तादृशी जायते"—इत्यादि पद्यपर आधारित त० च०, पृ० २५२ पर निर्दिष्ट "जैसी भवि-तव्यता होती है अर्थात् जब जैसी पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति होती है उस कालमें उसीके अनुरूप कार्य करनेका विकल्प होता है, व्यवसाय भी उसीके अनुरूप होता है और निमित्त भी वैसे ही मिलते हैं" यह मन्तव्य भी असगत सिद्ध हो जाता है।

पूर्वमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोके विषयमें प्रमेयकमलमार्तण्ड पत्र ५२ के अनुसार आधारित वस्तुकी द्रव्यशक्तिरूप भवितव्यताका पर्यायशक्तिरूप भवितव्यताके रूपमें विकास जब जैसी निमित्तसामग्रीका योग मिलता है तब उसके अनुरूप ही होता है और उसके अनन्तर होने वाला कार्य भी जब जैसी निमित्तसामग्रीका योग मिलता है तब उसके अनुरूप ही होता है। इस आगमप्रमाणके साथ संज्ञीपंचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे भी यही प्रमाणित होता है और उत्तरपक्ष भी स्वकीय अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे उसका प्रतिषेध नही कर सकता है।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत प्रारम्भमें "अपरपक्षने 'अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय' इत्यादि श्लोक-में पठित 'अलघ्यशक्ति' पदका अर्थ करते हुए जो कुछ भी लिखा है वह पढनेमें सुहावना लगते हुए भी विचारणीय है" यह लिखकर पूर्वपक्षके लेखपर जो विचार व्यक्त किया है उसकी समीक्षा ऊपरके कथनसे ही हो जाती है तथापि यहाँ इतना स्पष्ट किया जाता है कि स्वयभूस्तोत्रके उक्त श्लोकमें पठित 'अलंघ्यशक्ति.' पदका उत्तरपक्ष द्वारा जो यह अर्थ किया गया है कि "जिस कालमें जिसका जैसा होनेकी पर्यायशक्तिरूप भवितव्यता है उस कालमें उसका उस भवितव्यताके आधारपर बाह्य सामग्रीको निमित्तकर वैसा नियमसे होता है उसे टाला नही जा सकता" यह अर्थ सम्यक् नही है, किन्तु उस पदका पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत "जीवोंके पुरुषार्थ करनेपर द्रव्यशक्तिरूप भवितव्यताकी सीमामें ही कार्य होता है, भवितव्यताको लाघकर अर्थात् पुरुषार्थके बलपर भवितव्यताकी सीमाके बाहर कार्य नही होता है" यह अर्थ ही सम्यक् है।

पूर्वपक्षके अर्थका सम्यक्पना व उत्तरपक्षके अर्थका असम्यक्पना स्वयभूस्तोत्रके उस पूरे पद्यके अर्थ पर गहराईसे विचार करनेसे ही निर्णीत होता है अत यहाँ उस पद्य और उसके अर्थको प्रस्तुत कर उसपर विचार किया जाता है—

अलघ्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहक्रियार्त्तः सहत्य कार्येस्विति साध्ववादीः ॥१३३॥

अर्थ—हे सुपार्श्व जिन! आपने यह ठीक ही कहा है कि दो हेतुओ—अन्तरग और बहिरग कारणोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका अनुमापक है ऐसी यह भवितव्यता (नित्य उपादानशक्ति) अलघ्यशक्ति

हैं अर्थात् उसको लाँघकर उसके बाहर (अभावमें) केवल पुरुषार्थके बलपर कार्य नही होता है, अत 'मैंने किया', 'मैं कर सकता हूँ' इस प्रकारके अभिमानसे पीडित हुआ ससारी प्राणी अनेक सहकारी कारणोको इकट्ठा करके (जुटा करके) भी सुखादि कार्योंको सम्पन्न करनेमें असमर्थ रहता है।

इस अर्थ पर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि "अलघ्यशक्ति"—इत्यादि पद्यका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ सम्यक् न होकर पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ ही सम्यक् है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५२ पर "प्रत्येक कार्यमें अन्तरग-बहिरग सामग्रीकी स्वीकृति" शीर्षकके अन्तर्गत कार्यकी उत्पत्तिमें अन्तरग और बहिरग दोनो उपाधियोंकी समग्रताको स्वीकार किया है। परन्तु जब वह कार्योत्पत्तिमें बहिरंग सामग्रीको सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो उसे उसकी स्वीकृतिका कुछ प्रयोजन नही रह जाता है। वह केवल विडम्बना मात्र है और है पूर्वापरविरुद्ध कथन। पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार कार्योत्पत्तिमें अन्तरग सामग्रीके साथ बहिरंग सामग्रीका भी सहायकरूपसे प्रयोजन रहता है। अर्थात् स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्तिमे अन्तरग सामग्री जिस प्रकार कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर कार्यकारी होती है उसी प्रकार उन कार्योंकी उत्पत्तिमें बहिरंग सामग्री भी अन्तरग सामग्रीकी सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी होती है। आगममें भी इसी आधारपर स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्तिमें अन्तरग सामग्रीके साथ बहिरग सामग्रीको महत्त्व दिया गया है। तथा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे भी यही स्पष्ट होता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि "अलघ्यशक्ति"—इत्यादि पद्यका यह अर्थ भी सम्भव है कि भवितव्यता अर्थात् वस्तुमें विद्यमान स्वाभाविक द्रव्यरूप उपादानशक्ति यथायोग्य जीवोमें विद्यमान कर्मोंके उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षयरूप अन्तरग निमित्त व सहकारी कारणरूप बाह्य निमित्त दोनोंके सहयोगसे ही कार्यरूप परिणत होती है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे निर्णीत होता है कि प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथनकी जो आलोचना की है वह ठीक नही है, क्योकि वह आलोचना उसने पूर्वपक्षके आगमानुसारी आशयको नही समझकर की है। पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमे स्पष्ट लिखा है कि कार्योत्पत्ति अपने प्रतिनियत कारणोंके आधार पर ही होती है और जिस कालमे वह होती है वही उसका स्वकाल कहलाता है। फलत उत्तरपक्षका त० च०, पृ० २५३ पर निर्दिष्ट "क्योकि जैसा पूर्वमे लिख आये है"—इत्यादि सम्पूर्ण अनुच्छेद निरर्थक हो जाता है। एक बात और है कि कालद्रव्यकी समय आदि पर्यायें कार्यकी उत्पत्तिमें कारण न होकर कार्यसे कार्यान्तरका विभाजन मात्र करती हैं और कालद्रव्य उनकी मात्र मौजूदगीका बोधक होता है।

प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५३ पर पूर्वपक्षकी स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो प्रकारके कार्योंकी मान्यता पर यह प्रश्न उपस्थित किया है कि "क्या कोई ऐसे भी कार्य हैं जो मात्र अतरग (उपादान) कारणसे ही उत्पन्न होते हैं। तथा इसपर उसने "निश्चयनयसे कर्त्ता-कर्मकी व्यवस्था"—शीर्षकके अन्तर्गत विचार भी किया है उसकी यहाँ समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने जो उक्त प्रश्न प्रस्तुत किया है उससे ज्ञात होता है कि उसकी दृष्टिमें ऐसा एक भी कार्य नही है जो परको निमित्त किये बिना मात्र अतरग सामग्री (उपादानकारण) से सम्पन्न होता हो, परन्तु आगमसे यह सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तुमें होनेवाले षड्गुणहानि-वृद्धिरूप कार्य परको निमित्त किये बिना मात्र अतरग सामग्रीसे ही उत्पन्न होते हैं और इसलिए ही उन्हें स्वप्रत्यय कहा जाता है। यह तत्त्वार्थसूत्र (५-७) की टीका सर्वार्थसिद्धिके निम्न उद्धरणसे स्पष्ट है—

"द्विविध उत्पाद. स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च ।
प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्ध्या
व्ययश्च । परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्व
मिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते ।"

अर्थ—उत्पाद स्वनिमित्त और परप्रत्ययके भेदसे दो
अगरुलघुगुणोमें प्रतिक्षण जो षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि हो
में भेदको प्राप्त अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें हेतु
में क्षण-क्षणमे होनेवाले परप्रत्यय उत्पाद और व्ययकी स्वीकृति
प्रतिक्षण होनेवाले कार्य अश्वादि पदार्थोके गमन, अवस्थान और
वे व्यवहारनयके विषय हैं ।

इसमें प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणोकी षट्स्थानपतित
स्वप्रत्यय कहा गया है तथा उनसे अतिरिक्त अश्वादिकी गति, स्थिति
धर्म अधर्म और आकाशमें प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तनरूप कार्यको प

यहाँ परप्रत्ययसे स्व-परप्रत्ययका अभिप्राय ग्रहण करना चाहि
परके आधारपर किसी भी वस्तुमें कार्यका होना सम्भव नही है । यह
की और १२१ से १२५ तकको गाथाओके आधारपर पृथक्-पृथक् रूपमें
१४ के उत्तरार्धमे भी आचार्य कुन्दकुन्दने पर्यायोके स्वपरसापेक्ष और निरपे
किये हैं । इस बातको तत्त्वार्थसूत्र (५-२) की टीका राजवार्तिकमें
निम्नप्रकार है—

वार्तिक—"स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायै' द्रूयते द्रवति वा तान्

भाष्य—स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययो तौ स्वपरप्र
त्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविग
द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्यय. परप्रत्यय. तस्मिन सत्यपि स्वयमत
आस्कन्दति इति तत्समर्थ' स्वश्च प्रत्ययः । तावुभौ सभूयभावाना उत्पादवि
रापाये कुशूलस्थमाषपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्, एवमुभयहेतुकोत्पाद
द्रूयते गम्यते द्रवति गच्छति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यते ।

अर्थ—जिनके स्व और पर दोनो प्रत्यय (कारण) हों वे कार्य स्व-परप्रत्
पर्यायें स्व-परप्रत्यय उत्पाद और विगम (व्यय) को धारण करनेवाली होती है । स्
क्षेत्र, काल और भावलक्षण बाह्य प्रत्यय पर कहलाता है । इसके विद्यमान रहते
परिणत होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यता न हो तो केवल पर-प्रत्ययके बलपर कार्य उत्पन्
पदार्थमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यता (द्रव्यशक्ति) स्व-प्रत्यय कही जा
और पर दोनो प्रत्यय (कारण) मिलकर ही भावों (पदार्थों) के उत्पाद और व्ययमें
पर्यायोकी उत्पत्ति और विनाशमें हेतु होते हैं । कोई भी उत्पाद और व्ययरूप स्व-पर

पर दोनो हेतुओमेंमे किसी एकके अभावमें नही होते। जैसे कोठीमें रखा हुआ पकनेकी योग्यताविशिष्ट उडद इसलिए नही पकता है कि उसे बाह्य जल, अग्नि आदि हेतुओका समागम प्राप्त नही है। और उबलते हुए जलमे पडा हुआ घोटक (बठर) उडद इसलिये नही पकता है कि उसमें पकनेकी योग्यता नही है। इसप्रकार स्व और पर दोनो हेतुओसे होनेवाले उत्पाद और व्ययरूप स्वकीय (अपनी-अपनी) पर्यायोंके द्वारा जो परिणत होते रहते हैं अर्थात् उन-उन पर्यायोको प्राप्त करते रहते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि वस्तुके अगुरुलघुगुणोगुमें होनेवाली षट्गुणहानिवृद्धिरूप गुणगत पर्यायोको स्वप्रत्यय मानना युक्त है और उनके अतिरिक्त वस्तुकी परकी सहायतापूर्वक स्वमें उत्पन्न होनेवाली द्रव्यगत और गुणगत पर्यायोको स्व-परप्रत्यय स्वीकार करना युक्त है।

आगे उत्तरपक्षने "निश्चयनयसे कर्ता-कर्मकी व्यवस्था" शीर्षकके अन्तर्गत त० च०, पृ० २५३ से २५५ तक जो कुछ लिखा है उसमें उसने प्रथमत निश्चयनयकी अपेक्षासे त० सू० (५-२९, ३० और ३८) के आधारसे विश्वके समस्त द्रव्योकी कार्योत्पत्तिसम्बन्धी व्यवस्था स्पष्ट की है, जो निर्विवाद है। उसके आगे उसने मूलाचारके पचाचाराधिकारकी गाथा ६ की टीकाके आधारपर निश्चयपक्षको भूतार्थ मानकर उसका जो आशय स्पष्ट किया है वह भी विवाद रहित है। इसके आगे उसने समयसार, गाथा ३१० और ३११ को, अष्टसहस्री, पृ० २३३ के कथनको और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (५-१६) के कथनको उद्धृतकर उनके आधारपर निश्चयनयसे कर्ता और कर्मकी जो व्यवस्था बतलायी है वह भी विवादका विषय नही है। अन्तमें समयसार, गाथा ८४ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाके कलश ५१ के अनुसार निश्चयसे कर्ता और कर्मका जो स्वरूप निर्धारित किया है वह भी ठीक है। परन्तु उस विवेचनके आधारपर उसने स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें आगमसम्मत व्यवहारनयके पक्षको उपेक्षित कर मात्र निश्चयनयके पक्षको माना है वह सगत नही है।

तात्पर्य यह है कि सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथनमें व नियमसारकी गाथा १४ में कार्यके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्पष्ट रूपसे स्वीकार किये गये है व राजवार्तिकके उक्त कथनमे स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिके प्रति निश्चयनयके पक्षके साथ व्यवहारनयके पक्षको भी माना गया है। फलत कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमे उत्तरपक्षका एकान्तरूपसे निश्चयनयके पक्षको मानना स्व-परप्रत्यय कार्यके सम्बन्धमे सगत नही है, क्योकि जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें केवल निश्चयनय सापेक्ष उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है उसी प्रकार स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें निश्चयनयसापेक्ष उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभावके साथ व्यवहारनयसापेक्ष निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव भी सिद्ध होता है। इसमें हेतु यह है कि जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति अन्य वस्तुकी सहायताके बिना मात्र उपादानके बलपर होती है उसी प्रकार स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति निमित्तभूत अन्य वस्तुकी सहायतापूर्वक ही उपादानके बलपर होती है, अत उत्तरपक्ष द्वारा स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें व्यवहारनयके पक्षको उपेक्षित कर एकान्तरूपसे जो निश्चयनयके पक्षको स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया है वह असगत है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यकी पुष्टिके लिए त० च०, पृ० २५५ से २६० तक "दो प्रश्न और उनका समाधान" शीर्षकके अन्तर्गत जो विवेचन किया है उसके प्रारम्भमें उसने दो प्रश्न प्रस्तुत किये है। उनमें प्रथम प्रश्न यह है कि "दो द्रव्योंके आश्रयमे जो कर्ता और कर्मकी प्ररूपणा आगममें की गई है वह भी क्या उक्त प्रकारसे निश्चय और सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त होती है ? या उसे स्वीकार करनेका कोई अन्य प्रयोजन

"द्विविध उत्पाद- स्वनिमित्त- परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागम-प्रामाण्यादभ्युपगम्यमानाना षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानाना स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। परप्रत्ययोऽपि अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात्क्षणे-क्षणे तेषा भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते।"

अर्थ—उत्पाद स्वनिमित्त और परप्रत्ययके भेदसे दो प्रकारका है। उनमे आगमप्रमाणसे मान्य अनन्त अगरुलघुगुणोमें प्रतिक्षण जो षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि होती रहती है वह स्वप्रत्यय कार्य है व क्षण-क्षण में भेदको प्राप्त अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें हेतु होनेके कारण धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योमें क्षण-क्षणमे होनेवाले परप्रत्यय उत्पाद और व्ययकी स्वीकृति भी युक्त है। यत धर्म, अधर्म और आकाशमें प्रतिक्षण होनेवाले कार्य अश्वादि पदार्थोंके गमन, अवस्थान और अवगाहनके आधारपर पराश्रित होते हैं, अत वे व्यवहारनयके विषय हैं।

इसमें प्रत्येक वस्तुके अगुरुलघुगुणोकी षट्स्थानपतित वृद्धि और हानिको स्वनिमित्तक अर्थात् स्वप्रत्यय कहा गया है तथा उनसे अतिरिक्त अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनके आधारपर यथायोग्य धर्म अधर्म और आकाशमें प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तनरूप कार्यको पर-प्रत्यय कहा गया है।

यहाँ परप्रत्ययसे स्व-परप्रत्ययका अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए, क्योकि स्वकी अपेक्षाके बिना मात्र परके आधारपर किसी भी वस्तुमें कायका होना सम्भव नही है। यह बात समयसारकी ११६ से १२० तक की और १२१ से १२५ तककी गाथाओके आधारपर पृथक्-पृथक् रूपमें ज्ञात होती है। नियमसारकी गाथा १४ के उत्तरार्धमें भी आचार्य कुन्दकुन्दने पर्यायोंके स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष (स्वनिमित्तक) दो भेद स्वीकार किये हैं। इस बातको तत्त्वार्थसूत्र (५-२) की टीका राजवार्तिकमें भी स्पष्ट किया गया है, जो निम्नप्रकार है—

वार्तिक—"स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैः द्रूयते द्रवति वा तानीति द्रव्याणि" ॥ १ ॥

भाष्य—स्वश्च परश्च स्वपरौ, स्वपरौ प्रत्ययौ ययो तौ स्वपरप्रत्ययौ। उत्पादश्च विगमश्चोत्पादविगमौ, स्वपरप्रत्ययौ उत्पादविगमौ येषा ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमा। के पुनस्ते पर्याया। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्य प्रत्यय- परप्रत्ययः तस्मिन सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायातर आस्कदति इति तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ सभूयभावाना-उत्पादविगमयो- हेतू भवतः नान्यतरापाये कुशूलस्थमाषपच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्, एवमुभयहेतुकोत्पादविगमैः तैस्तैः स्वपर्यायै द्रूयते गम्यते द्रवति गच्छंति तान् पर्यायानिति द्रव्याणीति व्यपदिश्यते।

अर्थ—जिनके स्व और पर दोनो प्रत्यय (कारण) हो वे कार्य स्व-परप्रत्यय कहलाते हैं। फलत पर्यायें स्व-परप्रत्यय उत्पाद और विगम (व्यय) को धारण करनेवाली होती हैं। स्व और पर प्रत्ययोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावलक्षण बाह्य प्रत्यय पर कहलाता है। इसके विद्यमान रहते हुए भी यदि पदार्थमें परिणत होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यता न हो तो केवल पर-प्रत्ययके बलपर कार्य उत्पन्न नही होता है। अत पदार्थमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी स्वाभाविक योग्यता (द्रव्यशक्ति) स्व-प्रत्यय कही जाती है। इस प्रकार स्व और पर दोनो प्रत्यय (कारण) मिलकर ही भावों (पदार्थों) के उत्पाद और व्ययमें कारण होते हैं अर्थात् पर्यायोकी उत्पत्ति और विनाशमें हेतु होते हैं। कोई भी उत्पाद और व्ययरूप स्व-परप्रत्यय कार्य स्व और

पर दोनो हेतुओमेंसे किसी एकके अभावमें नही होते। जैसे कोठीमे रखा हुआ पकनेकी योग्यताविशिष्ट उडद इसलिए नही पकता है कि उसे बाह्य जल, अग्नि आदि हेतुओका समागम प्राप्त नही है। और उबलते हुए जलमे पडा हुआ घोटक (बठर) उडद इसलिये नही पकता है कि उसमें पकनेकी योग्यता नही है। इस-प्रकार स्व और पर दोनो हेतुओसे होनेवाले उत्पाद और व्ययरूप स्वकीय (अपनी-अपनी) पर्यायोके द्वारा जो परिणत होते रहते हैं अर्थात् उन-उन पर्यायोको प्राप्त करते रहते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि वस्तुके अगुरुलघुणोगुमें होनेवाली षट्गुणहानिवृद्धिरूप गुणगत पर्यायोको स्वप्रत्यय मानना युक्त है और उनके अतिरिक्त वस्तुकी परकी सहायतापूर्वक स्वमें उत्पन्न होनेवाली द्रव्यगत और गुण-गत पर्यायोको स्व-परप्रत्यय स्वीकार करना युक्त है।

आगे उत्तरपक्षने "निश्चयनयसे कर्ता-कर्मकी व्यवस्था" शीर्षकके अन्तर्गत त० च०, पृ० २५३ से २५५ तक जो कुछ लिखा है उसमें उसने प्रथमत निश्चयनयकी अपेक्षासे त० सू० (५-२९, ३० और ३८) के आधारसे विश्वके समस्त द्रव्योकी कार्योत्पत्तिसम्बन्धी व्यवस्था स्पष्ट की है, जो निर्विवाद है। उसके आगे उसने मूलाचारके पचाचाराधिकारकी गाथा ६ की टीकाके आधारपर निश्चयपक्षको भूतार्थ मानकर उसका जो आशय स्पष्ट किया है वह भी विवाद रहित है। इसके आगे उसने समयसार, गाथा ३१० और ३११ को, अष्टसहस्री, पृ० २३३ के कथनको और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (५-१६) के कथनको उद्धृतकर उनके आधार-पर निश्चयनयसे कर्ता और कर्मकी जो व्यवस्था बतलायी है वह भी विवादका विषय नही है। अन्तमें समयसार, गाथा ८४ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाके कलश ५१ के अनुसार निश्चयसे कर्ता और कर्मका जो स्वरूप निर्धारित किया है वह भी ठीक है। परन्तु उस विवेचनके आधारपर उसने स्व-परप्रत्यय कार्योकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें आगमसम्मत व्यवहारनयके पक्षको उपेक्षित कर मात्र निश्चयनयके पक्षको माना है वह सगत नही है।

तात्पर्य यह है कि सर्वार्थसिद्धिके उक्त कथनमें व नियमसारकी गाथा १४ में कार्यके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्पष्ट रूपसे स्वीकार किये गये है व राजवार्तिकके उक्त कथनमें स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिके प्रति निश्चयनयके पक्षके साथ व्यवहारनयके पक्षको भी माना गया है। फलत कार्योत्पत्तिके सम्बन्ध-मे उत्तरपक्षका एकान्तरूपसे निश्चयनयके पक्षको मानना स्व-परप्रत्यय कार्यके सम्बन्धमें सगत नही है, क्योकि जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें केवल निश्चयनय सापेक्ष उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है उसी प्रकार स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे निश्चयनयसापेक्ष उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारण-भावके साथ व्यवहारनयसापेक्ष निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव भी सिद्ध होता है। इसमें हेतु यह है कि जिस प्रकार स्वप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति अन्य वस्तुकी सहायताके बिना मात्र उपादानके बलपर होती है उसी प्रकार स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति निमित्तभूत अन्य वस्तुकी सहायतापूर्वक ही उपादानके बलपर होती है, अत उत्तरपक्ष द्वारा स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें व्यवहारनयके पक्षको उपेक्षित कर एकान्तरूपसे जो निश्चय-नयके पक्षको स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया है वह असगत है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यकी पुष्टिके लिए त० च०, पृ० २५५ से २६० तक "दो प्रश्न और उनका समाधान" शीर्षकके अन्तर्गत जो विवेचन किया है उसके प्रारम्भमें उसने दो प्रश्न प्रस्तुत किये है। उनमें प्रथम प्रश्न यह है कि "दो द्रव्योके आश्रयसे जो कर्ता और कर्मकी प्ररूपणा आगममें की गई है वह भी क्या उक्त प्रकारसे निश्चय और सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त होती है ? या उसे स्वीकार करनेका कोई अन्य प्रयोजन

है।" दूसरा प्रश्न यह है कि "दो द्रव्योंके आश्रयसे उक्तप्रकारकी प्ररूपणा जो आगममे उपलब्ध होती है वह किन-किन द्रव्योंपर किस-किस प्रकारसे लागू होती है।" इस सम्बन्धमें वहीपर उत्तरपक्षने यह हेतु भी प्रस्तुत किया है कि "क्योंकि अपरपक्ष सब द्रव्योंके षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप कार्योंमे दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्ता-कर्मकी व्यवस्थाको स्वीकार न कर मात्र एक द्रव्यके आश्रयसे ही उसे स्वीकार करता है।"

इसपर विचार—

उत्तरपक्ष द्वारा प्रस्तुत दोनो प्रश्नोंके सम्बन्धमें मेरा कहना है कि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी यह नही मानता है कि दो द्रव्योंके आश्रयमे कर्ता और कर्मकी जो प्ररूपणा आगममें की गई है वह निश्चय और सद्भूतव्यवहार सज्ञाको प्राप्त होती है, अपितु उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी यही मानता है कि एक द्रव्यके आश्रयसे आगममे स्वीकृत कर्ता और कर्मकी व्यवस्था ही निश्चय और सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त होती है। इसी प्रकार उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी यही मानता है कि द्रव्यप्रत्यासत्ति होनेके कारण उपादान वस्तु ही कार्यरूप परिणत होती है, कालप्रत्यासत्ति होनेके कारण निमित्तभूत वस्तु उपादानके कार्यरूप परिणत नही होती। पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके विरुद्ध यह अवश्य मानता है कि उपादानके उस कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत बाह्य वस्तु सहायक अवश्य होती है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६० पर यह भी लिखा है कि "दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्ता-कर्मकी प्ररूपणा आगममे उपलब्ध होती है वह असद्भूत व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही की गई है। यह प्ररूपणा उप-चरित होनेसे निश्चय और सद्भूत व्यवहार सज्ञाको प्राप्त नही हो सकती" सो यह भी पूर्वपक्षको मान्य है। इसी प्रकार उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५७ पर जो यह कथन किया है कि "अन्य एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योंका उससे भिन्न दूसरे द्रव्यके कार्यके अनुकूल व्यापार होता है वह व्यवहारहेतु कहा गया है" इस कथनसे भी पूर्वपक्ष सहमत है। तथा इस कथनकी पुष्टिके लिए उत्तरपक्षने वहीपर जो समयसार गाथा ८४ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीकाके "बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापार कुर्वाण" इस कथनको उद्धृत किया है उसे भी पूर्वपक्ष प्रमाण मानता है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य प्रकृत विषयमें केवल इतना ही विवाद है कि जहाँ पूर्वपक्ष एक द्रव्यके कार्यके प्रति दूसरे द्रव्यको अनुकूलताके आधारपर सहायक रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तर-पक्ष एक द्रव्यके कार्यके प्रति दूसरे द्रव्यको अनुकूल मानकर भी उस अनुकूलताके आधारपर उसे दूसरे द्रव्यके कार्यके प्रति सहायक रूपसे कार्यकारी न मानकर सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है, अत इस सम्बन्धमें कहना होगा कि यदि उत्तरपक्षकी दृष्टिमें मिट्टीसे होनेवाली घटोत्पत्तिके प्रति कुम्भकार सर्वथा अकिंचित्कर है, तो उसे घटकार्यके प्रति कुम्भकारको अनुकूल माननेकी आवश्यकता नही रह जाती है। इतना ही नही, फिर तो कुम्भकारके व्यापारके अभावमें भी मिट्टीसे घटोत्पत्तिका प्रसग हो जाएगा, जो उत्तरपक्षको भी इष्ट नही है। इसलिए पूर्वपक्षके समान उत्तरपक्षको भी मिट्टीसे होनेवाली घटोत्पत्तिमें कुम्भकारको अनुकूलताके आधारपर सहायक रूपसे कार्यकारी मानना ही युक्त है।

समयसार गाथा ८४ में व उसकी टीका आत्मख्यातिमें एक द्रव्यके कार्यके प्रति दूसरे द्रव्यकी सहायक-कारणताका ही प्रतिपादन किया गया है। तथा जो अन्य कोई दार्शनिक इस व्यवस्थाको न मानकर एक द्रव्यके कार्यके प्रति दूसरे द्रव्यको निश्चय या सद्भूत व्यवहारकारण मानते हैं उसका खण्डन समयसार गाथा ८५ व उसकी आत्मख्याति टीकामें किया गया है।

पूर्वपक्षने अपने मन्तव्यके समर्थनमे तत्त्वचर्चाके प्रथम और पचम प्रश्नो सम्बन्धी वक्तव्योमे एक तो प्रमेयकालमार्तण्ड पत्र ५२ का उद्धरण दिया है जिसमें कहा गया है कि कार्यके प्रति प्रत्येक द्रव्यको द्रव्यभूत नित्य उपादानशक्तिकी पर्यायभूत अनित्य उपादानशक्तिरूप परिणति अन्य द्रव्यरूप सहकारी कारणके बलपर होती है। दूसरे, पूर्वपक्षने अष्टसहस्री, पृ० १०५ का "तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचिकर किं सहकारिकारणं स्यात् उद्धरण भी दिया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि सहकारी कारण उपादान कारणकी कार्योत्पत्तिसम्बन्धी नित्य उपादानशक्तिके रूपमें व्यक्त होनेकी अक्षमताका भेदन नही करता है तो उसे सहकारी कारण नही कहा जा सकता है।

उसके अलावा समयसार गाथा ८० में स्पष्ट लिखा है कि जीवके परिणामोके निमित्तसे पुद्गल कर्म रूप परिणत होते है और पुद्गलकर्मोके निमित्तसे जीव भी रागादिभावरूप परिणत होता है। समयसार गाथा ८१ में भी स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि जीव कर्मके गुणरूप परिणत नही होता और कर्म भी जीवके गुणरूप परिणत नही होता, परन्तु दोनोके परिणमन परस्परके निमित्तसे अर्थात् सहायतासे ही होते हैं। समयसार गाथा ९१ मे लिखा है कि जीवका जिस भावरूपसे परिणमन होता है उसका वह कर्ता होता है और उसके उस परिणमनके होनेपर पुद्गल स्वय (आप) कर्मरूप परिणत हो जाया करता है। समयसार गाथा १०५ में भी बतलाया है कि जीवके हेतु होनेपर बन्धका परिणाम देखा जाता है, अत जीवको कर्मका उपचारसे कर्ता कहा गया है। इसकी पुष्टि समयसार गाथा १०६, १०७ और १०८ मे की गई है।

इस विवेचनसे यह भी स्पष्ट होता है कि एक द्रव्यके कायके प्रति दूसरे द्रव्यकी निमित्तकारणता तो वास्तविक है, परन्तु उसके आधारसे उसको जो उस द्रव्यके कार्यका कर्ता कहा जाता है वह उपचारसे कहा जाता है। इस विषयको आलापपद्धतिके "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते" वचनके आधारपर तत्त्वचर्चाकी समीक्षाके प्रथम भागमें प्रश्नोत्तर एकको समीक्षामे स्पष्ट किया जा चुका है।

यद्यपि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोंने ही अपनी बातके समर्थनमें उन आगमप्रमाणोको उपस्थित किया है जो दोनो पक्षोको मान्य हैं, परन्तु उनका किस पक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ सत्य है और किस पक्ष द्वारा स्वीकृत अथ मिथ्या है इसका निणय इस आधारपर किया जाना चाहिए कि उनका जिस पक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध न हो वह सत्य है और उनका जिस पक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध हो वह मिथ्या है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमे आगमका लक्षण करते हुए उसमें "अदृष्टेष्ट-विरोधकम्" पदको स्थान दिया है जिसका अर्थ यह है कि वही आगम सत्य है जो दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमानसे विरुद्ध न हो। इससे सिद्ध होता है कि वह आगम मिथ्या है जो दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और इष्ट अर्थात् अनुमानसे विरुद्ध हो।

यदि यह कहा जाये कि आगममें वर्णित लोककी रचना व उसमें स्वर्ग, नरक और असंख्यात द्वीपों तथा समुद्रोकी स्थिति आदि बहुतसे ऐसे विषय है जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभवादि प्रमाणोंके विषय नही है, तो क्या उन्हे कल्पित मान लिया जाये ? सो ऐसा भी नही है, क्योंकि आचार्य समन्तभद्रने आगमके उस लक्षणमें "अदृष्टेष्टविरोधकम्" पद दिया है, "दृष्टेष्टसमर्थितम्" पद नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि दृष्ट और इष्टसे विरुद्ध होना अन्य बात है और दृष्ट और इष्टसे समर्थित होना अन्य बात है। यत स्वामी समन्तभद्रके मस्तिष्कमें यह बात स्पष्ट थी, इसलिए उन्होंने आगमके लक्षणमें

"अदृष्टेष्टविरोधकम्" पद ही दिया है "दृष्टेष्टसमर्थितम्" पद नही। फलत आगमवचनोका पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थको ही सत्य मानना चाहिए, क्योंकि वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभवादि प्रमाणोंसे सगत है और उनका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभवादि प्रमाणोसे सगत नही है।

सभी जानते हैं कि कुम्भकारके घटानुकूल व्यापार करनेपर ही मिट्टीसे घटका निर्माण होता है उसके अभावमे नही। इससे निर्णीत होता है कि मिट्टीसे घटका निर्माण कुम्भकारकी सहायतासे होता है। फलत घटोत्पत्तिके प्रति कुम्भकारकी निमित्तकारणता वास्तविक सिद्ध होती है तथा कुम्भकार घटरूप परिणत नही होता मिट्टी ही अपनी उपादानशक्तिके आधारपर घटरूप परिणत होती है। परन्तु यह भी सब जानते हैं कि उस मिट्टीसे घटका निर्माण कुम्भकारके तदनुकूल व्यापार करनेपर ही होता है और यदि कुम्भकार तदनुकूल व्यापार न करे तो उस मिट्टीसे घट निर्माण नही होता है। फलत जिस प्रकार घटरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यरूप योग्यताविशिष्ट मिट्टीको घटरूप परिणत होने रूपसे लोकमें कारण माना जाता है उसी प्रकार कुम्भकारको भी घटरूप परिणतिमे मिट्टीका सहायक होने रूपसे कारण माना जाता है।

इससे निर्णीत होता है कि जिस आगमको दोनो पक्ष प्रमाण मानते हैं उस आगमका पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभवादि प्रमाणोंसे विरुद्ध न होनेके कारण सत्य है और उनका उत्तरपक्ष द्वारा स्वीकृत अर्थ सज्ञी पञ्चेन्द्रिय, श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभवादि प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण मिथ्या है।

पूर्वपक्षने सभी द्रव्योके अनन्त अगुरुलघुगुणोके षड्गुणहानि-वृद्धिरूप कार्योको एक द्रव्यके आश्रयसे होनेके कारण स्वप्रत्यय कहा है और इसमें उसने आगमप्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६० पर लिखा है कि "आगममें जहाँ भी अनन्त अगरुलघुगुणोकी हानि-वृद्धि स्वप्रत्यय बतलायी है वहाँ मात्र स्वभाव पर्यायके कथनकी मुख्यता होनेसे ही वैसा प्रतिपादन किया गया है। इसका अर्थ यह नही कि उसके होनेमें व्यवहारसे कालद्रव्यकी निमित्तता नही है।"

समीक्षा—

कालद्रव्य अमूर्तिक होनेसे एक तो अन्य द्रव्योंके कार्यकी उत्पत्तिमें प्रेरक निमित्त कारण नहीं होता है। दूसरे, उसका कार्य अन्य द्रव्योकी वृत्ति (मौजूदगी) की व्यवहारसे व्यवस्था करना ही है। तथा कालद्रव्य-की पर्यायोके रूपमें जितना व्यवहारकाल है उसका कार्य भी अन्य द्रव्योकी पर्यायोको समय, आवली, मुहूर्त, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपमें विभक्त करना ही है। फलत कालद्रव्य और व्यवहारकालरूप उसकी पर्यायोको अन्य द्रव्योके कार्यकी उत्पत्तिमें प्रेरक निमित्तकारण नही माना जा सकता है। यही कारण है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और ३२२ में प्रेरककारणताके बोधक "जेण विहाणेण" और "तेण विहाणेण" पदोसे पृथक् ही "जम्मि देसे" और "तम्मि देसे" तथा "जम्मि कालम्मि" और "तम्मि कालम्मि" पदोका प्रयोग किया गया है।

प्रत्येक द्रव्यकी स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्तिके लिए आगममे उपादानकारण, प्रेरक निमित्तकारण और उदासीन निमित्त कारण ये तीन कारण स्वीकार किये गये हैं। इनमेंसे उपादानकारण वह है जिसमें कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यता पायी जाती है। जैसे रेलगाडीमें गतिकार्यरूप परिणत होनेकी

स्वाभाविक योग्यता पाई जाती है। प्रेरक निमित्तकारण वह है जो कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यता विशिष्ट उपादानकारणको कार्यरूप परिणत होनेके लिए प्रेरित करता है। जैसे गतिकार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यता विशिष्ट रेलगाडीको गतिकार्यरूप परिणत होनेके लिए इजन प्रेरित करता है, क्योकि वह रेलगाडी प्रेरक निमित्तकारणभूत इजनकी सहायताके बिना गतिकार्यरूप परिणत होनेमें असमर्थ रहती है। उदासीननिमित्तकारण वह है जिसका अवलम्बन लिए बिना प्रेरक निमित्तकारणके बलपर कार्यरूप परिणत होनेकी क्षमताको प्राप्त होकर भी उपादानकारण कार्यरूप परिणत नही होता है। जैसे गतिकार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक योग्यताविशिष्ट और प्रेरक निमित्तकारणभूत इजनके सहयोगसे गतिक्रिया करनेकी सामर्थ्यको प्राप्त रेलगाडी रेलपटरीके अवलम्बनके बिना गतिकार्यरूप परिणत नही होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि द्रव्योकी स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनो प्रकारकी पर्यायोकी उत्पत्तिमें कालद्रव्य और उसकी उक्त समयादिरूप पर्यायें कदापि प्रेरक निमित्तकारण नही होती हैं। अत उत्तरपक्षका "आगममें जहाँ भी अनन्त अगरुलघु नामक गुणोकी षड्गुणहानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायोका निर्देश किया है वहाँ वह स्वभावपर्यायका स्वरूप निर्देश करनेकी दृष्टिसे ही किया है। उसका यह अर्थ नही कि उनके होनेमें व्यवहारसे कालकी निमित्तता नही है" यह कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय शब्दोके अर्थपर ध्यान दिया जाये तो ज्ञात होता है कि स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें प्रेरक निमित्तकारणकी अपेक्षा नही रहती है। उसकी वह उत्पत्ति मात्र स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) के आधारपर ही होती है। तथा स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रेरक निमित्तकारणकी सहायतापूर्वक उपादानशक्तिके आधारपर होती है। त० सू० (५-७) की टीका सर्वार्थसिद्धिके उल्लिखित कथनसे स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय शब्दोका ऐसा ही अर्थ ज्ञात होता है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६० पर पूर्वपक्षको लेकर यह कथन किया है कि "जिन्हें अपरपक्ष अगुरुलघुनामक अनन्तगुण मान रहा है वे वास्तवमे गुण न होकर अविभाग-प्रतिच्छेद ही हैं।" सो यह निर्विवाद है। पूर्वपक्षने भी अपने लेखमें इस सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह इसी अभिप्रायसे लिखा है और आगमके अनुसार लिखा है, अत उत्तरपक्ष द्वारा उसकी आलोचना किया जाना आगमकी आलोचना करना ही है जो उत्तरपक्षकी दृष्टिसे भी उचित नही है। तथा वह आलोचना निरर्थक भी है क्योकि उस आलोचनासे उत्तरपक्षकी कोई अभीष्ट सिद्धि नही होती है।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक द्रव्यके पृथक्-पृथक् अनन्त गुण आगममें कहे गये हैं व प्रत्येक गुणके अविभाग-प्रतिच्छेद भी पृथक्-पृथक् अनन्त मान्य किये गये हैं और उन अविभाग-प्रतिच्छेदोमें ही प्रतिक्षण व्यवस्थित क्रमसे निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर षट्गुणहानि-वृद्धि होती रहती है। प्रत्येक द्रव्यमें स्वीकृत अगरुलघुगुणोका यही अभिप्राय है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५९ पर पूर्वपक्षके कथनको लेकर लिखा है कि "वह अनन्त अगरुलघु गुणो (अविभाग-प्रतिच्छेदो) की षट्गुणहानि-वृद्धिको केवल स्वप्रत्यय माननेका आग्रह स्थान-स्थानपर करता है जो सर्वथा आगमके विपरीत है।" परन्तु उसका यह लिखना अयुक्त है, क्योकि आगममें ही अगरुलघुगुणो (अविभाग-प्रतिच्छेदो) की षट्गुणहानि-वृद्धिरूप पर्यायोको स्व-परप्रत्यय पर्यायोसे पृथक् स्वप्रत्यय पर्यायें स्वीकार किया गया है जिसे झुठलाया नही जा सकता है।

उत्तरपक्ष द्वारा "दो प्रश्न और उनका समाधान" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये विवेचनसे ऐसा ज्ञात होता है कि वह स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति केवल जीवो और पुद्गलोमें ही मानता है, परन्तु उसकी यह मान्यता त० सू० (५-७) सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिके विरुद्ध है, क्योकि उसके अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनमें क्रमश उदासीन निमित्तकारण होनेसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योमें भी अश्वादिकी गति, स्थिति और अवगाहनके आधारपर व्यवहाररूपसे स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति मान्य की गई है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५९ पर यह भी लिखा है कि "लोकमें जितने भी कार्य होते हैं उनके होनेमें व्यवहारसे कही पुरुषका प्रयत्न और कही अन्य सामग्री निमित्त अवश्य होती है। आगममे आकाशकी अवगाहना और कालद्रव्यका प्रतिसमयका समय परिणमन ये दो कार्य ऐसे अवश्य बतलाये है जिनके होनेमें व्यवहारसे अन्य किसीको निमित्तरूपसे नही स्वीकार किया गया है। (देखो-तत्वार्थवार्तिक अ० ५, सू० १२ और तत्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० ५, सू० २२) इनके सिवाय आगममें ऐसा अन्य एक भी कार्य स्वीकार नही किया गया है जिसके होनेमें व्यवहारसे बहिरंग हेतु न स्वीकार किया गया हो।"

समीक्षा—

जिस प्रकार आगमके अनुसार आकाशद्रव्य परके साथ स्व भी अवगाहक होता है और कालद्रव्य द्रव्यार्थिक दृष्टिसे परके साथ स्वका भी वर्तयिता अर्थात् स्वकी वृत्ति (मौजूदगी) का नियामक होता है। एव पर्यायार्थिक दृष्टिसे परके साथ स्वके समय परिणामका भी नियामक होता है। इसी प्रकार आगमके अनुसार जीव परके साथ स्वका भी ज्ञाता होता है व दीपक परके साथ स्वका भी प्रकाशक होता है। फलत उत्तरपक्षका यह कथन है कि "इनके सिवाय आगममें ऐसा अन्य एक भी कार्य नही स्वीकार किया गया है—जिसके होने-में व्यवहारसे बहिरग हेतु न स्वीकार किया हो" अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

एक बात और है कि कालद्रव्यका समयरूप विभाजन निमित्तभूत पुद्गलाणुकी अखण्ड गतिक्रियाके आधारपर ही होता है, इसलिए उत्तरपक्षकी यह मान्यता है कि "आगममें कालद्रव्यका प्रतिसमयका समय-परिणमन यह कार्य ऐसा अवश्य बतलाया है जिसके होनेमे व्यवहारसे अन्य किसीको निमित्तरूपसे नही स्वीकार किया गया हो" अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार जब आगममें निमित्त सापेक्ष स्वपरप्रत्ययताके आधारपर कार्योंकी उत्पत्ति होनेके समान निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर भी कार्योंकी उत्पत्ति होती मानी गयी है तो उत्तरपक्षको स्व-परप्रत्यय कार्योंसे भिन्न स्व-प्रत्ययकार्योंकी स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। कार्योंकी उत्पत्तिमें काल-द्रव्यकी नियामकताका निराकरण पहले ही किया जा चुका है, क्योंकि जिस कालमें कार्य उत्पन्न होता है वही काल उस कार्यका स्वकाल कहलाता है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २५६ पर जो "प्रत्येक द्रव्य विस्रसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव होनेपर भी"—इत्यादि कथन किया है उसमें पठित 'विस्रसा' पदसे वह यह बतलाना चाहता है कि प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन सतत प्रेरक और उदासीन निमित्त कारणनिरपेक्ष ही होते हैं, परन्तु उसका (उत्तरपक्षका) ऐसा बतलाना असंगत है, क्योकि आगममे प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणमन स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनो ही प्रकारके माने गये है। इतना अवश्य है कि स्व-परप्रत्यय परिणमन पूर्वोक्त प्रकार परका सहयोग प्राप्त होनेपर ही होते हैं, अत इनकी उत्पत्तिमे स्वके समान कर्ता-कर्मकी

व्यवस्था उपचारसे परके साथ भी मान्य करना अनिवार्य हो जाता है। यह सब व्यवस्था संज्ञी पन्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध है।

उत्तरपक्षने त० च० के इसी पृष्ठपर यह भी लिखा है कि "यहाँ अभेद विवक्षामे य करोति स कर्त्ता इस प्रकार जीवादि द्रव्य अपने कार्योंके स्वय कर्त्तारूपमे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं और भेद व्यवस्थामें येन क्रियते तत्करण इस प्रकार अपने-अपने सब कार्योंका कारणधर्म भेदरूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।"

उत्तरपक्षके उक्त कथनके विषयमें कहा जा सकता है कि उसने भेद और अभेदकी विवक्षाको लेकर जो व्यवस्था बतलाई है उसी प्रकार स्व-परप्रत्यय परिणमनोकी उत्पत्तिमे स्वाश्रितता और पराश्रितताको लेकर भी ऐसी ही व्यवस्था आगममें मान्य की गई है।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत जो अन्य मन्तव्य प्रगट किये है उनमें कुछ तो निर्विवाद है और कुछके विषयमें पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामे व मैने तत्त्वचर्चाकी समीक्षामे आगमानुसारी स्वकीय मन्तव्य अनेक स्थलो पर आवश्यकताके अनुसार प्रगट किये हैं, अत उन्हे छोडकर उत्तरपक्ष द्वारा त० च०, पृ० २५६-५७ पर द्व्यणुकके विषयमे किये गये स्पष्टीकरणमे सम्बद्ध कुछ स्पष्टीकरण आवश्यकताके अनुसार यहाँ किया जाता है—

द्व्यणुककी दशामें दोनो अणु यद्यपि उपादान कारणरूपसे अपना-अपना ही कार्य करते हैं, परन्तु उस अवस्थामें वे एक दूसरे अणुके कार्यमें सहायक भी नियमसे होते हैं तथा पृथक्-पृथक् कार्य करनेके कारण तादात्म्यरूपमे एकरूपताको प्राप्त न होकर सयुक्तरूपसे एकमेक ही बने रहते हैं। यही कारण है कि वे दोनो अणु कालातरमें विभक्त होकर अपनी स्वाभाविक स्थितिमें पहुँच जाते हैं। एव उस द्व्यणुककी दशामें उनका प्रतिभासन केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमे पृथक्पनेकी वास्तविकताके कारण पृथक्-पृथक् अणुओंके रूपमे ही होता है, अपृथक्पनेकी अवास्तविकताके कारण द्व्यणुक रूपमे नही होता। इस विषयको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें 'केवलज्ञानकी विषयमर्यादा' शीर्षकमें विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जा चुका है। फलत दोनो अणु उस द्व्यणुककी दशामें परस्पर बद्ध रहते हुए भी अपनी स्वाभाविक स्थितिको नही छोडकर अपने-अपने रूपमें ही रहते हैं व उनमें एक-दूसरे द्रव्यके सहयोगसे जो परिणमन होता है वह विकृत होकर भी अपने-अपने स्वभावकी सीमामे ही होता है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६० से लेकर आगे पूर्वपक्षके वक्तव्योकी आलोचनामें प्रथमत "समस्याओका मुख्य हेतु अज्ञान भाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकको स्थान दिया है, परन्तु वह शीर्षक गलत है, क्योकि पूर्वपक्षने अपने वक्तव्योमें कही भी श्रुतज्ञानको समस्यायोका हेतु नही बतलाया है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६०-६१ पर पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १८४-८५ पर निर्दिष्ट जिस वक्तव्यको उद्धृत किया है उसमे उसने—पूर्वपक्षने भी यह नही लिखा है कि समस्याओका मुख्य हेतु श्रुतज्ञान है। उसमें उसने केवल इतना ही लिखा है कि "श्रुतज्ञानी केवलज्ञानी जीवोकी अपेक्षा भिन्न दशामें रह रहे हैं। अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृतकृत्य हैं वहाँ श्रुतज्ञानियोके सामने हमेशा कृत्यो (कार्यों) के करनेकी समस्या खडी रहती है। जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तुके और उनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाले व्यापारोके केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर रह रहे हैं वहाँ कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानी जीवोको अपनी मौजूदा हालतोंमें अनुभवमें आनेवाली जोड-तोड बिठलानेकी आवश्यकता है, अत श्रुतज्ञानियोंके लिए कार्योत्पत्तिकी कार्यकारणपद्धतिको अपनानेके सिवाय कोई चारा नही रह जाता है।"

यत पूर्वपक्षके इस वक्तव्यसे श्रुतज्ञान समस्याओका हेतु सिद्ध नही होता, यहाँ तो मात्र केवलज्ञान और श्रुतज्ञानकी कार्योत्पत्तिके विषयमें तुलना ही की गई है, अत उत्तरपक्ष द्वारा लिखित उक्त शीर्षक गलत सिद्ध हो जाता है।

१ मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकारके संज्ञी पंचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको आवश्यकताके अनुसार स्वकीय लौकिक जीवन सम्बन्धी आरम्भी पापरूप कार्य यथायोग्यरूपमें हमेशा करना पडते हैं। व मिथ्यादृष्टि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अपने जीवनमें बहुलतासे ऐसे कार्य भी करते हैं जिन्हें अनुचित होनेके कारण जैनागममें सकल्पी पाप कहा गया है। मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अध्यात्मिक दृष्टिसे यथायोग्य पुण्यरूप या व्यवहार धर्मरूप कार्य भी करते हैं।

२ मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकारके सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अपने-अपने उक्त कार्योंकी सम्पन्नताके लिए जिस प्रक्रियाको अपनाते हैं उसका प्रकार यह है कि प्रथमत उनके अन्त करणमे विवक्षित पदार्थों सम्बन्धी कार्यको सम्पन्न करनेकी अभिलाषा जागती है। उसके पश्चात् उस अभिलषित कार्यको सम्पन्न करनेका सकल्प करके उसकी सम्पन्नताके लिए वे बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और यदि उन्हें उस कार्यके अनुकूल बाह्य साधनोका समागम हो जाता है तथा उस कार्यकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताका सद्भाव पदार्थमें रहता है, तो उनका वह अभिलषित कार्य सम्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत उनके अन्त - करणमें यदि उस कार्यके सम्पन्न करनेकी अभिलाषा जागृत न हो, अथवा अभिलाषा जागृत होनेपर भी उस कार्यको सम्पन्न करनेका वे सकल्प न करें अथवा सकल्प करनेपर भी वे उसके अनुकूल बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ न करें अथवा बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेपर भी उनका वह पुरुषार्थ उनकी अल्पज्ञताके कारण उस कार्यके अनुकूल न होकर उसके प्रतिकूल हो अथवा उनका वह पुरुषार्थ उस कार्यके अनुकूल होनेपर भी अनुकूल बाह्य साधनोका समागम उन्हें प्राप्त न हो अथवा कायके अनुकूल बाह्य साधनोका समागम प्राप्त होनेपर भी पदार्थमें उस कार्यके अनुकूल स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताका सद्भाव न हो तो उनके उस अभिलषित कार्यकी उस पदार्थमें सम्पन्नता सम्भव नही होती है।

उत्तरपक्ष द्वारा त० च०, पृ० २६०-६१ पर उद्धृत पूर्वपक्षके वक्तव्यके सम्बन्धमें पूर्वपक्षका अभिप्राय यही है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी यह मानता है कि विश्वके सभी पदार्थ और उनकी त्रैकालिक समस्त पर्यायें केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें प्रतिसमय युगपत् पृथक्-पृथक् नियतक्रमसे ही प्रतिभासित हो रही हैं, तथापि उसके ध्यानमें यह भी रहा है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके सभी कार्य उपर्युक्त प्रक्रियाको अपनानेसे ही सम्पन्न होते हैं। तथा उनकी सम्पन्नताके लिए उनके द्वारा अपनाई गई उस प्रक्रियापर केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनका कोई प्रभाव नही होता है। यह बात अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके आधारपर प्रत्येक सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव जान सकता है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि विवक्षित पदार्थसम्बन्धी अभिलषित कार्यकी सम्पन्नतामें व्यापृत मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवों द्वारा कार्यकी सम्पन्नताके लिए अपनाई गई उस प्रक्रियामें केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनका कुछ भी उपयोग नही है। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नतामें अपनी अल्पज्ञताके कारण कभी असफल होते हुए भी देखे जाते हैं।

यदि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकारके सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवो द्वारा अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए अपनाई गई उक्त प्रक्रियापर केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनका प्रभाव माना जाये तो उन जीवोको विवक्षित कार्यकी सम्पन्नतामे-कभी असफल नही होना चाहिए। परन्तु कदाचित् वे असफल होते भी देखे जाते हैं।

यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव सम्यग्दृष्टि हैं वे तो कार्यकी सम्पन्नतामें अहकार और असम्पन्नतामे विषाद नही करते हैं, परन्तु जो संज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव मिथ्यादृष्टि हैं वे कार्यकी सम्पन्नतामें अहकार और असम्पन्नतामें विषाद भी करने लगते हैं, अत अहकार और विषाद करनेवाले उन मिथ्यादृष्टि जीवोको अहकार और विषाद न करनेके लिए ही आगममे यह उपदेश दिया गया है कि जिस जीवका जिस देशमें और जिस कालमें जिन कारणोसे जैसा होना केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है उस जीवका उस देशमें और उस कालमें उन कारणोसे वैसा ही होता है, उसे कोई टाल नही सकता। आगमके विवेचनका इसके सिवाय और कोई उपयोग नही है। इसलिए उत्तरपक्षने उन आगमवचनोका जो कार्योत्पत्तिमे उपयोग करना चाहा है वह युक्त नही है।

पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको आगमवचनोपर श्रद्धा रखनेकी जो बात कही है वह उक्त अभिप्रायसे ही कही है, क्योकि विश्वके सभी अचेतन पदार्थोंकी उनमें होनेवाली कार्योत्पत्तिमें उनकी अचेतनाके कारण व एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जीवोको पुरुषार्थके बलपर होनेवाली कार्योत्पत्तिमें उनमें कर्मफलचेतनाका सद्भाव रहते हुए भी कर्मचेतनाका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमे होनेवाले प्रतिभासनका उपयोग न होकर विस्रसा अथवा प्रायोगिक ढगसे प्राप्त बाह्य कारणोकी अनुकूलताके आधारपर ही कार्योंकी उत्पत्ति मानना युक्त है। फलत संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव ही ऐसे हैं जिनके अभिलषित कार्योंकी सम्पन्नताके विषयमें विचार करना आवश्यक है। परन्तु, कोई सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव यदि "कार्य तो वही होगा जो केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमे प्रतिभासित हो रहा है" उस श्रद्धाका कार्योत्पत्तिमें उपयोग करता है तो वह या तो कानजीस्वामीके समान पुरुषार्थहीन होकर अपना अकल्याण करेगा या मारीचके समान प्रतिकूल पुरुषार्थके बलपर कुपथगामी होकर अपना अकल्याण करेगा।

पूर्वमें यह कहा ही जा चुका है कि सभी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनका भान होना सम्भव नही है, अत उन्हें अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए स्वतन्त्ररूपसे उपर्युक्त प्रक्रियाको अपनाना ही उपयोगी होता है।

पूर्वपक्षके वक्तव्यके सम्बन्धमें किये गये इतने विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरपक्षने "समस्याओका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकके अन्तर्गत प्रथम अनुच्छेदमे जो यह लिखा है कि "अपरपक्ष यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा सब कार्योंका स्वकालमें होना नियत मानता है और श्रुतज्ञानी जीवोको वैसी श्रद्धा करने की सूचना भी करता है, फिर भी वह श्रुतज्ञानी जीवोकी समस्त समस्याओका हल इसमें न देखकर कार्यकारण परम्पराको उसमे भिन्न मानना चाहता है, सो उस पक्षकी ऐसी मान्यता कहाँतक ठीक है यही यहाँ विचार करना है। विचार करनेपर तो यद्यपि उस पक्षका यह कथन परस्पर विरुद्धताको लिए हुए ही प्रतीत होता है, क्योकि इसमें प्रथम विसगति तो यह है कि अपरपक्ष केवलज्ञानके विषयको भिन्न मानता है और कार्य-कारणकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके विषयको उससे सर्वथा भिन्न मानता है। तथा दूसरी विसगति यह

आती है कि अपरपक्ष सम्यक् श्रद्धा तो केवलज्ञानके विषयके अनुसार करनेको कहता है और सम्यक् श्रद्धा-विहीन श्रुतज्ञानके द्वारा कार्य-कारणकी स्थापना करके उसे प्रामाणिक मानता है और साथ-ही केवलज्ञानके अनुसार प्रवृत्त हुई द्वादशांग वाणीस्वरूप आगमसे उसका समर्थन करनेका उपक्रम भी करता है। है तो यह ही सब कल्पित विचार सरणी, फिर भी उस पक्षकी ओरसे जो कुछ लिखा गया है उसपर सांगोपांग विचार तो करना ही है।" यह सब अयुक्त और निरर्थक ही है।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १८४-८५ पर निर्दिष्ट वक्तव्यको उद्धृत करते हुए त० च०, पृ० २६१ पर लिखा है कि "यह अपरपक्षके प्रकृत प्रतिशंकासम्बन्धी कथनका कुछ अंश है। इसमें उस पक्षके पूरे वक्तव्यका सार आ जाता है, परन्तु यह सब कथन स्वयमें कितना भ्रामक है इसे समझनेके लिए हमें "केवलज्ञानके अनुरूप ही श्रुतज्ञानका विषय होता है या अन्य प्रकारका" यह सर्वप्रथम जानना होगा।" तथा इसके आगे उसने श्रुतज्ञानके विषयको केवलज्ञानके अनुरूप मान्य करनेके लिए आगमके अनेक प्रमाण उपस्थित करनेका प्रयास भी किया है। पर उसका यह सब प्रयास निरर्थक है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें कार्यकी उत्पत्ति अपने अपने कारणोंके आधारपर ही होती है, केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके आधारपर नहीं। इस बातको उत्तरपक्षने भी "केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं" शीर्षकमें स्वयं स्वीकार किया है।

उत्तरपक्षने अपने प्रतिपादनमें श्रुतज्ञानके विषयको केवलज्ञानके समान मानकर आगमवचनोंके आधार-पर जो उसे पुष्ट किया है वह तो पूर्वपक्षको भी मान्य है, परन्तु प्रकृत विषयमें उपयोगी न होनेके कारण उत्तरपक्ष द्वारा उसे वहाँ प्रस्तुत किया जाना अप्रासंगिक ही है। अतः उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६२ से लेकर आगे "अब विचार कीजिये" इत्यादि जो कथन किया है वह अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

आगे उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथायें ३२१, ३२२ और ३२३ के आधारपर जो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिका भेद बतलाया है उसके विषयमें यह कहना उपयुक्त होगा कि वे गाथायें उन जीवोंको सम्यग्दृष्टि बतलाती हैं जो पूर्वोक्त प्रक्रियाके अनुसार कार्यके सम्पन्न करनेमें व्यापृत होकर उसके सम्पन्न होनेपर अहंकार व सम्पन्न न होनेपर विषाद नहीं करते हैं। तथा वे गाथायें उन जीवोंको मिथ्यादृष्टि बतलाती हैं जो उस प्रक्रियाके अनुसार कार्य सम्पन्न करनेमें व्यापृत होकर उसके सम्पन्न होनेपर अहंकार व सम्पन्न न होनेपर विषाद करते हैं।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६३ पर संसारी जीवोंकी सभी समस्याओंको राग, द्वेष और मोहजन्य कहा है, पर उसका यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीवोंकी सभी समस्याओंको मात्र कर्मफलचेतनाका सद्भाव रहनेके कारण राग, द्वेष और मोहजन्य माननेपर भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंकी समस्याओंको पूर्वोक्त प्रकार तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंकी उन समस्याओंको ही राग, द्वेष और मोहजन्य मानना युक्त है जो समस्यायें इन जीवोंके लौकिक और आध्यात्मिक जीवनके लिए अहितकर होती हैं। इनके अतिरिक्त इनकी जो समस्यायें उनके लौकिक जीवनके संरक्षण और आध्यात्मिक जीवनके पोषणसे सम्बन्ध रखती हैं उनको राग, द्वेष और मोहजन्य न मानकर उनसे पृथक् मानना ही युक्त है।

उत्तरपक्षने संसारी जीवोंकी सभी समस्याओंको राग, द्वेष और मोहजन्य सिद्ध करनेके लिए समयसार गाथा ८६ की आत्मख्याति टीकाके "आसंसारत एव धावति"—इत्यादि कलश-पद्यको भी प्रस्तुत किया है, पर उस कलश-पद्यसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंकी केवल वे समस्यायें ही राग, द्वेष और मोहजन्य सिद्ध

होती हैं जो उनके लौकिक जीवनके लिए अथवा आध्यात्मिक जीवनके लिए अहितकर होती है। लौकिक जीवन और आध्यात्मिक जीवनसम्बन्धी समस्यायें नही। इस प्रकार उत्तरपक्षका उक्त कलश-पद्यके आधारपर ससारी जीवोकी सभी समस्याओको राग, द्वेष और मोहजन्य प्रमाणित करना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार जैनागमके अनुसार केवल उन संसारी जीवोकी समस्याओको राग, द्वेष और मोहजन्य मानना युक्त है जो अपने हित और अहितके विवेकसे रहित हैं। तथा जिन ससारी जीवोमें अपने हित और अहितका विवेक जागृत हो जाता है उनकी समस्याओको राग, द्वेष और मोहजन्य नही माना जा सकता है। फलत उत्तरपक्षने उस कलशपद्यको दृष्टिमें रखकर त० च०, पृ० २६४ पर जो यह लिखा है कि "यह आगम-वचन है। इसमें ससारी जीवोंके समक्ष जो भी समस्याये खडी रहती हैं उन सबका मूल निदान करके उनका परमार्थरूप सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है।" वह लेख जीवोकी राग, द्वेष और मोहजन्य समस्याओकी अपेक्षा ही ठीक है, उनके लौकिक जीवनके सरक्षण और आध्यात्मिक जीवनके पोषणसम्बन्धी समस्याओकी अपेक्षा ठीक नही है।

तात्पर्य यह है कि ऊपर किये गये विवेचनके अनुसार राग, द्वेष और मोहजन्य समस्याएँ केवल उन मिथ्यादृष्टि जीवोमें रहती हैं जिन्हें अपने हित और अहितका विवेक नही होता है। इनके अतिरिक्त जिन मिथ्यादृष्टि जीवोको अपने हित और अहितका विवेक हो जाता है उनमे व हित और अहितका नियमसे विवेक रखनेवाले निश्चय सम्यग्दृष्टि जीवोमें केवल उन समस्याओका ही सद्भाव रहता है जिन समस्याओकी पूर्तिसे उनके लौकिक जीवनका सरक्षण और आध्यात्मिक जीवनका पोषण होता है। राग, द्वेष और मोह-जन्य समस्याओका उनमें सर्वथा अभाव ही रहता है। अतएव उत्तरपक्ष द्वारा त० च०, पृ० २६४ पर निर्दिष्ट "यह आगम वचन है"—इत्यादि कथन अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६४ पर जो यह कथन किया है कि "अतएव श्रुतज्ञानके आधारपर केवलज्ञानके विषयसे भिन्न यह निष्कर्ष निकालना तो ठीक नही है कि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें तो नियतक्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियतक्रमसे भी होती हैं। और इस आधारपर हमारे द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं। अनियत-क्रमसे नही इस सिद्धान्तको आगम विरुद्ध ठहराना भी ठीक नही है। वस्तुत किसी भी द्रव्यमें यदि कोई कार्य हमें अनियतक्रमसे होता हुआ प्रतिभासित होता है तो ऐसे प्रतिभासको मोहका ही साम्राज्य समझना चाहिए। मोही जीव ही अन्तरग प्रतिनियत उपादानका विचार किये बिना और प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें लिए बिना केवल अपनी कल्पनाओवश बाह्य साधनोके आधारपर किसी भी कार्यके कभी भी होनेकी सोचता है और अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग प्रतिनियत सामग्रीके अभावमें सोची गई तरकीब के अनुसार उस कार्यके न होनेपर जो वास्तवमें उस कार्यके हेतु नही थे, ऐसे दूसरे केवल बाह्य साधनोको ही दोषी ठहराता है, ज्ञानी जीव नही। स्पष्ट है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। अतएव केवली जिन अपने समस्त विषयोको जिस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानी जीव भी आगमके बलसे उक्त प्रकार निर्णयकर उनको उसी रूपमें जानते हैं। यदि कोई श्रुतज्ञान इससे भिन्न प्रकारसे जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नही कहा जा सकता है। उसकी मिथ्या श्रुतज्ञानमें ही परिगणना होगी" यह सम्पूर्ण कथन प्रकृत विषयके सम्बन्धमें ऊपर किये गये विवेचनके अनुसार अयुक्त ही सिद्ध होता है। आगे इसी बातको स्पष्ट किया जाता है।

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपने कथनमें सर्वप्रथम जो यह लिखा है कि "अतएव श्रुतज्ञानके आधारपर केवलज्ञानके विषयसे भिन्न यह निष्कर्ष निकालना तो ठीक नही है कि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियतक्रमसे होती हैं। और इस आधारपर हमारे द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं, अनियतक्रमसे नही इस सिद्धान्तको आगमविरुद्ध ठहराना भी ठीक नही है।"

इसकी समीक्षामें कहा जा सकता है कि कृतकृत्य होनेसे केवलज्ञानी जीवोंके सामने कार्यकी उत्पत्तिकी समस्याओका सतत अभाव ही बना हुआ है। फलत वे हमेशा विश्वके सभी पदार्थों और उनकी त्रैकालिक सभी पर्यायोंके प्रतिक्षण केवल ज्ञाता-दृष्टा ही हो रहे हैं। परन्तु जो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी जीव हैं वे यत कृतकृत्य नही हैं, अत उनके सामने सतत यथायोग्य आसक्ति या अशक्तिवश या कर्तव्यवश पूर्वोक्त प्रकारकी यथासम्भव कोई न कोई कार्योत्पत्ति सम्बन्धी समस्या खडी ही रहती है। एवं उसकी पूर्तिके लिए वे केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनसे अप्रभावित पूर्वोक्त प्रक्रियाको ही अपनाते हैं।

इस सम्बन्धमें उत्तरपक्षकी यह धारणा मिथ्या है कि प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अपने विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिमें राग, द्वेष और मोहके आधारपर ही प्रवृत्त होते हैं। तथा उनमें उन्हें यदि सफलता मिलती है तो इसलिए मिलती है कि केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें वैसा ही प्रतिभासित हो रहा है और यदि असफलता मिलती है तो इसलिए मिलती है कि केवलज्ञानी जीवोंके ज्ञानमें वैसा प्रतिभासित न होकर इससे विपरीत ही प्रतिभासित हो रहा है।

उत्तरपक्षकी इस धारणाको मिथ्या माननेका आधार यह है कि केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनका उपयोग सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अभिलषित कार्यकी उत्पत्तिमें नही होता है, क्योंकि पदार्थोंमें अपने कार्य-कारणभावके आधारपर उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होनेवाले कार्योंको ही केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर जानते हैं। वे कार्य केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके आधारपर उत्पन्न हुए हो, उत्पन्न हो रहे हों और आगे उत्पन्न होनेवाले हो ऐसा नही है।

इस प्रकार सभी पदार्थोंमें कार्योंकी उत्पत्ति उन कार्योंके अपने-अपने कार्य-कारणभावके आधारपर होनेका निर्धारण हो जाने पर भी उत्तरपक्षका यदि यही आग्रह हो कि सभी पदर्थोंमें कार्यकी उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार ही होती हैं, तो ऐसी स्थितिमें उसके सामने कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए आगममें प्रतिपादित कार्य-कारणभावकी व्यवस्था निरर्थक हो जायेगी।

इसपर यदि उत्तरपक्ष आगमके आधारसे यह कहना चाहे कि प्रत्येक पदार्थमें कार्यकी उत्पत्ति यद्यपि अपने-अपने कार्य कारणभावके आधारपर ही होती है, परन्तु भूतकालमें वही कार्य उत्पन्न हुआ, वर्तमान कालमें वही कार्य उत्पन्न हो रहा है और आगामी कालमें वही कार्य उत्पन्न होगा जो केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें सतत प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु उस आगमका यही आशय ग्रहण करना उचित है कि कार्यकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणोंके आधारपर ही होती है और केवलज्ञानी जीव इस प्रकार उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होनेवाले कार्योको ही सतत जान रहे हैं।

इस प्रकार पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा कार्य-कारणभावका समागम मात्र नियत-रूपमें निश्चित न होनेसे प्रत्येक पदार्थको जब जैसा निमित्तोका समागम होता है तब उसके अनुसार ही पदार्थ-की स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर कार्यकी उत्पत्ति यथायोग्य नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे होती है यही भावना उचित है। इस प्रकार उत्तरपक्षकी द्रव्योमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही उत्पन्न होती है, अनियतक्रमसे नही, यह मान्यता निरस्त हो जाती है।

अपनी मान्यताके समर्थनमें उत्तरपक्षका एक तर्क यह भी है कि जिसप्रकार केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने कारणोंके आधारपर उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होनेवाले सभी कार्य सतत क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होते हैं उसीप्रकार उन कार्योंकी उत्पत्तिके कारण भी उनके केवलज्ञानमें सतत क्रमबद्ध ही प्रतिभासित हो रहे है, अतएव केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें क्रमबद्ध प्रतिभासित होनेके कारण उन कारणोके आधारपर सभी कार्योंको उत्पत्तिको क्रमबद्ध मानना ही युक्त है। परन्तु उत्तरपक्षका यह तर्क भी मिथ्या है, क्योकि पदार्थोंमें अपने-अपने कारणोके आधारपर उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होनेवाले सभी कार्य केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमे जो क्रमबद्ध प्रतिभासित हो रहे हैं उस प्रतिभासनमें हेतु यह है कि वे सभी कार्य उन पदार्थोंके अपने ही परिणमन हैं। तथा उनकी उत्पत्तिसम्बन्धी निमित्तकारणभूत वस्तुएँ केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमे जो सतत प्रतिभासित हो रही हैं उनके प्रतिभासनमें हेतु यह है कि वे वस्तुएँ स्वतन्त्र हैं, परन्तु उन कारणभूत वस्तुओके साथ उन कार्योंकी उत्पत्तिका जो कार्य-कारणभाव है वह कार्यभूत और कारणभूत दो वस्तुओके आश्रित होनेके कारण उपचरित ही है, क्योकि कारणभूत वस्तुनिष्ठ जो कारणता है वह कार्य-सापेक्ष है और कार्यभूत वस्तुनिष्ठ जो कार्यता है वह कारणसापेक्ष है। अतएव कार्यभूत वस्तुमें विद्यमान कार्यता और कारणभूत वस्तुमें विद्यमान कारणता दोनो परस्पर सापेक्ष होनेसे वास्तविक (अनुपचरित) सिद्ध न होकर उपचरित ही सिद्ध होती हैं। फलत उस उपचरित कार्य-कारणभावका ज्ञान केवलज्ञानी जीवोको केवलज्ञानके आधारपर, मतिज्ञानी जीवोको मतिज्ञानके आधारपर, अवधिज्ञानी जीवोको अवधिज्ञानके आधारपर और मन पर्ययज्ञानी जीवोको मन पर्यय-ज्ञानके आधारपर नही होता है, अपितु उपचरित विषयको ग्रहण करनेवाले विश्लेषणात्मक श्रुतज्ञानके आधारपर श्रुतज्ञानी जीवोको ही होता है।

यत वह श्रुतज्ञान मतिज्ञानी जीवोमें मतिज्ञानके साथ, अवधिज्ञानी जीवोमें अवधिज्ञानके साथ और मन पर्ययज्ञानी जीवोमें मन पर्ययज्ञानके साथ नियमसे रहता है, अत उक्त उपचरित कार्यकारणभावको मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव तो श्रुतज्ञानके आधारपर जानते हैं, परन्तु केवलज्ञानी जीवोमें जब केवलज्ञानके साथ मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इन चारो ज्ञानोका उनके क्षायोपशमिक होनेसे अभाव रहता है तो श्रुतज्ञानका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञानी जीवोको कार्य-कारणभावका ज्ञान क्रमबद्ध अथवा अक्रमबद्ध किसी भी रूपमें कदापि नही होता है। फलत उत्तरपक्षका केवलज्ञानी जीवोको केवलज्ञानके आधारपर कार्य-कारणभावका ज्ञान सम्भव नही होनेसे कार्योंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानके अनुसार क्रमबद्ध मान्य करना अयुक्त सिद्ध हो जाता है। इस विषयको प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामें 'केवलज्ञानकी विषयमर्यादा' प्रकरणमें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

प्रत्येक वस्तु स्वभावत अनेकान्तात्मक है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसे अनन्त गुण विद्यमान हैं और प्रत्येक गुणके साथ उसका विरोधी धर्म भी प्रत्येक वस्तुमें विद्यमान है। मति, अवधि, मन पर्यय और

केवल ये चारो ज्ञान अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार उन अनेकान्तात्मक वस्तुओको ग्रहण करते हैं। तथा उनकी त्रिकालवर्ती द्रव्यपर्यायो और गुणपर्यायोको भी अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार वे चारो ज्ञान ग्रहण करते हैं, परन्तु विश्लेषणात्मक न होनेके कारण वे ज्ञान उस रूपमें उनका विश्लेषण नही करते हैं। विश्लेषणात्मक श्रुतज्ञानके द्वारा ही उनका उस रूपमें विश्लेषण होता है। इसीप्रकार वे ज्ञानभूत, वर्तमान और भविष्यत् पर्यायोको अपनी-अपनी क्षमताके अनुसार ग्रहण करते हुए भी उनका विश्लेषण भूत, वर्तमान और भविष्यत् रूपमें नही करते हैं। किन्तु उनका वह विश्लेषण मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव श्रुतज्ञानके आधारपर ही करते हैं। तथा केवलज्ञानी जीव श्रुतज्ञानका अभाव होनेके कारण उनका विश्लेषण करनेमें सतत असमर्थ ही रहते हैं।

श्रुतज्ञानके विश्लेषणात्मक होनेके कारण उसमें नयव्यस्थाका सद्भाव भी पाया जाता है। तथा मति, अवधि, मन पर्यय और केवल ये चारो ज्ञान यत विश्लेषणात्मक नही होते, अत उनमें नयव्यवस्थाका अभाव आगममें स्वीकार किया गया है। इसीप्रकार स्याद्वाद भी श्रुतप्रमाणका ही अंग है, मति, अवधि, मन पर्यय और केवल प्रमाणोका अग नही है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० २६४ पर निर्दिष्ट उपर्युक्त वक्तव्यमें उक्त कथनके आगे जो यह कथन किया है कि "वस्तुत किसी भी द्रव्यमें यदि कोई कार्य हमें अनियतक्रमसे होता हुआ प्रतिभासित होता है तो ऐसे प्रतिभासको मोहका ही साम्राज्य समझना चाहिए" यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि ऐसा प्रतिभासन अविवेकी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके समान विवेकको प्राप्त मिथ्यादृष्टि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंको व विवेक ही जिनकी जीवनप्रवृत्तियोका आधार है उन निश्चयसम्यग्दृष्टि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको भी होता है। यह बात भी सभी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके द्वारा अनुभव, इन्द्रियप्रत्यय और तर्कसे जानी जा सकती है। अत ऐसे प्रतिभासनको उत्तरपक्ष द्वारा केवल मोहका साम्राज्य बतलाया जाना उसकी भ्रान्त दृष्टि है।

इसी सन्दर्भमें उत्तरपक्षने आगे जो यह लिखा है कि "मोही जीव ही अन्तरग प्रतिनियत उपादानका विचार किये बिना और प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें लिए बिना केवल अपनी कल्पनाओ वश बाह्य सामग्रीके आधारपर किसी भी कार्यके कभी भी होनेकी सोचता है और अन्तरग-बहिरंग प्रतिनियत सामग्रीके अभावमें सोची गई तरकीबके अनुसार उस कार्यके न होनेपर जो वास्तवमें उस कार्यके हेतु नही थे ऐसे दूसरे केवल बाह्य साधनोंको ही दोषी ठहराता है, ज्ञानी जीव नही" यह लेख भी अविवेकी मिथ्यादृष्टि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोकी अपेक्षा तो पूर्वपक्षके लिए विवाद विषय नही है। परन्तु यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मिथ्यादृष्टि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय अविवेकी श्रुतज्ञानी जीवोंके समान विवेकी मिथ्यादृष्टि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवो एवं विवेक ही जिनकी जीवनप्रवृत्तियोंका आधार है ऐसे निश्चयसम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी जीवोंके कार्य पूर्वमें बतलायी गई कार्योत्पत्तिकी प्रक्रियाके आधारपर ही सम्पन्न होते हैं, अन्यथा नही। फलत यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विश्वके जड-चेतन सभी पदार्थोमें सतत जो स्व-परप्रत्यय कार्योकी उत्पत्ति होती है वह अन्तरंग द्रव्यभूत स्वाभाविक उपादानशक्तिके बलपर होकर भी अनुकूल बहिरंग निमित्तसामग्रीकी सहायता प्राप्त होने पर ही होती है।

इसप्रकार प्रत्येक पदार्थमें होनेवाली कार्योत्पत्तिमे उत्तरपक्ष द्वारा केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनको महत्त्व दिया जाना न केवल असगत है, अपितु उससे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी अविवेकी मिथ्यादृष्टि जीवोको पुरुषार्थहीन होने या गलत पुरुषार्थ करनेकी प्रेरणा भी प्राप्त होती है।

उसी वक्तव्यमे उत्तरपक्षने उक्त कथनके आगे जो यह लिखा है कि "स्पष्ट है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। अतएव केवलीजिन अपने समस्त विषयोको जिसप्रकार प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी जीव भी आगमके बलसे उक्तप्रकार निर्णय कर उनको उसी रूपमें जानते हैं। यदि कोई श्रुतज्ञान इससे भिन्नप्रकारसे जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नही कहा जा सकता। उसकी मिथ्या श्रुतज्ञानमें ही परिगणना होगी।" यह लेख भी निरर्थक ही है, क्योकि उत्तरपक्षके समान पूर्वपक्ष भी यह मानता है कि जो केवलज्ञानका विषय है वह श्रुतज्ञानका भी विषय है। परन्तु यह बात पूर्वमें स्पष्ट कर दी गई है कि उसका उपयोग उत्तरपक्ष द्वारा पदार्थोंमें होने वाले कार्योंकी उत्पत्तिमें मान्य किया जाना अप्रासंगिक है।

पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य प्रकृत विषयमें यही विवाद है कि पूर्वपक्षकी मान्यतामें विश्वके सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण जो स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति होती है वह विस्रसा अथवा प्रायोगिक ढगसे प्राप्त कारणोंके आधारपर होनेके कारण यथासम्भव नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती है व इसप्रकार उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे एव आगे उत्पन्न होने वाले सभी कार्योंको केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर नियतक्रमसे ही जानते हैं। इसके विपरीत उत्तरपक्षकी मान्यतामें विश्वके सभी पदार्थोंमे प्रतिक्षण जो स्व-परप्रत्यय कार्योंको उत्पत्ति होती है वह उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार प्राप्त कारणोंके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती है।

दोनो पक्षोकी परस्परविरुद्ध इन मान्यताओमें पूर्वपक्षकी मान्यता ही पूर्वोक्त प्रकार सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे प्रमाणित होनेके कारण युक्त है और आगम सम्मत है। तथा उत्तरपक्षकी मान्यता सज्ञीपञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अनुभव, इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्कसे प्रमाणित न होनेके कारण अयुक्त है व आगम सम्मत नही है।

उक्त लेखके अन्तमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "यदि कोई श्रुतज्ञान उससे भिन्नप्रकारसे जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नही कहा जा सकता उसकी मिथ्या श्रुतज्ञानमें ही परिगणना होगी" सो उसका यह लिखना कथंचित् ठीक होनेपर भी कथचित् ठीक नही है।

तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानी जीवोका केवलज्ञान और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोका सम्यक् श्रुतज्ञान दोनो ही विश्वके सभी पदार्थोंकी द्रव्यरूपता, गुणरूपता और पर्यायरूपताको जानते हैं। दोनोमें विशेषता इतनी है कि केवलज्ञान उनको साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष जानता है व सम्यक् श्रुतज्ञान उन्हें असाक्षात् अर्थात् परोक्ष जानता है। केवलज्ञान उनको जो प्रत्यक्ष जानता है वह परकी सहायता बिना आत्मनिर्भर होकर जानता है व सम्यक् श्रुतज्ञान उन्हे जो परोक्ष जानता है वह परकी सहायतासे जानता है। अत केवलज्ञान आत्मनिर्भर होकर जानता है, अत युगपत् जानता है व सम्यक् श्रुतज्ञान परकी सहायतासे जानता है अत. क्रमश जानता है। इसीप्रकार केवलज्ञान उनको जानता तो है, परन्तु उसमें विश्लेषणात्मकताका अभाव रहनेके कारण वह उनका विश्लेषण नही करता है जबकि सम्यक् श्रुतज्ञानमें विश्लेषणात्मकताका सद्भाव रहनेके कारण उनका विश्लेषण करते हुए ही वह उन्हें जानता है। विश्लेषणात्मकताका अभाव रहनेके कारण केवलज्ञान पदार्थोंमें होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिको और उसके आधारभूत कार्य-कारणभावको नही जानता है, केवल अपने-अपने कार्यकारणभावके आधारपर उत्पन्न हुई भूतकालीन, उत्पन्न हो रही वर्तमानकालीन और आगे उत्पन्न होने वाली भविष्यत्कालीन पर्यायोको ही वह जानता है। इसके विपरीत विश्लेषणा-

रूपकताका सद्भाव रहनेके कारण सम्यक् श्रुतज्ञान पदार्थोमें होने वाली उन पर्यायोंकी उत्पत्तिको और उनके आधारभूत कार्य-कारणभावको भी जानता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जो सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव मोहसे अप्रभावित अर्थात् विवेकी हैं वे उपर्युक्त कार्य-कारणभावकी प्रक्रियाको अनुकूलताके अनुसार स्वकीय अभिलषित कार्यके सम्पन्न होने पर अहकार नही करते हैं और कार्य-कारणभावकी प्रक्रियाकी अनुकूलताके अभावमें उस कार्यके सम्पन्न नही होनेपर विषाद नही करते हैं। किन्तु जो सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव मोहसे प्रभावित अर्थात् अविवेकी हैं वे उपर्युक्त प्रक्रियाकी अनुकूलताके अनुसार अभिलषित कार्यके सम्पन्न होनेपर अहकार करते है व कार्य-कारणभावकी प्रक्रियाकी अनुकूलताके अभावमे उस कार्यके सम्पन्न नही होनेपर विषाद करते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पदार्थोंमें भूतकालमें जो कार्य उत्पन्न हुए, वर्तमानकालमें जो कार्य उत्पन्न हो रहे हैं और भविष्यत्कालमें जो कार्य उत्पन्न होगे वे सभी कार्य नियमसे प्रतिनियत कारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे ही उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे हैं और आगे उत्पन्न होगे। परन्तु उनका प्रतिभासन केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें सतत नियतक्रमसे ही होता है। फलत केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमे होने वाला उनका वह प्रतिभासन उनकी उत्पत्तिमें कदापि आधार नहीं बनता है।

पदार्थोंमे होने वाली कार्योत्पत्तिकी इस व्यवस्थाको स्वामी कार्तिकेय भी जानते थे, इसलिए उन्होने कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१, २२ और २३ में जो कुछ लिखा है उसके आधारपर उत्तरपक्षका यह निकालना युक्त नही है कि पदार्थोंमें होने वाली कार्योत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार होती है।

एक बात और है कि यदि उत्तरपक्ष कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उन गाथाओके आधारपर पदार्थोंमें होने वाली कार्योत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार जानता है तो उसे पदार्थोंमें अनादिकालसे होती आई कार्योत्पत्तिके लिए एक अनादि केवलज्ञानी जीवकी सत्ता स्वीकार करनी होगी, जिसप्रकार जैनेतर दार्शनिकोको अनादिकालसे होती आई ससारसृष्टिके लिए कतकि रूपमें एक अनादि ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनी पडी है। यत जैनदर्शनमें प्रत्येक केवलज्ञानी जीवकी सत्ता सादि मानी गई है, क्योंकि जैनदर्शनकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक जीव अनादिकालसे चली आ रही स्वकीय अल्पज्ञतामें कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मोंके समाप्त होने पर ही केवलज्ञानी होता है और जो उत्तरपक्षको भी इष्ट है। अत कार्योकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार मानना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१, २२ और २३ में यह कथन किया गया है कि जिस जीवका जिस देशमें और जिस कालमें जिस कारणसे होनेवाला जन्म अथवा मरण जैसा केवलज्ञानी जीवको ज्ञात हो रहा है उस जीवके उस देश और उस कालमें उस कारणसे होनेवाले उस जन्म अथवा मरणको इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कोई भी टालनेमें समर्थ नही है। तथा जिस जीवकी ऐसी श्रद्धा है वह सम्यग्दृष्टि है और इसमें जो शका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। सो यह यद्यपि विवादका विषय नही है तथापि इस कथनका प्रयोजन मात्र इतना ही है कि अविवेकी सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव पूर्वोक्त प्रक्रियाके आधारपर अपने अभिलषित कार्यके सम्पन्न होने पर अहकार और सम्पन्न न होने पर विषाद न करें। फलत उक्त कथनके आधारपर उत्तरपक्षके द्वारा यह निर्णय किया जाना युक्त नही है कि विश्वके सभी पदार्थोंमे स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय कार्योंको व

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अभिलषित स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार होती है।

इसप्रकार "समस्यायोका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्षने जितना विवेचन किया है उसकी समीक्षा उपर्युक्त प्रकारसे हो जानेपर आगे अन्य शीर्षकोके अन्तर्गत उसने जो विवेचन किया है उसकी क्रमसे समीक्षा की जाती है।

उत्तरपक्षने "सर्वज्ञवचनका श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नही होता" शीर्षकके अन्तर्गत प्रथम अनुच्छेदमें पूर्वपक्षके उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधारपर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन या पथभ्रष्ट हो गया तो फिर उस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्तससारमे परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है?" इस कथनकी आलोचनामें लिखा है कि 'पता नही अपरपक्षने ऐसा मिथ्याविधान करनेका साहस कैसे किया' सो उत्तरपक्षका यह लिखना युक्त नही है, क्योकि उसके 'समस्यायोका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही' शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथनकी समीक्षामें स्पष्ट कर दिया गया है कि अविवेकी सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव आगमके उक्त प्रकारके वचनोका दृढ श्रद्धानी होकर कानजी स्वामीके समान पुरुषार्थहीन या मारीचके समान कुपथगामी भी हो सकता है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत द्वितीय अनुच्छेदमें उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त०च०पृ० १८४-८५ पर निर्दिष्ट कथनको जो आगम और तर्कके विरुद्ध बतलानेका प्रयास किया है उसका वह प्रयास अविवेकी सज्ञी पंचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अभिलषित कार्य की उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रभावी नहीं है, क्योकि इस बातको अमान्य नही किया जा सकता है कि अविवेकी सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव आगमके 'जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे' इत्यदि वचनोका दृढ श्रद्धानी होकर उपर्युक्तप्रकार पुरुषार्थहीन या कुपथगामी भी हो सकता है।

उत्तरपक्षने द्वितीय अनुच्छेदके अन्तमे प्रवचनसारकी गाथा ८० को लक्ष्यमें लेकर जो यह लिखा है कि 'जिसने सर्वज्ञके वचनकी यथार्थ श्रद्धा की उसने उनके स्वरूपको जान लिया और जिसने उनके स्वरूपको जान लिया उसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया और जिसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया उसे अपने यथार्थ कर्तव्यका भान हो गया' निर्विवाद होते हुए भी प्रकृत प्रसंगके बाह्य होनेके कारण उसका यहाँ लिखना निरर्थक ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष द्वारा दार्शनिक दृष्टिसे प्रस्तुत "द्रव्योमे होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी" इस प्रश्नपर उत्तरपक्षको दार्शनिक दृष्टिसे ही विचार करना करना था। ऐसा न करके उसने उसपर जो अध्यात्मिक दृष्टिसे विचार किया है वह प्रसगानुसार नही है। अतएव उससे पूर्वपक्षके दार्शनिक दृष्टिकोणसे प्रस्तुत उक्त प्रश्नका समाधान नही हो सका है।

पूर्वपक्षने त०च०पृ० १८४-८५ पर निर्दिष्ट कथनके प्रारम्भमें लिखा है "जैनसस्कृतिके आगम ग्रन्थोमें कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए दो प्रकारकी विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धादृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यदृष्टिसे"—इत्यादि।

इसका आशय यह है कि विवेकी और अविवेकी दोनो ही सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंको अपने अभिलषित कार्यकी सम्पन्नताके लिए समानरूपसे उस कार्यके सम्पन्न करनेके सकल्पके साथ बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करना अनिवार्य होता है। तथा पुरुषार्थ करने पर भी यदि अन्य कारणोका समागम उन्हें प्राप्त नही होता है तो वह कार्य सम्पन्न नही हो सकता है।

अत विवेकी सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव कार्योत्पत्तिकी इस व्यवस्थाको समझते हैं, अत वे उस व्यवस्थाके अनुसार कार्यके सम्पन्न होनेपर अहकार नही करते हैं और उस व्यवस्थाके अभाव अथवा उसकी अपूर्णतामें कार्यके सम्पन्न न होनेपर विषाद नही करते हैं। परन्तु जो अविवेकी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव हैं वे कार्योत्पत्तिकी उस व्यवस्थाको या तो समझते नही हैं अथवा समझते हुए भी मोही बने हुए हैं, इसलिए वे कार्य-कारणभावकी व्यवस्थाके अनुसार कार्यके सम्पन्न होनेपर अहकार करते हैं व उस व्यवस्थाके अभाव अथवा उसकी अपूर्णतामे कार्यके सम्पन्न न होनेपर विषाद करते हैं। अतएव ऐसे अविवेकी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको कार्यके सम्पन्न होनेपर अहकार और कार्यके सम्पन्न न होनेपर विषाद नही करनेके लिए ही आगमग्रन्थोमें वैसा उपदेश दिया गया है।

इसप्रकार विश्वके सभी पदार्थोमें स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनो कार्योकी उत्पत्तिमें व सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके स्वमें अथवा अन्य पदार्थोमें अपने अभिलषित स्व-परप्रत्यय कार्योकी उत्पत्तिमे केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें सतत होनेवाले उन कार्योंके प्रतिभासनका कुछ भी उपयोग सिद्ध नही होता है।

यदि कहा जाये कि उक्त आगमवचनोंका सम्बन्ध कार्योत्पत्तिके साथ नही माना जाये तो आगममें उन वचनोंको निबद्ध किया जाना अयुक्त हो जाएगा ? इसका समाधान यह है कि सभी कार्योंकी उत्पत्ति उनके प्रतिनियत कार्य-कारणभावके आधारपर ही होती है, केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके आधारपर नही। और इसप्रकार उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे व आगे उत्पन्न होनेवाले सभी कार्योको केवलज्ञानके आधारपर सतत जान रहे हैं। अतएव केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनको आलापपद्धतिके **"मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने च उपचार प्रवर्तते"** इस वचनके अनुसार उपचारसे कार्योत्पत्तिमें कारण मानकर इन वचनोको आगममें निबद्ध किया गया है। इस उपचारका प्रयोजन यह है कि उन आगमवचनोपर श्रद्धा रखकर अविवेकी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव प्रतिनियत कार्यकारणभावकी अनुकूलताके आधारपर अभिलषित कार्यके सम्पन्न होनेपर अहकार न करें एवं कार्य-कारणभावकी अनुकूलताके अभावमें अभिलपित कार्यके सम्पन्न न होनेपर विषाद न करें। जिस प्रकार मिट्टीसे निर्मित घड़ेको घीसे निर्मित न होनेपर भी घीका आधार होनेके कारण उसमें घी रखने या उसमेंसे घी निकालनेके प्रयोजनसे आलापपद्धतिके उक्त वचनके अनुसार उपचारसे 'घीका घडा लाओ' कहा जाता है। इसीप्रकार ही प्रकृतमें जानना चाहिये।

यत उत्तरपक्ष पूर्वपक्षद्वारा स्वीकृत व आगम और तर्कसे सम्मत इस व्यवस्थाको नही मानना चाहता है, अतएव उसने पूर्वपक्षके मन्तव्यकी आलोचना करते हुए बहुतसा निरर्थक कथन किया है व कार्य-कारणभावकी व्यवस्थाको आगम और तर्कके विरुद्ध केवलज्ञानमें अन्तर्भूत करनेका मिथ्या प्रयत्न किया है। एव प्रकृत शीर्षकके तृतीय अनुच्छेदके अन्तमें यह असगत विवेचन भी किया है कि "इसप्रकार पूर्वोक्त विवेचनपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि श्रुतज्ञानी जीवोंके सामने जो भी सांसारिक समस्यायें हैं उनका एक मात्र हल केवलज्ञानके विषयके अनुसार श्रद्धाकर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही है, अन्य दूसरे सब उपाय झूठे हैं।" उत्तरपक्षके विवेचनोकी निरर्थकता, मिथ्यापन या असगतिका परिज्ञान ऊपर किये गये समीक्षात्मक विवेचनसे ही हो जाता है। इसलिये इस विषयमें और अधिक लिखना आवश्यक नही है।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके तृतीय अनुच्छेदमें (त० च० पृ० २६५ पर) जो यह लिखा है कि "श्रुतज्ञानी जीवोंके सामने जो भी सासारिक समस्यायें हैं उनका एकमात्र हल केवलज्ञानके विषयके अनुसार

श्रद्धाकर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही है।' इसमें उसे (उत्तरपक्षको) यह स्पष्टीकरण करना था कि उन श्रुतज्ञानी जीवोकी वह प्रवृत्ति कैसी होगी ? क्योकि उस प्रकारकी श्रद्धाके आधारपर ही कानजीस्वामी पुरुषार्थहीन बने और मारीच कुपथगामी बना ।

इसीप्रकार उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके द्वितीय अनुच्छेदमें (त० च० पृ० २६४ पर) जो यह लिखा है कि "ऐसा जीव जो कि सर्वज्ञके वचनोपर श्रद्धान करता है अनन्त पुरुषार्थी होगा।" इसमे उसे (उत्तरपक्षको) उस अनन्त पुरुषार्थका भी स्पष्टीकरण करना था, क्योकि पुरुषार्थके सम्बन्धमें आगमका जो अभिप्राय मैंने समझा है उसके अनुसार जीवकी क्रियावती शक्तिका क्रियाशील नोकर्मभूत मन, या वचन (बोलनेका आधारभूत मुख) या कायके अवलम्बनसे जो हलन चलन क्रियारूप परिणमन होता है वह योग कहलाता है। वह योग जब तक चारित्रमोहनीयकर्मप्रकृत्तियोमेसे यथासभव प्रकृतियोका यथास्थान उदय रहते हुए यथाप्राप्त नोकर्मोके सहयोगसे जीवकी भाववती शक्तिके परिणमनस्वरूप राग-द्वेषसे प्रभावित रहता है तब तक वह योग ही पुरुषार्थ कहलाता है ।

जीवमें चारित्रमोहनीयकर्मप्रकृतियोमेंसे यथासम्भव प्रकृतियोका उदय प्रथमगुणस्थानसे लेकर दशमगुणस्थान तक सतत कार्यकारी बना रहता है, अत उन गुणस्थानोमे योगकी पुरुषार्थरूपता होनेके कारण जीवके साथ जो कर्मबन्ध होता है वह आगमके अनुसार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके रूपमे चारो प्रकारका होता है ।

यद्यपि दशम गुणस्थानके आगे ११वें, १२वें और १३वें गुणस्थानोमें भी योगका सद्भाव रहता है, परन्तु ११वें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयकर्मप्रकृतियोके उदयका अभाव व १२वें और १३वें गुणस्थानोमें उन सम्पूर्ण प्रकृतियोंका ही अभाव रहनेके कारण उस योगमे पुरुषार्थरूपताका अभाव रहता है, अत वहाँ जीवके साथ जो कर्मबन्ध होता हैं वह आगमके अनुसार स्थिति और अनुभागरूप न होकर मात्र योगका सद्भाव रहनेके कारण केवल प्रकृति और प्रदेशरूप ही होता है।

यत. १४वें गुणस्थानवर्ती जीवोंके नोकर्मभूत मन, वचन और कायका सद्भाव रहते हुए भी उनके निष्क्रिय हो जानेसे योगोंका सर्वथा अभाव हो जाता है, अत उनमें नया कर्मबन्ध नही होकर केवल पूर्वमें बद्ध कर्मोका सद्भाव ही शेष रहता है व उनका प्रतिक्षण एक-एक निषेक उदयमे आकर क्षयको प्राप्त होना जाता है। इसप्रकार बद्ध कर्मोका जब सर्वथा क्षय हो जाता है तब नोकर्मभूत मन, वचन और कायसे सर्वथा पृथक् होकर जीव तत्काल अपनी क्रियावतीशक्तिके आधारपर ऊर्ध्वगमन कर जाता है। उसका वह ऊर्ध्वगमन स्वभावतः ही होता है तथा कर्मों और नोकर्मोंका अभाव रहनेके कारण उसमें योगकी स्थिति समाप्त हो जानेसे वह ऊर्ध्वगमन जीवको कर्मबन्धका कारण नही होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीवका वह ऊर्ध्वगमन धर्मद्रव्यके अवलम्बनपूर्वक होता है और धर्मद्रव्यका सद्भाव लोकके अग्रभाग तक ही है, अत जीवका ऊर्ध्वगमन भी लोकके अग्रभाग तक ही होता है। उससे आगे अलोकरूप अनन्त आकाशमें नही होता ।

"सर्वज्ञवचनका श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नही होता" शीर्षकके विषयकी उक्त प्रकार समीक्षा हो जानेपर आगे क्रमप्राप्त "क्रमबद्ध या नियतक्रम पदका अर्थ" शीर्षकके विषयकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्षने त० च० पृ० १८५ पर लिखा है कि "सामान्यरूपसे सर्वत्र क्रम शब्दका प्रयोग कालिक सम्बन्धके आधारपर हुआ करता है। प्रकृतमें भी क्रम शब्दका प्रयोग पर्यायोके कालिक सम्बन्धोको ही प्रकट

करने वाला है।'' इसकी आलोचना करनेकी दृष्टिसे उत्तरपक्षने "क्रमवद्ध या नियतक्रम पदका अर्थ'' शीर्षकके अन्तर्गत त० च० पृ० २६५ पर जो यह लिखा है कि "क्रम शब्दका प्रयोग दैशिकक्रम, कालिकक्रम और गणनाक्रम आदि अनेक अर्थोंमें होता है। इतना अवश्य है कि प्रकृतमे एक द्रव्य या एक गुण-सम्बन्धी पर्यायें विवक्षित होनेसे यहाँ कालिकक्रम ही लिया गया है।'' इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रकृतमें क्रम शब्दका अर्थ उत्तरपक्षको भी पूर्वपक्षके समान कालिकक्रम ही मान्य है।

उत्तरपक्षने उक्त कथनके आगे "किन्तु पर्यायें एकके बाद एक होती हुई अपने-अपने स्वकालके अनुसार नियतक्रमसे ही होती हैं या उनका अपना-अपना कोई स्वकाल न होनेसे वे अनियतक्रमसे भी होती हैं इस बातका यहाँ विचार करना है'' यह लिखकर आगे यह भी लिखा है कि "अपरपक्ष केवलज्ञानकी अपेक्षा उनका अपने-अपने स्वकालमें नियतक्रमसे होना मानकर भी श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उनका नियत और अनियत दोनो प्रकारसे होना मानना चाहता है। इस तरह वह केवलज्ञानके विषयमे भेद करके अपने अभिमतकी सिद्ध करना चाहता है।''

इसके भी आगे उसने (उत्तरपक्षने) "यहाँ अपरपक्षने कुछ पर्यायोमें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनियक्रमकी कल्पना कर उनके कुछ उदाहरण देकर लिखा है'' इतना लिखकर पूर्वपक्षके त० च० पृ० १८६ पर निर्दिष्ट कथनको उद्धृत किया है जो निम्नप्रकार है—

"जैसे जीवकी क्रोधपर्यायके बाद क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायोमेसे यथासम्भव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। उसीप्रकार मानादि पर्यायके बाद भी उक्त चारो पर्यायोंमेंसे कोई भी एक पर्याय हो सकती है, नियत कोई एक पर्याय नही। इसीप्रकारकी व्यवस्था यथासम्भव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक पर्यायोंके बारेमें भी समझना चाहिए। इन सब पर्यायोमें एकके बाद एकरूप तो रहता है, परन्तु नियतक्रम नही रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्यपर्यायके बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देव पर्यायके बाद सिर्फ तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती हैं और किसी-किसी नारक पर्यायसे सिर्फ तिर्यञ्च पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्यायसे केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय ऐसी होती है जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्यायसे केवल देवपर्याय ही सम्भव होती है। तिर्यञ्च पर्यायके बाद भी आगमसम्मत अपने ढगकी ऐसी ही व्यवस्था है। इसतरह नियतक्रम और केवलक्रम (अनियतक्रम) पदार्थोंमें यथायोग्य समझना चाहिए।''

इसके भी आगे उत्तरपक्षने "श्रुतज्ञानकी अपेक्षा पर्यायोंमें नियतक्रम और अनियतक्रम किसप्रकार है इस बातसे सम्बन्ध रखने वाला यह अपरपक्षका कथन है। अपरपक्षने इस कथनमें एक स्थलपर 'आगमसम्मत अपने ढगकी ऐसी ही व्यवस्था है' यह उल्लेख भी किया है। इससे इतना तो सुनिश्चित ज्ञात होता है कि अपरपक्ष आगमसम्मत व्यवस्थाके अनुसार ही यह सब लिख रहा है'' इतना लिखकर आगे पूर्वपक्षके कथनकी आलोचनामें उसने यह कथन किया है कि "आगमकी रचना सर्वज्ञ वीतरागकी दिव्यध्वनिके अनुसार ही हुई है। ऐसी अवस्थामें पर्यायों सम्बन्धी इस व्यवस्थाको केवलज्ञानके विषयके अनुसार मानना ही उचित होगा। और इस तथ्यको तो अपरपक्षने भी स्वीकार किया है कि केवलज्ञानमें सब पर्यायें नियतक्रमसे होती हुई झलकती हैं, अनियतक्रमसे होती हुई नही। ऐसी अवस्थामें आगमके अनुसार प्रवृत्त हुए श्रुतज्ञानमें भी इन सब पर्यायोका एकमात्र नियतक्रमसे होना अपरपक्षको निश्छल भावसे स्वीकार कर लेना चाहिए।''

इसके अतिरिक्ति इसी सम्बन्धमें उत्तरपक्षने उक्त कथनके आगे यह कथन भी किया है कि "वस्तुत

अपरपक्षने जिस ढगसे पर्यायोके नियतक्रम और अनियतक्रमके होनेके विषयमें अपनी प्रतिशका प्रस्तुत की है वह ढग मूल प्रश्नको स्पर्श नही करता, क्योकि क्रोध, मान, माया या लोभ या नारकादि पर्यायें किस क्रमसे हो तो नियतक्रम समझा जाये और उक्त क्रमसे न हो तो अनियतक्रम समझा जाये ऐसी व्यवस्था आगममे नही की गई है। अतएव अपरपक्षने पर्यायोके नियतक्रम और अनियतक्रमके विषयमे जो भाष्य लिखा है वह प्रकृतमें लागू नही होता। प्रकृतमें प्रश्न ही दूसरा है जिसे दृष्टिसे ओझल करके अपरपक्ष जिस किसीप्रकार श्रुतज्ञानके नाम पर अपने कथित अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने त० च० पृ० २६६ पर पूर्वपक्षके त० च० पृ० १८६ के कथनको उद्धृत करके उसकी जिस ढगसे आलोचना की है उस पर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि उसने प्रकृत विषयके सम्बन्धमें अर्थात् पर्यायोकी उत्पत्ति सम्बन्धी नियतक्रमता और अनियतक्रमताके सम्बन्धमें आगमके अभिप्रायकी और प्रकृत प्रश्नको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षकी आगमानुसारिणी दृष्टिकी उपेक्षा की है। इसका ही यह परिणाम है कि उसने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो उत्तर दिया है वह न तो आगमसम्मत है और न प्रश्नके अनुरूप ही है। यहाँ यही बतलाया जाता है—

पूर्वपक्षका "द्रव्योंमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी" यह प्रश्न द्रव्योमे होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिकी नियतक्रमता और अनियतक्रमताके सम्बन्धमें है। इस बातको उत्तरपक्ष भी जानता था, क्योकि उसने प्रश्नका जो उत्तर दिया है वह इसी अभिप्रायसे दिया है। इससे यह निश्चित होता है कि उत्तरपक्षकी मान्यतामे द्रव्योंमे होने वाली पर्यायोकी उत्पत्ति केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार होती हुई नियतक्रमसे ही होती है जबकि पूर्वपक्षकी मान्यतामें द्रव्योमें होने वाली पर्यायोकी उत्पत्ति उत्तरपक्षको मान्य क्षायिकरूप केवलज्ञानमें नियतक्रमसे होने वाले प्रतिभासनके आधारपर नियतक्रमसे नही होकर क्षायोपशमिक रूप श्रुतज्ञान द्वारा निर्णीत कार्य-कारणभावके अगभूत व नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्त कारणोके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती है। अर्थात् उत्पन्न होने वाली पर्यायें यदि स्वप्रत्यय हो तो उनकी उत्पत्ति नियतक्रमसे ही होती है। तथा उत्पन्न होने वाली पर्यायें यदि स्व-परप्रत्यय हो तो उनको उत्पत्ति नियतक्रमके प्राप्त निमित्तोंके आधारपर नियतक्रमसे व अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोंके आधारपर अनियतक्रमसे होती है।

अपनी मान्यताको स्पष्ट करनेके लिए पूर्वपक्षने त० च० पृ० १८६ पर जो कथन किया है और जिसे उत्तरपक्षने त० च० पृ० २६६ पर उद्धृत किया है उसका अभिप्राय यही है कि जीवमें जब तक क्रोध कर्मका उदय अविच्छिन्न रूपसे कार्य करता रहता है तब तक उस जीवमें स्वकीय उपादान शक्तिके अनुसार अविच्छिन्न रूपसे क्रोध पर्यायकी ही उत्पत्ति होती रहती है। इसे ही नियतक्रम जानना चाहिए। और उसी जीवमें क्रोधकर्मका उदय कार्यकारी न होकर जब मान, माया या लोभ कर्मका उदय कार्यकारी होता है तब उसमे यथायोग्य मान, माया या लोभ पर्यायकी उत्पत्ति होने लगती है। इसे ही अनियतक्रम जानना चाहिए।

इस स्पष्टीकरणसे उत्तारपक्षके त० च० पृ० २६६ पर निर्दिष्ट कथनका "क्रोध, मान, माया या लोभ या नारकादि चारो पर्यायें किस क्रमसे हो तो नियतक्रम समझा जाये और उस क्रमसे न हो तो अनियतक्रम समझा जाये ऐसी व्यवस्था आगममें नही की गई है। अतएव अपरपक्षने पर्यायोके नियतक्रम और अनियतक्रमसे विषयमें जो भाष्य किया है वह प्रकृतमे लागू नही होता" यह अश निरर्थक एव अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

यद्यपि उत्तर और पूर्व दोनो पक्षोकी मान्यताओमेंसे उत्तरपक्षकी मान्यताकी असगति और पूर्वपक्षकी मान्यताकी सगति उत्तरपक्षके "समस्याओका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकके अन्तर्गत विषयकी समीक्षासे समझी जा सकती है, तथापि पाठकोको समझनेमें सुविधा हो इसलिए प्रकृत विषयको यहाँ भी स्पष्ट किया जाता है—

पूर्वपक्षका प्रश्न उपर्युक्त प्रकार द्रव्योमे होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्ध रखता है, अत जब इस दृष्टिसे विचार किया जाता है तो ज्ञात होता है कि दोनो पक्षोकी मान्यताओंके अनुसार द्रव्योमे होने वाली भूतकालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर हुईं, वर्तमानकालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर हो रही हैं और भविष्यत्कालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर होगी। दोनो पक्षोकी मान्यताओंके अनुसार द्रव्योमें होने वाली न तो भूतकालीन पर्यायें केवलज्ञानमे होनेवाले प्रतिभासनके आधारपर हुईं, न वर्तमानकालीन पर्यायें केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके आधारपर हो रही हैं और न भविष्यत्कालीन पर्यायें केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके आधारपर होगी, क्योकि दोनो ही पक्ष केवलज्ञानको उन पर्यायोका कारक न मानकर ज्ञापक ही मानते हैं।

दोनो पक्षोके मध्य पदार्थोंमें होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें इसप्रकारका मतैक्य रहते हुए भी यह मतभेद पाया जाता है कि जहाँ उत्तरपक्ष मानता है कि पदार्थोंमें होने वाली उक्त स्व-परप्रत्यय पर्यायोको केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर जिस क्रमसे सतत जान रहे हैं उसी क्रमसे भूतकालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर हुईं, उसी क्रमसे वर्तमानकालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर हो रही हैं और उसी क्रमसे भविष्यत्कालीन पर्यायें स्वकीय कारणोंके आधारपर होगी, वहाँ पूर्वपक्ष यह मानता है कि पदार्थोंमें होने वाली भूतकालीन वे पर्यायें नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्त कारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे हुईं, वर्तमानकालीन वे पर्यायें नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तकारणोके आधारपर नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे हो रही हैं और भविष्यत्कालीन वे पर्यायें नियत-क्रमसे प्राप्त निमित्तकारणोंके आधारपर नियतक्रम या अनियतक्रमके होगी तथा उक्तप्रकार नियतक्रमसे या अनियतक्रममें हुई, हो रही और आगे होने वाली उन सभी पर्यायोको केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर सतत नियतक्रमसे ही जान रहे हैं।

दोनो पक्षोकी परस्पर विरुद्ध इन मान्यताओमेंसे किस पक्षकी मान्यता आगम और तर्कसम्मत है व किस पक्षकी मान्यता आगम और तर्कसगत नही है इस बातको आगे स्पष्ट किया जाता है—

१—पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि केवलज्ञानी जीव कृतकृत्य हो चुके हैं, अत उनमें न तो कार्योंकी उत्पत्ति सम्बन्धी आकाक्षा उत्पन्न होती है और न उस आकाक्षाकी पूर्तिके लिए उन्हें सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता अनुभूत होती है। तथा जिनागममें केवलज्ञानका जो स्वरूप निर्धारित किया गया है उसके अनुसार केवलज्ञानी जीवोंमें कार्योत्पत्ति सम्बन्धी आकांक्षा, संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थका होना सम्भव भी नही है।

२—पूर्वमें यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि केवलज्ञानी जीवोंको केवलज्ञानके आधारपर विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंकी त्रैकालिक पर्यायोंकी उत्पत्तिसम्बन्धी कार्य-कारणभावका ज्ञान होना असम्भव है, क्योकि मति, अवधि और मन पर्ययज्ञानोंके समान केवलज्ञानमें भी विश्लेषणात्मकताका अभाव पाया जाता है। साथ ही वहाँ यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि विश्लेषणात्मक श्रुतज्ञानका सद्भाव रहनेके कारण उस श्रुतज्ञानके आधारपर मतिज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन पर्ययज्ञानी जीव तो उक्त कार्य-कारणभावका ज्ञान कर

सकते है, परन्तु केवलज्ञानी जीवोमे केवलज्ञानके साथ जब श्रुतज्ञानका सद्भाव पूर्वोक्त प्रकार सम्भव नही है, तो श्रुतज्ञानके आधारपर होनेवाला कार्यकारणभावका ज्ञान केवलज्ञानी जीवोको नही हो सकता है, अत कार्य-कारणभावका ज्ञान नही हो सकनेके कारण केवलज्ञानी जीवोको उन पदार्थोंकी त्रैकालिक पर्यायोकी उत्पत्तिका ज्ञान होना असम्भव सिद्ध हो जाता है।

३—पूर्वमें यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंकी त्रैकालिक पर्यायोकी उत्पत्तिको यदि केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार माना जाये तो अनादि-सिद्ध उन पदार्थोंमें अनादिकालसे प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिके लिए कम-से-कम एक केवलज्ञानी जीवकी अनादिसिद्ध सत्ता मान्य करना अनिवार्य हो जायेगा जो आगमविरुद्ध होनेसे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोको ही इष्ट नही है।

४—पूर्वमे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंकी त्रैकालिक पर्यायोकी उत्पत्तिको केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार मान्य करनेपर विवेकी और अविवेकी दोनो प्रकारके सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोको स्वकीय अभिलषित कार्योंकी उत्पत्तिके लिए पूर्वोक्त प्रकार अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम-सिद्ध सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करणेका कोई उपयोग नही रह जायेगा। इतना ही नही, अविवेकी सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव उस मान्यताके आधारपर पूर्वोक्त प्रकार पुरुषार्थहीन या कुपथगामी भी हो सकते हैं।

इस सब विवेचनका निष्कर्ष यही है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमे जब जिस कार्यकी उत्पत्ति हुई, हो रही है और होगी तब उस कार्यकी वह उत्पत्ति सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवो द्वारा श्रुतज्ञानसे निर्णीत एव नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तकारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम या अनियत-क्रमसे ही हुई, हो रही है और होगी। तथा उन पदार्थोंमें सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोके अभिलषित कार्योंकी उत्पत्ति भी उनके सकल्प, और बुद्धिपूर्वक किये गये पुरुषार्थके आधारपर अन्तरग उपादानकारणके रहते हुए बहिरग निमित्तकारणोका नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त समागमके अनुसार होनेसे यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे ही हुई, हो रही है और होगी। इसप्रकार उत्तरपक्ष द्वारा सभी पदार्थोंके सभी कार्योंकी उत्पत्तिको केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार नियतक्रमसे मान्य किया जाना अयुक्त सिद्ध हो जाता है। तथा इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षकी मान्यता ही अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगमसम्मत होनेसे युक्त सिद्ध होती है।

भाव यह है कि केवलज्ञानी जीवोका कार्य मात्र इतना ही है कि वे केवलज्ञानके आधारपर विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें अनादिकालसे अनन्तकाल तक प्रतिक्षण होने वाली पर्यायोको मात्र सतत जान ही रहे है। उन पर्यायोकी उत्पत्तिमें उनके केवलज्ञानमें होने वाले उस प्रतिभासनका कोई उपयोग नही है न उनके अपने कोई अभिलषित कार्य ही है जिनकी उत्पत्तिके लिए उन्हे कारणोकी खोज करना आवश्यक हो। उसके विपरीत सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंमे होनेवाले कार्योंकी उत्पत्तिके लिए आवश्यकतानुसार कारणोकी खोज करते रहते हैं तथा स्वकीय अभिलषित कार्य भी सर्वदा उनके सामने उपस्थित रहते हैं जिनकी उत्पत्तिके लिए उन्हें कारणोकी खोज करना अनिवार्य होता है। इसके लिए उन्हें केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनका अणुमात्र भी सहारा प्राप्त नही होता है। आगममें जो यह कथन पाया जाता है कि जैसा केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें सतत प्रतिभासित हो रहा है वैसा ही

कार्य सभी पदार्थोंमें हुआ, हो रहा है और होगा, सो उसका यह सहारा उन कार्योंको उत्पत्तिमें पूर्वोक्त प्रकार मात्र अज्ञानी जीवोंके लिए ही हो सकता है। जिसका प्रयोजन यह है कि कार्योंको उत्पत्तिकेलिए बुद्धिपर्वक पुरुषार्थ करनेपर यदि कार्य सम्पन्न हो जाये तो उन्हें अहंकार न हो और कार्यके सम्पन्न न होनेपर वे विषाद न करें और पुरुषार्थहीन न हो। ज्ञानी जीवोंके लिए पदार्थोंमें होनेवाले कार्योंकी उत्पत्तिमे आगमके उन वचनोका कुछ भी उपयोग नही है, क्योकि वे जानते है कि कार्योंकी उत्पत्ति केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार न होकर श्रुतज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके अनुसार निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर ही होती है। पूर्वपक्षने अपनी प्रतिशकामें इस सम्बन्धमे जो कुछ लिखा है वह इस बातको बतलानेकेलिए ही लिखा है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० २६६ पर निर्दिष्ट वक्तव्यमें जो यह कथन किया है कि "वस्तुत अपरपक्षने जिस ढगसे पर्यायोंके नियतक्रम और अनियतक्रमसे होनेके विषयमे अपनी प्रतिशका प्रस्तुत की है वह ढग मूल प्रश्नको स्पर्श नही करता" तथा उसी वक्तव्यमें आगे जो यह लिखा है कि "अपरपक्षने पर्यायोंके नियतक्रम और अनियतक्रमके विषयमें जो भाष्य किया है वह प्रकृतमें लागू नही होता। प्रकृतमें प्रश्न ही दूसरा है जिसे दृष्टिसे ओझल करके अपरपक्ष जिस किसी प्रकार श्रुतज्ञानके नाम पर अपने कथित अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है।" सो उत्तरपक्षके ये दोनो कथन उसकी प्रकृत विषयसम्बन्धी अनभिज्ञता ही स्पष्ट करते हैं।

उक्त बातको इसप्रकार भी समझा जा सकता है कि उत्तरपक्षको उक्त दोनों कथन करनेसे पूर्व यह सोचना था कि पूर्वपक्ष इतनी स्थूल गलती तो नही कर सकता है कि उसका प्रतिशका प्रस्तुत करनेका ढंग उसके ही प्रश्नको स्पर्श न करता हो और ऐसा भी नही हो सकता है कि पूर्वपक्षने प्रतिशकाको प्रश्नके प्रतिकूल प्रस्तुत किया हो।

पूर्वपक्षका प्रतिशका प्रस्तुत करनेका ढग वस्तुत ऐसा नही है जो उसके ही प्रश्नको स्पर्श नही करता हो और न उसको प्रतिशका ही ऐसी है जो उसके प्रश्नके प्रतिकूल हो। अर्थात् जैसा प्रश्न है वैसा ही ढग प्रतिशकाको प्रस्तुत करनेमें पूर्वपक्षने अपनाया है और प्रतिशका भी उसने प्रश्नके अनुकूल ही प्रस्तुत की है।

यह निर्णय इस आधारपर होता है कि पूर्वपक्षने अपना प्रश्न द्रव्योंमें होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें ही प्रस्तुत किया है तथा पर्यायोकी उत्पत्तिको पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनो उन-उन प्रतिनियत कारणोके आधारपर ही मानते हैं, केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होनेवाले प्रतिभासनके आधारपर नही, क्योंकि दोनो ही पक्ष केवलज्ञानको पर्यायोकी उत्पत्तिमें कारक न मानकर ज्ञापक ही मानते है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जब विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें त्रैकालिक स्व-पर-प्रत्यय पर्यायोकी व सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंकी स्व या परमें अभिलषित स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति प्रतिनियत उपादान और निमित्तकारणोंके आधारपर ही होती है और उनको निमित्तकारणोका समागम भी पूर्वोक्त प्रकार नियतक्रम या अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होता है तो उक्त पर्यायोकी उत्पत्ति भी प्राप्त निमित्तकारणोंके अनुसार यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे होती है।

इसप्रकार पर्यायोंकी उत्पत्तिसम्बन्धी पूर्वोक्त प्रक्रिया आगम और तर्क सम्मत होनेसे पूर्वपक्षको तो मान्य है ही, साथ ही उत्तरपक्षके समक्ष भी इस प्रक्रियाको स्वीकार करनेके अलावा अन्य कोई विकल्प सम्भव नही है। अतएव उत्तरपक्षने पूर्वपक्षकी मान्यताके सम्बन्धमें जो उक्त दोनो कथन किये हैं वे निरर्थक सिद्ध होते हैं। और उसने पूर्वपक्षके प्रश्नका जो केवलज्ञानके माध्यमसे उत्तर दिया है वह भी अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने उसी वक्तव्यमें आगे यह कथन भी किया है कि "क्रोधके बाद दूसरे क्षणमें अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्त कर क्रोधादि चारोमेसे एक कोई भी हो इसमें बाधा नही है। यहाँ देखना तो यह है कि जब क्रोधके बाद अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार जो पुन क्रोध होता है तब उसके स्थानमें क्रोध न होकर बाह्य सामग्रीके बल पर मानादि तीनमेंसे क्या अन्य कोई हो सकता है, इस सम्बन्धमें आगमके अनुसार हमारा कहना तो यह है कि क्रोधके बाद पुन क्रोध होता है तब वह अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार स्वकालमें ही होता है, बाह्यसामग्रीके बलसे उसमें फेर-बदल नही हो सकता। अतीतकालकी सभी पर्यायें प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होती आई हैं और भविष्यमे भी प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होती रहेंगी। प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पर्यायें प्रत्येक समयमें अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अपने-अपने कालमें पांच समवाययुक्त कारकसाकल्यके साथ नियतक्रमसे ही हुई हैं, होगी और होती हैं।"

समीक्षा—

पर्याय, परिणमन और कार्य इन सभी शब्दोंसे पर्यायरूप अर्थका बोध होता है, क्योकि जैनागममें यथास्थान इन सभी शब्दोका पर्यायरूप अर्थमे प्रयोग किया गया है। तथा जैनागममे स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिसम्बन्धी व्यवस्था भी इस प्रकार निश्चित की गई है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थ स्वत. सिद्ध होनेसे अनादिसिद्ध होते हुए भी परिणमनशील हैं। तथा सभी पदार्थोंमें स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति-सम्बन्धी स्वभावरूप नाना योग्यतायें विद्यमान हैं जिन्हें अपने-अपने ढगकी द्रव्यभूत उपादानशक्ति कहा गया है व उस द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार ही उन पदार्थोंमें अनादिकालसे प्रतिक्षण उन पर्यायोकी उत्पत्ति होती आई है और अनन्त काल तक होती जायेगी। परन्तु यह भी जैनागममें स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान स्वकीय द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार प्रतिक्षण स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी जो उत्पत्ति हुई है, हो रही है और होगी उनकी वह उत्पत्ति द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार होने पर भी अन्य पदार्थोंके सहयोग-पूर्वक ही होती आई है और होती जायेगी। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें स्वकीय द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर अन्य पदार्थोंके सहयोगसे होनेके कारण स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त उन अन्य पदार्थोंके समागमके अनुसार यथायोग्य नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे मानना ही युक्त है।

यद्यपि स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें उत्तरपक्षका यह मानना कि कार्यरूप पर्यायसे अव्यव-हित पूर्वपर्याय विशिष्ट उपादानशक्तिसे कार्यरूप पर्याय उत्पन्न होती है, आगम सम्मत है, परन्तु वह पूर्व पर्याय भी प्रमेयकमलमार्तण्डके पूर्वोल्लिखित वचनके अनुसार वही होती है जिसके अनुकूल निमित्तोकी प्राप्ति पदार्थको होती है। एव उसके पश्चात् जो कार्यरूप पर्याय होती है वह भी प्राप्त निमित्तोंके अनुसार ही होती है। ज्ञातव्य है कि घटपर्यायकी उत्पत्ति उससे अव्यवहित पूर्वपर्याय-विशिष्ट मिट्टीरूप उपादानसे ही होती है, परन्तु पूर्वपर्यायविशिष्ट वह मिट्टी घटादि नाना पर्यायोकी उत्पत्तिमें कारणभूत नाना उपादानशक्तियोंसे युक्त रहती है, इसलिए उससे घटादि नानाकार्योंमेंसे उसी कार्यकी उत्पत्ति होती है जिसके अनुकूल निमित्तोका सहयोग उस मिट्टीको प्राप्त होता है। इससे निर्णीत होता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति स्वप्रत्यय पर्यायोंके समान प्रतिक्षण एकके बाद एक रूप क्रमसे होते हुए भी स्वप्रत्यय पर्यायके समान नियतक्रममे न

होकर नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोके अनुसार यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रम रूपसे ही होती है। जैनागमस्वरूप समयसारके सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारकी ३०८ से ३११ तककी गाथाओकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकाके अशभूत "क्रमनियमितात्म परिणामैरुत्पद्यमान" वचनसे ऐसा ही ज्ञात होता है। उस वचनसे उत्तरपक्ष जो स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको स्वप्रत्यय पर्यायोंके समान नियतक्रमसे सिद्ध करना चाहता है वह सिद्ध नही होता है।

तात्पर्य यह है कि आगममें वतलाया गया है कि प्रत्येक पदार्थमें प्रतिक्षण स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो प्रकारकी पर्यायें अनादिकालसे होती आई हैं और अनन्तकाल तक होती जायेंगी। आगममे यह भी वतलाया गया है कि स्वप्रत्यय पर्यायें तो विभिन्न कारणोकी सहायताके विना स्वत होनेके कारण एकके बाद एकरूपमें नियतक्रमसे ही होती आई हैं और होती जायेंगी। परन्तु स्व-परप्रत्यय पर्यायें निमित्तकारणोंकी सहायतापूर्वक होनेके कारण नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे प्राप्त निमित्तोंके अनुसार नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती आई हैं और होती जायेंगी।

आगममें प्रतिपादित स्वप्रत्ययता और स्व-परप्रत्ययतारूप दोनो कार्यकारणभावोंके भेदके आधारपर पर्यायोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद उत्तरपक्ष नही मानता है, क्योकि उसका मत है कि प्रत्येक पदार्थमें उत्पन्न होने वाली सभी पर्यायोकी उत्पत्तिमे अन्य पदार्थभूत काल नियमसे उदासीन निमित्तकारण होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थकी किसी भी पर्यायको स्वप्रत्यय नही कहा जा सकता है। इसी प्रकार पदार्थोंमें उत्पन्न होने वालीं जिन पर्यायोको उत्पत्तिमें अन्य पदार्थोंको प्रेरक निमित्तकारण कहा जाता है वे पदार्थ उन पर्यायोकी उत्पत्तिमें अकिंचित्कर ही वने रहते हैं, इसलिए किसी भी पर्यायको स्व-परप्रत्यय नहीं कहा जा सकता है।

उत्तरपक्ष की पर्यायोंके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेदोंका निषेध करने वाली जो यह दृष्टि है उसका निराकरण आगमके आधारपर पर्यायोकी स्वप्रत्ययता और स्व-परप्रत्ययताकी पुष्टि करते हुए पूर्वमें किया जा चुका है।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थमें कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर कार्यरूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, परन्तु पूर्वपर्यायके बाद नियत उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिहोनेके कारण स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचर रूपमें उपचरितसद्भूत-व्यवहारकारण मान्य किया जा सकता है। जैसा कि कृत्तिका नक्षत्रके उदयके बाद शकट नक्षत्रका उदय नियमसे होनेके कारण कृत्तिका नक्षत्रके उदयको शकट नक्षत्रके उदयमें पूर्वचररूपमे उपचरितअसद्भूत-व्यवहारकारण जैनागममें मान्य किया गया है।

यद्यपि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें नयविषयताका भेद पाया जाता है, तथापि दोनो स्थलोमें समान-रूपसे विद्यमान पूर्वचरतारूप उपचरितव्यवहारकारणताके आधारपर ही उनका समन्वय करना चाहिए। अत दृष्टान्त और दार्ष्टान्त पाया जानेवाला नयविषयताका भेद उसमें बाधक नही होता है।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें नयविषयताके भेदका आधार यह है कि जहाँ दृष्टान्तस्वरूप शकट नक्षत्रके उदय और कृत्तिका नक्षत्रके उदयमें स्वीकृत कार्य-कारणभाव दो वस्तुओकी पर्यायोमें रहनेवाला होनेके कारण उपचरित असद्भूतव्यवहारनयका विषय है वहाँ दार्ष्टान्तस्वरूप स्वप्रत्यय पर्यायो सम्वन्धी उत्तरपर्याय और पूर्वपर्यायमें स्वीकृत कार्य-कारणभाव एक ही पदार्थको पूर्वोत्तर दो पर्यायोमें होनेके कारण उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय होता है।

इसी प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनोंमे समानरूपसे स्वीकृत कार्य-कारणभावकी उपचरितरूपताका आधार यह है कि कार्य-कारणभावका अभाव रहते हुए भी दोनो स्थलोमें पूर्वोत्तरभावकी नियमितता समानरूपसे पायी जाती है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस प्रकार स्वप्रत्यय पर्यायोसम्बन्धी पूर्व और उत्तर दोनो पर्यायोमें निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताका सद्भाव होनेके कारण पूर्वोत्तरभावकी नियमितता पायी जाती है उस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायोसम्बन्धी पूर्व और उत्तर दोनो पर्यायोमें निमित्तसापेक्ष स्व-प्रत्ययताका सद्भाव होनेके कारण पूर्वोत्तरभावकी नियमितता नही पायी जाती है, क्योकि वहाँ वस्तुकी पर्वपर्यायके बाद मात्र नियत उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति न होकर नियत या अनियत उसी पर्यायकी उत्पत्ति होती है जिस पर्यायके अनुकूल वहाँ बहिरग निमित्तसामग्रीका सद्भाव रहता है। अतएव निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्यय पर्यायोसे भिन्न निमित्तसापेक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायो सम्बन्धी पूर्व और उत्तर दोनो पर्यायोमे कार्य-कारणभावका उपचार करना शक्य नही है। इतनी बात अवश्य है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्यय पर्यायोसे भिन्न निमित्तसापेक्ष स्व-परप्रत्यय पर्यायोमेसे किन्ही पर्यायोसम्बन्धी पूर्व और उत्तर दोनो पर्यायोमें अनुपचरित सद्भूत व्यवहारकारणरूप कार्य-कारणभावका सद्भाव भी रहता है। इसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है—

लोकमे देखा जाता है कि मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली घटपर्यायकी उत्पत्ति उस मिट्टीसे क्रमश स्थास, कोश और कुशूल पर्यायोंके होनेपर ही होती हैं, उनके नही होनेपर नही होती है अर्थात् मिट्टीसे उत्पन्न होने वाली स्थास पर्याय उसी मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली कोश पर्यायकी उत्पत्तिमे पूर्वचररूपमे अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है व कोश पर्याय उसी मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली कुशूल पर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचररूपमें अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है एव वह कुशूल पर्याय भी उसी मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली घटपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचर रूपमे अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है। तथा इन सभी पर्यायोकी उत्पत्तिमें उपादानकारण मिट्टी ही होती है।

लोकमें यह भी देखा जाता है कि मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली स्थास, कोश, कुशूल और घट ये सभी पर्यायें कुम्भकार आदि बहिरङ्ग निमित्तकारणोकी सहायता प्राप्त होनेपर ही होती है और यदि कुम्भकार आदि बहिरग निमित्तकारणोकी सहायता प्राप्त न हो तो नही होती है। अत कुम्भकार आदि बहिरग निमित्तसामग्री भी मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाली उन स्थास, कोश, कुशूल और घटपर्यायोकी उत्पत्तिमें यथायोग्य अनुपचरित या उपचरित असद्भूतव्यवहारकारण होती है। अतएव कहा जाता है कि मिट्टीसे उत्पन्न होने वाली स्थास, कोश, कुशूल और घट पर्यायोकी उत्पत्तिमे यदि कुम्भकार आदि बहिरग सामग्रीकी सहायता प्राप्त न हो अथवा वह सहायता प्राप्त होनेपर भी कदाचित् बन्द हो जावे तो उन पर्यायोकी उत्पत्ति न होकर वे पर्यायें ही उत्पन्न होगी जिनके अनुकूल वहाँ बहिरग निमित्तसामग्री उपलब्ध होगी। फलत यह निष्कर्ष निकल आता है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायोसे भिन्न निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायो सम्बन्धी पूर्वपर्यायके बाद उसी उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल वहाँ बहिरग निमित्तसामग्री उपस्थित होगी।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षके त० च०, पृ० २६६-६७ पर निर्दिष्ट वक्तव्यका "यहाँ देखना तो यह है कि जब क्रोधके बाद अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार जो पुन क्रोध होता है तब उसके स्थानमे क्रोध न होकर बाह्य सामग्रीके बलपर मानादि तीनोमेंसे क्या अन्य कोई हो सकता है ?" इत्यादि अश मिथ्या सिद्ध हो जाता

हैं, क्योंकि पूर्वपर्याय भले ही क्रोधरूप हो, परन्तु उसके बाद यदि क्रोध कर्मका उदय कार्यकारी न होकर मानादि तीन कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मका उदय कार्यकारी हो जावे तो उस अवसरपर जिस कर्मका उदय कार्यकारी होगा उसके अनुरूप ही पर्यायकी उत्पत्ति होगी। इसमें हेतु यह है कि उस समय जीवमें क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायो सम्बन्धी सभी द्रव्यभूत उपादान शक्तियोका सद्भाव रहनेमे कोई बाधा नही है।

तात्पर्य यह है कि पदार्थोंमें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोमेसे जब जो पर्याय उत्पन्न होगी तब वह पर्याय उन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादान शक्तिके आधारपर होते हुए भी वही होगी जिसके अनुकूल वहाँ बहिरंग निमित्तसामग्री उपस्थित रहेगी। इतनी बात अवश्य है कि जिस पर्यायके अनुकूल वहाँ बहिरङ्ग निमित्तसामग्री उपस्थित होगी उसके अनुकूल पदार्थमें यदि द्रव्यभूत उपादानशक्तिका अभाव होगा तो उस पर्यायकी उत्पत्ति न होकर निमित्तसामग्रीके आधारपर उसी पर्यायकी उत्पत्ति होगी जिसकी द्रव्यभूत उपादानशक्तिका सद्भाव उस समय उस पदार्थमे होगा।

इससे निर्णीत होता है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमे उपादान और निमित्त दोनों कारण एक दूसरेके अधीन होकर ही विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिमें अपने-अपने ढगसे कार्यकारी होते हैं।

इस विषयको पूर्वमें रेलगाडी, रेलइजन और रेलपटरीका उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि चलनेके लिए तैयार रेलगाडी तभी चलती है जब उसे प्रेरकनिमित्तभूत इजनकी प्रेरणारूपसे और उदासीन निमित्तभूत रेलपटरीकी अवलम्बनरूपसे सहायता प्राप्त होती है। एव उसे यदि उन दोनो निमित्तोकी अथवा दोनोमेंसे किसी एककी सहायता प्राप्त नही होती है तो चलनेके लिए तैयार वह रेलगाडी तब तक चलनेमें असमर्थ रहती है जबतक उन दोनो निमित्तोंकी अपने-अपने ढगसे सहायता प्राप्त नही होती है। इसी प्रकार यदि रेलगाडी चलनेके लिए तैयार न हो तो उक्त दोनों निमित्तोकी सहायता प्राप्त होनेपर भी उसमें चलनक्रिया नही होती है। अष्टसहस्री, पृ० १०५ पर निर्दिष्ट अष्टशतीके **'तदसामर्थ्यमखण्डयत्'** इत्यादि वचनसे व प्रमेयकमलमार्तण्डके **'यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्या वा'** इत्यादि कथनसे यही आशय प्रकट होता है।

इस प्रकार पदार्थोंमे निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली पर्यायोकी उत्पत्तिमें प्रेरक और उदासीन दोनों निमित्तोकी सहायता अपेक्षित रहनेके कारण उन निमित्तोको उत्तरपक्ष द्वारा सर्वथा अकिंचित्कर मान्य किया जाना असगत सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त उत्तरपक्षकी जो यह मान्यता है कि पूर्वपर्यायके बाद नियत उत्तरपर्यायकी ही उत्पत्ति होती है वह भी असंगत सिद्ध हो जाती है। एव पूर्वपक्षकी यह मान्यता सगत सिद्ध होती है कि पदार्थोंमें निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोकी सहायताके अनुरूप यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे होती है।

तात्पर्य यह है कि जैनागमके अनुसार पदार्थोंमें स्वप्रत्यय और 'स्व-परप्रत्यय दोनों प्रकारकी पर्यायें यद्यपि उनमे स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके बलपर ही होती है, परन्तु उनमेंसे निमित्त-निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायें एकके बाद एक रूप क्रमसे होकर नियत-क्रमसे ही होती है व उनसे भिन्न निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली स्वपरप्रत्यय

पर्यायें एकके बाद एक रूप क्रमसे तो होती है, परन्तु मात्र नियतक्रमसे ही नही होती, प्रत्युत निमित्तोकी नियतक्रमसे अथवा अनियतक्रमसे प्राप्त सहायताके अनुरूप यथायोग्य नियतक्रम या अनियतक्रमसे होती हैं ।

उदाहरणार्थ किसी जीवकी वर्तमान पर्याय यदि क्रोधरूप हो रही हो तो उसकी वह पर्याय उसमें विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके बलपर होनेपर भी निमित्त-भूत क्रोधकर्मके उदयके कार्यकारी होनेपर ही होती है तथा जबतक क्रोधकर्मका उदय कार्यकारी रहेगा तबतक होती रहेगी । परन्तु जब क्रोधकर्मके स्थानपर मान, माया, या लोभकर्मका उदय कार्यकारी होने लगेगा तब निमित्तका परिवर्तन हो जानेसे उसकी वे पर्यायें उदित कर्मकी कार्यकारिताके अनुसार द्रव्यभूत उपादानशक्तिके बलपर यथायोग्य मान, माया या लोभ रूप ही होगी । फलत उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६६-६७ पर निर्दिष्ट वक्तव्यमे जो यह लिखा है कि "जब क्रोधके बाद अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार जो पुन क्रोध होता हैं तब उसके स्थानमें क्रोध न होकर बाह्य सामग्रीके बलपर मानादि तीनमेंसे क्या अन्य कोई हो सकता है" इत्यादि अश असंगत सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उक्त स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्त-निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर नियतक्रमसे होते हुए भी उन पर्यायोंसे भिन्न स्व-परप्रत्यय पर्यायें जब निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययोके आधारपर होती हैं तो उनकी उत्पत्ति नियतक्रमसे अथवा अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोकी सहायताके अनुरूप यथायोग्य नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे होती हैं, मात्र नियतक्रमसे नही ।

उत्तरपक्षके जब "क्रोधके बाद अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार जो पुनः क्रोध होता है"—इत्यादि कथनकी असगति इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि जिस जीवकी वर्तमान पर्याय क्रोधरूप हो रही है उस जीवकी उस क्रोधरूप पर्यायकी उत्पत्तिको वह पक्ष निमित्तभूत क्रोधकर्मके कार्यकारी उदय की सहायतापूर्वक द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर न मानकर उस पर्यायमे अव्यवहित पूर्ववर्ती क्रोध पर्यायके आधारपर ही मानता है । अतएव उसकी उस मान्यताके अनुसार वर्तमान क्रोध पर्यायसे पूर्ववर्ती अनादिकाल तककी सभी पर्यायोको उत्तर-उत्तर पर्यायकी उत्पत्तिमे कारणरूपसे व उस वर्तमान क्रोधपर्यायसे उत्तरवर्ती अनन्तकाल तककी सभी पर्यायोको पूर्व-पूर्व पर्यायके कार्यरूपसे क्रोधरूप ही मानना होगा जो जैनागमके विरुद्ध तो है ही, साथ ही उत्तरपक्षके त० च०, पृ० २६६-६७ पर निर्दिष्ट वक्तव्यके अशभूत "क्रोधके बाद दूसरे क्षणमें अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्तकर क्रोधादि चारोमेंसे एक कोई भी हो इसमे बाधा नही है" इस कथनके भी विरुद्ध है । इसलिए उत्तरपक्षको प्रकृत विषयके सम्बन्धमें जैनागम द्वारा स्वीकृत इस व्यवस्थाको ही मान्य करना होगा कि स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्त निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती है व स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्त सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे अथवा अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोकी सहायताके अनुरूप नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होती है ।

उत्तरपक्षने उक्त कथनमें जो "अन्यद्रव्यकी पर्यायको निमित्तकर" यह बात कही है उससे निमित्तोंकी कार्यकारिता सिद्ध हो जानेसे उसको (उत्तरपक्षको) भी जैनागमकी उस दृष्टिको मान्य करना अनिवार्य है ।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत अन्तमें पदार्थोंमें होने वाली स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय सभी पर्यायोकी उत्पत्तिको नियतक्रमसे सिद्ध करनेके लिए गोम्मटसार जीवकाण्डकी गाथा ५८२ (५८१) व तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृ० ३९९ पर निर्दिष्ट कथनको भी उद्धृत किया है । परन्तु इन दोनो उद्धरणोंसे भी उसके अभिमतकी पुष्टि नही होती है, क्योकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके कथनसे मात्र यही सिद्ध होता है कि कालद्रव्य अणुरूपमें लोकाकाशके प्रदेशोके बराबर असख्यात हैं और प्रत्येक कालाणु एकके बाद एकरूप क्रमसे होने वाली

भूत, वर्तमान और भावी अनन्त पर्यायोंका पिण्ड है। इसी प्रकार गोम्मटसार जीवकाण्डकी उक्त गाथासे भी मात्र यही सिद्ध होता है कि विश्वमें जितने पदार्थोंका सद्भाव है वे सभी पदार्थ अपनी-अपनी एकके बाद एकरूप क्रमसे होने वाली और काल सापेक्ष भूत, वर्तमान और भावी सज्ञाओको प्राप्त सभी पर्यायोंके पिण्डरूप ही हैं। अतएव उत्तरपक्ष द्वारा उन आगमप्रमाणोके बलपर स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिको स्वप्रत्यय पर्यायो-की उत्पत्तिके समान मात्र नियतक्रमसे मान्य करना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

तात्पर्य यह है और जैसा पूर्वमे स्पष्ट भी किया जा चुका है कि स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको नियत-क्रमसे मान्य करना ही युक्त है, क्योकि वे पर्यायें निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होती हैं। तथा स्व परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिको नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों प्रकारसे मान्य करना ही युक्त है, क्योकि वे पर्यायें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर ही उत्पन्न होती हैं और निमित्तोकी प्राप्ति पदार्थोंको नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वाली स्वप्रत्यय और निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वाली स्व-परप्रत्यय दोनो प्रकारकी पर्यायोकी उत्पत्तिमें निमित्तनिरपेक्षता और निमित्तसापेक्षताका भेद रहते हुए भी दोनोंमें समानरूपसे जो स्वप्रत्ययता पायी जाती है उसका अभिप्राय जैनागमके अनुसार यही ग्रहण करना चाहिए कि उन दोनो प्रकारकी पर्यायोंकी उत्पत्ति पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर ही होती है। उसका उत्तरपक्षको मान्य यह अभिप्राय नही ग्रहण करना चाहिए कि उन पर्यायोका उत्पत्ति कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्यायके अनुसार होती है, क्योकि इसका निराकरण पूर्वमे किया जा चुका है। अर्थात् पूर्वमें यह स्पष्ट किया गया है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली सभी पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व पर्याय पूर्वचर रूपसे उपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है व निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वाली सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंमेंसे किन्ही अर्थात् घटादि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्याय पूर्वचर रूपसे अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है तथा किन्ही अर्थात् क्रोधादि पर्यायोकी उत्पत्तिमें कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्याय पूर्वचर होते हुए भी उपचरित या अनुपचरित किसी भी रूपसे सद्भूतव्यवहारकारण नही होती है। इतना अवश्य है कि सर्वत्र स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दोनों प्रकारकी पर्यायोंकी उत्पत्तिमें स्वभावभूत द्रव्यरूप उपादानशक्तिविशिष्ट पदार्थ ही उपादान कारण होता है।

पर्यायोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें बतलाई गई ये सब व्यवस्थायें पाठकोको स्वकीय अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके आधारपर भी ज्ञात हो सकती हैं।

प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत किये गये उत्तरपक्षके कथनकी उक्त प्रकार समीक्षा हो जाने पर अब उसके (उत्तरपक्षके) "स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ की संस्कृत टीका" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथन-को समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० १७० पर अपने मतके समर्थनमें कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ की टीकामें आचार्य शुभचन्द्र द्वारा उद्धृत जैनागमके "त्रैकाल्य द्रव्यषट्क" इत्यादि पद्यको प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्षने उसके विषयमें त० च०, पृ० १८७ पर जो कथन किया है उसकी आलोचना उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २६८ पर की है। उस आलोचनामें उत्तरपक्षने सर्वप्रथम पूर्वपक्षके कथनके "उस टीकामें उद्धृत त्रैकाल्य द्रव्यषट्क"

इत्यादि पद्य प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए करनेका प्रयत्न किया है जो मालूम पडता है कि प्रकृत प्रश्नके महत्त्वकी पाठकोको दृष्टिमें कम करनेके उद्देश्यसे ही आपने किया है" इस अशको उद्धृत कर उसकी आलोचनामें यह लिखा है कि "अपरपक्षका यह वक्तव्य हमें बडा ही उपहासास्पद प्रतीत हुआ, क्योकि उक्त पद एक तो सस्कृतटीकामें जहाँ जैसा निबद्ध था, हमने उस टीकाके साथ वैसा ही उद्धृत कर दिया है और सस्कृत टीकाके अर्थके साथ उसका भी अर्थ लिख दिया है। हमने उक्त पदके आधारपर जब किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी ही नही की, ऐसी अवस्थामें हमने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए किया है या हम पाठकोकी दृष्टिमे प्रकृत प्रश्नका महत्त्व घटाना चाहते हैं, अपरपक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना मात्र पक्षपातपूर्ण दृष्टिका सूचक प्रतीत होता है।" इसके आगे भी उसने लिखा है कि "प्रकृतमें उक्त पदका उपयोग ही नही है यह लिखना न केवल हमें लाञ्छित करना है, अपितु सस्कृतटीकाकारको भी लाछित करने वाला है। टीकाकारने उसे उद्धृत किया और बुद्धि-पूर्वक उसे उद्धृत किया, क्योकि स्वामीकार्तिकेयकी 'एव जो णिच्छयदो' इत्यादि ३२३ सख्यक गाथाके द्वितीय चरणके अन्तमे 'दव्वाणि सव्वपज्जाए' पाठ पठित है। इसलिए इस पाठके आधारपर वे द्रव्य और सब पर्यायें कौन हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिए ही टीकाकारने 'त्रैकाल्य द्रव्यषट्क' इत्यादि पद उद्धृत किया है। इसलिए प्रकृतमे उक्त पदका उद्धृत किया जाना न केवल उपयोगी है, किन्तु आवश्यक भी है। इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह कायिक जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्रके भेद आदि जो भी सब द्रव्य और सब पर्यायें जिनागम-में कहे गये हैं वे सब नियत और क्रमनियत ही होते हैं। द्रव्य नियत होते हैं और पर्यायें क्रमनियत ही होती है, क्योकि नियतरूप द्रव्यके साथ पर्यायोका बनने वाला क्रम क्रमनियत ही होगा। अन्यथा द्रव्य, गुण और पर्यायोकी एकसत्ता नही बन सकती। वस्तुत· अपरपक्षको उक्त श्लोकका सस्कृत टीकामें उद्धृत किया जाना खटका इसलिये उसकी ओरसे उक्त श्लोकको आलम्बन कर गलत ढगसे यह टीका-टिप्पणीकी गई है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने इस शीर्षकके अन्तर्गत त० च०, पृ० २६८ पर पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १८७ पर निर्दिष्ट वक्तव्यके "उक्त टीकामें उद्धृत त्रैकाल्य द्रव्यषट्क इत्यादि पद्य प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर रहते हुए भी" —इत्यादि अशको प्रस्तुत कर उसकी जो आलोचना की है वह युक्त नही मानी जा सकती है, क्योकि उक्त आगमवचन मात्र यही बतलाता है कि भगवान् सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह कायिक जीव, छह लेश्यायें, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समितियाँ, पाँच गतियाँ, पाँच ज्ञान और पाँच चरित्र ये सब मोक्षके मूल हैं अर्थात् अवलम्बन है। अत उनको जो मतिमान् यथावत् जानता है, इनमें आस्था रखता है और इनके अनुरूप प्रवृत्ति करता है वह नियमसे शुद्धदृष्टि अर्थात् विवेकी और सम्यक् दृष्टि है। फलत प्रश्नके उत्तरमें उत्तरपक्षका उक्त कथन अनुपयुक्त एव अनावश्यक हो जाता है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यकी पुष्टिके लिए प्रकृत शीर्षकके अन्तमें "तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ"—इत्यादि जो कथन किया है वह उसने आगमके अभिप्राय, पूर्वपक्षकी दृष्टि और पूर्वपक्षके प्रश्नके आशयको नही समझकर ही किया है, क्योकि पूर्वपक्षका "द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी" यह प्रश्न पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे है, इसलिए उत्तरपक्षको प्रश्नका उत्तर देते समय पर्यायोंकी उत्पत्तिके प्रकार और कारणोपर ही विचार करना था। ऐसा न करके उसने अपने-

अपने प्रतिनियत कारणोंके आधारपर उत्पन्न हुई, उत्पन्न हो रहीं और आगामी कालमें उत्पन्न होने वाली पर्यायोंके प्रतिपादक आगम प्रमाणोको उपस्थित करके उनके आधारपर पर्यायोकी उत्पत्तिको जो नियतक्रमसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह अयुक्त ही है।

भाव यह है कि प्रत्येक पदार्थमें पर्यायोकी उत्पत्ति प्रतिनियत कार्य-कारणभावके आधारपर ही अनादि कालसे होती आई है और अनन्तकाल तक होती जाएगी, परन्तु विचारणीय बात यह है कि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके सामने पदार्थोंमें होने वाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिका प्रश्न सर्वदा खडा रहता है। इसके अतिरिक्त वे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव उन पदार्थोंमें अपने अभिलषित कार्य भी सम्पन्न करना चाहते हैं व इसके लिए वे उनकी सम्पन्नताका सकल्प करते हैं और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ भी करते हैं। यह बात अन्य है कि इतने पर भी उनके अभिलाषित कार्योंकी उत्पत्ति तभी होती है जब उन कार्योंके अनुकूल निमित्तोंका सहयोग और पदार्थोंमें उन पर्यायोके अनुकूल द्रव्यभूत उपादानशक्तिका सद्भाव रहता है।

इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत प्रश्नके समाधानमें गाथा ३२३ की सस्कृत टीकामें उद्धृत उक्त पद्यका उपयोग नही है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें जो यह लिखा है कि "द्रव्य नियत होते हैं और पर्यायें क्रमनियत ही होती हैं, क्योंकि नियतरूप द्रव्यके साथ पर्यायोका बननेवाला क्रम क्रमनियत ही होगा। अन्यथा द्रव्य गुण और पर्यायोंकी एक सत्ता नही बन सकती।" सो उसका यह तर्क पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे लागू नही होता, क्योंकि पर्यायोंकी उत्पत्ति सतत उनके अपने-अपने प्रतिनियत कारणोके आधारपर नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होती है और इस प्रकार भूतकालमें उत्पन्न हुई, वर्तमानकालमें उत्पन्न हो रही व आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंकी द्रव्य और गुणके साथ एक सत्ता भी बनी रहती है। अर्थात् पदार्थोंमें पर्यायोकी उत्पत्ति यथायोग्य नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होनेपर भी उन पर्यायोकी केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होनेवाली ज्ञप्ति क्रमबद्ध ही होती है। फलत द्रव्य और गुणके साथ पर्यायोकी एक सत्ता बनी रहनेमें कोई बाधा नही है।

इस प्रकार उत्तरपक्ष द्वारा "स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ की सस्कृत टीका" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथनकी समीक्षा हो जानेपर अब उत्तरपक्षके "सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक्श्रुतज्ञान है" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथनकी समीक्षा पूर्वमें किये गये विवेचनमे ही हो जाती है, क्योकि इस शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्षने जो विवेचन किया है वह भी उसने आगमके अभिप्रायको, पूर्वपक्षकी दृष्टिको और पूर्वपक्षके प्रश्नके आशयको नही समझकर ही किया है।

तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत त० च०, पृ० २६९ पर पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १९१ में निर्दिष्ट जिस कथनको उद्धृत किया है उसपर वह यदि पूर्वाग्रहमुक्त होकर विचार करता तो उसे उसके सम्बन्धमें व्यर्थ लम्बा लेख लिखनेकी आवश्यकता नही होती।

उत्तरपक्षको ज्ञात होना चाहिए था कि केवलज्ञानी और सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंमें यदि ज्ञान-भेद और अवस्थाभेद नही हैं तो आगममें उन श्रुतज्ञानी जीवोके लिए मोक्षमार्गका उपदेश क्यो देना पडता ? तथा ससारके मार्गका निषेध क्यो करना पडता ? इसके अलावा यह भी कहा जा सकता है कि उत्तरपक्षका जितना मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापार होता है वह सब वह क्या नियतक्रमबद्धताके सिद्धान्ता-नुसार ही करता है या उसमें उसकी आकाक्षा, सकल्प और बुद्धि प्रेरक होते हैं ? इसी प्रकार उत्तरपक्ष

सम्यक्श्रद्धाकी बात तो करता है, परन्तु उसकी मान्यताके अनुसार क्या यही सम्यक्श्रद्धा है कि प्रत्येक सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव अपने मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापारोको उक्त क्रमबद्धताके सिद्धान्तका अग स्वीकार कर ले ? और यदि ऐसा है तो जड पदार्थों और एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रियतकके जीवोके साथ सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोमें भेद ही क्या रह जाएगा ? हालांकि जड पदार्थों और एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रियतकके जीवोमें पर्यायोकी उत्पत्ति भी उक्त क्रमबद्धताके सिद्धान्तानुसार नही होती है । उत्तरपक्षको अपना पक्ष प्रस्तुत करते समय इन सब बातोपर भी ध्यान देना था ।

इस प्रकार मानना पडता है कि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव उचित या अनुचित जो भी करता है वह सब अपनी आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिकी प्रेरणासे ही करता है, क्रमबद्धताके सिद्धान्तानुसार नही ।

इसके अलावा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोकी सम्यक्श्रद्धा क्या है इसपर भी उत्तरपक्षको विचार करना आवश्यक है, क्योकि यह बात निश्चित है कि सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवके अन्त करणमे "जो-जो देखी वीतरागने सो-सो होसी वीरा रे" इस प्रकारकी आस्थाका होना सम्यक्श्रद्धा नही है, अपितु जैनागममें कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें कार्यकारणभावकी प्रतिपादित व्यवस्थाको यथावत् मानना ही सम्यक्श्रद्धा है ।

इस प्रकार "सम्यक्श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक्श्रुतज्ञान है" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "प्रकृत प्रतिशकाके कतिपय कथनोका खुलासा" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये कथनकी समीक्षा की जाती है ।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके त० च०, पृ० १८८ से १९१ तक निर्दिष्ट कथनोको पाँच भागोमें विभक्त करके क्रमश जो उनकी आलोचना की है उसकी समीक्षा उसी क्रमसे यहाँ की जाती है ।

प्रथम भागमें पूर्वपक्षके "मुक्त जीवोका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावत नही है, क्योकि उनका स्वभाव उर्ध्वगमन करनेका है, परन्तु गमन करनेके लिए उन्हें आगे धर्मद्रव्यका अवलम्बन प्राप्त नही होता है अत लोकके अग्रभागमें ही उनका अवस्थान हो जाता है" इस कथनको उद्धृत करके उसकी आलोचनामें उत्तरपक्षने लिखा है कि "जो भी कार्य होता है या स्वभावकी परिधिमे होकर भी समर्थ उपादानके अनुसार स्वकालमें अन्य द्रव्यको निमित्तकर होता है या उपादानके बिना केवल स्वभावके अनुसार अन्य द्रव्यको निमित्तकर होता है । द्वितीय पक्ष तो इसलिए ठीक नही है, क्योकि आगममे कही भी उपादानके बिना केवल स्वभावसे अन्य द्रव्योको निमित्तकर कार्यकी उत्पत्ति नही स्वीकार की गई है । रह गया प्रथमपक्ष, सो उसे स्वीकार करनेपर तो यही मानना उचित है कि मुक्त जीवोका उपादान ही लोकान्ततक गमन करनेका होता है । इसलिए उनकी लोकान्ततक ही उर्ध्वगति होती है और लोकान्तमे स्थित होनेका उपादान होनेसे वहाँ वे स्थिर हो जाते हैं । इस गति और स्थितिमें बाह्य द्रव्योका अवलम्बन भी तदनुकूल होता है, इसलिए जैसे उनकी स्वभाव उर्ध्वगति होती है उसी प्रकार लोकान्तमें स्वभावस्थिति भी होती है । मुक्त जीवोकी ये दोनो गति और स्थिति स्वभावरूप ही हैं । यदि मुक्त जीवोका लोकान्तमें अवस्थान स्वभावत नही माना जाता है तो वहाँ उस विभावरूप स्थितिका विभावरूप उपादान और उसके अनुरूप निमित्त भी स्वीकार करना होगा । किन्तु उसका स्वीकार किया जाना न तो आगमसगत है और न ही तर्कसगत है । उदाहरणार्थ, एक पुद्गल परमाणुको लीजिये, इसमें लोकान्त प्रापिणी द्रव्ययोग्यताके रहते हुए भी अपने उपादानके अनुसार उसकी एक प्रदेश, दो प्रदेश आदितक ही स्वभावगति होती है और अपने उपादानके अनुसार वह नियत प्रदेशतक गमनकर स्वभाव-स्थिति कर लेता है ।" इसकी पुष्टिके लिए उसने तत्त्वार्थवार्तिक, अ० ५, सूत्र १७ के दो वचनाको भी उद्धृत किया है ।

समीक्षा—

उत्तरपक्षके इस कथनसे ज्ञात होता है कि वह पक्ष कार्यकी उत्पत्तिको स्वभावकी परिधिमें तो मानता है, पर उसे वह समर्थ उपादानके अनुसार ही स्वीकार करता है और द्रव्यका कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायमें पहुँच जाना ही उसकी दृष्टिसे समर्थ उपादानका लक्षण है।

इस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि आगमके अनुसार जब पदार्थोंमें अनादिकालसे अनन्तकाल तक पर्यायोंकी उत्पत्ति एकके बाद एक रूप क्रमसे ही होती है, तो निर्णीत होता है कि प्रत्येक उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति पूर्वपर्यायके अनन्तर ही होती है। अब विचारणीय यह है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायको यदि कारण माना जाता है तो वह पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचर रूपसे उपचरित सद्भूत व्यवहार कारण ही मानी जा सकती है। अतएव उसे समर्थ उपादान कारण माना जाना युक्त नही है। यह बात पूर्वमें स्पष्ट की जा चुकी है।

इसी तरह निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोमेंसे कुछ पर्यायें ही ऐसी हैं जिनकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायको उपचरित या अनुपचरित सद्भूत व्यवहार कारण माना जा सकता है, उन्हें उपादान कारण फिर भी नही माना जा सकता है।

जैसे मिट्टीसे जो घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसमें उस मिट्टीकी स्थास पर्याय असाक्षात् रूपसे उपचरितोपचरित सद्भूत व्यवहार कारण होती है, कोश पर्याय असाक्षात्‌रूपसे उपचरित सद्भूत व्यवहार कारण होती है और कुशूल पर्याय साक्षात् रूपसे अनुपचरित सद्भूत व्यवहार कारण होती है। इनमेंसे कोई भी पर्याय मिट्टीसे होने वाली घटपर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानकारण नही होती है। इसमें मिट्टी ही स्वभावत उपादान कारण होती है।

इससे भिन्न जीवमें क्रोध पर्यायके बाद जो मान, माया या लोभरूप स्व-परप्रत्यय पर्याय उत्पन्न होती है उसकी उस उत्पत्तिमें पूर्व क्रोध पर्याय उपादानकारण तो दूर, उपचरित या अनुपचरित सद्भूत व्यवहारकारण भी नही होती है, क्योकि जीवमें क्रोध पर्यायके बाद जो मानादि पर्यायोमेंसे कोई पर्याय उत्पन्न होती है उसकी वह उत्पत्ति उस जीवमें विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार होते हुए भी प्रेरक निमित्तभूत मानादि कर्मोमेंसे यथायोग्य कर्मके उदयके बल पर ही होती है। फलत उत्तरपक्षका प्रत्येक पदार्थकी सभी पर्यायोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें समर्थ उपादानकारण मान्य करना युक्त नही है। फलत प्रत्येक पदार्थको प्रत्येक पर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायको उपचरित या अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण सर्वत्र स्वीकार करना भी युक्त नही है।

उत्तरपक्ष पूर्वपर्यायविशिष्ट वस्तुको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें समर्थ उपादानकारण मानता है, परन्तु ध्यातव्य है कि उसमें वह सामर्थ्य प्रेरक निमित्तकारणभूत बाह्यसामग्रीके बलपर ही प्रकट होती है। जैसा कि अष्टसहस्री के "तदसामर्थ्यमखण्डयत्"–इत्यादि वचनसे व प्रमेयकमलमार्तण्डके "यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्या वा"–इत्यादि कथनसे जाना जाता है।

इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि उत्तरपक्षका पर्यायोकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायविशिष्ट वस्तुको उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें समर्थ उपादानकारण प्रेरक निमित्तकारणकी सहायताके बिना मान्य करना युक्त नही है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें प्रत्येक पदार्थकी सभी पर्यायोकी उत्पत्तिमें जो स्वकालमें होनेका सिद्धान्त बनाया है उसका निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको अनुकूल रूपसे कारण स्वीकार किया है, परन्तु जब वह पक्ष निमित्तभूत बाह्य सामग्रीको पर्यायोकी उत्पत्तिमे सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो उसकी वह स्वीकृति अयुक्त सिद्ध हो जाती है।

जीवोके गमन और अवस्थानके विषयमें आगमकी यह मान्यता है कि जीवमें गमन करनेकी स्वभावत द्रव्यभूत उपादानशक्तिके रहते हुए भी उसका जो गमन होता है वह संसारी अवस्थामें प्रेरक निमित्तभूत कर्मके उदय और अन्य सहायक कारणोकी प्रेरणाके बलपर होता है तथा मुक्त जीवोमें वह गमन कर्मों और नोकर्मोंका अभाव हो जानेके कारण स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्ताकारणभूत कर्मों और नोकर्मोंकी सहायताके बिना ही होता है। परन्तु जीवका गमन चाहे संसारी दशामें हो रहा हो या मुक्त दशामें हो रहा हो दोनो ही अवस्थाओमें अप्रेरक (उदासीन) निमित्तकारणभूत धर्मद्रव्यके अवलम्बनपर ही होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था जीवोंके अवस्थानके विषयमें भी है। गमन और अवस्थान दोनोमें इतनी विशेषता पाई जाती है कि गमनमें अप्रेरक निमित्तभूत धर्मद्रव्यका अवलम्बन और अवस्थानमें अप्रेरक निमित्तभूत अधर्मद्रव्यका अवलम्बन सहायक होता है।

पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें जो यह कथन किया है कि "मुक्त जीवोका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावत' नही है क्योकि उनका स्वभाव तो उर्ध्वगमन करना ही है।" सो यह कथन उसने आगमकी मान्यताके अनुसार ही किया है, इसलिए उत्तरपक्षने उसकी जो ओलोचना की है वह पूर्वपक्षके आशयको गलतरूपमें ग्रहण कर ही की है। फलत उसे युक्त नही माना जा सकता है।

बात यह है कि तत्त्वार्थसूत्र अ० १० के सूत्र ५ से ८ तक जीवोंके गमनके विषयमें जो प्रतिपादन किया गया है और उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें उसका जो स्पष्टीकरण किया गया है उससे स्पष्ट है कि मुक्त जीव स्वभावभूत गमन करनेकी द्रव्यरूप योग्यताके सद्भावमें स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्ताकी सहायताके बिना ही उर्ध्वगमन करता है। अन्य आगम ग्रन्थोमें भी मुक्त जीवका इसी प्रकार स्वभावत' अर्थात् प्रेरक निमित्ताकी सहायताके बिना ही उर्ध्वगमन बतलाया गया है। नियमसारकी गाथा १८३ मे आचार्य कुन्दकुन्दने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है।

अब रह जाती है लोकके अग्रभागमें मुक्त जीवके अवस्थानकी बात, सो उर्ध्वगमन स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्ताकी सहायताके बिना होनेपर भी उसका लोकके अग्रभागमें अवस्थान होनेमें कोई बाधा नही है, क्योकि अप्रेरक निमित्तभूत धर्मद्रव्यका आगे अभाव होनेके कारण उसका लोकके अग्रभागसे ऊपर गमन होना सम्भव नही है व उर्ध्वगमन उपर्युक्त प्रकार स्वभावत होनेके कारण उसका अधोगमन या त्रियंग्गमन भी नही हो सकता है, फलत उसका लोकके अग्रभागमें अवस्थान होनेके सिवाय कोई चारा नही रह जाता है। हाँ, वह अवस्थान भी स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्ताकी सहायताके बिना अप्रेरक निमित्तभूत अधर्मद्रव्यकी सहायतापूर्वक स्वभावत अर्थात् अवस्थित होनेकी द्रव्यभूत योग्यताके बलपर ही होता है।

तात्पर्य यह है कि सभी जीवो और सभी पुद्गलोमें स्वभावत क्रिया करनेकी द्रव्यभूत योग्यता विद्यमान है जिसे आगममे स्वभावभूत क्रियावती शक्ति कहा गया है। उसके आधारपर ही वे जीव और पुद्गल गमन करते है। परन्तु ससारी जीव कर्मों और नोकर्मोंसे बद्ध होनेके कारण स्वकीय गतिमें प्रेरकरूपसे

उन कर्मों और नोकर्मोंकी सहायता अपेक्षित रखते हैं और अप्रेरक निमित्तकारणरूपसे धर्मद्रव्यकी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं। तथा मुक्त जीव कर्मों और नोकर्मोंका अभाव हो जानेके कारण स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्तकारणोकी सहायताके बिना ही गमन करते हैं, तथापि उनका वह गमन अप्रेरक निमित्तभूत धर्मद्रव्यके अवलम्बनपर ही होता है। यत धर्मद्रव्यका सद्भाव लोकके अग्रभाग तक रहनेके कारण उनका वह गमन लोकके अग्रभाग तक ही होता है। आगे अलोकाकाशमें धर्मद्रव्यका अभाव रहनेके कारण उनका गमन नही होता है। फलत उनका लोकके अग्रभागमें ही अवस्थान हो जाता है।

यद्यपि उनका वह अवस्थान भी उनमें विद्यमान स्वभावभूत द्रव्यरूप योग्यताके आधारपर होता है और वहाँ विद्यमान अप्रेरक निमित्तभूत अधर्मद्रव्यके अवलम्बनपूर्वक होता है, परन्तु वह अवस्थान उक्तप्रकार आगे उर्ध्वगमन न होनेके कारण ही होता है, अत पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमे जो यह लिखा है कि "मुक्त जीवोका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावत नही है, क्योकि उनका स्वभाव तो उर्ध्वगमन करनेका ही है" सो उसका यह कथन अयुक्त नही है, इसलिए इसके विषयमें उत्तरपक्ष द्वारा की गई आलोचना ही अयुक्त है।

इससे उत्तरपक्षका अपने वक्तव्यमें अवस्थानको लेकर स्वभाव और विभावकी चर्चा करना भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। तथा उत्तरपक्ष द्वारा मुक्त जीवोका स्वभाव लोकान्तगमन मान्य किया जाता व उसके होनेमे पूर्व पर्यायको समर्थ उपादानकारण स्वीकार किया जाना एवं लोकान्तमें होनेवाले अवस्थानमें भी पूर्वपर्यायको समर्थ उपादान कारण माना जाना सभी अयुक्त एव व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

उत्तरपक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जितने भी आगमप्रमाण उपस्थित किये हैं उनमे भी मुक्त जीवोंके लोकान्तगमनके स्वभावकी वात मान्य नही की गई है।

इतना स्पष्ट होनेपर भी यदि उत्तरपक्षका यही आग्रह हो कि मुक्त जीवोका लोकान्त तक गमन करना ही स्वभाव है तो ऐसा माननेपर उसके सामने तत्त्वार्थसूत्र अ० १० के "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्रकी निरर्थकता प्रसक्त हो जाएगी, क्योंकि इस सूत्रकी सार्थकता मुक्त जीवोका उर्ध्वगमन स्वभावतः अर्थात् प्रेरक निमित्तभूत कर्मों और नोकर्मोंकी सहायताके बिना ही अप्रेरक निमित्तभूत धर्मद्रव्यकी सहायतापूर्वक मान्य करनेसे ही हो सकती है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें उक्त वक्तव्यके अन्तमें जो पुद्गल परमाणुको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है उससे भी उसके मतका समर्थन नही होता है, क्योकि कार्यकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायको समर्थ उपादान मान्य करनेके बिना भी पुद्गल परमाणुको मन्द और तीव्र गतियोमें उसके वेगकी मन्दता और तीव्रता ही कारण होती है व उसके आधारपर ही पुद्गल परमाणुकी गति एकप्रदेश, दोप्रदेश आदि तक होती है। फलत उसकी उस गतिको उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपर्यायभूत समर्थ उपादानके आधारपर मान्य करना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति धर्मद्रव्यको उस गतिकी मन्दता और तीव्रतामें कारण माने तो वह भी अयुक्त है, क्योकि धर्मद्रव्यको आगममें गतिकार्यकी उत्पत्तिमें प्रेरक निमित्त न मानकर अप्रेरक निमित्त ही माना गया है। इसलिए धर्मद्रव्य पुद्गल परमाणुकी गतिमें मन्दता और तीव्रताको उत्पन्न नही कर सकता है।

प्रकृत विषयके सम्बन्धमें एक वात यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्वपक्ष पदार्थोंमे होने वाली किन्ही-किन्ही

स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें जो पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यकी समर्थ उपादान कारण मानता है उसमें हेतु यह है कि वह पक्ष निमित्तोके कार्यभेदके आधारपर प्रेरक और अप्रेरक दो भेद स्वीकार करता है व दोनो ही निमित्तों-को वह पदार्थोंमें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वाली उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें अपने-अपने ढगसे सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है। तथा उत्तरपक्ष पदार्थोंमे होने वाली उन पर्यायो-की उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको जो समर्थ उपादान कारण मानता है वह प्रेरक और उदासीन दोनो निमित्तोकी सहायताके बिना ही मानता है, क्योकि वह निमित्तोंके प्रेरक और अप्रेरक दो भेद मानकर भी और कार्योत्पत्तिके अवसर पर उनका सद्भाव मानकर भी उनको उस कार्योत्पत्तिमे सर्वथा अकिंचित्कर मानता है।

अब यदि इस विषयमें विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त प्रकार पूर्वपक्षको मान्यता ही अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष, तर्क और आगम प्रमाणोसे पुष्ट होती है, उत्तरपक्षकी मान्यता उन प्रमाणोंसे पुष्ट नही होती है। यह बात तो पूर्वमे स्पष्ट की जा चुकी है कि द्रव्यभूत उपादानशक्तिमें वह सामर्थ्य प्रेरक निमित्त कारणकी सहायतासे ही प्रगट होती है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें जो तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५, सूत्र १७ के दो वचनोको उद्धृत किया है उनसे भी उसके उस मतकी पुष्टि नही होती है, क्योकि प्रथम वचनमें मात्र इतना ही बतलाया गया है कि जीव और पुद्गलके गतिपरिणमनमें उपग्रह (उपकारक) होनेके कारण धर्मास्तिकायकी और उनकी स्थितिमे उपग्रह (उपकारक) होनेके कारण अधर्मास्तिकायकी सिद्धि होती है। द्वितीय वचनमें यह बतलाया गया है कि धर्मद्रव्य जीवो और पुद्गलोकी गतिमें और अधर्मद्रव्य उनकी स्थितिमें प्रधान कारण नही है। फलत उन वचनोंके आधारपर उत्तरपक्षका अपनी उक्त मान्यताको पुष्ट करना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

यह बात पूर्वमे बतलायी जा चुकी है कि गति और स्थिति सम्बन्धी द्रव्यभूत उपादानशक्ति-विशिष्ट जीवो और पुद्गलोकी गति और स्थितिमे धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य यथाक्रम अप्रेरक रूपसे ही उप-कारक होते हैं, प्रेरक रूपसे नही।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० २७२ पर यह कथन किया है कि "आगममें एक प्रश्न उठाया गया है कि अलोकाकाशमें कालद्रव्यका अभाव होनेसे वहाँ उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्यायका बाह्य कारण क्या है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वहाँ बतलाया गया है कि लोकाकाश और अलोकाकाश यह प्रयोजनविशेषसे किया गया विभाग है। वस्तुत स्वय आकाशमे ऐसा भेद नही है, इसलिए सर्वत्र आकाशकी उत्पाद व्ययरूप पर्यायमें कालद्रव्यकी निमित्तता बन जाती है।" सो इसमे पूर्वपक्षको कोई विवाद नही है, परन्तु उसने आगे जो यह लिखा है कि "इसी न्यायसे यदि सिद्ध जीव लोकाग्रको लाँघकर ऊर्ध्वगति कर जाये, मात्र अधोभागके कुछ आत्मप्रदेश लोकाकाश की ऊर्ध्व सतहको स्पर्श किये रहे तो उनकी उस गतिमें धर्मद्रव्यकी निमित्ता बन जानेसे कोई बाधा नही आती।" सो उत्तरपक्षका यह कथन युक्त नही है, क्योकि धर्मद्रव्यका लोकाग्रसे आगे अभाव होनेसे ही सिद्ध जीवकी ऊर्ध्वगति लोकके अग्रभागमें समाप्त हो जाती है इसपर उत्तरपक्षको ध्यान देना था। स्वय उत्तरपक्षने भी इसे असम्भव मान कर लिखा है कि "फिर ऐसा क्यो नही होता ? किन्तु ऐसा होता नही, यह तो आगमसे ही स्पष्ट है।"

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यके निष्कर्षके रूपमे आगे लिखा है कि "इससे विदित होता है कि सिद्ध जीवोकी लोकके अग्रभाग तक गति और वहाँ स्थिति तत्त्वत अपने उपादानके अनुसार ही होती है धर्म और अधर्म

द्रव्य तो उनकी गति और स्थितिमे निमित्त मात्र है।" इसके भी आगे उसने लिखा है कि "इस प्रकार पूर्वोक्त समग्र विवेचन पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सिद्ध जीवोकी विभावके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें स्वभाव गति होती है उसी प्रकार विभावके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें उनकी स्वभाव स्थिति भी होती है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योकि सिद्धोकी ऊर्ध्वगति स्वाभाविक ही होती है इसे सब आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है।" अपने इस मन्तव्यके समर्थनमें उसने आगम प्रमाणोको भी उपस्थित किया है।

समीक्षा—

सिद्ध जीवोकी गति और स्थिति दोनो ही उनमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार होती हैं, परन्तु स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्तकारणोकी सहायताके बिना ही यथायोग्य अप्रेरक निमित्तभूत धर्म और अधर्म द्रव्योंके अवलम्बन पूर्वक होती हैं। इसे पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है। अपने मतके समर्थनमे उत्तरपक्षने जो आगम प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनका भी यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

यद्यपि सिद्ध जीवोकी गति और स्थिति दोनो ही पूर्वपर्यायके अनन्तर उत्तरपर्यायके रूपमें होती हैं, परन्तु उनके होनेमें पूर्वपर्याय उपादानकारण तो दूर, उपचरित या अनुपचरित सद्भूत व्यवहारकारण भी नही होती है। इस बातको भी पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है।

एक बात और है कि प्रमेयकमलमार्तण्डके पूर्वोल्लिखित **"यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्या वा"**—इत्यादि कथनसे निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वालीं स्व-परप्रत्यय पर्यायोंके सम्बन्धमें यह भी निश्चित होता है कि कार्यभूत उत्तरपर्यायसे पूर्ववर्ती पर्यायकी उत्पत्ति भी निमित्तोकी सहायतापूर्वक ही होती है। एव यह क्रम सभी पदार्थोंमें अनादिकालसे होता आया और अनन्तकाल तक होता रहेगा तथा सभी पर्यायोकी उत्पत्तिमें समानरूपसे लागू होता है। इसलिए उत्तरपक्षकी कार्योत्पत्ति-सम्बन्धी उक्त मान्यता असगत सिद्ध हो जाती है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तरपक्ष जब-जब अपनी बातको पुष्ट करनेमें बेसहारा हुआ तब-तब उसने निश्चय और व्यवहारनयोका सहारा लेनेका सर्वत्र प्रयत्न किया है और ऐसा ही प्रयत्न उसने यहाँ (त० च०, पृ० २७२) भी किया है, परन्तु उसको ध्यान रखना था कि पूर्वपक्ष आगमके अनुसार उपादानोपादेयभावको निश्चयरूप कार्यकारणभाव व निमित्त-नैमित्तिकभावको व्यवहाररूप-कार्यकारणभाव ही मानता है तथा निश्चयभूत उपादानोपादेयभावको निश्चयनयका व व्यवहाररूप निमित्त-नैमित्तिकभावको व्यवहारनयका विषय मानता है। यह बात तत्वचर्चामें पूर्वपक्षने और तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षामें मैंने अनेक स्थलो पर स्पष्ट की है, इसलिए यह तो विवादका विषय नहीं है, परन्तु जब उत्तरपक्ष निमित्तोको कार्यकी उत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो वह निमित्त-नैमित्तिकभावको कल्पनाका विषय हो जानेसे व्यवहारनयका विषय कैसे मानता है? इसका उसके पास क्या समाधान है?

उत्तरपक्षके कथनसे ऐसा ज्ञात होता है कि वह निश्चयनय और व्यवहारनयकी प्रक्रियाको समझनेमें भ्रात है। निश्चयनय और व्यवहारनयकी व्याख्या और उसके प्रयोगकी व्यवस्था पूर्वमें स्पष्ट की गई है तथा प्रकरणानुसार आगे भी स्पष्ट की जाएगी। निश्चयनय और व्यवहारनयकी प्रक्रियाको समझनेके लिए 'जैनशासनमें निश्चय और व्यवहार' पुस्तक भी दृष्टव्य है।

इस प्रकार प्रकृत विषय सम्बन्धी प्रथम भागकी समीक्षा हो जानेपर अब द्वितीय भागकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने द्वितीय भागमें पूर्वपक्षकी जिस बातकी आलोचना की है उसके सम्बन्धमें लिखा है कि "अपरपक्षने दूसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है।" तथा इसके सम्बन्धमें उसने पूर्वपक्षको मान्य केवलज्ञान आदिके दृष्टान्त भी प्रस्तुत किये हैं व अन्तमें लिखा है कि "यह सब कथन द्रव्यार्थिकदृष्टिसे किया गया है या पर्यायार्थिकदृष्टिसे, इस तथ्यपर यदि अपरपक्षका ध्यान जाता तो उसने जिस अभिप्रायकी पुष्टिमें यह सब वक्तव्य लिखा है उसके लिखनेका प्रयोजन ही नही रहता। प्रश्न तो यह है कि प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है वह कैसे होता है ? क्या जो द्रव्य-पर्यायशक्तियुक्त मिट्टी घटरूप परिणम रही है वह उसी समय गाय आदि खिलौनारूप परिणम सकती है ? द्रव्यदृष्टिसे तो प्रत्येक द्रव्यमें जितनी त्रैकालिक पर्यायें सम्भव हैं वे सब योग्यताके रूपमें विद्यमान हैं। परन्तु प्रत्येक समयमें जो एक-एक पर्याय होती है उसका कारण क्या ? आचार्योंने तो इसका अन्तरङ्ग (वास्तविक) कारण पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यको बतलाया है। जिस समय जिसका जैसा पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य उपादान होता है उसीके अनुसार उससे दूसरे समयमें कार्य होता है और दूसरे समयमें जैसा पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यपदार्थ उपादान होता है उसके अनुसार उसके तीसरे समयमें कार्य होता है। इसी प्रकार सब समयोकी अपेक्षा सब द्रव्योमें कार्य-कारणभावको जान लेना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रकृतमें द्रव्ययोग्यताओका उल्लेखकर किन्ही कार्योंको नियत (निश्चित) और किन्ही कार्योंको अनियत (अनिश्चित) सिद्ध करना ठीक नही है।"

समीक्षा—

पूर्वपक्षकी दृष्टिसे सभी पदार्थोंकी सभी पर्यायोकी उत्पत्ति यद्यपि उन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर ही होती हैं, परन्तु उनमेंसे प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्त-निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रममे ही होती है व उन्ही पदार्थोंमे स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण जब जैसे निमित्तोकी नियत-क्रमसे या अनियतक्रमसे सहायता प्राप्त होती है तब उस सहायताके अनुसार पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रम या अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती है।

उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी आगमानुसारणी इस व्यवस्थाको नही मानता है। उसका कहना है कि पदार्थोंमें होने वाली सभी पर्यायोकी उत्पत्ति उन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिकी सीमामें होनेपर भी कार्यरूप पर्यायके अनन्तरपूर्ववर्ती पर्यायभूत उपादानशक्तिके अनुसार ही होती है और वह नियत-क्रमसे ही होती है।

दोनो पक्षोकी परस्पर भिन्न मान्यताओंमेंसे कौनसी मान्यता आगम और तर्कसगत है, इस बातको आगे स्पष्ट किया जाता है—

पूर्वमें आगम और तर्कके आधारपर यह स्पष्ट किया गया है कि पदार्थोंमें स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती है तथा उन पर्यायोकी उत्पत्तिमे यदि पूर्वपर्यायको कारण माना जाता है तो वह पर्याय पूर्वचररूपमें उपचरित सद्भूतव्यवहारकारण ही होती है, उपादानकारण नही। इसी प्रकार उन्ही पदार्थोंकी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण प्राप्त निमित्तोकी सहायताके अनुसार नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती है।

जैसे जीवकी क्रोध पर्यायके बाद यदि क्रोध पर्याय होती है तो उसका कारण यह है कि उस अवसरपर जीवमें क्रोधकर्मका उदय हो रहा है। उसके होनेमें पूर्ववर्ती क्रोधपर्याय कारण नही होती। तथा क्रोध पर्यायके बाद यदि मान, माया या लोभ पर्याय होती है तो उसका कारण यह है कि उस अवसरपर यथायोग्य मान, माया या लोभ कर्मका उदय हो रहा है। उसके होनेमें भी पूर्ववर्ती क्रोध पर्याय कारण नही होती। यद्यपि मिट्टीसे उत्पन्न होने वाली घटपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्ववर्ती स्थास, कोश और कुशूल पर्यायें अपने अपने ढगसे सद्भूतव्यवहारकारण होती हैं, परन्तु वे पर्यायें पूर्वोक्त प्रकार उपादानकारण तो कदापि नही होती, मात्र पूर्वचररूपमें यथायोग्य उपचरित या अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण ही होती हैं। इतना ही नही, कुम्भकार आदि निमित्तकारणोंकी सहायता मिलनेपर ही क्रमश स्थास, कोश और कुशूल पर्यायें होनेपर घटपर्याय होती है। और यदि कुम्भकार आदि निमित्तकारणोकी सहायता प्राप्त न हो तो उनमेंसे कोई भी पर्याय नही होती है।

इससे निर्णीत होता है कि पदार्थोंमें स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति उनमें विद्यमान स्वभावभूत द्रव्य-योग्यताके आधारपर होनेपर भी निमित्तकारणोंकी सहायताके अनुसार नियतक्रमसे भी होती है और अनियत-क्रमसे भी होती है।

उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमे जो यह लिखा है कि "प्रश्न तो यह है कि प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है वह कैसे होता है ? क्या जो द्रव्य पर्यायशक्ति विशिष्ट मिट्टी घटरूप परिणम रही है वह उसी समय गाय आदि खिलौनारूप भी परिणम सकती है"—इत्यादि। सो यह सम्यक् नही है, क्योकि एकके बाद एक रूप क्रमसे अनादिकालसे होती आई और अनन्तकालतक होती जा रही सभी पर्यायोकी उत्पत्ति प्रमेयकमलमार्तण्डके पूर्वोक्त कथनके अनुसार जब जैसे निमित्तोका सहायता पदार्थोंको प्राप्त होती है तब उस सहायताके अनुसार ही होती है।

इससे विदित होता है कि जो द्रव्यपर्यायविशिष्ट मिट्टी जिस समय घटपर्यायकी उत्पत्तिमे कारण होती है उस समय वह मिट्टी गाय आदि खिलौनोकी द्रव्यपर्याय शक्ति विशिष्ट होते हुए भी गाय आदि खिलौनोंरूप परिणत नही होती, क्योकि उनके अनुकूल निमित्तसामग्री उस अवसरपर विद्यमान नही रहती है।

तात्पर्य यह है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोत्पत्तिसे अनन्तरपूर्ववर्ती पर्याय किसी भी रूप क्यों न हो, परन्तु नाना कार्योंकी स्वभावभूत द्रव्ययोग्यताओंसे युक्त मिट्टीमें आगामी समयमें उसी पर्यायकी उत्पत्ति होगी जिसके अनुकूल उस समय उस मिट्टीको निमित्तसामग्रीकी प्राप्ति होगी। फलत वक्तव्यके अन्तमें उत्तरपक्षने जो यह लिखा है कि "स्पष्ट है कि प्रकृतमें द्रव्ययोग्यताओंका उल्लेखकर किन्ही कार्योंको नियत (निश्चित) और किन्ही कार्योंको अनियत (अनिश्चित) सिद्ध करना युक्त नही है" यह लेख असगत सिद्ध हो जाता है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि पूर्वोक्त प्रकार आगमके अनुसार स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्तिसे पूर्व उत्पन्न होने वाली स्व-परप्रत्यय पर्याय भी निमित्तसामग्रीकी सहायता मिलनेपर ही होती है। परन्तु उत्तर-पक्षने उस पूर्वपर्यायकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नही डाला है जबकि डालना था।

इस प्रकार द्वितीय भागकी समीक्षा होजानेपर आगे तृतीय भागकी समीक्षा की जाती है—

तृतीय भागमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "अपरपक्षने नियत (निश्चित) योग्यतारूपसे तीसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह पर्यायशक्तियुक्त द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है। मिट्टी तभी मिट्टी कहलाती

है तब वह पुद्गलकी विवक्षित पर्यायरूपसे परिणमती है, इसलिए उसकी कालक्रमसे पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य-योग्यतायें भी सीमित हैं। वस्त्र वानस्पतिकपर्याययुक्त पुद्गलसे बनता है, मिट्टी पर्याययुक्त पुद्गलसे नहीं, इसलिए यह उदाहरण ही इस तथ्यकी पुष्टि करता है कि विवक्षित पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही विवक्षित कार्यको जन्म देता है। इससे बाह्य सामग्रीके बलपर अन्य कार्य त्रिकालमें नहीं हो सकता, यह सुतराम् सिद्ध हो जाता है। यदि इसी नियत (निश्चित) योग्यतायुक्त मिट्टीको उदाहरण बनाकर अपरपक्ष कार्य-कारणभावको लक्ष्यमें ले तो सभी कार्य अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार नियत समयमें ही होते हैं यह सिद्धान्त उसकी समझमें आनेमे देर न लगे।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षके उक्त कथनमें पुद्गलकी मिट्टीरूपताको जो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय बतलाया है वह तो ठीक है, परन्तु पुद्गलकी पर्यायरूप उस मिट्टीमें घट, खिलौना आदिरूप परिणमननेकी अनेक स्वाभाविक योग्यतायें होती हैं व उन योग्यताओंके एक साथ रहनेके कारण उस मिट्टीसे प्रतिसमय उस-उस योग्यताके अनुरूप घट, खिलौना आदि अनेक पर्यायोंका उत्पन्न होना सम्भव रहता है। परन्तु एक समयमें किसी एक योग्यताके आधारपर अनुकूल निमित्तोंके समागमके अनुसार एक नियत (निश्चित) पर्यायकी उत्पत्ति होती है, दो आदि अनेक पर्यायें एक साथ उत्पन्न नहीं होतीं।

तात्पर्य यह है कि विवक्षित मिट्टीको जिस समय घट, खिलौना आदि पर्यायोंमेंसे जिस पर्यायके अनुकूल बाह्य निमित्तसामग्री प्राप्त होती है उस समय उस मिट्टीसे वही पर्याय उत्पन्न होती है, अन्य पर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि मिट्टी पुद्गल द्रव्यकी पर्याय तो है, परन्तु उस मिट्टीसे जो घट, खिलौना आदिका निर्माण होता है वह निर्माण लोकमें उस मिट्टीकी पुद्गलरूपताके आधारपर न माना जाकर उसकी मिट्टी-रूपताके आधारपर माना जाता है। अतएव मिट्टीसे मिट्टीरूपताके आधारपर जिस समय घटका निर्माण होता है उस समय उससे उसी मिट्टीरूपताके आधारपर गाय आदि खिलौनोंका भी निर्माण हो सकता है, पर उस समय घटका निर्माण हो, खिलौना आदिका निर्माण न हो ऐसा नियमन प्राप्त निमित्तोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताके आधारपर ही होता है। उत्तरपक्षको मान्य पूर्वपर्यायरूप उपादानशक्तिके सद्भाव और असद्-भावके आधारपर नहीं। इसी प्रकार उस मिट्टीसे मिट्टीरूपताके आधारपर जिस समय गाय आदि खिलौनों का निर्माण होता है उस समय उस मिट्टीसे उसी मिट्टीरूपताके आधारपर घटका भी निर्माण हो सकता है, परन्तु जिस समय उस मिट्टीसे गाय आदि खिलौनोंका निर्माण हो, घटका निर्माण न हो इसका नियमन प्राप्त निमित्तोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताके आधारपर ही होता है। उत्तरपक्षको मान्य पूर्वपर्यायरूप उपादान-शक्तिके सद्भाव और असद्भावके आधारपर नहीं।

यद्यपि यह बात उत्तरपक्षको अपना वक्तव्य लिखनेसे पूर्व ही ज्ञात रही थी, परन्तु उसने इस बातको समझनेका प्रयत्न नहीं किया, अतः पाठकोंको इसपर ध्यान देना चाहिए। मैं पूर्वमें प्रमेयकमलमार्तण्डके कथनके आधारपर स्पष्ट कर चुका हूँ कि निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली पर्यायोंके अनन्तर पूर्ववर्ती पर्यायकी उत्पत्ति भी प्राप्त निमित्तसामग्रीके आधारपर ही होती है। अतः उत्तरपक्ष द्वारा कार्योत्पत्तिमें निमित्तसामग्रीकी उपेक्षा करके अनन्तर पूर्ववर्ती पर्यायको कारण किया जाना अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने चतुर्थ भागमें पूर्वपक्षके "प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्तिके लिहाजसे उतनी ही सख्यामें मानी जा सकती है जितने त्रिकालके समय निश्चित हैं। परन्तु इससे वस्तुकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेकी योग्यतायें निश्चित नही की जा सकती हैं" इस कथनको उद्धृतकर उसकी आलोचनामें जो कुछ लिखा है उसकी समीक्षा प्रथम, द्वितीय और तृतीय भागोंमें की गयी समीक्षासे ही हो जाती है। उत्तरपक्षने अपने मन्तव्यकी पुष्टिके लिए इस भागमें अष्टसहस्री, पृ० २२६ पर निर्दिष्ट जिस कथनको उद्धृत किया है उससे भी उसके मन्तव्य की पुष्टि नही होती है, क्योकि अष्टसहस्रीके कथनमे केवल यह प्रतिपादित किया गया है कि पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य अर्थ-क्रियाकारी नही होता व द्रव्य-निरपेक्ष पर्याय भी अर्थक्रियाकारी नही होती। अतएव अष्टसहस्रीके प्रतिपादनका पूर्वपक्षके मन्तव्यके साथ कोई विरोध नही है।

तात्पर्य यह है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें पूर्वपक्षका उत्तरपक्षके साथ जो मतभेद है वह इस प्रकारका है कि पूर्वपक्षकी मान्यताके अनुसार सभी पदार्थोंमें उन पर्यायोकी उत्पत्ति उनमे स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर निमित्तोकी सहायतापूर्वक ही होती है और उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार पदार्थोंमे उन पर्यायोकी उत्पत्ति स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिकी सीमामें होकर भी कार्यरूप पर्यायके अनन्तरपूर्ववर्ती पर्यायरूप उपादानशक्तिके आधारपर होती है, निमित्तसामग्रीका सद्भाव रहते हुए भी उसका पर्यायोंकी उत्पत्तिमें उपयोग नही होता है।

पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनोकी परस्पर भिन्न इन मान्यताओमेंसे पूर्वपक्षकी मान्यताको सगत और उत्तरपक्षकी मान्यताको असगत प्रमाणाधारपर स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव अष्टसहस्रीके वचनका उत्तर-पक्षकी मान्यताके समर्थनमें व पूर्वपक्षकी मान्यताके विरोधमें कुछ उपयोग नही हो सकता है।

इस प्रकार चतुर्थ भागकी समीक्षा हो जानेपर अब पचम भागकी समीक्षा की जाती है।

उत्तरपक्षने पचमभागके प्रारम्भमे "आगे अपरपक्षने कार्य-कारण परम्पराके अनुसार पहले तो उपा-दानके अनुसार कार्यका होना स्वीकार कर लिया है। परन्तु उससे अपने पक्षकी हानि होती हुई देखकर यह भी लिख दिया है" इतना लिखकर पूर्वपक्षके इस कथनको उद्धृत किया है कि "यहाँ पर वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर जिस पर्यायका होना सम्भव हो इस वाक्यमे सम्भव हो के स्थानमें नियत हो यह प्रयोग इसलिए नही किया गया है कि कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्यायके अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी यह नियम नही बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्यायके अनन्तर उपादानगत योग्यताके आधारपर भिन्न-भिन्न निमित्तो-का योग मिलनेपर विविध प्रकारकी पर्यायोंमेसे कोई एक पर्यायका होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्यायका होना सम्भव नही है" तथा पूर्वपक्षके इस कथनकी आलोचनाके प्रसगमें उसने आगे यह प्रश्न प्रस्तुत किया है कि "आगममें जो उपादानका लक्षण किया है यह सम्भावनाको ध्यानमें रखकर किया है या कार्यका नियमन करनेकी दृष्टिसे किया है?"

समीक्षा—

प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षको दृष्टिके अनुसार उपादानका लक्षण यह है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें पृथक्-पृथक् जिन कार्योंकी उत्पत्ति होती है उन कार्योंकी उत्पत्ति उन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत योग्यता (उपादान शक्ति) के आधारपर ही होती है तथा इस प्रकारकी योग्यताविशिष्ट पदार्थ ही उपादान कहलाता है। फलत उपादानके लक्षणमें सम्भावना और नियमन दोनो

ही अवस्थाये निर्णीत होती है अर्थात् सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण जिस-जिस कार्यकी उत्पत्ति होती है उस-उस कार्यकी उत्पत्ति उन पदार्थोंमे स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत योग्यताके आधारपर होती है, उसके अभावमें नही होती इस कथनसे कार्योत्पत्तिमे उपादानके नियमनकी स्थिति सिद्ध होती है व पदार्थोंमे जिस-जिस कार्यकी उत्पत्ति निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है उस-उस कार्यकी उत्पत्ति निमित्त-सापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण जब जैसे निमित्तोकी सहायता पदार्थोंको प्राप्त होती है तब उसके अनुसार ही उस उपादान शक्तिके आधारपर कार्यकी उत्पत्ति होती है। फलत उपादानके लक्षणमें सम्भावनाकी स्थिति भी सिद्ध हो जाती है।

उत्तरपक्षने उक्त प्रश्न इस दृष्टिसे किया है कि वह पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान कारण मानता है, परन्तु पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्तरपक्षको मान्य उपादान कारणका यह लक्षण किन्ही स्व-पर-प्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें लागू होनेपर भी अन्य किन्ही स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें लागू नही होता है अर्थात् मिट्टीमे क्रमसे स्थास, कोश और कुशूल पर्यायोकी उत्पत्तिपूर्वक होने वाली घट पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानका उक्त लक्षण घटित होनेपर भी जीवमें क्रोध पर्यायके बाद जो मान, माया और लोभ कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मका उदय होनेपर यथायोग्य मान माया या लोभ पर्यायकी होनेवाली उत्पत्तिमें पूर्व क्रोध पर्याय कारण न होकर मान, माया या लोभ कर्मोंका उदय ही कारण होता है, अत उत्तर पक्षको मान्य उपादानका उक्त लक्षण कार्योत्पत्तिके अनन्तरपूर्ववर्ती पर्यायमें घटित नही होता है।

उत्तरपक्षने स्वयंको मान्य उपादानके लक्षणकी पुष्टिके लिए आप्तमीमासाकी कारिका ४१ का भी उल्लेख किया है, परन्तु वह कारिकाके अर्थको समझनेमें असमर्थ रहा है। कारिका और उसका अर्थ निम्न-प्रकार है—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥४२॥

अर्थ—यदि सर्वथा असत्को कार्य माना जाए तो एक तो आकाशके पुष्पके समान कार्यकी उत्पत्ति कभी नही होगी। दूसरे, कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें उपादानकी नियामकता नही बन सकेगी और तीसरे, कार्यकी उत्पत्तिमें जीव (संज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीव) आश्वस्त भी नही हो सकेंगे।

तात्पर्य यह है कि आप्तमीमासाकी कारिका ४२ के अनुसार जड और चेतन सभी पदार्थोंमें अनादि-कालसे अनन्तकाल तक एकके बाद एकरूप क्रमसे होती जा रही सभी पर्यायोकी उत्पत्ति उन पदार्थोंमें स्वभा-वत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर ही होती है, पूर्वोक्त प्रकार अनेकान्तिक दोषसे दूषित होनेके कारण उत्तरपक्षको मान्य पूर्वपर्याय विशिष्टतारूप उपादान शक्तिके आधारपर नही। अतएव उत्तरपक्षने उसी वक्तव्यमें आगे जो कथन किया है वह अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने उस वक्तव्यके आगे जो यह लिखा है कि "आगममे जिसकी प्रागभाव संज्ञा है उसीकी उपादान सज्ञा है"–इत्यादि। सो इस कथनके साथ पूर्वपक्षका कोई विरोध नही है, क्योंकि पूर्वपक्षकी मान्यता-के अनुसार जिस प्रकार पदार्थोंमें विवक्षित पर्यायकी उपादानशक्ति स्वभावत पायी जाती है इसी प्रकार उनमे विवक्षित पर्यायका प्रागभाव भी स्वभावत पाया जाता है। तथा विवक्षित पर्यायकी उत्पत्ति हो जाने-पर जिस प्रकार वह उपादानशक्ति समाप्त हो जाती है उसी प्रकार वह प्रागभाव भी समाप्त हो जाता है। जैसे भव्य जीवमें भव्यत्वशक्ति स्वभावत. पायी जाती है। उसे सिद्ध पर्यायका उपादान भी माना जाता है

और प्रागभाव भी माना जाता है तथा ये दोनो उपादानशक्ति और प्रागभाव सिद्ध पर्यायके उत्पन्न हो जानेपर विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् तब जीव भव्य न रहकर सिद्ध बन जाता है। यही स्थिति समस्त जड और चेतन पदार्थोंकी पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें उपादान और प्रागभावकी समझना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें उपादानका पूर्वपक्षको मान्य लक्षण ही आगम और तर्कसंगत है, उत्तरपक्षको मान्य लक्षण आगम और तर्कसगत नही है। अतएव उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें अन्य जो भी कथन किया है उसकी निरर्थकता और अयुक्तता दोनो ही सिद्ध हो जाती हैं।

उत्तरपक्षने उस वक्तव्यके आगे यह कथन भी किया है कि "हमें इस बातका अत्यन्त खेद है कि अपरपक्षने भगवान् समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा की कारिकायें १०५ और १०१ अपने गलत अभिप्रायकी पुष्टिमें उपस्थित की। कहाँ तो समन्तभद्र स्वामी उन कारिकाओ द्वारा आगमानुसारी श्रुतज्ञानको केवल ज्ञानके समान बतलाकर दोनोंके मध्य प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद होते हुए भी दोनोका विषय एक बतला रहे हैं और कहाँ अपरपक्ष अपने सम्यक्श्रद्धाविहीन श्रुतज्ञानकी पुष्टिमें उनका उपयोग करना चाहता है। उसे आगमका दुरुपयोग करनेके सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? यदि कारिका १०१ में केवलज्ञानके सिवाय शेष चारो ज्ञानोको क्रमभावी कहा भी है तो वह दूसरे अभिप्रायसे ही कहा है। फिर मालूम नही कि अपरपक्षने उक्त कारिकामें आये हुए "क्रमभावि" पदसे अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनेका कैसे साहस किया ?"

समीक्षा—

पूर्वपक्षने अपने वक्तव्यमें आप्तमीमासाकी कारिकाओ १०५ और १०१ का उल्लेख जिस अभिप्रायमें किया है उस अभिप्रायको उसने यद्यपि वही पर बतला दिया है, परन्तु उत्तरपक्षने उस पर ध्यान न देकर पूर्वपक्षके उस वक्तव्यको विरुद्ध दिशामें मोडनेका प्रयत्न किया है जो उचित नही है।

पूर्वपक्षने उन कारिकाओका उल्लेख मात्र इस अभिप्रायसे किया है कि उनके अनुसार केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें साक्षात् (प्रत्यक्ष) और असाक्षात् (परोक्ष) रूपताका भेद रहने पर भी जब केवलज्ञानके समान श्रुतज्ञान भी प्रमाणभूत है तो पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें कार्य-कारणभावके आधारपर श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात नियतक्रमवर्तित्व और अनियतक्रमवर्तित्वको मिथ्या नही कहा जा सकता है।

इसके सिवाय उक्त दोनो कारिकाओंका पूर्वपक्षने जो अर्थ किया है वही उत्तरपक्षने माना है, इसलिए उनके आधारपर उत्तरपक्षने उक्त वक्तव्यमें पूर्वपक्षपर जो आरोप लगाये हैं वे अयुक्त हैं।

उत्तरपक्षने वक्तव्यके अन्तमें यह कथन भी किया है कि "अथवा क्रम शब्दके साथ सर्वत्र आया हुआ अक्रम शब्द 'युगपत' वाची है, इसलिए भी अपरपक्षके अभिमतकी सिद्धि नही होती।" तो क्रम शब्दके साथ आये हुए अक्रम शब्दका 'युगपत्' अर्थ मान्य करनेमे पूर्वपक्षको आपत्ति नही हैं, परन्तु ध्यातव्य है कि क्रम शब्दके साथ आये हुए अक्रम शब्दका 'युगपत्' अर्थ तभी माना जा सकता है जब क्रम शब्दका एकके बाद एक अर्थ माना जाये। प्रकृतमें उत्तरपक्षने क्रम शब्दका जब नियतक्रम अर्थ ही मान्य किया है तो उसे अक्रम शब्दका अनियतक्रम अर्थ मानना ही युक्त होगा, यौगपद्य नही।

इस प्रकार पंचमभागकी समीक्षाके साथ "प्रकृत प्रतिशकाके कतिपय कथनोंका खुलासा" शीर्षकके अन्तर्गत उत्तरपक्ष द्वारा किये गये विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर अब "आगमपठित क्रम-अक्रम पदका सही अर्थ" शीर्षकके विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

पूर्वपक्षने त० च०, पृ० १९२ पर धवलपुस्तक १३ के "सह भयव"—इत्यादि सूत्रकी टीकामें आये हुए "अण्णेसिं दव्वाण कमाकमेहिं परिणमनहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो।" (पृ० ३४९) इस कथनमें अक्रम

शब्दका अर्थ अनियतक्रम मान्य किया है। तथा उत्तरपक्षने उस अक्रम शब्दका यौगपद्य अर्थ मान्य किया है। परन्तु ऊपर बतलाया जा चुका है कि आगममें जहाँ अक्रम शब्दका अर्थ यौगपद्य माना है वहाँ क्रम शब्दका अर्थ एकके बाद एक स्वीकार करना ही युक्त है, नियतक्रम नही। फलत उत्तरपक्षने प्रकृतमें त० च०, पृ० २७७ पर क्रम शब्दका जो नियतक्रम निष्कर्ष निकाला है वह अयुक्त है।

उत्तरपक्षने आप्तमीमासाकी कारिका १०५ व अन्य आगमप्रमाणोको उद्धृत करके त० च०, पृ० २६२ पर लिखा है कि "इस प्रकार आगमके उक्त उल्लेखोसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। विषयकी अपेक्षा इन दोनो ज्ञानोमें कोई भेद नही है। यदि भेद है भी तो प्रत्यक्ष और परोक्षपे जाननेकी अपेक्षा ही इन दोनोमें भेद है।" सो यह यद्यपि विरोधका विषय नही है, परन्तु इसके निष्कर्षमें उसने सर्वार्थसिद्धि अ०—१, सूत्र २० को उपस्थित कर यह कथन भी किया है कि "कार्य-कारणभाव पद्धतिके जो नियम केवलज्ञानमे झलके हैं उन्ही नियमोको श्रुतज्ञानी उसी प्रकारके अपने ज्ञान द्वारा जानता है। इसी प्रकार सभी कार्य केवलज्ञानमे नियतक्रमसे होते हुए ही झलके हैं, अत श्रुतज्ञानी भी सभी कार्योंको नियतक्रमसे होता हुआ ही आगमके बलसे जानता है। कारण यह है कि केवली भगवान्‌के ज्ञानमें छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय, उनके गुणपर्याय, जीवादि नौ पदार्थ और कार्य-कारणभाव जिस रूपमे प्रतिभासित हुए दिव्यध्वनि द्वारा उनका उसी रूपमें कथन हुआ, जिस रूपमे कथन हुआ उनको गणधर देवोने अपने सम्यक् श्रुतज्ञानके बलसे उसी रूपमे ग्रहण किया, जिस रूपमे गणधर देवोने उनको ग्रहण किया उनको उसी रूपमें द्वादशांगश्रुतमे निबद्ध किया और जिस रूपमे द्वादशाग श्रुतमें निबद्ध हुए आरातीय आचार्योंने उनका उसी रूपमें प्ररूपण किया। जिस प्रकार क्षीरसागरका जल घटमें भर लिया जाता है अतएव वह क्षीरसागरका ही जल ठहरता है उसी प्रकार आरातीय आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए वे केवलज्ञान और केवलीकी दिव्यध्वनिके समान ही प्रमाण है।"

समीक्षा—

इस सम्बन्धमें ध्यातव्य है कि कार्य-कारणभाव या तो एक ही पदार्थमें उपादानोपादेयभावके रूपमें भेदाश्रित होता है या नाना पदार्थोंमें निमित्त-नैमित्तिक भावके रूपमे पराश्रित होता है। तथा पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्य-कारणभाव केवलज्ञानका विषय न होकर मात्र श्रुतज्ञानका ही विषय होता है, अत उक्त दोनो ही प्रकारके कार्य-कारणभावोको छोडकर जो बातें उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें कही है वे आगमके अनुसार होनेसे निर्विाद है। परन्तु प्रकृत प्रश्न पर्यायोके ज्ञानके सम्बन्धमें न होकर उनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें है, इसलिए कहा जा सकता है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें पर्यायोंकी जो उत्पत्ति होती है वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके श्रुतज्ञानके द्वारा निर्णीत कार्य-कारणभावके आधारपर ही होती है। जैसे पदार्थोंमे निमित्त-निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण स्वप्रत्यय पर्यायें नियतक्रमसे ही होती है व निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोकी सहायतापूर्वक यथायोग्य नियतक्रम व अनियतक्रम दोनों ही प्रकारसे होती है। इनसे प्रगट है कि ज्ञप्तिसे सम्बन्ध रखने वाले उक्त आगमप्रमाणका उपयोग कार्योंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें नही किया जा सकता है। अतएव उत्तरपक्षने ज्ञप्ति और उत्पत्तिके भेदको समझनेका प्रयास नहीं करके त० च० पृ० २६२-६३ पर जो यह लिखा है कि "अब विचार कीजिये कि सब केवलज्ञानमें यह भासित हुआ है कि सब द्रव्य अनादिकालसे प्रत्येक समयमें अपने प्रतिनियत उपादानसे अन्य द्रव्योंको प्रति-

नियत पर्यायोको निमित्ताकर प्रतिनियत कार्योंको ही जन्म देते हैं तो क्या श्रुतज्ञान केवलज्ञानके इस विषयसे विपरीत निर्णय करेगा ? और यदि विपरीत निर्णय करेगा तो क्या उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कहा जा सकेगा ? अर्थात् नही कहा जा सकेगा।" यह अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपक्षने त० च० पृ० १९३ पर यह लिखा है कि "इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्य-कारणभावको समझिये, पुरुषार्थ कीजिये, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइये, लेकिन इसमें अहकारी मत बनिये, अधीरता मत दिखाईये, असफलतामें दु खी मतहूजिए, विवेकी, गम्भीर, स्थिर बुद्धि बनकर अपनी दृढ श्रद्धाके साथ कर्तव्य पथपर डट जाईये, डट जायें तो फिर डटे रहिए, उस कर्तव्य पथसे च्युत नही हूजिए। यही सम्यक्त्वका चिह्न है, इसीमें आस्तिक्यभाव (श्रद्धाका भाव) झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुन्ज आपको दिखेगा और निर्वेदभाव एवं अनासक्तिभावकी छाया इसीमें आपको प्राप्त होगी।"

इसकी आलोचनामें उत्तरपक्षने त० च० पृ० २७७ पर यह लिखा है कि "एक ओर जब अपरपक्षके पिछले कथनके विरुद्ध अतएव अटपटे इस कथनको पढते हैं और दूसरी ओर ऐसा लिखने वाले अपरपक्षके इस सिद्धान्तपर दृष्टिपात करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि उपादानमें अनेक योग्यतायें हैं, उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमें यह निमित्तोंके अधीन है, तो हम दग रह जाते हैं। कहाँ एक ओर तो स्वावलम्बन की मुख्यतासे लिखे गये उक्त वचन और कहाँ दूसरी ओर कार्य-कारणभावमें पराधीनता स्वीकार करने वाले दूसरे वचन। मालूम पडता है कि स्वावलम्बन क्या वस्तु है और परावलम्बन क्या वस्तु है, इनके सम्यक् स्वरूपकी ओर ध्यान न देनेके कारण ही अपरपक्षने यह परस्पर-विरोधी कथन किया है। गीतामें आये हुए "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इस वचनको उक्त वचनोकी कापी कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी। गीता भी तो यही कहती है कि फल अर्थात् कार्यमें तुम्हारा कोई अधिकार नही, वह ईश्वरके अधीन है। अपरपक्ष भी यही कहता है कि किस उपादानसे क्या कार्य हो यह उपादानके अधीन नही, यह सब निमित्तके अधीन है। इस प्रकार जबकि गीता और अपरपक्ष दोनोके अभिप्रायसे कार्य निमित्तके अधीन हो गया, तो विचार कीजिये कि कर्ममें उपादानका अधिकार कहाँ रह गया। अपरपक्षके कथनानुसार उपादान-का कार्य है कि यह प्रत्येक समयमें मात्र उपस्थित रहे। निमित्तको उसमें जैसी रचना करना होगी, करेगा। उपादान इसमें ननुनच नही कर सकता। ऐसी अवस्थामें इसका विचार अपरपक्ष ही करे कि उसकी ओरसे जो "पुरुषार्थ कीजिये, आवश्यकतानुसार निमित्तोको भी जुटाइये इत्यादिरूपसे प्रेरणाप्रद वचन लिखे गये हैं उनका क्या प्रयोजन रह जाता है। अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नही रहता।"

समीक्षा—

पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामें और मैंने तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षामें बतलाया है कि जैनागमके अनुसार विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो प्रकारके परिणमन उत्पन्न होते रहते हैं। जो पदार्थ कार्यरूप परिणत होता है उसे स्व कहते हैं और उससे भिन्न अन्य पदार्थ पर कहलाता है। प्रत्येक पदार्थ उसी कायरूप परिणत होता है जिस कार्यरूप परिणत होनेकी उसमें स्वभावभूत योग्यता (उपादानशक्ति) पाई जाती है और इस योग्यताके आधारपर होनेवाला उस पदार्थका स्वप्रत्यय परिणमन परनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर ही होता है व स्वपरप्रत्यय परिणमन परसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होता है। एवं पदार्थमें स्वनिरपेक्ष केवल परप्रत्ययोंके आधारपर कोई परिणमन नही होता।

उत्तरपक्षने आगमके इस अभिप्रायको समझनेका प्रयास नहीं किया है। वह या तो मात्र केवलज्ञानमें होनेवाली ज्ञप्तिके अनुसार प्रत्येक पदार्थके परिणमनको नियतक्रमसे मानता है या पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यरूप उपादानशक्तिके आधारपर उस परिणमनको नियतक्रमसे मानता है जिसका निराकरण पूर्वमें विस्तारसे किया गया है।

एक बात और है कि जैनागममें प्रत्येक पदार्थके स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति स्व अर्थात् उसी पदार्थमें होते हुए भी उसके लिए परपदार्थोंको अपेक्षित माना गया है, जो या तो प्रेरकरूपसे अपेक्षित होते हैं या अप्रेरकरूपसे अपेक्षित होते हैं। जैसे रेलगाड़ी जब चलती है तब वह इञ्जनकी प्रेरणासे चलती है, उसकी प्रेरणाके बिना नहीं चलती। तथा रेल-पटरीपर ही चलती है उसके अभावमें नहीं। फलतः रेलगाड़ीके चलनेमें इञ्जन साधकतम अर्थात् करणरूपसे अपेक्षित रहता है व रेलपटरी अवलम्बनरूपसे अपेक्षित रहती है। फिर भी चलनेवाली रेलगाड़ी ही है। यही स्थिति विश्वके जड़ और चेतन सभी पदार्थोंकी स्व-परप्रत्यय कार्योत्पत्तिके विषयमें जानना चाहिए। अतएव उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें पदार्थकी द्रव्यरूपता और गुणरूपताके समान पर्यायोंकी स्वावलम्बनताकी जो बात कही है वह इस रूपमें ही संगत हो सकती है कि प्रत्येक पदार्थकी स्वपरप्रत्यय पर्याय उस पर्यायरूप परिणत होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यताविशिष्ट उसी पदार्थमें उत्पन्न होती है परन्तु अपने आप अर्थात् परपदार्थकी अपेक्षाके बिना नहीं होती। उत्तरपक्षने अपने वक्तव्यमें गीताके वचनके साथ जो पूर्वपक्षके कथनकी तुलना की है उसकी असंगति भी इस विवेचनसे सिद्ध हो जाती है। एक ही मिट्टीमें घट, खिलौना आदि कार्यों सम्बन्धी अनेक योग्यताएँ स्वयं उत्तरपक्षने भी मान्य की हैं। उनमेंसे तब किस योग्यताका विकास हो यह निमित्ताधीन ही है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० २७८ पर अपने वक्तव्यमें यह कथन भी किया है कि "हम नियतिवादी रूपसे एकान्त लांछित किये जाते हैं, क्योंकि हम प्रत्येक कार्यके नियत उपादानको स्वीकार करनेके साथ उसकी बाह्य सामग्रीको नियतरूपसे स्वीकार करते हैं और अपरपक्ष अपनेको नियतिवादी इसलिए नहीं स्वीकार करना चाहता, क्योंकि प्रत्येक कार्यकी बाह्य उपाधिको नियत मानकर उसके उपादानको नियत माननेमें उसे नियतिवादकी गन्ध आती है।" इसके आगे एक पृथक् वक्तव्यमें उसने यह कथन भी किया है कि "वस्तुतः जिस प्रकार केवल नियतिवादको माननेवाले एकान्ती हैं, अतएव वे अनेकान्तवादके प्रकाशपुञ्जसे वञ्चित रहते हैं उसी प्रकार बाह्य उपाधिके आधारसे उपादानके कार्यकी व्यवस्था बनानेवाले भी अनेकान्तके प्रकाशपुञ्जके ज्ञाता नहीं माने जा सकते। प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य उपाधि तो नियत हो और जो उपादान उस कार्यका निश्चय कर्ता है वह नियत न हो यह कैसा अनेकान्त है? इसे तो अनेकान्तका उपहास ही समझना चाहिए। जबकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं एक पर्यायका व्यय और दूसरी पर्यायका उत्पाद करता हुआ स्वरूपसे ध्रुव ही रहता है। बाह्य उपाधिका कार्य तो मात्र उसका ज्ञान करा देने तक ही सीमित है। फिर उपादानमें वह कार्य अपने आप हो जाता है, यह कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।"

समीक्षा—

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थमे स्व-परप्रत्यय कार्यरूप परिणत होनेकी नाना योग्यतायें (उपादान-शक्तियाँ) स्वभावत विद्यमान हैं। जैसे जीवों और पुद्गलोंमें गमन और अवस्थान सम्बन्धी दो योग्यतायें स्वभावत विद्यमान हैं, परन्तु ससारी जीवोके गमन और अवस्थान उनके अनुकूल प्रेरक निमित्तभूत कर्मों और नोकर्मों एव अप्रेरक निमित्तभूत यथायोग्य धर्म या अधर्म द्रव्यको सहायतापूर्वक ही होते हैं। यद्यपि मुक्त जीवोका उर्ध्वगमन स्वभावत अर्थात् प्रेरक निमित्तोकी सहायताके बिना ही होता है, परन्तु उसमें भी अप्रेरक निमित्तभूत धर्मद्रव्यकी सहायता नियमसे अपेक्षित रहती है। यही कारण है कि धर्मद्रव्यका सद्भाव जहाँ तक है वही तक मुक्त जीवकी गति होती है, धर्मद्रव्यका अभाव रहनेके कारण उसके आगे नही होती।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे प्रत्येक पदार्थकी स्वमें विद्यमान स्वभावभूत उपादानशक्ति और यथावश्यक प्रेरक तथा अप्रेरक निमित्तभूत परपदार्थोंका सहयोग अपेक्षित रहता है। तथा उपादानशक्तिके विद्यमान रहते हुए भी यदि निमित्तभूत यथावश्यक पदार्थका सहयोग प्राप्त न हो या आवश्यक परपदार्थका सहयोग प्राप्त होनेपर भी पदार्थमें तदनुकूल उपादानशक्तिका अभाव हो तो उसमें वह स्व-परप्रत्यय कार्य उत्पन्न नही हो सकता है।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थमें स्वप्रत्यय कार्योंके समान स्व-परप्रत्यय काय भी प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं, पर उनकी उस उत्पत्तिका कारण उस अवसरपर प्रत्येक पदार्थको अन्य पदार्थोंका सहयोग उस अवसरपर नियमसे प्राप्त रहता है, क्योकि सभी पदार्थोंकी सत्ता एक क्षेत्रमें एक साथ सर्वदा बनी हुई है, अत प्रत्येक पदार्थमें स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति प्रतिक्षण होनेमें कोई बाधा नही है।

उत्तरपक्ष नियतवादीरूपसे इसलिए लाछित किया जाता है कि वह उपादानकी कार्यरूप परिणतिके अवसरपर निमित्तोंका सद्भाव स्वीकार करके भी उनको उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानता हैं और पूर्वपक्ष अनेकान्तवादी इसलिए है कि वह उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तोंको सहायकरूपसे कार्यकारो मानता है। पूर्वपक्षकी मान्यता न केवल आगमसम्मत है अपितु सज्ञी-पंचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे भी सम्मत है। तथा उत्तरपक्षकी मान्यता न तो आगमसम्मत है और न सज्ञीपचेन्द्रिय श्रुतज्ञानो जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे सम्मत है, इसका स्पष्टीकरण पूर्वमें विस्तारसे किया गया है।

उत्तरपक्षने उक्त वक्तव्यके अन्तमे जो यह लिखा है कि "अतएव प्रकृतमें क्रम और अक्रम पदका अर्थ जो अपरपक्षने नियतक्रमता और अनियतक्रमता किया है वह ठीक न होकर उन शब्दोंका क्रमभावी और और युगपद्भावी अर्थ करना ही ठीक है। आगमका भी यही अभिप्राय है।" सो इस सम्बन्धमें पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रकृतमें उत्तरपक्षने जब क्रम शब्दका अभिप्राय नियतक्रमके रूपमें लिया है, तो अक्रम-शब्दका अर्थ यौगपद्य नहीं माना जा सकता है।

इस प्रकार "आगमपठित क्रम-अक्रम पदका सही अर्थ" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "निमित्तवादी पुरुषार्थी नही हो सकता" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने "निमित्तवादी पुरुषार्थी नही हो सकता" इस शीर्षकके अन्तर्गत जितना विवेचन किया है उसपर ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि वह पक्ष न तो पुरुषार्थके स्वरूपको समझ सका है और न यह समझ सका है कि पुरुषार्थ जीवोंमें ही होता है, अन्य पदार्थोंमें नही। जीवोंमें भी ससारी जीवोंमें ही होता है, मुक्त

जीवोंमें नही। ससारी जीवोमें भी प्रथम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोमें ही होता है, एकादश आदि गुणस्थानवर्ती जीवोमें नही।

इसका स्पष्टीकरण मैंने उत्तरपक्षके "सर्वज्ञवचनका श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नही होता" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये विवेचनकी समीक्षामें किया है। तथा वही मैंने यह भी बतलाया है कि जीवकी क्रियावतीशक्तिकी शुभ-अशुभ कषायोंसे प्रभावित मन, वचन और कायके अवलम्बनपूर्वक होनेवाली परिणतिस्वरूप शुभ व अशुभ प्रवृत्तिका नाम ही पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ एकेन्द्रियसे लेकर सञ्ज्ञीपंचेन्द्रिय तकके सभी जीवोमें स्वकीय नोकर्मोंके आधारपर यथासम्भव रूपमें होता है तथा एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपचेन्द्रिय तकके जीवोमे मात्र उनके लौकिक जीवनसे सम्बन्ध रखता है और अबुद्धिपूर्वक होता है व संज्ञीपचेन्द्रिय जीवोंमें लौकिक जीवनके साथ यथासम्भव आध्यात्मिक जीवनसे भी सम्बन्ध रखता है। एव बुद्धिपूर्वक होता है। तथा सप्तम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोंमें अबुद्धिपूर्वक होता है।

भव्यमुमुक्ष जीवोका मुक्तिमे साधनभूत निश्चयधर्मकी प्राप्तिके लिए आगममें विहित व्यवहारधर्मके रूपमें जो पुरुषार्थ होता है उसे सम्यक् पुरुषार्थ कहते हैं और उसके विपरीत ससारके कारणभूत शुभ व अशुभ पुरुषार्थको मिथ्यापुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको मैंने "व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नही" इस प्रश्नसम्बन्धी तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें विस्तारसे स्पष्ट किया है जो खानियाँ तत्त्वचर्चाकी समीक्षा प्रथम भागमें निर्दिष्ट है।

पुरुषार्थका यह विवेचन यद्यपि आध्यात्मिक विज्ञानकी दृष्टिसे किया गया है। परन्तु वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे भी पुरुषार्थका विवेचन जैनागममें पाया जाता है। इसमें पदार्थविज्ञान सम्बन्धी खोजके लिये वैज्ञानिको द्वारा किया गया प्रयत्न भी गर्भित है।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका यह लिखना कि "निमित्तवादी पुरुषार्थी नही हो सकता" मिथ्या सिद्ध हो जाता है, क्योकि एकेन्द्रियसे लेकर सञ्ज्ञीपचेन्द्रिय तकके सभी जीवोमें अथवा प्रथम गुणस्थानसे लेकर दशम गुणस्थान तकके जीवोमें ऐसा एक भी जीव नही है जो पुरुषार्थी न हो और उनमें वह पुरुषार्थ कषायपूर्वक नोकर्मोंके अवलम्बनसे ही होता है।

पूर्वमें यह भी बतलाया गया है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमे प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली पर्यायें आगमके अनुसार स्व-प्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो प्रकारकी होती हैं। उनमेसे स्वप्रत्यय पर्यायें तो निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती हैं तथा स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती हैं।

निमित्त-निरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति उन पदार्थोंमे स्वभावत विद्यमान मात्र द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर होती है व निमित्तसापेक्ष स्व-प्रत्ययताके आधारपर प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति नियमसे अनुकूल निमित्तोकी प्राप्त सहायताके अनुसार उनमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर होती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि उक्त सभी पदार्थोंमें स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति स्व-प्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके समान उन पदार्थोंमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर होती

है, परन्तु उन पदार्थोंको जब जैसे अनुकूल निमित्तोंकी सहायता प्राप्त होती है, तब उस सहायताके अनुसार ही होती है।

उक्त सभी पदार्थोंको स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिके लिए निमित्तोंकी सहायता प्रतिक्षण या तो विस्रसा होती है या संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों द्वारा आकांक्षा, संकल्प और बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले पुरुषार्थके आधारपर होती है।

इसप्रकार पूर्वपक्षने त० च० पृ० १९३ पर "कार्यसिद्धिके लिए कार्य-कारणभावको समझिये, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोंको भी जुटाइये"—इत्यादि जो उपदेशके रूपमें कथन किया है उसकी वास्तविकताको समझनेका प्रयास नही करके उत्तरपक्षका त० च० पृ० २७९ पर उसको आडम्बर, आगम-विरुद्ध और कल्पित बतलाना तथा अपने मतकी पुष्टिमें यह लिखना कि "भगवानके ज्ञानमें जिस समय जिन प्रतिनियत कारणोंसे जिस कार्यकी उत्पत्ति झलकी है उस समय वही कार्य उसी प्रकार होगा, सम्यक् श्रुतज्ञानी ऐसा ही निश्चय करता है, क्योंकि केवलज्ञानीने जैसा जाना है श्रुतज्ञानी श्रुतके बलसे वैसा ही निर्णय करता है। कारण कि ऐसे निर्णयपूर्वक आत्मप्राप्तिमें प्रवृत्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।" यह सब अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने त० च० पृ० २७८ पर लिखा है कि "विचार कर देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि जबतक वह संसारी प्राणी परसे कार्यसिद्धिका स्वप्न देखता रहेगा तबतक न तो उसका सम्यक् पुरुषार्थ ही जागृत होगा और न ही वह आत्मकार्यमें सावधान होकर मोक्षमार्गका पथिक ही बन सकेगा। परसे कार्य होता है इस मान्यताका फल ही तो संसार है, अतएव ऐसी मान्यताके त्यागके लिए जो पुरुषार्थ होगा वही सच्चा पुरुषार्थ है और वही मोक्षका द्वार है।"

उक्त कथन भी ऊपर किये गये समीक्षात्मक विवेचनसे अयुक्त सिद्ध हो जाता है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी उत्तरपक्षके समान परसे कार्यकी उत्पत्ति नही मानता है। उसका आगमके अनुसार इतना ही कहना है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें स्व-परप्रत्यय कार्योंकी उत्पत्ति यद्यपि उनमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर ही होती है, परन्तु निमित्तसापेक्ष स्व-प्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण उनकी वह उत्पत्ति निमित्तोंकी प्राप्त सहायताके अनुसार ही होती है। लोकव्यवहारमें भी देखा जाता है कि घट, पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति यथायोग्य उपादानभूत मिट्टी, कपास आदि उस-उस उपादानसे होनेपर भी यथायोग्य कुम्भकार, जुलाहा आदिकी सहायताके बिना नही होती है। और कुम्भकार, जुलाहा आदिकी कुशलता और अकुशलताका प्रभाव भी उन घट, पट आदिके निर्माणमें देखा जाता है।

उत्तरपक्षने उक्त विवेचनमें जो यह लिखा है कि "जब तक यह संसारी प्राणी परसे काय सिद्धि स्वप्न देखता रहेगा तबतक न तो उसका सम्यक् पुरुषार्थ ही जागृत होगा और न ही वह आत्मकार्यमें सावधान होकर मोक्षका पथिक ही बन सकेगा।" सो यह भी युक्त नही है, क्योंकि पूर्वपक्ष भी यही स्वीकार करता है कि मोक्षकी प्राप्ति निश्चयधर्मपूर्वक ही होती है, परन्तु यह ध्यातव्य है कि निश्चयधर्मकी प्राप्ति व्यवहारधर्मपूर्वक ही होती है व्यवहारधर्मको अपनाये बिना निश्चयधर्मकी प्राप्ति नही होती है। उत्तरपक्ष निश्चयधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति तो मानता है, परन्तु वह निश्चयधर्मकी प्राप्तिमें व्यवहारधर्मको कारण नही मानता है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य यही विवादका विषय है।

इसके अलावा उत्तरपक्षको प्रकृतमें मात्र इतना ही विचार करना था कि पूर्वपक्षने विश्वके जड़ और

चेतन सभी पदार्थोंमें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेवाली स्वपरप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें सज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंके पुरुषार्थको जो कार्यकारी माना है वह युक्त है या नही। अप्रकृत होनेसे उसके लिए 'पुरुषार्थका सम्यक्पना मोक्षका कारण होता है और मिथ्यापना ससारका कारण होता है' इत्यादि कथन करना आवश्यक नही था। वास्तवमें भव्यमुमुक्षु जीवको मोक्षप्राप्तिमें कारणभूत निश्चयधर्मकी प्राप्तिके लिए आगमके अनुसार व्यवहारधर्मरूप पुरुषार्थ एव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप निमित्तसामग्रीका समागम कारण होता ही है।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत प्रथम अनुच्छेदमें "हम देखते हैं कि लोकमें जड-चेतन अनन्त पदार्थ हैं और वे प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करते हैं, क्योकि अर्थक्रिया पदार्थका लक्षण है।" यहाँसे लेकर "जिस पदार्थमे जिस समय जो कार्य होता है उसमे उस समय उस कार्यके अनुरूप बल होता ही है। इसलिए अपरपक्षका यह कहना तो उचित नही है कि जब जो होना होगा वह होगा ऐसा माननेसे हम पुरुषार्थहीन हो जायेंगे।" यहाँ तक जो कथन किया है वह भी युक्त नही है क्योकि वह कथन उसने कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें आगमप्रतिपादित व्यवस्थापर ध्यान न देकर ही किया है। कार्योत्पत्ति सम्बन्धी आगममे प्रतिपादित व्यवस्थाको पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रकृत शीर्षक सम्बन्धी समीक्षाके अन्तमें इतना और कहना आवश्यक है कि उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके द्वितीय अनुच्छेदमें जो यह लिखा है कि "खूब पुरुषार्थ कीजिए ऐसा लिखने वाले अपरपक्षसे हम पूछते हैं कि क्या पुरुषार्थ करना आपमें हाथमें है? एक ओर यह लिखना कि निमित्तोके अनुसार कार्य होता है और दूसरी ओर यह लिखना कि खूब पुरुषार्थ कीजिए इनमेसे किसे सच्चा माना जाय? जरा विचार तो कीजिए कि पुरुषार्थ करना किसके हाथमे रहा? अपरपक्षके बताये अनुसार ससारी प्राणीके हाथमे या निमित्तोंके हाथ में।" सो उसका यह लेख भी कार्योत्पत्तिकी आगममें प्रतिपादित व्यवस्थाके सम्बन्धमें उसकी अज्ञानताका सूचक है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमे व अध्यात्मविज्ञानकी दृष्टिसे जीवोंमे उत्पन्न होनेवाले सभी स्व-परप्रत्यय कार्य आगमके अनुसार निमित्तोकी सहायतापूर्वक ही उत्पन्न होते हैं तथा निमित्तोकी सहायता यथायोग्य कही तो विस्रसा प्राप्त होती है और कही सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवो के द्वारा आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले पुरुषार्थके आधारपर प्राप्त होती है। जैनागममें कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें ऐसी ही व्यवस्था बतलाई गई है। अतएव उत्तरपक्षका उपर्युक्त कथन इस व्यवस्थाके प्रतिकूल होनेसे अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार "निमित्तवादी पुरुषार्थी नही हो सकता" शीर्षकके अन्तर्गत किये गये विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने "श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय" शीर्षकके प्रथम अनुच्छेदमे जो कथन किया है उसमें ऐसी कोई नई बात नही है जिसकी समीक्षा पूर्वमें न की गई हो, अत पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि प्रकृत शीर्षकसम्बन्धी प्रथम अनुच्छेदमें किया गया उत्तरपक्षका कथन ठीक नही है। इस सम्बन्धमें "समस्याओका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षामें विस्तारसे लिखा गया है उसपर पाठकोंको ध्यान देना आवश्यक है।

प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत आगे उत्तरपक्षने लिखा है कि "अब यहाँ आत्माका सच्चा हित किसमें है

और उसकी प्राप्ति कैसे होती है इसका विचार करते हैं"—इत्यादि। सो अप्रकृत और निर्विवाद होनेसे वह लेख तत्त्वचर्चाके कलेवरको बढाना मात्र है, उसका कोई उपयोग प्रकृतमें नहीं।

इसप्रकार "श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "एकान्तनियति और सम्यक्नियतिमें अन्तर" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने इस शीर्षकके अन्तर्गत गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारपर एकान्तनियतिवाद, एकान्तकालवाद, एकान्तईश्वरवाद (निमित्तवाद), एकान्तआत्मवाद और एकान्तस्वभाववादका कथन करते हुए अन्तमें अपने ढगसे सम्यक् नियतिका प्रतिपादन किया है जो निम्नप्रकार है—

प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत त० च० पृ० २८२ पर उत्तरपक्षने लिखा है कि "एकान्तनियतिवादी वह है जो न तो कालको कारण मानता है, न निमित्तको स्वीकार करता है, न पुरुषार्थको कारण मानता है और न ही स्वभावको कारण मानता है। मात्र नियतिको सर्वस्व मानकर कार्यकी उत्पत्ति मानता है। उसके मतमें कार्यके लिए नियति ही सब कुछ है, अन्य कालादि कुछ नही। यह नियतिवादका अर्थ है। पूर्वमें हमने एकान्तक्रियावादियोंके जो १८० भेद गिनाये हैं उनमें एकान्तवादियोंके छत्तीस भेद परिगणित किये गये हैं। वे कोई स्वत., कोई परत कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने मात्र नियतिसे नौ पदार्थोंसम्बन्धी कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए वे ३६ प्रकारके नियतिवादी एकान्ती होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र आदिने इसी अर्थमें एकान्तनियतिवादका निर्देश किया है।"

इतना लिखनेके अनन्तर आगे उत्तरपक्षने लिखा है "किन्तु जैनदर्शन ऐसे एकान्तनियतिवादको स्वीकार नही करता। वह प्रत्येक कार्यमे नियतिको कारणरूपसे स्वीकार करके भी स्वभाव, पुरुषार्थ और काल आदिके साथ ही उसे स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनके द्वारा स्वीकार की गई कार्य-कारणभाव परम्परामें अन्य कारणोके समान नियतिको स्थान देनेपर भी एकान्तनियतिवादका प्रसग उपस्थित नही होता। यह मिथ्यानियति और सम्यक् नियतिमें फर्क है।"

उत्तरपक्षके इस कथनकी समीक्षामें इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि वह पक्ष कार्योत्पत्तिमें जब निमित्त आदिको सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है तो उसकी नियतिवादकी मान्यताको एकान्तमिथ्यात्व ही कहा जा सकता है।

उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके वक्तव्यके सम्बन्धमें प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत त० च० पृ० २८३ पर लिखा है कि "हम तो यह समझनेके लिए हैरान हैं कि वह अपने इस वक्तव्य द्वारा क्या कहना चाहता है ?"—आगे उसने लिखा है—

१ "क्या वह अपने वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे केवल उस कालमें न होकर अन्य कालमें भी हो सकता है।

२ "या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे होता तो उसी कालमें है परन्तु उस कार्यका उस कालमें होना मात्र नियतिपर अवलम्बित न होकर नियतिसहित सब कारणोसे होता है ?"

३ "या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है उसका हम अल्पज्ञानियोको पता न होनेके कारण श्रद्धा तो वैसी

ही रखनी चाहिए, किन्तु किन हेतुओंसे किस कालमें कौन कार्य होने वाला है यह भले प्रकार ज्ञात न होनेके कारण अपनी दृष्टिमें काल, नियति और स्वभाव आदिको मुख्य न कर पुरुषार्थकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए ?"

इसके भी आगे उसने लिखा है कि—"किन्तु अपरपक्षने इन तीन विकल्पोमेसे किसे मुख्यकर अपनी प्रतिज्ञका प्रस्तुत की है इसका उसकी ओरसे कोई सम्यक् स्पष्टीकरण न होनेके कारण यहाँ उन विकल्पोंके आधारसे विचार किया जाता है।" आगे उसने (उत्तरपक्षने) इन तीनो विकल्पोपर पृथक्-पृथक् विचार किया है।

समीक्षा—

पूर्वपक्ष त० च० पृ० १८१ पर पहले ही लिख चुका है कि "हम यह मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है, कारण कि केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोका केवलज्ञानी जीवोको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैन सस्कृति द्वारा स्वीकार की गई हैं। इस आधारपर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है उस कालमें वह इस आधारपर नही होती है कि उस कालमें उस कार्यकी उत्पत्तिका होना केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योकि वस्तुकी जिस कालमे जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जानना मात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नही है।"

इसके आगे त० च० पृ० १८१पर ही पूर्वपक्षने यह लिखा है कि "इस तरह कार्यकी उत्पत्तिके विषयमें आपके द्वारा आगमप्रमाणोको आधार बनाकर केवल इतना स्वीकार किया जाना ही पर्याप्त नही है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं।' किन्तु उन्ही आगम-प्रमाणोके आधारपर स्वकालके साथ कार्योत्पत्ति-के अनुकूल कारणोको भी ग्रहण कर आपके द्वारा यही स्वीकार किया जाना था कि सभी कार्य केवलज्ञान द्वारा ज्ञात कालमें होनेपर भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणोसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

इस प्रकार उत्तरपक्षका त० च० पृ० २८३ पर निर्दिष्ट "हम तो यह समझनेमें हैरान हैं"—इत्यादि विवेचन हमे इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि उत्तरपक्षने अपना विवेचन पूर्वपक्षके त० च० पृ० १८१ पर निर्दिष्ट कथनको दुर्लक्षित करके ही किया है।

इसके अतिरिक्त वास्तविकता यह है कि पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चाके अवसरपर उत्तरपक्षके समक्ष जो यह प्रश्न प्रस्तुत किया था कि "द्रव्योमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी" वह उसने इस दृष्टिसे प्रस्तुत किया था कि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार विश्वके समस्त जड और चेतन पदार्थोंमें अनादिकालसे अनन्त कालतक प्रतिक्षण होने वाली सभी पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रमसे ही होती है, जबकि पूर्वपक्षकी आगमके अनुसार यह मान्यता है कि विश्वके समस्त जड और चेतन पदार्थोंमें अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रतिक्षण निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति तो निमित्तनिरपेक्ष होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती है, परन्तु उन सभी पदार्थोंमें अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रतिक्षण निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होने वाली स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्तसापेक्ष

होनेके कारण पदार्थोंको जब जैसे निमित्तोकी सहायता प्राप्त होती है उसके अनुसार नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो ही प्रकारसे होती है। भले ही वह उत्पत्ति केवलज्ञानी द्वारा ज्ञात कालमें हो, परन्तु श्रुतज्ञानी जीवका निर्णय ऐसा ही होगा।

तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनो ही यह स्वीकार करते हैं कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थ स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाव वाले हैं। परन्तु जहाँ उत्तरपक्ष यह मानता है कि उन पदार्थोंमें होने वाले सभी परिणमन स्वकीय स्वत सिद्ध परिणमनस्वभावके आधारपर होनेके कारण सतत नियतक्रमसे ही होते है वहाँ पूर्वपक्ष आगमके अनुसार यह मानता है कि पदार्थोंमें प्रतिक्षण जो परिणमन होते हैं वे उन पदार्थोंमें विद्यमान स्वत. सिद्ध परिणमनस्वभावके आधारपर ही होते हैं, परन्तु उनमें जो परिणमन स्वप्रत्यय होते हैं वे ही निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे होते हैं व उनसे अतिरिक्त जो परिणमन स्व-परप्रत्यय होते हैं वे सभी निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रमसे या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोकी सहायताके अनुसार प्रतिक्षण होते हुए भी यथायोग्य नियतक्रम और अनियत-क्रम दोनो ही प्रकारसे होते हैं।

मैंने पूर्वमें स्पष्ट किया है कि आगममें विश्वके सभी जड पदार्थोंमें पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमे वस्तु-विज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया है तथा जीवोमें पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें वस्तुविज्ञानके साथ अध्यात्म-विज्ञानकी दृष्टिसे भी विचार किया गया है। और इस सम्बन्धमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें वस्तुविज्ञानकी दृष्टिसे जो निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर पर्यायें उत्पन्न होती हैं उनकी उस उत्पत्तिके लिए पदार्थोंको निमित्तोकी सहायता या तो विस्रसा प्राप्त होती है अथवा सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोके द्वारा आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले पुरुषार्थके आधारपर प्राप्त होती है। एव जीवोमें अध्यात्मविज्ञानकी दृष्टिसे जो निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर पर्यायें उत्पन्न होती हैं उनकी उस उत्पत्तिमें जीवोको निमित्तोंकी सहायता उनके द्वारा यथासम्भव रूपमे किये जाने वाले पुरुषार्थके आधारपर प्राप्त होती है। तथा उनका वह पुरुषार्थ जबतक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप होता है तबतक वे जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप निमित्तोंके अनुसार ससारमें भ्रमण करते रहते हैं व जब उनका पुरुषार्थ सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप होने लगता है तब वे उक्त द्रव्यादि निमित्तोंके अनुसार यथाविधि मुक्ति प्राप्त करनेमें भी समर्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार वस्तुविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान दोनोंकी अपेक्षा पदार्थोंमें पर्यायोकी उत्पत्तिकी व्यवस्था आगमके अनुसार पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामें और मैंने तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें प्रतिपादित की है। पर उत्तरपक्ष उस व्यवस्थाको नही मानना चाहता है, अतएव दोनों पक्षोंके मध्य विवाद बना हुआ है। पाठकोंसे मेरा निवेदन है कि वे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके विवेचनोंपर तथा मेरे इस समीक्षात्मक विवेचनपर आगमके अनुसार ध्यान देकर तथ्यका निर्णय करें।

तत्त्वचर्चाकी इस समीक्षामें मैंने इस बातको भी स्पष्ट किया है कि पदार्थोंमें पर्यायोकी उत्पत्ति अनु-कूल कार्य-कारणभावके आधारपर होती है, परन्तु उस कार्य-कारणभावका ज्ञान केवलज्ञानी जीवोंको केवलज्ञान-के आधारपर सम्भव नही है, क्योकि केवलज्ञान विश्लेषणात्मक नही होता व विश्लेषणात्मक श्रुतज्ञानका सद्भाव केवलज्ञानी जीवोमें नही पाया जाता, अत उन्हें श्रुतज्ञानके आधारपर भी कार्य-कारणभावका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तकके जीव भी मनके अभावमें कार्य-कारणभावका

विश्लेषण करनेमें समर्थ नही होते हैं। फलत उन्हें भी कार्य-कारणभावका ज्ञान नही होता है। इस प्रकार केवल संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही ऐसे हैं जिन्हें श्रुतज्ञानके आधारपर कार्य-कारणभावका ज्ञान होता है।

इसके अतिरिक्त केवलज्ञानी जीव जब कृतकृत्य हो चुके है तो उन्हें कार्य-कारणभावका उपयोग भी नही है। यद्यपि एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रियतकके जीव कृतकृत्य नही हैं, परन्तु जब वे उक्त प्रकार कार्य-कारणभावका ज्ञान करनेमें असमर्थ हैं तो उसका बुद्धिपूर्वक उपयोग करनेकी बात उनमें कैसे मान्य की जा सकती है ? इस प्रकार संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ही ऐसे हैं जिन्हे कृतकृत्य न होनेसे कार्यकी सम्पन्नताके लिए कार्य-कारणभावका ज्ञान और उपयोग करना युक्त है।

सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव विवक्षित कार्यकी सम्पन्नताके लिए आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और यदि उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप निमित्तसामग्रीकी अनुकूल सहायता प्राप्त होती है तथा पदार्थोमें इस जातिकी द्रव्यभूत उपादानशक्ति स्वभावतः विद्यमान रहती है तो ही उनका वह कार्य सम्पन्न होता है, अन्यथा नही।

उत्तरपक्षका कहना है कि विश्वके जड और चेतन सभी पदार्थोंमें कार्योंकी उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार होती हैं। परन्तु इसके विरुद्ध पूर्वमें विस्तारसे स्पष्ट किया गया है कि पदार्थोंमें कार्योंकी उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार न होकर कार्य-कारणभावके अनुसार ही होती है तथा इस प्रकार उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होने वाले कार्योंको ही केवलज्ञानी जीव केवलज्ञानके आधारपर जानते हैं। इनके अतिरिक्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके विवक्षित कार्योंकी उत्पत्ति उनके आकाक्षा, सकल्प और बुद्धिपर्वक पुरुषार्थ करनेपर यदि अनुकूल निमित्तोकी सहायता प्राप्त हो जावे व पदार्थोंमें कार्योत्पत्तिकी द्रव्यभूत उपादानशक्ति विद्यमान हो तो ही होती है।

थोडी देरके लिए उत्तरपक्षका यह सिद्धान्त मान्य भी कर लिया जावे कि पदार्थोंमें कार्योंकी उत्पत्ति केवलज्ञानी जीवोंके केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके अनुसार होती है। परन्तु ऐसी स्थिति सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके ज्ञानका विषय नही होकर श्रद्धाका ही विषय हो सकती है, कार्यकी उत्पत्ति तो कार्य-कारणभावके अनुसार ही होती है।

इस प्रकार प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी आवश्यक समीक्षा हो जानेपर आगे "उपादान विचार" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षके "उपादान विचार" शीर्षकके अन्तर्गत प्रारम्भमें लिखा है कि "हम अनेक स्थानोपर उपादानका 'अनन्तरपूर्वपर्याययुक्तद्रव्यको उपादान कहते हैं' यह लक्षण लिख आये हैं" सो इसका निषेध तो पूर्वपक्षने कही नही किया है। इतना अवश्य है कि उपादानका यह लक्षण सर्वत्र कार्योंकी उत्पत्तिमें घटित नही होता, क्योकि पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवमे क्रोधपर्यायके अनन्तर जो मान या माया या लोभ पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसमे उपादानका यह लक्षण घटित नही होता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २२२ व २३० का सस्कृतटीकाके आधार पर जो अर्थ उत्तरपक्षने किया है उसके साथ पूर्वपक्ष द्वारा कृत अर्थका कोई विरोध नही है। परन्तु संस्कृत-टोकाके आधारपर उसका जो भाव उत्तरपक्षने ग्रहण किया है उससे पूर्वपक्षका विरोध है, क्योंकि वह भाव उस सस्कृत-टीकाका नही है। इस बातको प्रकृत प्रश्नोत्तरके प्रथम और द्वितीय दोनो दौरोकी समीक्षामें स्पष्ट किया गया है। उन गाथाओं-

का क्या भाव है ? इसका स्पष्टीकरण "समस्यायोका मुख्य हेतु अज्ञानभाव, श्रुतज्ञान नही" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी विस्तारसे जो समीक्षा की गई है उससे भी हो जाता है।

इस प्रकार उत्तरपक्षके "उपादान विचार" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "कार्यका नियामक उपादान कारण होता है" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने इस शीर्षकके अन्तर्गत प्रारम्भमें "अब उस पक्षको विवाद कहाँ है इस बात पर दृष्टिपात करते हैं"—इतना लिखकर आगे लिखा है कि "उस पक्षका कहना है कि उपादानकारणसे जो कार्य होता है वह क्या हो उसकी नियामक निमित्त सामग्री है, उपादानकारण नही" सो यह उसने गलत लिखा है, क्योकि पूर्वपक्ष आगमके अनुसार निमित्तनिरपेक्ष स्व-प्रत्ययताके आधारपर होनेवाली पर्यायोंकी उत्पत्तिके विषयमे मात्र कार्यरूप परिणत होनेकी स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्तिको ही नियामक मानता है। तथा जिन पर्यायोकी उत्पत्ति पदार्थोंमें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती है उनकी उस उत्पत्तिमें उपादानकारणके साथ निमित्तसामग्रीको भी वह नियामक मानता है। इस सम्बन्धमें हमने इंजन और रेल-पटरीकी सहायतासे चलनक्रियाकी योग्यता विशिष्ट रेलगाडीमें होनेवाली चलनक्रियाको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है। जिसका भाव यह है कि प्रेरक निमित्तभूत इजन और उदासीन निमित्तभूत रेलपटरीकी सहायतासे ही रेलगाडी चलती है। और यदि उक्त इंजन और रेल पटरीकी सहायता प्राप्त न हो तो रेलगाडी नही चलती है। परन्तु चलती, तो चलनेकी द्रव्यभूत योग्यता विशिष्ट रेलगाडी है। इसी प्रकार पूर्वमें यह स्पष्ट किया गया है कि भव्य जीवोको मोक्षकी प्राप्ति भव्यतारूप स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर होनेपर भी अनुकूल निमित्तसामग्री प्राप्त होनेपर ही होती है, निमित्त सामग्री के बिना नही होती। एव अभव्य जीवोंको निमित्तसामग्रीकी सहायता रहते हुए जो मोक्षकी प्राप्ति नही होती है उसका कारण उनमें मोक्षप्राप्तिकी स्वाभाविक द्रव्यभूत योग्यताका अभाव ही होता है

एक बात और है कि भव्य जीवोमें मोक्षप्राप्तिकी योग्यता विद्यमान रहते हुए भी उन्हें तब तक मोक्षकी प्राप्ति नही होती जब तक उन्हें निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती है और उन्हें निश्चयमोक्षमार्गकी प्राप्ति तब तक नही होती है जब तक वे निश्चयमोक्षमार्गमें कारणभूत व्यवहारमोक्षमार्गमें प्रवृत्त नही होते हैं। इतना ही नही, व्यवहारमोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने पर भी उन्हें निश्चयमोक्षमागकी प्राप्ति तब तक नही होती जब तक उन्हें तदनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप निमित्तसामग्री प्राप्त नही होती है।

इस प्रकार इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होने वाली पर्यायोकी उत्पत्तिमें उपादान कारण और निमित्तसामग्री दोनों हो नियामक होते हैं। फलत उत्तरपक्ष द्वारा पूर्वपक्षके प्रति किया गया यह विवेचन कि "उस पक्षका कहना है कि उपादान कारण से जो कार्य होता है वह क्या हो उसको नियामक निमित्त सामग्री है, उपादान कारण नही" गलत सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने अपनी बातकी पुष्टिके लिये वहाँ जो पूर्वपक्षके दो कथन उद्धृत किये हैं उनसे भी यह बात सिद्ध नही होती कि पूर्वपक्षकी मान्यतामें उपादानसे होनेवाली कार्योत्पत्तिमें निमित्तसामग्री ही नियामक होती है, उपादान कारण नही।

उत्तरपक्षने प्रकृत शीर्षकके अन्तर्गत त० च०, पृ० २८८ से लेकर २९२ तक जितना विवेचन किया

है उसमें उसने इस मान्यताकी पुष्टि करनेका ही प्रयास किया है कि कार्यका नियामक उपादान कारण होता है, निमित्त सामग्री नही। इस सम्बन्धमें उसने त० च०, पृ० २८८ पर सर्वप्रथम लिखा है कि "कार्यका नियामक होता तो उपादान कारण ही है। मात्र प्रत्येक उपादानसे कार्य होते समय अन्य जो वाह्य सामग्री उसके होनेमें निमित्त होती है उससे हम यह जानते हैं कि इस समय इस उपादानसे इस सामग्रीको निमित्त कर यह कार्य हुआ है।"

अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिये उसने वही उडदका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। एव उस उदाहरणमें उसने लिखा है कि "उडदके जलयुक्त बटलोईमें अग्निसयोगको निमित्तकर पकनेपर बहुतसे उडद जल्दी पक जाते हैं, बहुतसे उडद कुछ देरमें पकते हैं और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो पकते ही नही। साथ ही कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो बटलोईमें डालते समय जमीनपर गिर जाते हैं। उनमेंसे कुछ उडद तो ऐसे होते हैं जिन्हें उठाकर बटलोईमें डाल दिया जाता है और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो जमीनपर ही पडे रह जाते हैं। ऐसा क्यो होता है? पकाने वाला तो उन सबको पकाना चाहता है। उनमेंसे कोई गिर न जाये और सब पक जायें, इसके लिये वह पूरा ध्यान भी रखता है। फिर भी यह विचित्रता होती है। अग्निके संयोगमें भी किसी प्रकारका पक्षपात नही किया जाता है। अग्निका सयोग होनेपर सब उडद नीचे-ऊपर होते हुए खुद-बुद, खुद-बुद चुरने भी लगते हैं, फिर भी उनके चुरनेमें विचित्रता देखी जाती है सो क्यो? इससे स्पष्ट विदित होता है कि वाह्य संयोग लाख हो, पर कार्य होता है उपादानके अनुसार ही।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपने इस विवेचनमें जो यह लिखा है कि 'उडदके जलयुक्त बटलोईमे अग्निके सयोगको निमित्ताकर पकनेपर बहुतसे उडद जल्दी पक जाते हैं, बहुतसे उडद कुछ देरमे पकते हैं और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो पकते ही नही' सो उसका यह लेख उडदके दानोकी उपादानशक्तिको जो उनके पकनेमें नियामक सिद्ध करता है वह इसलिए विवादका विषय नही है कि पूर्वपक्ष भी आगमके अनुसार उडदके दानोमें स्वभावत विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्तिको उनके पकनेमें नियामक मानता है, परन्तु ऐसा माननेके साथ पूर्वपक्ष यह भी मानता है कि पकनेकी द्रव्यभूत उपादान शक्तिसे युक्त उडद तभी पकते हैं जब उन्हें जलयुक्त वटलोईमें डाल दिया जाता है और अग्निका संयोग भी उन्हे प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उडदके दानोंके पकनेमें जिस प्रकार उनमें स्वभावत' विद्यमान द्रव्यभूत उपादानशक्ति नियामक होती है उसी प्रकार उनका जलयुक्त बटलोईमें डाला जाना और उन्हें अग्निका सयोग प्राप्त होना भी नियामक होता है।

इस सम्बन्धमें उत्तरपक्षका जो यह कहना है कि "व्यवहारनयसे निमित्तसामग्रीको नियामक कहना दूसरी बात है" सो पूर्वपक्ष आगमके अनुसार निमित्तसामग्रीको व्यवहारनयसे अर्थात् उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक होने रूपसे ही नियामक मानता है, क्योकि पूर्वपक्षके आगमानुसारी मन्तव्यके अनुसार उपादानभूत वस्तु ही निश्चयनयसे अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेरूपसे नियामक होती है। परन्तु जब उत्तरपक्ष निमित्तसामग्रीको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है तो वह निमित्तसामग्रीकी उस निमित्तताको व्यवहारनयका विषय कैसे मानता है? क्योकि व्यवहारनय प्रमाणका अश होनेसे उसका विषय भी निश्चयनयके विषयके समान वस्तुधर्म ही होता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोमें भेद यह है कि जहाँ निश्चयनयका विषय अभेदसापेक्ष वस्तुधर्म होता है वहाँ व्यवहारनयका विषय भेदसापेक्ष या

परसापेक्ष वस्तुधर्म होता है। इसलिए उत्तरपक्ष निमित्तसामग्रीको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें जब सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है तो वह व्यवहारनयका विषय नही हो सकता है। तथा यदि वह उसे व्यवहारनयका विषय मानता है तो उसे सर्वथा अकिंचित्कर नही माना जा सकता है।

उत्तरपक्षने उसी विवेचनमें आगे यह लिखा है कि "साथ ही कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो बटलोई-में डालते समय जमीन पर गिर जाते हैं। उनमेंसे कुछ उडद तो ऐसे होते हैं जिन्हें उठाकर बटलोईमें डाल दिया जाता है और कुछ उडद ऐसे भी होते हैं जो जमीन पर ही पडे रह जाते हैं। ऐसा क्यो होता है? पकानेवाला तो उन सबको पकाना चाहता है उनमेसे कोई गिर न जाय और सब पक जाय इसके लिए वह पूरा ध्यान भी रखता है। फिर भी यह विचित्रता होती है।"

उत्तरपक्षके इस लेखके विषयमें विवेकी जनोका यही निर्णय होगा कि जमीन पर पडे उडदके दानोमें-से जिन दानोंमें पाक सबंधी स्वभावसिद्ध द्रव्यभूत उपादानशक्ति है, वे इसलिए नही पके कि पकानेवालेकी दृष्टिसे ओझल रहनेके कारण उन्हें जलयुक्त बटलोईमें नही डाला जा सका और अग्नि-सयोग उन्हें नही प्राप्त हो सका।

इस सम्बन्धमें उत्तरपक्षका यह निर्णय कि "जमीन पर पडे रह गये उक्त उडदके दानोंको पकानेवाले-ने जो जलयुक्त बटलोईमें नही डाला इसमें हेतु यह है कि उन दानोमें उस समय पकनेका स्वकाल नही आया था या वे दाने पकनेरूप स्वकीय पर्यायके अनन्तर-पूर्व-पर्यायरूपताको नही प्राप्त हो सके थे" मिथ्या है, क्योकि यह एक तो आगम-विरुद्ध है और दूसरे सज्ञी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कके भी विरुद्ध है। यह पूर्वमे स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षका उक्त निर्णय आगमविरुद्ध इसलिए है कि पूर्वमें उद्धृत प्रमेयकमलमार्तण्ड (पत्राकार) के पत्र ५२ पर निर्दिष्ट "यच्चोच्यते शक्तिर्नित्या अनित्या वा" इत्यादि कथनमे स्पष्ट लिखा है कि कार्योत्पत्तिकी द्रव्यभूत उपादानशक्ति-विशिष्ट वस्तुका कार्यकी अनन्तरपूर्वपर्यायरूपताको प्राप्त होना और उसके अनन्तर कार्यरूप उत्तरपर्यायरूपताको प्राप्त होना - दोनो उस वस्तुको निमित्तसामग्रीकी सहायता प्राप्त होनेपर ही होते हैं। फलत कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें पूर्वपक्षकी मान्यता ही युक्त है, उत्तरपक्षकी मान्यता युक्त नही है।

इतनेपर भी उत्तरपक्ष यदि यह कहना चाहे कि "जमीन पर पडे रह गये जो उडदके दाने पकाने-वालेकी दृष्टिसे ओझल रह गये वे इसलिए उसकी दृष्टिसे ओझल रह गये कि उनके पकनेका स्वकाल उस समय तक नही आया था।" सो उसका ऐसा कहना युक्त नही है, क्योकि उन दानोका पकानेवालेकी दृष्टिसे ओझल रहनेमें यह कारण है कि उन दानोको जलयुक्त बटलोईमें डालनेमें पकानेवालेने असावधानी की अथवा दृष्टि कमजोर होनेके कारण वह उन्हे देख नही सका। अतएव इस सम्बन्धमें पूर्वपक्षका निर्णय ही विवेकपूर्ण और सही माना जा सकता है, उत्तरपक्षका निर्णय नही।

उत्तरपक्षने प्रकृत विषयके सम्बन्धमें अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिए दूसरा उदाहरण त० च० पृ० २८९ पर यह दिया है कि "कुछ चरम-शरीरी समवसरणमे आते हैं वे सब तद्भव मोक्षगामी हैं। उनके लिए समवसरण आदिका योग प्राप्त है और हैं वे सब बालब्रह्मचारी। समवसरणमें ऐसी कोई प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री भी नही है जिसके कारण यह कहा जाय कि वे एक साथ मुनिधर्म स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं। ऐसी उत्तम बाह्य अनुकूलता उन्हें मिली हुई है। फिर भी वे सब एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नही करते, सो क्यो? ऐसा क्यो होता है कि उनमेंसे कोई सम्यग्दृष्टि बनता है, कोई देशव्रती बनता है और कोई महाव्रती। ऐसा

क्यो होता है ? मोक्ष जानेकी योग्यता सबमें है। वे सब तद्भवमोक्षगामी भी है। सबको साथ-साथ जिनदेव-सान्निध्य, उपदेश-लाभ आदि अनुकूल सब बाह्य सामग्री भी मिली हुई है, प्रतिकूल सामग्री कुछ भी नही है। फिर भी उनमें यह भेद दृष्टिगोचर होता है सो क्यो ? इससे विदित होता है कि जिसका जिस कालमें जैसा उपादान होता है कार्य उसीके अनुसार होता है। बाह्यसामग्री तो उसमें धर्मादि द्रव्योके समान निमित्त मात्र है।"

समीक्षा—

उत्तरपक्षने अपने इस कथनमें पर्यायोकी उत्पत्ति-सम्बन्धी प्रश्न उठाकार उसका इस रूपमे समाधान किया है कि "जिसका जिस कालमें जैसा उपादान होता है कार्य उसीके अनुसार होता है" सो इसमें उसने यह बात बतलानेकी चेष्टा की है कि 'द्रव्योमें होनेवाली पर्यायोकी उत्पत्ति उनका स्वकाल आनेपर होती है। अथवा द्रव्योंके स्वकीय कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्यायरूपताको प्राप्त होनेपर ही होती है। परन्तु विचारकर देखा जावे तो कहा जा सकता है कि द्रव्योमें जो पर्यायें निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होती हैं उनकी उत्पत्तिमे कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वपर्याय पूर्वचररूपमें उपचरित सद्भूत व्यवहार कारण ही होती है। तथा जो पर्यायें निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर उत्पन्न होती हैं उनकी उत्पत्तिमें कार्यरूप पर्याप्यसे अव्यवहित पूर्वपर्याय कही तो पूर्वचररूपमे अनुपचरित सद्भूत व्यवहारकारण होती है और कही वह न तो पूर्वचररूपमें अनुपचरित सद्भूत व्यवहारकारण होती है और न पूर्वचररूपमें उपचरित सद्भूत व्यवहारकारण ही होती है। इसे मैंने उदाहरणोके द्वारा उत्तरपक्षके "क्रमबद्ध या नियतक्रम पदका अर्थ" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षामें स्पष्ट किया है। पूर्वमें वह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय और कार्यरूपपर्याय दोनो ही निमित्ताकारणोका समागम मिलनेपर होती है।

इससे निर्णीत होता है कि निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेवाली पर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें द्रव्यभूत उपादानशक्तिविशिष्ट पदार्थमें पूर्वपर्यायके पश्चात् किसी भी उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिका नियम द्रव्यभूत उपादानशक्तिके साथ अनुकूल निमित्तसामग्रीके आधारपर ही बनता है, उस सामग्रीके बिना मात्र पूर्वपर्यायके आधारपर नही। इतना ही नही, पदार्थमें उस पूर्वपर्यायका उत्पाद भी उसीप्रकार अनुकूल निमित्तसामग्रीके आधारपर ही होता है। फलत यह निष्कर्ष निकल आता है कि जो चरमशरीरी मनुष्य समवशरणमें जाते हैं वे सब जो एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नही करते हैं उसका कारण उत्तरपक्षको मान्य मुनिधर्म स्वीकार करनेमें हेतुभूत स्वकालका एक साथ नही प्राप्त होना नही है, अपितु उसमें यही हेतु है कि उन्हे समानरूपसे द्रव्यभूत उपादानशक्तिके साथ अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और कालरूप निमित्तसामग्रीकी प्राप्ति होनेपर भी मानसिक भावरूप निमित्तसामग्रीकी प्राप्ति नही हो सकी।

तात्पर्य यह है कि समवशरणमें जानेवाले वे सभी मनुष्य समानरूपसे तद्भवमोक्षगामी थे, यही उनमें स्वाभाविक द्रव्यभूत उपादानशक्ति थी। वे सभी समानरूपसे चरमशरीरी थे यही उनको द्रव्यभूत निमित्त प्राप्त था, वे सभी समानरूपसे समवशरणमें मौजूद थे यही उनको क्षेत्ररूप निमित्त प्राप्त था और उन्हें बाह्य अन्य वातावरण भी समानरूपसे प्राप्त था जो कालरूप निमित्त था। परन्तु उनको मनके सकल्प और विकल्पके रूपमें अनुकूल भावरूप निमित्त एक साथ प्राप्त नही था, इसलिए वे सब एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नही कर सके। उनमेसे कोई अविरतसम्यग्दृष्टि बना, कोई देशव्रती बना और कोई महाव्रती बना। यह व्यवस्था आगमसम्मत है और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे भी सम्मत है।

अपने कथनमें उत्तरपक्षने लिखा है कि "प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें जो परिणमन होता है वह अपने-अपने उपादानके अनुसार होकर भी स्वय ही होता है । हाँ, इतना अवश्य होता है कि जब प्रत्येक उपादान अपने-अपने कार्यके सम्मुख होता है तब व्यवहारसे उसके अनुकूल वाह्य सामग्री विस्रसा या प्रयोगसे मिलती ही है । इनका ऐसा ही योग है ।" इस विषयमें पूर्वपक्षका यह कहना है कि प्रत्येक द्रव्यमें कार्य तो अपने-अपने नित्य उपादानके अनुसार ही होता है परन्तु स्व-परप्रत्यय कार्य वही होता है जिसके अनुकूल उस समय द्रव्यको अनुकूल वाह्य सामग्री विस्रसा या प्रयोगसे मिलती है । उपादानसे होनेवाले कार्यमें बाह्य सामग्री व्यवहारसे निमित्तमात्र है, इस बातको पूर्वपक्ष भी मानता है, परन्तु दोनो पक्षोंके मध्य मतभेद यह है कि जहाँ उत्तरपक्ष बाह्य सामग्रीको व्यवहारसे निमित्त मानकर भी सर्वथा अकिंचित्कर मानता है वहाँ पूर्वपक्ष बाह्य सामग्रीको कार्यरूप परिणत न होनेके कारण अकिंचित्कर और उस कार्यरूप परिणतिमें सहायक होनेके कारण कार्यकारी मानता है । आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशके कथनसे पूर्वपक्षकी मान्यतामें कोई असगति नही होती है ।

उत्तरपक्षने अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिए जो अन्य आगमप्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनके साथ भी पूर्वपक्षके कथनका कोई विरोध नही है, क्योंकि कार्यरूप परिणति तो द्रव्यभूत उपादानशक्तिविशिष्ट उपादानवस्तु की ही होती है, बाह्य वस्तु तो उसमें मात्र सहायक ही होती है । कार्यरूप परिणत नही होती ।

इस प्रकार "कार्यका नियामक उपादानकारण होता है" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा हो जानेपर आगे "परिणमनक्रिया और परिणाम दो नही" शीर्षकके अन्तर्गत विवेचनकी समीक्षा की जाती है—

उत्तरपक्षने इस शीर्षकके प्रारम्भमे पूर्वपक्षके कथनको उद्धृतकर जो उसकी आलोचना की है वह ठीक नही है, क्योकि उसने वह आलोचना पूर्वपक्षके कथन करनेके अभिप्रायको नही समझकर ही की है । पूर्व पक्षके कथन करनेका अभिप्राय यह है कि अन्य सभी द्रव्योंके समान जीवद्रव्य भी परिणमनस्वभाववाला है तथा परिणमन स्वभाववाला होनेके कारण जीवद्रव्यके परिणमन भी अन्य सभी द्रव्योंके समान प्रतिक्षण ही होते रहते हैं । परन्तु जो परिणमन अन्य सब द्रव्योंके समान जीव-द्रव्यके स्वप्रत्यय अर्थात् निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होते हैं वे नियतक्रमसे ही होते हैं और जो परिणमन जीवद्रव्यके अन्य सभी द्रव्योंके समान स्व-परप्रत्यय अर्थात् निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होते हैं वे द्रव्यभूत उपादानशक्तिके अनुसार होते हुए भी जब जैसे निमित्तोकी सहायता प्राप्त होती है उसके अनुसार नियतक्रमके साथ अनियतक्रमसे भी होते हैं ।

इससे यह निर्णीत होता है कि द्रव्योके स्व-परप्रत्यय परिणमनोकी उत्पत्तिमें कार्यरूप परिणत होनेके आधारपर तो द्रव्यभूत उपादानशक्ति विशिष्ट उपादानकारण नियामक होता है व निमित्तकारण उस परिणमनकी उत्पत्तिमें उपादानका सहायक होनेके आधारपर नियामक होता है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें जो समयसारकी १३७ और १३८ सख्यक गाथाएँ प्रस्तुत की हैं उनसे उसके मतका समर्थन न होकर पूर्वपक्षके मतका ही समर्थन होता है, क्योकि उन गाथाओमें मात्र यह बतलाया गया है कि यद्यपि जीवके रागादिरूप परिणाम होनेमें पुद्गलकर्म भी सहायक होनेरूपसे कारण होते हैं, परन्तु उपादानकारण होनेसे जीव ही रागादिरूप परिणत होता है । पुद्गलकर्म सहायक होनेके कारण रागादिरूप परिणत नही होता । इसी प्रकार पुद्गलके कर्मरूप परिणमनमें रागादिरूप परिणत जीव भी सहायक होने रूपसे कारण होता है परन्तु कर्मरूप परिणमन उपादान होनेके कारण पुद्गलका ही होता है ।

तात्पर्य यह है कि उपादानकारण और निमित्तकारण दोनोंमे लक्षणभेद है, क्योकि उपादानकारण वह है जो कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त कारण वह है जो उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक मात्र होता है। वह कार्यरूप परिणत नही होता। परन्तु उपादानकारण और निमित्तकारण दोनोमें कार्योत्पत्तिकी नियामकता समान ही है, क्योकि जिस प्रकार उपादानकारणके अभावमे कार्य नही होता, उसी प्रकार निमित्तकारणके अभावमे भी स्व-परप्रत्यय कार्य नही होता।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आगममे निमित्तकारणके भी लक्षणभेदके आधारपर दो प्रकार माने गये हैं—एक प्रेरक निमित्तकारण और दूसरा अप्रेरक अर्थात् उदासीन निमित्तकारण। पर प्रेरक और अप्रेरक दोनो निमित्तकारणोमें लक्षणभेद होनेपर भी उपादानकी कार्योत्पत्तिमें सहायक होने रूपसे नियामकता समान रूपसे रहती है, क्योंकि जिस निमित्त कारणके साथ कार्यकी अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं वह प्रेरक निमित्त है और जिस निमित्तकारणकी कार्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तियाँ होती हैं वह अप्रेरक निमित्त है। परन्तु जिस प्रकार उपादानकारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार प्रेरक और अप्रेरक दोनो निमित्तकारणोंके अभावमे भी कार्यकी उत्पत्ति नही होती है। जैसे प्रेरक निमित्तकारण-भूत इजन और अप्रेरक निमित्तकारणभूत रेल-पटरीकी सहायता मिलनेपर ही कारणभूत रेलगाडीकी चलन-क्रिया होती हैं। यदि इन्जन प्रेरक रूपसे निमित्तकारण न हो और रेल-पटरी अवलम्बनरूपसे निमित्त कारण न हो तो उपादानकारणभूत रेलगाडीमें चलनक्रिया नही होती है, परन्तु वह चलनक्रिया उपादान-कारणभूत रेलगाडीकी ही अभीष्ट होती है, निमित्तोकी नही।

इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि उत्तरपक्षने पूर्वपक्षके कथन करनेके अभि-प्रायको नही समझकर ही इसकी आलोचना की है। उत्तरपक्षने "परिणमनक्रिया और परिणाम दो नही" शीर्षकके अन्तर्गत कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० में पठित 'णियमा' पदकी जिस रूपमें सार्थकता बतलाई है उसका निराकरण प्रकृत प्रश्नोत्तरके प्रथम और द्वितीय दोनो दौरोकी समीक्षासे ही हो जाता है।

उत्तरपक्षने उक्त शीर्षकके आगे "निमित्तविचार" और "उपादानकारण ही कार्यका नियामक है" इन दो शीर्षकोंके अन्तर्गत जो विवेचन किये हैं उनके विषयमे प्रथमत मेरा कहना है कि निमित्त और उपा-दान ये दोनो मुद्दे किसी न किसी प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वचर्चा पर छाये हुए हैं। तथा दोनो मुद्दोके विषयमें दोनों पक्षोने परस्परविरुद्ध विचार तत्त्वचर्चामें सर्वत्र अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार विस्तारसे प्रगट किये हैं, परन्तु दोनों ही पक्ष एक-दूसरेके दृष्टिकोणसे सहमत नही हो सके है—यद्यपि परस्पर विरुद्ध होते हुए भी दोनोने अपने-अपने दृष्टिकोणको आगमसम्मत निरूपित किया है।

सर्वत्र पूर्वपक्षका दृष्टिकोण यह रहा है कि निमित्तनिरपेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण सभी द्रव्योंके षड्गुणहानि-वृद्धिरूप परिणमन प्रतिक्षण नियतक्रमसे ही होते हैं और उनसे भिन्न परिणमन निमित्तसापेक्ष स्वप्रत्ययताके आधारपर होनेके कारण नियतक्रम या अनियतक्रमसे प्राप्त निमित्तोंके अनुसार यथायोग्य नियतक्रम और अनियतक्रम दोनो प्रकारसे होते हैं।

उत्तरपक्षका दृष्टिकोण यह रहा है कि सभी द्रव्योंके सभी परिणमन प्रतिक्षण केवलज्ञानमें क्रमबद्ध ही प्रतिभासित होते हैं व आगममें कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादानका लक्षण मान्य किया गया है अतएव इन दोनो हेतुओके आधारपर भूत, वर्तमान और भविष्यत् सभी परिणमनोकी उत्पत्ति नियतक्रमसे ही होती है। अर्थात् स्वकालमें ही होती है।

मैंने समीक्षा करते हुए पूर्वमें स्पष्ट किया है कि पूर्वपक्षका दृष्टिकोण आगम और युक्तिसंगत है, व उत्तरपक्षका दृष्टिकोण आगम और युक्तिसगत नही है।

क्योंकि मैंने लिखा है कि यदि केवलज्ञानमें होनेवाले क्रमबद्ध प्रतिभासनके आधारपर परिणमनोंको उत्पत्तिको क्रमबद्ध माना जाये तो भूतकालीन परिणमनोकी उत्पत्तिको भी उसी आधारपर क्रमबद्ध मान्य करना होगा, जिसका परिणाम यह होगा कि किसी एक जीवमें केवलज्ञानका विकास अनादिकालसे ही मान्य करना होगा, क्योंकि जैन संस्कृतिके अनुसार विश्वके सभी पदार्थोंकी सत्ता अनादिकालसे ही है व सभी पदार्थ स्वत सिद्ध परिणमन स्वभाववाले हैं, इसलिए सभी पदार्थोंके परिणमन भी प्रतिक्षण अनादिकालसे ही होते आ रहे हैं। अतः जिस प्रकार अनादिकालसे होती आई ससारसृष्टिका कर्ता ईश्वरको स्वीकार करनेवाले दार्शनिकोको एक अनादिसिद्ध ईश्वरकी सत्ता माननी पडी है उसी प्रकार केवलज्ञानमे होने वाले प्रतिभासनके आधारपर पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार करनेवाले उत्तरपक्षको भी एक अनादिकालीन केवलज्ञानी जीवकी सत्ता मान्य करना अनिवार्य हो जायेगा, जबकि जैन संस्कृतिके अनुसार जीवमें केवलज्ञानका विकास सादि ही माना गया है और उत्तरपक्ष भी ऐसा ही मानता है। फलत उत्तरपक्ष द्वारा केवलज्ञानमें होने वाले प्रतिभासनके आधारपर पदार्थोंमें परिणमनोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार किया जाना अयुक्त सिद्ध हो जाता है। जैन संस्कृतिके अनुसार तो यही मानना युक्त है कि पदार्थोंमे अपने-अपने प्रतिनियत कारणोके आधारपर नियतक्रम या अनियतक्रमसे उत्पन्न हुए, उत्पन्न हो रहे और आगे उत्पन्न होनेवाले सभी परिणमन केवलज्ञानमें प्रतिक्षण क्रमबद्ध हो प्रतिभासित होते हैं।

इसी प्रकार पदार्थोंके परिणमनोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध सिद्ध करनेके लिए उत्तरपक्षका जो यह कहना है कि "जैनागममे कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान माना गया है और यह भी माना गया है कि कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यभूत उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है तो इस आधारपर भी पर्यायोकी उत्पत्तिको क्रमबद्ध स्वीकार करना ही युक्त है।"

इस सम्बन्धमे मेरा कहना है कि जैनागमके अनुसार उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है और इस बातको स्वीकार करनेमें पूर्वपक्षको भी कोई आपत्ति नहीं कि कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको जैनागममें उपादान बतलाया गया है क्योंकि मिट्टीसे कुशूल पर्यायकी उत्पत्ति होनेपर घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, परन्तु कुशूल पर्यायके पश्चात् घटपर्यायकी उत्पत्ति होती ही है, यह नियम नहीं है, यत मिट्टीसे कुशूल-पर्यायके पश्चात् घटपर्यायकी उत्पत्ति कुम्भकारके घटानुकूल पुरुषार्थ करनेपर ही होती है। फलत उस अवसरपर कुम्भकार यदि अपना पुरुषार्थ घटोत्पत्तिके अनुकूल न करे या दण्डादिके प्रतिघातसे कुशूल पर्याय ही विनष्ट हो जावे तो उस मिट्टीसे घटपर्यायकी उत्पत्ति नही होकर उसी पर्यायकी उत्पत्ति होती है जिसके अनुकूल उस अवसरपर मिट्टीको निमित्तोंकी सहायता प्राप्त हो रही हो।

जैनागममें पर्यायोंके जो स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय दो भेद स्वीकार किये गये हैं उनमें स्वप्रत्यय पर्यायें सूक्ष्मरूप ही हैं और स्व-परप्रत्यय पर्यायें स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारकी हैं। कालद्रव्यकी आवली, मुहूर्त आदि पर्यायोके आधारपर विभक्त स्व-परप्रत्यय पर्यायें स्थूल पर्यायें हैं और काल द्रव्यके अखण्ड एक समयके आधारपर विभक्त स्व-परप्रत्यय पर्यायें सूक्ष्म पर्यायें हैं।

ऊपर मिट्टीमें घटपर्यायकी उत्पत्तिकी जो प्रक्रिया बतलाई है व स्व-परप्रत्यय स्थूल पर्यायोकी उत्पत्ति-की प्रक्रियाको स्पष्ट करती है। उसके समान ही स्व-परप्रत्यय सूक्ष्मपर्यायोंकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया जानना

चाहिए। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जीवकी वर्तमान स्व-परप्रत्यय पर्याय जब क्रोधरूप हो रही हो तब उस जीवमे कर्म सिद्धान्तके अनुसार क्रोध, मान, माया और लोभ रूपसे परिणत होनेकी पृथक्-पृथक् चारो उपादानशक्तियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं। फलत उस जीवमें आगे यदि क्रोधकर्मका उदय होता है तो उत्तरपर्याय क्रोधरूप उत्पन्न होती है, यदि मानकर्मका उदय होता है तो मानरूप उत्पन्न होती है, यदि मायाकर्मका उदय होता है तो मायारूप उत्पन्न होती है और यदि लोभकर्मका उदय होता है तो लोभरूप उत्पन्न होती है। कर्म सिद्धान्तकी ऐसी ही व्यवस्था है।

तात्पर्य यह है कि स्व-परप्रत्यय स्थूल पर्यायोके समान स्व-परप्रत्यय सूक्ष्म पर्यायरूप परिणति भी उपादानकी ही होती है और निमित्तोकी सहायतापूर्वक होती है। यही कारण है कि ऊपर स्पष्ट किया गया है कि वर्तमान क्रोधपर्यायविशिष्ट जीवमें यदि आगे क्रोधकर्मका उदय हो तो उसकी उत्तरपर्याय क्रोधरूप ही होती है। तथा यदि मानकर्मका उदय हो तो मानरूप, माया कर्मका उदय हो तो मायारूप और लोभकर्मका उदय हो तो लोभरूप होती है। फलत जीवमे क्रोधपर्यायके बाद कोई एक नियत पर्याय न होकर क्रोध, मान, माया और लोभ चारो पर्यायोमेंसे प्राप्त निमित्तोंके अनुसार कोई भी एक पर्याय होती है। यही प्रक्रिया वर्तमान मानादिपर्यायविशिष्ट जीवकी भी क्रोधादिपर्यायोकी उत्पत्तिके विषयमें जानना चाहिए।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि उपादानके उक्त लक्षणके अनुसार द्रव्य ही कार्यरूप परिणत होता है कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय नही। यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। अत स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमे पूर्वपर्याय पूर्वचररूपमें उपचरित सद्भुत व्यवहारकारण होती है व स्व-परप्रत्यय घटादि पर्यायोकी उत्पत्तिमें कुशूल आदि पूर्वपर्यायें पूर्वचर रूपमें उपचरित या अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती हैं। एव जीवकी स्व-परप्रत्यय क्रोधादिपर्यायोको उत्पत्तिमें पूर्वपर्याय न तो पूर्वचर रूपमे उपचरित सद्भूत व्यवहारकारण होती है और न अनुपचरित सद्भूतव्यवहारकारण होती है। जैसाकि पूर्वमें स्पष्ट किया गया है।

इसी प्रकार यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि निमित्तकारणके अभावमें स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्ति होना सम्भव नही, फिर भी कार्यमें जिस प्रकार उपादानकारणका प्रवेश होता है उस प्रकार निमित्तकारणका प्रवेश नही होता, क्योकि जहाँ उपादानकारण कार्यरूप परिणत होता है वहाँ निमित्तकारण कार्यरूप परिणत न होकर उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सहायक मात्र होता है। भले ही वह निमित्तकारण प्रेरकरूप हो या अप्रेरकरूप हो।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें समयसार कलश १७३ को प्रस्तुत किया है, परन्तु उस कलशपद्यसे उसके मतका समर्थन नही होता है, क्योकि प्रकृत विषयमें उस पद्यका मात्र इतना ही उपयोग है कि कार्यरूप परिणमन उपादानका ही होता है निमित्तका नही, वह तो उपादानके कार्यरूप परिणमन होनेमें सहायक मात्र होता है, क्योकि उपादानका कार्यरूप परिणमन निमित्तकारणकी सहायताके विना नही होता है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें समयसार गाथा १०६ भी प्रस्तुत की है, परन्तु इससे भी उसके मतका समर्थन नही होता, क्योकि योद्धा, जो युद्धमें प्रवृत्त होते है उनकी वह प्रवृत्ति राजाकी आज्ञाके विना नही होती। यही कारण है कि उस युद्धका उत्तरदायित्व लोकमें राजाका ही माना जाता है व कर्मसिद्धान्तके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त न होते हुए भी राजाको जैसा कार्यबन्ध होता है वैसा सेनाको नही होता।

अपने मतकी पुष्टिके लिए उत्तरपक्षने समयसार गाथा १०७ को भी उपस्थित किया है, परन्तु उससे भी उसके मतका समर्थन नहीं होता, क्योंकि उस गाथाका आशय मात्र इतना ही है कि बन्ध अर्थात् कर्मरूप परिणमन पुद्गलका ही होता है, जीवका नही होता। इतना अवश्य है कि जीवकी सहायता उसमें अपेक्षित रहती है, अत॰ जीवको उस अपेक्षाके कारण व्यवहारसे अर्थात् उपचारसे कर्ता माना जाता है। आलापपद्धतिके "मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचार प्रवर्तते" वचनका यही आशय है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमे जैनेन्द्रमहावृत्तिका वचन भी प्रस्तुत किया है, परन्तु उसके अभिप्रायको समझनेमें भी वह असमर्थ रहा है। उस वचनका अभिप्राय यह है कि व्याकरणशास्त्रमें सप्तकारकोंकी जो व्यवस्था की गई है उसमें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण इन सात कारकोंकी गणना की गई है और कारकको क्रियाका जनक माना गया है। इनमें क्रियाका मुख्य कारक कर्ता होता है, क्योंकि वहाँ उसीका क्रिया-व्यापार विवक्षित रहता है और इसलिए ही उसे स्वतन्त्र माना गया है। शेष कारक उसके क्रिया-व्यापारमें अपने-अपने ढगसे सहायक होते हैं। कर्म, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये तो कर्ताकी उस क्रियामें साक्षात् साधक होते है और सम्बन्ध परम्परया साधक होता है। यद्यपि करणकारक भी साक्षात् कारक होता है पर उसे व्याकरणमें साधकतम कारक माना गया है।

यह कारकव्यवस्था उपादानोपादेयभावरूप कार्य कारणभावमें एक ही वस्तुमें उपादान और उपादेयका भेद स्थापित करके मानी गई है व निमित्त-नैमित्तिकभावरूप कार्य-कारणभावमे उपादान वस्तुके कार्यके साथ कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरणरूप नाना वस्तुओंमें साहाय्य-सहायकभावरूप मानी गई है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें वही जो अन्य आगमप्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनसे 'उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है' इसकी सिद्धिके साथ यह भी सिद्ध होता है कि उपादानकी स्व-परप्रत्यय कार्यरूप परिणति निमित्तोकी सहायतापूर्वक ही होती है, उनकी सहायताके विना नही होती। निमित्तोंको आगममें जो उपचरित कर्ता कहा गया है उसका आधार भी यही है कि निमित्त उपादानको कार्यरूप परिणतिमे सहायक होते हैं। यत उत्तरपक्ष निमित्तोको उपादानकी स्व-परप्रत्यय कार्यरूप परिणतिमें सहायक स्वीकार नही करता, क्योकि वह उन्हें वहाँ सर्वथा अकिंचित्कर ही मानता है, अत उसका मत उन आगम प्रमाणोंके विरुद्ध ही सिद्ध होता है।

आगे उत्तरपक्षने "जो आगमप्रमाणोंका यथार्थ तात्पर्य" शीर्षकके अन्तर्गत आरम्भमें लिखा है कि "अपरपक्षने इसी प्रसगसे दो आगमप्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२वी गाथाकी सस्कृत-टीकाका वाक्याश है और दूसारा प्रमाण अष्टसहस्री, पृ० १०५ मे आया हुआ अष्टशतीका वाक्याश है। किन्तु इन दोनो प्रमाणोंसे अपरपक्षके अभिप्रायकी पुष्टि कैसे नही होती यह बात यहाँ विचारणीय है, जिसका क्रमसे विचार किया जाता है"—

इसके आगे उसने उक्त गाथाकी सस्कृत-टीकाके वाक्यांशको उद्धृत किया है और उसका यह अर्थ लिखा है कि "मणि-मन्त्रादिकसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूत वही द्रव्य कारणान्तरोकी अविकलता होनेके कारण उत्तर क्षणमें कार्यको उत्पन्न करता ही है।"

इसके आगे भी उसने लिखा है कि "यह उक्त वचनका शब्दार्थ है। मालूम नहीं कि इस परसे अपरपक्षने यह कैसे फलित कर लिया कि अनन्तरपूर्व-पर्यायाविष्ट द्रव्यरूप विवक्षित उपादानके अपने विवक्षित

कार्यके सन्मुख होने पर मणिमन्त्रादिक प्रतिबन्धक कारणोकी उपस्थिति और काराणन्तरोकी विकलता सम्भव है। जबकि आ० शुभचन्द्रने 'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं' इस पदको 'तदेव द्रव्य' इत्यादि पदका विशेषण रूपसे प्रयुक्त कर तथा 'कारणान्तरावैकल्येन' पद द्वारा कारणान्तरोकी अविकलता (पूर्णता) को स्पष्ट शब्दोमे सूचित कर अनन्तरपूर्वपर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादानको अपने कार्यका नियमसे उत्पादक कहा है। पूरे वाक्यके अन्तमें आया हुआ 'एव' पद यही सूचित करता है कि उक्त प्रकारका उपादान अपने कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और जब वह अपने कार्यको उत्पन्न करता है तब प्रतिबन्धकसामग्रीके अभावके साथ कारणान्तरोकी अविकलता नियमसे होती है।"

समीक्षा—

इस विवेचनके अनुसार उत्तरपक्षका कहना है कि "सभी द्रव्योंकी कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायकी उत्पत्ति होने पर नियमसे नियत उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति होती है।" परन्तु ऊपर स्पष्ट किया गया है कि कुम्भकारके क्रिया-व्यापारके अनुसार ही मिट्टीमें द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर कार्याव्यवहित पूर्ववर्ती कुशूल पर्याय उत्पन्न होती है। एव उसके पश्चात् उसी मिट्टीमे जो द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर घटपर्यायकी उत्पत्ति होती है वह नियमसे कुशूल पर्यायके पश्चात् होने पर भी कुम्भकारके क्रियाव्यापारके आधारपर ही होती है और यदि कुम्भकारका क्रियाव्यापार घटपर्यायकी उत्पत्तिके अनुकूल न हो या दण्डादिके प्रतिघातसे वह कुशूल पर्याय ही विनिष्ट हो जावे तो घटपर्यायकी उत्पत्ति न होकर द्रव्यभूत उपादान शक्तिके आधारपर वही पर्याय उत्पन्न होती है जिसके अनुकूल निमित्तोका सहयोग उस मिट्टीको प्राप्त हो और प्रतिबन्धक कारणोका अभाव हो। यह ऐसी वास्तविकता है जो सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंके अनुभव, इन्द्रियप्रत्यक्ष और तर्कसे प्रमाणित है। इस सम्बन्धमें आगमका भी यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

इससे निर्णीत होता है कि सभी द्रव्योमें द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी जो उत्पत्ति होती है वह वही होती है जिसके अनुकूल निमित्तोका सहयोग उन द्रव्योको प्राप्त हो व वहाँ बाधक कारणोका अभाव हो। यह प्रक्रिया सभी द्रव्योंकी स्थूल और सूक्ष्म सभी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जान लेना चाहिए।

पूर्वमें स्पष्ट किया गया है कि द्रव्योमें जो स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति होती है उसमें पूर्वपर्याय पूर्वचर-रूपमें उपचरित सद्भूत व्यवहारकारण होती है। तथा घटादि किन्ही स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें पूर्व-पर्यायें या तो पूर्वचर रूपमें उपचरित सद्भूत व्यवहार कारण होती हैं या पूर्वचररूपमें ही अनुपचरित सद्भूत कारण होती हैं। तथा जीवकी क्रोधादिक स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें पूर्वपर्यायें पूर्वचररूपमें उपचरित या अनुपचरित किसी भी रूपमे सद्भूत व्यवहारकारण नही होती हैं, एव उपादानकारण तो कोई भी पूर्व-पर्याय नही होती है।

"सभी द्रव्योमें कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय उत्पत्तिके पश्चात् नियमसे नियत पर्याय ही उत्पन्न होती है" अपनी इस मान्यताके सम्बन्धमें उत्तरपक्षका यह भी कहना है कि कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायके अवसरपर अनुकूल निमित्तकारणोंकी उपस्थिति और बाधककारणोका अभाव दोनो नियमसे विद्यमान रहते हैं। परन्तु उत्तरपक्ष उपादानकी कार्योत्पत्तिमें निमित्तोको जब सर्वथा अकिंचित्कर मानता है तो उसका यह कथन अनावश्यक हो जानेसे अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि उत्तरपक्षने आ० शुभचन्द्रके वाक्यांशका अर्थ लिखकर उसका जो आशय ग्रहण

किया है वह ठीक नही है, क्योकि वह आशय पूर्वोक्त प्रकार सभी पचेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यय और तर्कके विरुद्ध है। इसी प्रकार उत्तरपक्षने आचार्य शुभचंद्रके टीकावचनके अन्तमें आये "एव" पदका आशय भी गलत ग्रहण किया है। उस "एव' पदका आशय यह है कि मणि-मन्त्रादिक बाधक कारणोंका अभाव और कारणान्तरोंकी अविकलता रहते हुए उपादानकारणसे विवक्षित कार्य ही उत्पन्न होता है। इसका यह आशय नही है कि उपादानके कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायमें पहुँच जानेपर मणिमंत्रादि बाधककारणोका अभाव और कारणान्तरोकी अविकलता रहती ही है।

उत्तरपक्षने अपने मतके समर्थनमें वहाँ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ७८ के दो कथन भी प्रस्तुत किये हैं। उनमेंसे प्रथम कथनका आशय यह है कि योग्यता कारणमे कार्यजनकत्वशक्तिके रूपमें और कार्यमें कारण-जन्यत्वशक्तिके रूपमें नियमसे पायी जाती है। दूसरे कथनका आशय भी यह है कि शालिबीजमें ही शालि-अकुर के उत्पादनकी शक्ति है, "यव" बीजमे नही, तथा "यव" बीजमें ही यवाकुरके उत्पादनकी शक्ति है शालिबीजमे नही, परन्तु इन दोनो कथनोंसे उत्तरपक्षके उक्त विवक्षित अभिप्रायकी पुष्टि नहीं होती, क्योकि प्रत्येक उपादानसे प्रतिसमय वही स्व-परप्रत्यय पर्याय उत्पन्न होती है जिसके अनुकूल वहाँ निमित्तकारणोंका सद्भाव रहता है।

इस विवेचनसे उत्तरपक्षका आगेका यह कथन कि "इससे इस बातका सम्यक् रीतिसे ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमयमे अपने नियत कार्यका ही उपादान कारण है और उससे नियत कार्य ही उत्पन्न होता है" अयुक्त सिद्ध सिद्ध हो जाता है, क्योकि वास्तविकता यह है कि उपादानके कार्याव्यवहित पूर्वपर्याय-की स्थितिमें पहुँच जानेके अवसरपर मणिमन्त्रादिक बाधककारणसामग्रीका अभाव और कारणान्तरोकी अवि-कलता रहते हुए ही नियत कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नही।

प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २९८ के कथनका भी यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि जो कार्य जब अवि-कलकारणवाला हो वह तब होता ही है। पूर्वपक्षने इसका निषेध नही किया है। उसका कहना तो यह है कि उपादानके साथ कारणान्तरोकी अविकलता और बाधक कारणोका अभाव रहते हुए विवक्षित कार्य उत्पन्न होता ही है। तथा बाधककारणोका अभाव ओर कारणान्तरोंकी अविकलता न हो तो उपादानके रहते हुए भी उससे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नही होती है। उससे तो वही कार्य उत्पन्न होता है जिसके अनुकूल निमित्तसामग्री होती है।

प्रमेयकमलमार्तण्डका यह कथन इस प्रकार है—"यद् यदा अविकलकारण तत्तदा भवत्येव।" इसका अर्थ उत्तरपक्षने भी यही किया है कि जो जब कार्य अविकलकारणवाला होता है वह तब होता ही है।

यद्यपि उत्तरपक्षने प्रमेयकमलमार्तण्डके उस कथनके आगे दिये गये "अन्त्यक्षणप्राप्तसामग्री" पदसे यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि अन्त्यक्षणप्राप्त उपादानके साथ कारणान्तरोंकी अविकलता और बाधक कारणोंका अभाव दोनो नियमसे रहते हैं, परन्तु उसका ऐसा प्रयास निरर्थक है, क्योकि 'अन्त्यक्षणप्राप्त सामग्री' पदसे यही सूचित होता है कि अन्त्यक्षणप्राप्त उपादानके साथ कारणान्तरोकी अविकलता और बाधक कारणोंका अभाव रहते हुए विवक्षित कार्य उत्पन्न होता ही है। उससे यह सिद्ध नही होता कि अन्त्यक्षण-प्राप्त उपादानके साथ कारणान्तरोंकी अविककता और बाधक कारणोका अभाव दोनो विद्यमान रहते ही हैं। अत उत्तरपक्षका त० च०, पृ० ३०२ पर यह लिखना कि "स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा" की सस्कृतटीकाके आधारसे यही निर्णय करना चाहिए कि अनन्तरपूर्वपर्याययुक्त द्रव्यको सभी शास्त्रकारोने जो उपादान कहा

है वह इसी अपेक्षासे कहा है कि प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें उपादानकी भूमिकामें आते रहनेपर उस-उस उपादानसे उत्पन्न होनेवाले प्रतिनियत कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्रीकी समग्रता रहती ही है। वहाँ न तो कारणान्तरोकी विकलता होती है और न ही प्रतिबन्धककारण उपस्थित रहते हैं मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि उपादानके कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायविशिष्ट रहते हुए भी विवक्षित कार्यके अनुकूल कारणान्तरोकी अविकलता और बाधक कारणोका अभाव दोनोके विद्यमान रहनेका कोई नियम नही है। यदि विद्यमान रहते हैं तो उस उपादानसे विवक्षित कार्य ही उत्पन्न होता है और वे विद्यमान न हो तो विवक्षित कार्य उत्पन्न न होकर वही कार्य उत्पन्न होता है जिसके अनुकूल वहाँ कारणान्तरोका सद्भाव और बाधक कारणोका अभाव दोनो उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे नियत-क्रमता और अनियतक्रमता दोनो ही स्थितियाँ निश्चित हो जाती है।

उत्तरपक्षने त० च०, पृ० ३०२ पर आगे लिखा है कि "अपरपक्षने अपनी प्रतिज्ञाको स्थापित करते हुए अष्टसहस्री, पृ० १०५ से अष्टशतीका जो वचन उद्धृत किया है वह मीमासको द्वारा माने गये वर्णादिक शब्दोकी नित्यता और व्यापकताके खण्डनके प्रसगमें आया है। सो यह तो ठीक है, परन्तु अष्टशती के उस वचनका जो अभिप्राय है उसे मैंने जयपुर (खनिया) तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा (प्रथम भाग)में प्रथम प्रश्नोत्तरके तृतीय दौरकी समीक्षा करते हुए समीक्षाके पृष्ठ १०४ से १०६ तक विस्तारसे स्पष्ट किया है, फलत उस स्पष्टीकरणसे निर्णीत होता है कि पदार्थोमे प्रतिसमय उत्पन्न होनेवाली स्व-परप्रत्यय पर्यायें द्रव्यभूत उपादानशक्तिके आधारपर होनेपर भी निमित्तकारणोकी सहायताके अनुरूप होती हैं। और यह व्यवस्था पदार्थोके कार्याव्यवहित अनन्तर पूर्व पर्यायकी स्थितिमे पहुँच जानेपर उन पर्यायोकी उत्पत्तिमें भी लागू होती है।

उत्तरपक्षने उसी अनुच्छेदमें आगे जो लिखा है तथा उसके भी आगे अष्टशतीके उस वचनको उद्धृत कर नम्बर १, २ और ३ मे जो लिखा है वह प्रकृतमें विवादरहित है।

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चाके पृष्ठ ३०३ पर आगे जो यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि "जिस प्रकार मीमासादर्शनमें मान्य शब्दके सर्वथा नित्य होनेके कारण वर्णात्मक अभिव्यक्तिमें असमर्थ उस शब्दकी उस असमर्थताको समाप्त करनेके लिए तालु आदि निमित्तकारण उपयोगी हैं उस प्रकार जैनदर्शनमें मान्य पदार्थोके कथचित् नित्य और कथचित अनित्य होनेके कारण समर्थताको प्राप्त इन पदार्थोकी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणोकी कुछ भी उपयोगिता नही है, क्योकि ये पदार्थ उन स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिके निमित्तकारणोके बिना अपने बलपर ही कर लिया करते हैं", सो यह ठीक नही है। इसका कारण है कि पदार्थोकी कथचित् अनित्यता उनकी उपादान शक्ति अर्थात् कार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावसिद्ध योग्यताका ही निर्णय कर सकती है। यत उपादानकी वह कार्यरूपपरिणति स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय इन दो प्रकारसे होती है अत' स्व-परप्रत्यय परिणतिकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण वहाँ उपयोगी ही होते हैं।

आगे उत्तरपक्षने अपनी दृष्टि बदलकर तत्त्वचर्चा, पृ० ३०४ पर बतलाया है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें निमित्तोको अकिंचित्कर नही कहकर व्यवहारनयसे निमित्त कहना चाहिए, तो आगमके अनुसार पूर्वपक्ष तो ऐसा ही मानता है, क्योकि निमित्त उपादानके कार्यरूप परिणत न होकर उसमे सहायता मात्र करता है। और इसलिए ही उसे व्यवहारनयसे निमित्त कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कार्यरूप परिणत होना निश्चयनयका विषय है और उसमें सहायक होना व्यवहारनयका विषय है। यदि उत्तरपक्ष भी

ऐसा माननेके लिए तैयार है, तो उसके साथ प्रकृतमे पूर्वपक्षका विवाद समाप्त हो जाता है। विवाद तो तब तक है जबतक वह (उत्तरपक्ष) निमित्तको उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें सर्वथा अकिंचित्कर मानकर व्यवहारनयका विषय मानता है।

पूर्वपक्षने पदार्थोंकी स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें निमित्तोको सहायक होनेके आधारपर कार्यकारी माना है, क्योंकि उसकी मान्यताके अनुसार पदार्थमें एक ही समय कार्योत्पत्ति होनेकी नाना योग्यताएँ (उपादानशक्तियाँ) पाई जाती हैं। साथ ही उसका (पूर्वपक्षका) यह भी कहना है कि उनमेंसे एक ही उपादानशक्ति कार्यरूप परिणत हो सकती है, नाना उपादान शक्तियाँ नही। जैसे कुशलपर्यायविशिष्ट मिट्टीमे घटपर्यायकी उपदानशक्तिके साथ कुशूलपर्यायके विनाशकी उपादानशक्ति भी पायी जाती है। इन दोनों योग्यताओमेंसे कौनसी योग्यता कार्यरूप परिणत हो इसका नियामक आगमके अनुसार उसने निमित्तोको ही माना है। अर्थात् यदि उस मिट्टीको घटपर्यायकी उत्पत्तिके अनुकूल कुम्भकार आदि निमित्तोका समागम हो जावे तो उस कुशूलपर्यायविशिष्ट मिट्टीसे घटपर्याय ही उत्पन्न होगी। तथा घटपर्यायकी उत्पत्तिके अनुकूल कुम्भकार आदि निमित्तोका उसे सहयोग प्राप्त न होकर कुशूलपर्यायके विनाशके अनुकूल दण्डप्रतिघातका सहयोग प्राप्त हो जावे तो उस मिट्टीसे घटपर्याय उत्पन्न न होकर कुशूलपर्यायका विनाश ही हो जायेगा। यह व्यवस्था तर्कसे सम्मत है।

इस विषयमें उत्तरपक्षका कहना है कि प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय कार्यरूप परिणत होने योग्य एक ही योग्यता विद्यमान रहती है और उसके अनुकूल ही उसे निमित्तोका सहयोग प्राप्त होता है। तथा इसके लिए उसने अष्टसहस्री, पृ० १५० के कथनका उल्लेख किया है। परन्तु यह ठीक नही है, क्योकि उत्तरपक्ष द्वारा वहाँ उस आगम-वचनका जो उपयोग किया गया है वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय श्रुतज्ञानी जीवोंके अनुभव, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तर्कके विरुद्ध है। इस विषयको मैंने प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामे स्पष्ट किया है।

आगे उत्तरपक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके "क्रमभुवो पर्याययो" इत्यादि वचनसे जो यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि पदार्थोमे विद्यमान उपादानोपादेय भावके समान पूर्वोत्तर पर्यायोमें भी उपादानोपादेयभाव वास्तविक रूपमें निश्चयरूप पाया जाता है, परन्तु पूर्वपक्षका कहना है कि पूर्व और उत्तर पर्यायोमें आगम द्वारा मान्य उपादानोपादेयभाव वास्तविक रूपमें निश्चयरूप न होकर पूर्व और उत्तर दोनो पर्यायोमें एक द्रव्यको पर्यायें होनेके कारण उपचरित रूपमे व्यवहार रूप ही मानना चाहिए।

वास्तविक रूपमे निश्चयरूप उपादानोपादेयभाव ही पदार्थकी कार्यरूप परिणतिका आधार होता है। यही कारण है कि "पुव्वपरिणामजुत्तं" इत्यादि गाथामें पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको ही उपादान कारण और उत्तरपर्यायविशिष्ट द्रव्यको ही कार्य कहा गया है। यत स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें केवल उपादानोपादेय-भावरूप कार्य-कारणभाव ही उपयोगी रहता है, अत स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति नियतक्रम से ही होती है। और यत स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभावके रूपमें विद्यमान कार्यकारणभावके साथ निमित्तनैमित्तिकभावरूप कार्यकारणभाव उपयोगी होता है, अत उन पर्यायोकी उत्पत्तिमें नियतक्रमता और अनियमितक्रमता दोनो ही स्थितियाँ निर्णीत होती हैं। इस विषयको मैंने प्रकृत प्रश्नोत्तरकी सामान्य समीक्षामे तीन प्रकारके उदाहरणोंके द्वारा स्पष्ट किया है। उन उदाहरणोमें बतलाया गया है कि उपादानके विद्यमान रहते हुए भी यदि उस उपादानको अनुकूल निमित्तकारणोकी सहायता प्राप्त न हो तो विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नही होगी तथा निमित्तकारणोकी सहायता प्राप्त होते हुए भी यदि पदार्थमें उपादानशक्ति (कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यता) न हो तो भी विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति नही होगी।

यत. उपादानकारणभूत पदार्थ ही कार्यरूप परिणत होता है अत उसे उपादानकारण कहते हैं। और निमित्तकारणभूत पदार्थ उपादानकी उस कायरूप परिणतिमें सहायक होता है, अत उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे ससारी जीवका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण निमित्तकारणभूत पुद्गलकर्मके उदयकी सहायतापूर्वक ही होता है और ससारी जीवका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण उसमें पायी जाने वाली उपादान शक्तिके आधारपर होता है। इस प्रकार ससारी जीव विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणका कर्ता होता है, परन्तु जब इस जीवमे तदनुकूल पुद्गलकर्मका उदय नही होता तब ससारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण नही होता। इसी तरह मुक्त जीवमें आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमणकी स्वभावभूत उपादान शक्ति है परन्तु उसको पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त प्राप्त नही है, अत मुक्त जीवका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण नही होता है।

इस विवेचनसे यह निर्णीत होता है कि प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय जो स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह वही होती है जिसके अनुकूल उस पदार्थको कार्यरूप परिणत होनेकी स्वभावभूत योग्यता (उपादान-शक्ति) के साथ निमित्तकारणभूत पदार्थका सहयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनो ही स्थितियाँ सिद्ध हो जाती हैं। अर्थात् उपादानकारणभूत पदार्थको जब जैसे निमित्तकारण प्राप्त होते हैं उसके अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होता है।

प्रकृत विषयके सम्बन्धमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके मध्य मूलत यही विवाद है कि जहाँ पूर्वपक्ष कहता है कि प्रत्येक पदार्थमे स्वभावभूत उपादानशक्ति विद्यमान रहते हुए उसे जव जैसे निमित्तकारणोका सहयोग प्राप्त होता है उसके अनुरूप ही स्व-परप्रत्यय कार्य उत्पन्न होता है वहाँ उत्तरपक्ष कहता है कि पदार्थमें कार्य वही उत्पन्न होता है जिसके अनुकूल पदार्थमें उपादानशक्ति विद्यमान रहती है। यद्यपि उपादानसे होने वाली कार्योत्पत्तिके अवसर पर आगमके अनुसार निमित्त भी वहाँ उपस्थित रहते हैं, परन्तु उनका उपयोग स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें नही होता है। वे निमित्त उस कार्योत्पत्तिमें सर्वथा अकिंचत्कर ही बने रहते हैं। और इसलिए ही उन्हें व्यवहारसे निमित्त कहा जाता है।

इस पर हमारा कहना है कि यदि उपादानकी स्व-परप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्तोका कुछ भी उपयोग नही है तो आगममें उन्हे मान्य करना आवश्यक नही है। दूसरी बात यह है कि यदि निमित्तोंको स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे उपयोगी नही माना जाए तो उन कार्योंको स्व-परप्रत्यय कहना अयुक्त हो जाएगा, इसलिए स्व-परप्रत्यय कायकी उत्पत्तिमे उपादानके साथ निमित्तको भी उपयोगी मानना उपयुक्त है। इतनी बात अवश्य है कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानकी उस कार्यरूप परिणति में सहायता करता है। इस विषयमे उत्तरपक्षको यह मान्यता मिथ्या है कि कार्योत्पत्तिमें उपादान ही कारण होता है निमित्त तो वहाँ अकिंचित्कर हो वना रहता है। और उसका यह मानना भी मिथ्या है कि अकिंचित्कर होनेके कारण ही उसे व्यवहारसे निमित्त कहते है।

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चामें कार्य-कारणभावके प्रसगसे सर्वत्र जो विवेचन किया है वह उसने अपनी उपर्युक्त मान्यताके आधारपर किया है तथा उसके समर्थनमें जितने आगमप्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनका अभिप्राय भी उसने अपनी उसी मान्यताके अनुसार ग्रहण किया है जिसका निराकरण मैंने तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें यथास्थान किया है।

तात्पर्य यह है कि उत्तरपक्षकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक पदार्थकी प्रतिसमय जो पर्यायें उत्पन्न होती

हैं वे नियमसे उपादानकारणभूत पदार्थकी कार्यरूप परिणत होनेकी योग्यताके आधारपर ही होती हैं, सो इस बातको तो पूर्वपक्ष भी मानता है, परन्तु वह पर्याय यदि स्व-परप्रत्यय हो तो उपादानशक्तिके आधारपर होने पर भी वही होती है जिसके अनुकूल उस उपादानको निमित्तकारणोका सहयोग प्राप्त होता है, फलत स्व-परप्रत्यय पर्यायोको उत्पत्तिमें उपादानकी नियामकताके साथ निमित्तकी नियामकता भी सिद्ध हो जाती है।

विशेष विवेचन—

उत्तरपक्षने शीर्षक २५ में अनन्तर पूर्वोत्तर दो पर्यायोमें ही हेतुफलभाव मान्य किया है, सो यह तो पूर्वपक्ष भी मानता है, परन्तु पूर्वपक्ष उस हेतु-फलभावको उत्तरपक्षके समान निश्चयरूप उपादानोपादेयभावके आधारपर नही मानकर इस आधारपर मानता है कि पूर्वपर्याय उस उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचररूपमें सद्भूतव्यवहारकारण होती है और उत्तरपर्याय उत्तरचररूपमें सद्भूतव्यवहारकार्य होती है।

उत्तरपक्षने उसी शीर्षक २५ में ही तत्त्वचर्चा पृ०, ३०८ पर पूर्वपक्षके ऊपर यह आरोप लगाया है कि वह सहकारीसामग्रीको ही कार्यका नियामक मानता है, सो उत्तरपक्षने यह आरोप पूर्वपक्षके कथन पर ध्यान न दे कर ही लगाया है, क्योंकि पूर्वमें स्पष्ट किया जा चुका है कि स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्तिमे उपादानकारण और निमित्तकारण दोनो ही नियामक होते हैं। उपादान तो कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिके होनेमे उसकी अनिवार्य सहायता करता है। उसके बिना वह कार्यरूप परिणत त्रिकालमें नही हो सकता।

उत्तरपक्षने शीर्षक २६ में आगमिक अन्य दो प्रमाणोका यथार्थ तात्पर्य बतलाया है, शीर्षक २७ में टीकांशका पुन खुलासा किया है, शीर्षक २८ मे अन्य दो प्रमाण तथा उनका खुलासा किया है और शीर्षक २९ मे अन्य दो उल्लेखोका स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह सब उसने अपनी उसी मान्यताके आधारपर किया है, जिसका निराकरण तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें पूर्वमें किया गया है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३० में उस अनवस्थादोषका परिहार करनेका प्रयत्न किया है जिसे पूर्वपक्षने तत्त्वचर्चामें उपस्थित किया है। परन्तु उत्तरपक्ष पूर्वपक्षकी आगममान्य दृष्टिको नही समझ सका है। अतएव अनवस्थादोप तदवस्थ बना रहता है।

बात यह है कि पूर्वपक्षने जो अनवस्था दोष उपस्थित किया है वह इस आधारपर उपस्थित किया है कि उत्तरपक्षने "तादृशी जायते बुद्धि" इत्यादि पद्यको जैनदर्शनका अग मानकर उसके अनुसार तत्त्वचर्चामें अपना विवेचन किया है जबकि वह पद्य जैनदर्शनका अग सिद्ध नही होता है, क्योंकि वह पद्य जैनदर्शनका अग माननेपर अनवस्थादोपको उत्पन्न करता है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३१ में बाह्य सामग्रीमें जैसा अकिंचित्करपनेका खुलासा किया है सो वैसा तो पूर्वपक्ष भी मानता है, विवाद तो इसमें है कि जहाँ पूर्वपक्ष निमित्तका उपादानका सहायक होने रूपसे कार्यकारी मानता है वहाँ उत्तरपक्ष उसे उपादानको कार्यरूप परिणतिमें अकिंचित्कर मानता है जो युक्त नही है। इसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३२ में नयोंके विषयका स्पष्टीकरण किया है। परन्तु वह (उत्तरपक्ष) निश्चयनयके विषयको पूर्वपक्षके समान सर्वथा भूतार्थ मानकर भी व्यवहारनयके विषयको सर्वथा अभूतार्थ मानता है जो मिथ्या है, क्योंकि व्यवहारनयका विषय सर्वथा अभूतार्थ न होकर कथचित् भूतार्थ ही होता है या यो

कहिये कि व्यवहारनयका विषय उपचरित भूतार्थ ही होता है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानात्मक होनेसे व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थको विषय न करके उपचरित भूतार्थको ही विषय करता है। वह न तो सर्वथा अभूतार्थको विषय करता है, क्योंकि वह आकाश-कुसुमके समान है और न सर्वथा भूतार्थको विषय करता है क्योंकि सर्वथा भूतार्थ निश्चयनयका ही विषय होता है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३३ में समयसारकी गाथा ८० का अर्थ वास्तविक बतलाकर किया है, परन्तु उस अर्थको उसने अपनी उसी मान्यताके आधारपर वास्तविक बतलाया है, जिसका निराकरण तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें पूर्वमें किया जा चुका है। अर्थात् उत्तरपक्षने "तादृशी जायते बुद्धि" इत्यादि पद्यको जैनदर्शनका अंग मानकर उसके आधारपर ही अपनी उस गलत मान्यताका पोषण किया है, इसलिए वह मिथ्या है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३४में स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथाएँ आदिके विषयमे लिखा है। वह भी अपनी उसी गलत मान्यताके आधारसे लिखा है, इसलिए वह भी मिथ्या है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३५ में प्रतिशका ३ में उपस्थित चार प्रमाणोका स्पष्टीकरण किया है वह भी उसने अपनी उसी गलत मान्यताके आधारपर किया है, इसलिए उसका वह स्पष्टीकरण भी गलत है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३६ में प्रतिशका ३ मे उपस्थित कतिपय तर्कोका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है, परन्तु उसके विषयमें उसने वहाँपर किये गये विवेचनका जो आशय ग्रहण किया है वह उसने उसी गलत मान्यताके आधारपर ग्रहण किया है, इसलिए उसका वह सब कथन भी गलत है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३७ में कर्मशास्त्रके अनुसार बतलाया है कि सब कार्य क्रमनियत ही होते है सो वह भी उसने अपनी गलत मान्यताके आधारपर लिखा है, इसलिए वह भी मिथ्या है।

तात्पर्य यह है कि करणानुयोग कार्य-कारणभावके आधारपर टिका हुआ है। और कार्य-कारणभाव विकल्पात्मक होनेसे श्रुतज्ञानका ही विषय होता है। इस बातको तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें पहले ही बतलाया जा चुका है।

एक कार्य-कारणभाव उपादानोपादेयभावरूप होता है और दूसरा निमित्त-नैमित्तिकभावरूप होता है। स्वप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमे केवल उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभाव ही होता है और स्व-परप्रत्यय कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभाव और निमित्त-नैमित्तिकभाव दोनो ही कार्य-कारणभाव होते हैं। यह बात तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें यथाप्रसग सर्वत्र बतलायी जा चुकी है, इसलिए स्व-परप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्तिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनो ही सम्भव हैं।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३८ में करणानुयोग सम्बन्धी विषयोंपर उपस्थित आपत्तियोका समाधान किया है, परन्तु वह समाधान उसने अपनी उसी मान्यताके आधारपर किया है जिसका निराकरण तत्त्वचर्चाकी समीक्षामें प्रकृत प्रश्नोत्तरके द्वितीय दौरकी समीक्षा करते हुए किया जा चुका है। अतएव वह समाधान भी अयुक्त सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ३९ के प्रारम्भमें लिखा है—

१. "आगे अपरपक्षने स्वकालका विचार करते हुए जो यह लिखा है कि स्वचतुष्टयमें आया हुआ 'स्वकाल' शब्द प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणमनोंके क्रमरूप है और फिर इस परिणमनरूप कार्यको कारणोंके अधीन बतलाकर जो नियतक्रम और अनियतक्रमके समर्थन करनेका उपक्रम किया है सो यह ठीक नही है,

क्योंकि उपादान ही उपादेयरूपसे परिणमित होता है, अतएव प्रत्येक द्रव्यका त्रिकालका विषयभूत जितना भी स्वकाल है वह सब क्रमनियत ही होता है। बाह्य सामग्री तो उसमें उपकरणमात्र है। आगमके प्रत्येक द्रव्यके अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणोमें उपादान-उपादेयभाव बतलाया है, अतएव प्रत्येक समयमे जो उपादान होता है, प्रत्येक कार्य उसीके अनुरूप होता है। यह निश्चय कथन है।"

२ "व्यवहारनयसे स्वकालका अर्थ प्रत्येक कार्यमें निमित्तभूत काल द्रव्यकी पर्याय करनेपर जितने कालके समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्यके कार्य हैं, अतएव कालके प्रत्येक समयके साथ अन्य द्रव्योंके एक-एक कार्यका क्रमिक योग अनादिकालसे बनता चला आनेके कारण इस अपेक्षासे भी सभी कार्य क्रमनियत ही सिद्ध होते हैं। कालद्रव्य उदासीन कारण है, इसलिए कोई भी कालसमय किसी भी कार्यके लिए निमित्त होता है यह कथन निराधार होनेसे स्वीकार नही किया जा सकता। हम देखते हैं कि आगममे जहाँ भी दृष्टि डालो वही 'काललब्धि' पदका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।"

उत्तरपक्ष अपने इस लेखसे यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रत्येक पदार्थमें प्रतिसमय जो परिणमन होता है वह पदार्थोंमें विद्यमान उपादानशक्तिके आधारपर होता है, क्योकि कार्यरूप परिणति उपादानकी ही होती है, सो यह तो पूर्वपक्ष भी मानता है।

जैनागममें पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको जो उपादानकारण माना गया है और उत्तरपर्यायविशिष्ट द्रव्यको जो कार्य माना गया है सो यह भी पूर्वपक्ष मानता है।

उत्तरपक्ष पदार्थकी अव्यवहित पूर्वपर्यायको उपादानकारण व पदार्थकी अव्यवहित उत्तरपर्यायको उपादेयरूप मानता है सो यह युक्त नही है। यद्यपि ऐसा कथन आगममे भी पाया जाता है, परन्तु वह कार्य और कारणभाव वास्तविक न होकर उपचरित ही होता है।

आगममें पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादानकारण और उत्तरपर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादेयरूप कार्य माना गया है। उसका आशय यह है कि न तो पदार्थकी पूर्वपर्याय उपादानकारण होती है और न उत्तरपर्याय उस पूर्वपर्यायकी उपादेयरूप कार्य होती है, क्योकि पूर्वपर्याय उत्तरपर्यायकी उत्पत्तिमें पूर्वचररूपमे कारण होती है और उत्तरपर्याय उत्तरचररूपमें उस पूर्वपर्यायकी कार्य होती है। यह कार्य-कारणभाव व्यवहारनयका विषय होता है, निश्चयनयका नही।

पर्यायें स्वप्रत्यय होती हैं और स्व-परप्रत्यय होती हैं। तथा स्वप्रत्यय पर्यायोकी उत्पत्ति निमित्त-निरपेक्ष उपादानकारणसे होनेके कारण नियतक्रमसे ही होती हैं तथा जितनी स्व-परप्रत्यय पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है वह उत्पत्ति उपादानोपादेयभावरूप कार्य-कारणभावके आधारपर होते हुए भी उस उपादानको जब जैसे निमित्तकारणोका सहयोग प्राप्त होता है उसके अनुसार नियतक्रमसे भी होती है और अनियतक्रमसे भी होती हैं। उपादान और निमित्तमें अन्तर यह है कि उपादान तो कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें उपादानकी सहायता करता है। इस प्रकार कार्यकी उत्पत्तिमे उपादान-कारण और निमित्तकारण दोनो ही अपने अपने ढगसे कार्यकारी सिद्ध होते हैं।

उत्तरपक्षने स्वकालपर विचार करते हुए कार्योत्पत्तिमें काललब्धिका उल्लेख किया है, परन्तु तत्त्वार्थ-सूत्र, अ० २, सूत्र-३ की सर्वार्थसिद्धि टीकाके जो काललब्धिका स्वरूप बतलाया गया है वही युक्त है। उत्तर-पक्षने काललब्धिका जो स्वरूप बतलाया है वह युक्त नही है।

तात्पर्य यह है कि सर्वार्थसिद्धिमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें स्पष्ट किया गया है कि भव्य ही सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य होता है, अभव्य नही। भव्य भी तभी सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य होता है जब वह सज्ञी, पचेन्द्रिय, पर्याप्त हो तथा क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियोको प्राप्त करनेके अनन्तर करणलब्धिको प्राप्त होता है। सर्वार्थसिद्धिमें इसीको काललब्धि बतलाया गया है।

उत्तरपक्षने शीर्षक ४० में बतलाया है कि दिव्यध्वनि आदि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं, शीर्षक ४१ में यह बात बतलायी गयी है कि कर्मनिर्जरा और मुक्तिका काल नियत है, अनियत नहीं। और शीर्षक ४२ में यह बतलाया गया है कि कर्मोंका परिपाक प्रतिनियत ही होता है। परन्तु इन सब बातोका निराकरण ऊपरके सप्रमाण विवेचनसे हो जाता है।

उत्तरपक्षने तत्त्वचर्चा पृ० ३६५ पर "अयि कथमपि मृत्वा" इत्यादि समयसार कलश-पद्य २३ को उद्धृत किया है। उसके विषयमें मेरा यह सुझाव है कि "अयि कथमपि मृत्वा" इत्यादि पद्यमें मृत्वाके स्थानपर 'कृत्वा' पाठ स्वीकार करना उचित है, क्योकि 'मृत्वा' पाठ रहते हुए उस वाक्याशका 'कैसे भी मर करके' ही अर्थ होता है जबकि 'कृत्वा' शब्द रहते हुए उस वाक्याशका 'कैसे भी करके', अर्थ होता है, जो उचित प्रतीत होता है। आशा है उत्तरपक्ष एवं पाठक इसपर विचार करेंगे।

●

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ सख्या	पक्ति सख्या
द्रव्य के गुण में	द्रव्यके प्रत्येक गुणमें	३११	२२
यदवाप्तव्यं	यदवाप्तव्य	३१४	३८ (टि०)
नियतक्रमतता	नियतक्रमता	३१८	२९
विरोधान्नोभंय	विरोधान्नोभयै-	३२१	३२ (टि०)
यात्	स्यात्	३२१	३१ (टि०)
अवाच्यैत-	अवाच्यतै-	३२१	३३ (टि०)
क्रमवद्धात	क्रमवद्धता	३२२	२९
पृष्ठ संख्या २२२ पर	गाथा सख्या २२२ के रूप में	३३२	६, ७
द्वेपरूप	रागद्वेषरूप	३३७	४
परिणमनशील	परिणमनशील है	३४२	३२
स्वापर	स्व-पर-	३५२	२५
निवक्षित	विवक्षित	३५४	३१
निमित्तें	निमित्तो	३५५	३३
अमुक पर्यायकी	अमुक पदार्थकी	३५८	२४
पन्चेन्द्रिय	पञ्चेन्द्रिय	३५९	२७
निराश	निरास	३६०	२३
जीवोंके	जीवोंके विवक्षित	३६१	३२
कुशूलस्य '……नोदकथ	कुशूलस्य''' नोदकस्य	३६६	२५
स्वपर्याय	स्वपर्यायै.	३६६	२५
व्यपदिश्यते	व्यपदिश्यन्ते	३६६	२६
अगुरुलघुर्णोगुमें	अगुरुलघुगुणोंमें	३६७	५
विरुद्ध होना	विरुद्ध न होना	३६९	३३
अगरुलघु	अगुरुलघु	३७१	३०
,,	,,	३७१	३१
,,	,,	३७१	३३
स्व भी	स्व का भी	३७२	१३
समय परिणाम	समयरूप परिणाम-	३७२	१५
यह कथन	जो यह कथन	३७२	१७
कारणधर्म	करणधर्म	३७३	५
पदर्थों	पदार्थों	३७८	२६
भावना	मानना	३७९	४
गुण	धर्म	३७९	३२
,,	,,	३७९	३८
विवाद	विवादग	३८०	२६

अत	यत	३८१	२७
उपयुक्त	उपर्युक्त	३८२	७
यह	यह निष्कर्ष	३८२	१५
करना करना	करना	३८३	२६, २७
अत (आरम्भका)	यत	३८४	१
गुक्याभावे	मुख्याभावे	३८४	१७
अनिक्रम	अनियतक्रम	३८६	१२
एक रूप तो	एकरूप क्रम तो	३८६	१८
नियतक्रमके	नियतक्रमसे	३८७	२३
अनियतक्रमसे	अनियतक्रमके	३८७	२३
उत्पत्तिके	उत्पत्तिसे	३८८	५
अनियतक्रमके	अनियतक्रमसे	३८८	२१
दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति	दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिमें	३९२	३०
या	वह	३९९	२१
इन्द्रिहप्रत्यक्ष	इन्द्रियप्रत्यक्ष	४०३	१०
प्रथम भागकी	उत्तरपक्षके प्रथम भागकी	४०५	१
अब	अब उसके	४०५	१
लिखा है	उसने लिखा है	४०५	३
अनेकान्तिक	अनैकान्तिक	४०९	२६
भाषित	भासित	४११	३४
नियतवादी	नियतिवादी	४१४	१७
कार्यसिद्धि	कार्यसिद्धिका	४१६	२७
उत्तरपक्षके	उत्तरपक्षने	४२१	२६
चलती,	चलती	४२२	१५
कारणभूत	उपादानकारणभूत	४२७	१३
व	वह	४२८	३३
कार्यबन्ध	कर्मबन्ध	४२९	३५
विनिष्ट	विनष्ट	४३१	१५
तो	सो	४३३	३१
कुषालपर्याय	कुशूलपर्याय	४३४	७
टोकाके	टीकामें	४३८	३२

●